श्री अरविंद-साहित्य

खण्ड १७

श्रीअरविन्दके पत्र

भाग दो और भाग तीन

LETTERS ON YOGA

PART TWO & PART THREE
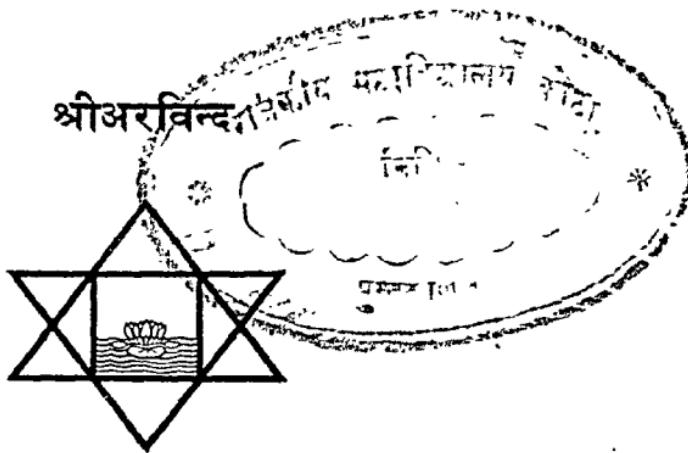
श्रीअरविन्द

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2

अनुवादक : चन्द्रदीप त्रिपाठी

प्रथम संस्करण, वर्ष

"केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय) द्वारा क्रियान्वित प्रकाशकोंके सहयोगसे हिन्दी पुस्तकोंके लेखन अनुवाद तथा प्रकाशन-की योजनाके अन्तर्गत प्रकाशित"।

Price Rs. मूल्य रु०

स्वत्वाधिकारी : श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-2,

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-2

मुद्रक : ऑल इन्डिया प्रेस, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी-2.

दो शब्द

हिन्दीके विकास और प्रसारके लिये शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय-के तत्वावधानमें पुस्तकोंके प्रकाशनकी विभिन्न योजनाएं कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दीमें अभी तक ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नही है, इसलिये ऐसे साहित्यके प्रकाशनको विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटिकी हों, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महंगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी पाठक उन्हें खरीदकर पढ़ सकें। इन उद्देश्योंको सामने रखते हुए जो योजनाएं बनाई गई है, उनमेंसे एक योजना प्रकाशकोंके सहयोगसे पुस्तकें प्रकाशित करनेकी है। इस योजनाके अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तकोंकी निश्चित संख्यामें प्रतियां खरीदकर उन्हें मदद पहुँचाती है।

'श्रीअरविन्दके पत्र' (भाग-2 और भाग-3) नामक यह पुस्तक इस योजनाके अंतर्गत प्रकाशित की जा रही है। उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ मालाके पहले वाले खंड वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी मानक ग्रंथ योजनाके अन्तर्गत प्रकाशित किये गये थे। किन्तु अब शेष खंड निदेशालयकी प्रकाशकोंके सहयोगसे हिन्दी पुस्तकोंके लेखन अनुवाद तथा प्रकाशनकी योजनाके अंतर्गत प्रकाशित किये जायेंगे। श्रीअरविन्द भारतीय ऋषि परंपराकी अत्याधुनिक कड़ी थे। राष्ट्रीय चेतनाके उद्घोषक और भारतीय दर्शनके पोषकके रूपमें महायोगी अरविन्दका स्थान काफी ऊंचा है। इस खंडमें समय-समयपर श्रीअरविन्द द्वारा लिखे गये पत्रोंके उद्धरण संकलित किये गये हैं। श्रीअरविन्दने जिस पूर्ण योगका प्रतिपादन किया था उसका सैद्धान्तिक पक्ष भाग-2 में परिलक्षित होता है, जबकि भाग-3 में साधकोंके व्यक्तिगत अनुभवों और सूक्ष्म दर्शनोंका अर्थ स्पष्ट किया गया है। अतिमानसिक चेतनाका मन, प्राण और शरीरमें अवतरण कराकर अति-मानसीकरण श्रीअरविन्दके दर्शनका लक्ष्य रहा है। उसका स्फाटिकवत् स्वरूप इस पुस्तकमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः यह पुस्तक श्रीअरविन्दके दर्शन और योग पद्धतिको समझानेमें काफी सहायक हो सकेगी।

हमें विश्वास है कि शासन और प्रकाशकोंके सहयोगसे प्रकाशित साहित्य हिन्दीको समृद्ध बनानेमे सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञानसे संबधित अधिकाधिक पुस्तके हिन्दीके पाठकोंको उपलब्ध हो सकेंगी।

आशा है यह योजना सभी क्षेत्रोमें लोकप्रिय होगी।
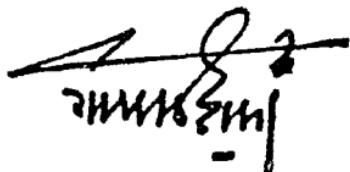
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

(गोपाल शर्मा)
निदेशक

विषय सूची

श्रीअरविन्दके पत्र

भाग दो

भाग तीन

भाग दो और भाग तीन

विभाग एक

पूर्णयोगका लक्ष्य

पूर्णयोगका लक्ष्य

इस योगका लक्ष्य है भागवत उपस्थिति और चैतन्यमें प्रवेश करना और उसके द्वारा अधिकृत होना, एकमात्र भगवान्के लिये भगवान्को प्रेम करना, अपनी प्रकृति-में भगवान्की प्रकृतिके साथ समस्वर होना और अपने संकल्प तथा कर्म तथा जीवनमें भगवान्का यंत्र बन जाना। इसका उद्देश्य कोई महान् योगी या अतिमानव बनना नहीं है (यद्यपि ऐसा हो सकता है) अथवा अहंकी शक्ति, दंभ या सुखके लिये भगवान्-को पकड़ लेना नहीं है। यह मोक्षके लिये भी नहीं है यद्यपि इससे मुक्ति प्राप्त होती है और दूसरी सभी चीजें भी मिल सकती हैं, पर ये सब चीजें हमारा उद्देश्य नहीं होनी चाहियें। एकमात्र भगवान् ही हमारे लक्ष्य हैं।

*

इस योगमार्गमें महज अतिमानव बननेकी भावनासे आना प्राणिक अहं-भावका कार्य होगा जो इसके अपने उद्देश्यको ही व्यर्थ कर देगा। जो लोग अपनी संलग्नताओंके सम्मुख इस लक्ष्यको रखते हैं वे निश्चित रूपसे आध्यात्मिक रूपमें तथा अन्य रूपमें कष्टको प्राप्त होते हैं। इस योगका लक्ष्य है, सर्वप्रथम, अपने पृथकात्मक अहंको भागवत चेतनामें निमज्जित करके उसमें प्रवेश कर जाना (प्रासंगिक रूपसे ऐसा करनेपर मनुष्य अपने सच्चे व्यक्तिगत आत्माको पा लेता है जो सीमित, व्यर्थ और स्वार्थी मानव अहं नहीं है बल्कि भगवान्का एक अंश है) और, द्वितीयतः मन, प्राण और शरीरको रूपांतरित करनेके लिये पृथ्वीपर अतिमानसिक चेतनाको उतार लाना। अन्य सब चीजें इन दो लक्ष्योंके केवल परिणाम हो सकती हैं, योगका मुख्य लक्ष्य नहीं हो सकतीं।

*

ऐसा लगता है कि योगके विषयमें तुमने कुछ गलत भावनाएं बना रखी हैं जिनमें-से तुम्हें बाहर निकल आना चाहिये, क्योंकि वे खतरनाक हैं और प्रत्येक साधकको उन्हें निकाल बाहर करना चाहिये :

1. योगका लक्ष्य श्रीअरविन्द या श्रीमाताजीके "जैसा" बनना नहीं है। जो लोग इस विचारका पोषण करते हैं बड़ी आसानीसे आगेके इस विचारपर पहुँच जाते हैं कि वे उनके बराबर और यहांतक कि उनसे अधिक बड़े बन सकते हैं। यह केवल अपने अहंका पोषण करना है।

2 योगका उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना या दूसरोंसे अधिक शक्तिशाली बनना अथवा सिद्धियां प्राप्त करना अथवा महान् या आश्चर्यजनक या चमत्कारपूर्ण कार्य करना नही है।

3 योगका उद्देश्य कोई महान् योगी या अतिमानव होना नही है। यह योगको अहंकारपूर्ण ढगसे ग्रहण करना है और इससे कोई भलाई नही हो सकती। इससे पूरी तरह बचो।

4 अतिमानसिक चेतनाके विषयमें बातें करना और उसे अपने अन्दर उतारनेकी बात सोचना सबसे अधिक खतरनाक है। यह महान् कार्य करनेकी पूर्ण लालसा उत्पन्न कर सकता और समतोलता नष्ट कर सकता है। साधकको जो चीज पानेकी चेष्टा करनी है वह है — भगवान्की ओर पूर्ण उद्घाटन, अपनी चेतनाका चैत्य रूपातर, आध्यात्मिक रूपांतर । चेतनाके उस परिवर्तनके आवश्यक घटक हैं — स्वार्थहीनता, निष्कामभाव, विनम्रता, भक्ति, समर्पण, स्थिरता, समता, शान्ति, अचचल सद्हृदयता। जबतक उसमें चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतर नही हो जाता, अतिमानसिक बननेकी बात सोचना एक मूर्खता है और एक उद्धत मूर्खता है।

यदि इन सब अहंकारपूर्ण विचारोंको प्रश्रय दिया जाय तो ये केवल अहंको ही अतिरजित कर सकते, साधनाको नष्ट कर सकते और गंभीर आध्यात्मिक विपत्तियोंमें ले जा सकते है। इन बातोंका पूर्ण रूपमें परित्याग कर देना चाहिये।

*

निस्सन्देह, तुम (महान् हुए बिना योग) कर सकते हो। महान् होनेकी कोई आवश्यकता नही है। इसके विपरीत, विनम्रता सबसे पहली आवश्यकता है, क्योंकि जिस व्यक्तिमें अहंकार और गर्व है वह परमोच्च सत्यको नही प्राप्त कर सकता।

*

स्वयं पुस्तकका जहाँतक प्रश्न है, दुर्भाग्यवश मैं तेलुगु भाषासे अनभिज्ञ हूँ और मूल पुस्तक नही पढ़ सकता। परन्तु अंग्रेजीमे जो वर्णन है उससे मैने उसके सारांशकी थोड़ीसी धारणा बनायी है। मैं समझता हूँ कि मुख्य रूपमें यह पूर्णयोग और मेरे संदेशका एक वर्णन और समर्थन है; मेरी समझमें तुमने सही रूपमें इसके दो प्रमुख तत्त्वोंका वर्णन किया है — पहला, जगत्को भागवती शक्तिकी एक अभिव्यक्तिके रूपमें स्वीकार करना, एक भूल या मिथ्या माया मानकर त्याग न करना, और दूसरा, इस अभिव्यक्तिका स्वरूप है एक आध्यात्मिक विकास जिसमें योगके द्वारा मन, प्राण, शरीरको रूपांतरित करके आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक पूर्णत्वके यंत्र बनाया जा सकता है। विश्व कोई भौतिक नही बल्कि आध्यात्मिक तथ्य है, जीवन केवल शक्तियोंकी एक क्रीड़ा अथवा कोई मानसिक अनुभव नहीं है, बल्कि प्रच्छन्न आत्माके

क्रमविकासका एक क्षेत्र है। जब यह सत्य पकड़ा जायगा और हमारे जीवनकी प्रेरक-शक्ति बनाया जायगा तथा इस प्रभावशाली सिद्धिका मार्ग आविष्कृत होगा केवल तभी अपनेसे परेकी किसी वस्तुमें मानव-जीवन अपनी चरितार्थता और रूपांतरको प्राप्त करेगा। सिद्धिका पथ एक पूर्णयोगमें प्राप्त करना होगा, अपनी सत्ताके सभी अगोंमें भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करना होगा और उसके फलस्वरूप उनके सभी अभी संघर्षरत तत्त्वोंको बदलकर एक उच्चतर दिव्य चेतना और सत्ताके साथ सुसमंजस कर देना होगा।

*

योगके जिस मार्गका यहां अनुसरण किया जाता है उसका उद्देश्य अन्य योग-मार्गोंसे भिन्न है,—क्योंकि इसका लक्ष्य केवल सामान्य अज्ञ जगच्चेतनासे ऊपर उठकर भागवत चेतनामें पहुँच जाना ही नही है, प्रत्युत उस भागवत चेतनाकी अतिमानसिक शक्तिको मन, प्राण और शरीरके अज्ञानके अन्दर उतार लाना, इन्हें रूपांतरित करना, यहा इस पृथ्वीपर भगवान्‌को प्रकट करना तथा जड़-पार्थिव प्रकृतिमें एक दिव्य जीवन-का निर्माण करना इसका लक्ष्य है। यह बड़ा ही दुर्गम लक्ष्य है और कठिन योगसाधन है; बहुत लोगोंको, या प्रायः सभी लोगोंको यह असम्भव ही प्रतीत होगा। साधारण अज्ञ जगच्चेतनामें जो शक्तियां जमकर बैठी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं, इसे अस्वीकार करती है और इसकी सिद्धिमें बाधा ही डालनेका प्रयत्न करती हैं, और साधक स्वयं भी देखेगा कि उसके अपने मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्तिमें कितनी जबर्दस्त बाधाएं उपस्थित कर रहे है। यदि तुम इस लक्ष्यको सर्वात्मना स्वीकार कर सको, इसके लिये सभी कठिनाइयोंका सामना कर सको, भूतकालमें जो कुछ हुआ है उसे और उसके बंधनोंको पीछे छोड़ सको और इस दिव्य संभावनाके लिये सब कुछ छोड़ देनेके लिये, तथा आगे जो कुछ भी हो उसके लिये, तैयार हो जाओ, तो ही यह आशा कर सकते हो कि इस योगसाधनाके पीछे जो महत्सत्य छिपा हुआ है उसे स्वानुभवसे ढूँढ़कर प्राप्त कर सको।

इस योगकी साधनाका कोई बंधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यानका कोई निश्चित प्रकार अथवा कोई मंत्र या तंत्र नहीं है। बल्कि यह साधना साधकके हृदयकी अभीप्सासे आरम्भ होती है; साधक अपने ऊर्ध्वस्थित या अंतःस्थित आत्माका ध्यान करता है, अपने-आपको भागवत प्रभावकी ओर, हमारे ऊपर स्थित भागवत शक्ति और उसके कार्यकी ओर तथा हृदयमें विद्यमान भागवत उपस्थितिकी ओर उद्घाटित कर देता है और जो कुछ इन बातोंके लिये विजातीय है उस सबका परित्याग कर देता है। केवल श्रद्धा, अभीप्सा तथा आत्मसमर्पणके द्वारा ही यह आत्मोद्घाटन हो सकता है।

*

तुममें स्पष्ट ही एक पुकार है और योग-साधनाके योग्य हो सकते हो; परन्तु योगके विभिन्न पथ हैं और प्रत्येक व्यक्तिके सामने एक अलग लक्ष्य और उद्देश्य होता है। सभी मार्गोंमें ये बातें समान रूपसे पायी जाती है कि मनुष्यको अपनी कामनाएं जीतनी चाहियें, जीवनके सामान्य सम्बन्धोंको एक किनारे छोड देना चाहिये और अनिश्चयताकी स्थितिसे शाश्वत निश्चयतामें चले जानेकी कोशिश करनी चाहिये। मनुष्य अपने स्वप्न और नीद, भूख और प्यास आदिको भी जीतनेकी कोशिश कर सकता है। परन्तु मेरे योगका यह कोई अंग नहीं है कि मनुष्य संसारके साथ या जीवनके साथ कोई सरोकार न रखे या इंद्रियोको मार डाले और अपने कर्म पूर्णत: बन्द कर दे। मेरे योगका यह लक्ष्य ही है कि मनुष्य अपने जीवनमे दिव्य सत्यका प्रकाश, बल और आनन्द तथा उसकी सक्रिय निश्चयताओंको उतारकर उसका रूपांतर करे। यह योग संसार-का त्याग करनेवाले संन्यासका योग नहीं है, बल्कि दिव्य जीवनका योग है। तुम्हारा उद्देश्य, दूसरी ओर, केवल समाधिमें प्रवेश करने और उसके अन्दर सांसारिक जीवन-के साथके अपने सभी सम्बन्धोंको त्याग देनेपर प्राप्त हो सकता है।

*

संन्यासी होना अनिवार्य नहीं है — यदि कोई ऊपरी चेतनामें रहनेके बजाय आंतरिक चेतनामे रहना सीख जाय, अपने अंतरात्मा या सच्चे व्यक्तित्वको ढूंढ़ सके जो कि उपरितलीय मन और प्राणकी शक्तियोंसे आच्छन्न है और अपनी सत्ताको अति-चेतन सद्वस्तुकी ओर उद्घाटित कर सके तो यह पर्याप्त है। परन्तु ऐसा करनेमें कोई तबतक सफल नही हो सकता जबतक कि वह अपने प्रयासमें पूर्णरूपेण सच्चा और एकमुखी न हो।

दूसरे प्रश्नका जहांतक सम्बन्ध है, श्रीअरविन्दके मिशनमें हाथ बंटाना इस बातपर निर्भर करता है कि मनुष्यमें एक कठिन योग करनेकी क्षमता हो अथवा उस आदर्शके लिये अपना जीवन लगा देनेकी पुकार हो और अहंकारकी मांगों या प्राणिक कामनाओंका कोई विचार न हो; अन्यथा इसके विषयमें नही सोचना ही अधिक अच्छा है।

*

हाँ, जबतक बाहरी प्रकृति रूपांतरित नही हो जाती, मनुष्य जितना ऊँचा उठना संभव हो उतना ऊंचा उठ सकता है और बहुत बड़ी-बड़ी अनुभूतियां प्राप्त कर सकता है — परन्तु बाह्य मन अज्ञानका ही यंत्र बना रहता है।

*

यदि प्राण अभी अशुद्ध भी हो तो भी मानसिक-आध्यात्मिक स्तरपर एक प्रकारकी अनुभूतियां प्राप्त करना सर्वदा सम्भव है। उस समय मानसिक पुरुष और प्रकृतिका एक प्रकारका पार्थक्य साधित हो जाता है और उसके फलस्वरूप एक ज्ञान प्राप्त होता है जिसका जीवनपर कोई रूपांतरकारी प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु इन योगियोंका सिद्धांत यह है कि बस आत्माको जाननेकी जरूरत है; जीवन और जीवनमें जो कुछ मनुष्य करता है उससे कुछ आता-जाता नहीं। क्या तुमने उस योगीकी कहानी नही पढ़ी है जो अपनी रखेलके साथ आया था और जिससे रामकृष्णने पूछा था: "इस तरह क्यों जीवन विताते हो?" उसने उत्तर दिया, "सब कुछ माया है, इसलिये जवतक मैं ब्रह्मको जानता हूँ तवतक मैं जो कुछ भी करूं उससे कुछ आता-जाता नहीं।" यह सच है कि रामकृष्णने उत्तर दिया: "मैं तुम्हारे वेदान्तपर थूकता हूँ," परन्तु तर्ककी दृष्टिसे उस योगीका भी एक पक्ष था — क्योंकि, यदि समस्त जीवन और कर्म माया हो और केवल नीरव ब्रह्म ही सत्य हो — तो फिर!

*

ब्राह्मी स्थितिमें मनुष्य आत्माको अस्पृष्ट और शुद्ध अनुभव करता है पर प्रकृति अपूर्ण वनी रहती है। साधारण संन्यासी उसकी कोई परवाह नहीं करता, क्योंकि उसका उद्देश्य प्रकृतिको पूर्ण वनाना नहीं है, वल्कि उससे अपनेको पृथक् कर लेना है।

*

शान्ति आवश्यक आधार है पर शान्ति पर्याप्त नहीं है। यदि शान्ति प्रवल और स्थायी हो तो वह आंतर सत्ताको मुक्त कर सकती है जो वाह्य क्रियाओंका एक स्थिर और अचंचल साक्षी वन सकती है। यही संन्यासीकी मुक्ति है। कुछ प्रसंगोंमें वह वाहरी सत्ताको भी मुक्त कर सकती है और पुरानी प्रकृतिको वाहर पारिपार्श्विक चेतनामें फेंक सकती है, परन्तु यह भी मुक्ति है, रूपांतर नहीं है।

*

उन्होंने (प्राचीन योगोंने) आत्मसाक्षात्कारको लक्ष्य वनाया और दिव्यभावापन्न वननेकी कोई परवाह नहीं की, सिवाय तांत्रिक और कुछ अन्य लोगोंके। परन्तु इन सव पथोंमें भी वल्कि लक्ष्य अन्य किसी चीजकी अपेक्षा संत और सिद्ध वनना ही था।

*

चेतनाका स्तर अनुभूतिकी शक्ति और ज्योतिर्मयता और पूर्णतामें बहुत अधिक अन्तर ला देता है। मानसिक साक्षात्कार अधिमानसिक या अतिमानसिक साक्षात्कारसे बहुत भिन्न होता है यद्यपि अनुभूत सत्य एक ही हो सकता है। उसी तरह जडतत्त्वको ब्रह्म जाननेका फल भी प्राण, मन, अतिमन या आनन्दको ब्रह्म जानने-के फलसे बहुत भिन्न होता है। यदि भगवान्‌को मनके द्वारा प्राप्त करना ठीक वही चीज हो जो उच्चतर लोकोंमे उन्हे पाना हो तो फिर इस योगका जरा भी कोई अर्थ नही रह जायगा — फिर अतिमानसतक ऊपर आरोहण करने या उसे नीचे उतार लानेकी कोई आवश्यकता नही होगी।

*

भगवान्‌के साथ पूर्ण एकत्व प्राप्त करना अन्तिम लक्ष्य है। जब किसीको किसी प्रकारका सतत एकत्व प्राप्त हो जाता है तो उसे योगी कहा जा सकता है, पर एकत्व-को पूर्ण बनाना होगा। कुछ योगी ऐसे होते हैं जिन्हें आध्यात्मिक स्तरपर एकत्व प्राप्त होता है, दूसरे ऐसे होते है जो मन और हृदयमें युक्त होते हैं, कुछ दूसरे प्राणमें भी युक्त होते हैं। हमारे योगमें हमारा लक्ष्य है भौतिक चेतनामें और अतिमानसिक लोकमें भी युक्त हो जाना।

*

परन्तु उन्हे (परम्परागत मार्गोके योगियोंको) भला (अतिमानसके अवतरण-का) कोई दबाव क्यों अनुभव करना चाहिये जब कि वे अपनी प्राप्त अनुभूतिसे संतुष्ट थे? वे आध्यात्मिक मनमें रहते है और मनका स्वभाव है पृथक् करना — यहां भगवान्‌के किसी उच्च स्वरूप या स्थितिको पृथक् कर लेना और बाकी सबको छोड़कर केवल उसीको पानेकी चेष्टा करना। सभी आध्यात्मिक दर्शनशास्त्र और योगमार्ग ऐसा ही करते है। यदि वे परे जाते है तो वे 'केवल' ब्रह्मतक जाते है — और मन पूर्ण ब्रह्मकी कल्पना केवल इसी रूपमें कर सकता है कि वह कोई अकल्पनीय वस्तु है, 'नेति नेति'। अधिकंतु, समाधिमें जानेके लिये वे एक एकाकी विचारपर एकाग्र होते है और वे उसी चीजको पाते हैं जिसे वह विचार व्यक्त करता है — समाधि-अवस्था अपने स्वरूपमें बस उसी भावनाके ऊपर एक अनन्य एकाग्रता है। अतएव यह चीज भला किसी दूसरी वस्तुकी ओर उन्हें क्यों खोलेगी? केवल थोड़ेसे लोग ही ऐसे होते है जो इतनी पर्याप्त मात्रामें नमनीय होते है कि अपनेको सीमित करनेवाली साधनाकी इस स्थितिसे बच सकें — उन्हें यह अनुभव होता है कि अनुभूतिका कोई अन्त नही है, जब वे एक शिखरपर पहुँचते हैं तो उसके परे वे दूसरा शिखर देखते है। इससे अधिक देखनेके लिये साधकको अतिमानसके साथ सज्ञान जाग्रत् संपर्क प्राप्त करना होगा या कम-से-कम उसकी एक झांकि प्राप्त करनी होगी — और इसका

अर्थ है आध्यात्मिक मनसे परे चले जाना।

*

इस योगका एकदम सिद्धात ही यह है कि एकमात्र चेतनाका अतिमानसीकरण होनेपर ही — जिसका मतलब है मनसे ऊपर अतिमनमें चला जाना और अतिमनका प्रकृतिके अन्दर उतर आना — अन्तिम रूपांतर साधित किया जा सकता है। अतएव, यदि कोई मनुष्य मनसे ऊपर अतिमनमें नहीं उठ सकता और अतिमनका अवतरण नही करा सकता तो न्यायतः यह योग करना असम्भव हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य तत्त्वतः भगवान्‌के साथ एक है और अपनी व्यक्तिगत सत्तामें भगवान्‌का एक अश है, अतएव उसके अतिमानसिक बननेमें कोई अलंघ्य बाधा नही है। परन्तु इसमे सदेह नही कि अपने आधारमें मानसिक होनेके कारण किसी मानव-प्रकृतिके लिये केवल अपने एकाकी प्रयाससे अज्ञानका अतिक्रमण करना तथा अतिमानसतक ऊपर उठना या उसका अवतरण कराना असम्भव है, परन्तु भगवान्‌को समर्पण करनेपर इसे सिद्ध किया जा सकता है। मनुष्य अपनी निजी चेतनाके द्वारा उसे पार्थिव प्रकृतिमें उतार लाता है और इस तरह दूसरोंके लिये मार्ग खोल देता है, परन्तु इस परिवर्तनको प्रत्येक चेतनाके अन्दर दुहराना होता है तभी वह व्यक्तिके अन्दर फलोत्पादक बनता है।

*

योगका उद्देश्य है अपनी चेतनाको भगवान्‌की ओर खोलना और अधिकाधिक आंतर चेतनामें निवास करना तथा वहींसे बाहरी जीवनपर कार्य करना, उसे प्रभावित करना, अपने अन्तरतम हृत्पुरुषको सामने ले आना और हृत्पुरुषकी शक्तिसे अपनी सारी सत्ताको इस तरह शुद्ध और परिवर्तित करना जिसमे कि वह रूपांतरके लिये तैयार हो सके तथा भागवत ज्ञान, संकल्प और प्रेमके साथ युक्त हो सके। दूसरे, भौतिक चेतनाका विकास करना अर्थात् अपने आधारके सभी स्तरोंको वैश्वभावापन्न बनाना, विश्वपुरुष तथा विश्वशक्तियोंका ज्ञान प्राप्त करना और अधिमानसतक चेतनाके सभी स्तरोंमें भगवान्‌के साथ युक्त होना। तीसरे, अधिमानसके परे जो परात्पर भगवान् हैं उनके साथ अतिमानस-चेतनाके द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना, अपनी चेतना और प्रकृतिको अतिमानसभावापन्न बनाना तथा क्रियाशील भागवत सत्यकी सिद्धि और पार्थिव प्रकृतिमें इसके रूपांतरकारी अवतरणके लिये अपने-आपको एक यंत्र बनाना।

*

हमारे लिये भगवान्‌के तीन रूप हैं :-

1. वह विश्वात्मा और विश्वपुरुष हैं जो सभी वस्तुओं और जीवोंके अन्दर और पीछे विद्यमान है और जिससे और जिसमे विश्वके अन्दर सब कुछ प्रकट हो रहा है — यद्यपि यह अभी अज्ञानके अन्दर होनेवाली अभिव्यक्ति है।

2 वह हमारे अन्दर विद्यमान हमारी निजी सत्ताके आत्मा और प्रभु है जिनकी हमे सेवा करनी है और जिनकी इच्छाको हमें अपनी सभी गतिविधियोंमें अभिव्यक्त करना सीखना है जिसमे कि हम अज्ञानसे बाहर निकलकर ज्योतिमें वर्द्धित हो सकें।

3 भगवान् परात्पर सत्ता और आत्मा हैं, समस्त आनन्द और ज्योति और दिव्य ज्ञान तथा शक्ति है, और उसी उच्चतम भागवत सत्ता और उसकी ज्योतिकी ओर हमे ऊपर उठना है एव उसके सत्यको अधिकाधिक अपनी चेतना और जीवनमें नीचे उतार लाना है।

सामान्य प्रकृतिमे हम अज्ञानमें रहते है और भगवान्‌को नहीं जानते। साधारण प्रकृतिकी शक्तियां अदिव्य शक्तियां है क्योंकि वे अहंकार, कामना और अचेतनताका एक पर्दा बुनती है जो भगवान्‌को हमसे ढक देता है। जो उच्चतर और गभीरतर चेतना जानती और ज्योतिर्मयी रूपसे भगवान्‌में निवास करती है उसमें जानेके लिये हमें निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियोसे छुटकारा पाना होगा और भागवती शक्तिकी क्रिया-की ओर उद्घाटित होना होगा जो हमारी चेतनाको भागवत प्रकृतिकी चेतनामें रूपांतरित कर देगी।

भगवान्‌सम्बन्धी यही परिकल्पना है जिससे हमें आरम्भ करना होगा — इसके सत्यका साक्षात्कार केवल तभी हो सकता है जब हमारी चेतना उद्घाटित और परिवर्त्तित हो जायगी।

*

परात्पर, विश्वगत और व्यक्तिगत भगवान्‌के बीचका यह विभेद मेरा अपना आविष्कार नही है, न यह भारत या एशियाकी ही देशी उपज है — यह, इसके विपरीत एक स्वीकृत यूरोपियन शिक्षा है जो कैथोलिक चर्चकी गुह्य परम्परामें प्रचलित है, जहां यह त्रिमूर्त्ति(Trinity)— पिता, पुत्र और पवित्रात्मा – की प्रामाणिक व्याख्या है, और यह यूरोपीय गुह्य अनुभवको भी बहुत ज्ञात है। साररूपमें यह सभी आध्यात्मिक साधनाओंमें पायी जाती है जो भगवान्‌की सर्वव्यापकताको स्वीकार करती है — भारतीय वैदान्तिक अनुभवमें यह है और मुसलमानी योगमें है (केवल सूफी मतमें नही, बल्कि अन्य मतोंमें भी) – मुसलमान लोग दो या तीन नहीं बल्कि भगवान्‌के बहुतसे स्तरोंकी बात भी कहते हैं और उनके बाद ही कोई परात्परतक पहुँचता है। स्वयं इस भावनाका जहांतक प्रश्न है, निश्चय ही देश और कालके अन्दर स्थित व्यक्ति और विश्व और जो कुछ इस विश्व-व्यवस्थाको या किसी भी विश्व-व्यवस्थाको अतिक्रांत करता है, उसके बीच एक अन्तर है। एक वैश्व चेतना है जिसका अनुभव बहुतोंको हुआ है और जो अपने प्रसार और कर्ममें व्यक्तिगत चेतनासे एकदम

भिन्न है, और यदि कोई चेतना विश्वसे परे, अनन्त तथा यथार्थतः शाश्वत है, मात्र कालमें ही विस्तारित नहीं है, तो वह भी अवश्य ही इन दोसे भिन्न होगी। और यदि भगवान् इन तीनोंमें है या अपनेको अभिव्यक्त करते हैं तो क्या यह बुद्धिगम्य नहीं है कि अपने रूपमें, अपनी क्रियामें, वह अपनेको इतना अधिक भिन्न बना सकते है कि, यदि हमें अनुभवके समस्त सत्यको एक साथ मिला-जुला न देना हो, यदि हमें किसी अनिर्वचनीय वस्तुके महज निश्चल अनुभवसे ही अपनेको सीमित न करना हो तो हम भगवान्‌के त्रिविध स्वरूपकी चर्चा करनेको बाध्य है ?

योगसाधना करते हुए इन तीनों सम्भव अनुभूतियोंके साथ व्यवहार करनेके हमारे तरीकोंमें बहुत बड़ा सक्रिय अंतर होता है। यदि हम भगवान्‌को, अपने व्यक्तिगत आत्माके रूपमे नहीं बल्कि केवल उस रूपमें अनुभव करें जो अभी गुप्त रूपमें मेरी समस्त व्यक्तिगत सत्ताको चलाता है और जिसे मैं परदेसे बाहर सामनेकी ओर ले आ सकता हूँ, अथवा यदि मैं अपने अंगोंमें उस देवकी मूर्तिका निर्माण कर सकूँ तो यह है तो एक उपलब्धि पर है एक सीमित उपलब्धि। यदि मैं विश्व-देवको अनुभव करूं, उसके अन्दर समस्त व्यक्तिगत आत्माको खो दूँ तो यह है तो एक बहुत विशाल उपलब्धि, पर मैं विश्व-शक्तिकी महज एक प्रणाली बन जाता हूँ और मेरे लिये कोई भी व्यक्तिगत या दिव्यतः व्यक्तिगत संसिद्धि नहीं रह जाती। यदि मैं केवल परात्पर अनुभूतिमें ऊपर निकल जाऊं तो मैं अपनेको और संसारको, दोनोंको ही परात्पर ब्रह्ममें खो देता हूँ। दूसरी ओर, यदि इनमेंसे कोई भी चीज स्वयं अपने-आपमें मेरा उद्देश्य न हो, बल्कि भगवान्‌को उपलब्ध करना और संसारमें उन्हें अभिव्यक्त करना भी हो, इस उद्देश्यके लिये अभीतक अव्यक्त दिव्य शक्ति — जैसे अतिमानस — को उतार लाना हो तो इन तीनोंका ही सामंजस्यीकरण अपरिहार्य हो जाता है। मुझे उसे नीचे उतार लाना है, और कहांसे मैं उसे उतारूंगा,—क्योंकि वह विश्व-व्यवस्थाके अन्दर अभीतक व्यक्त नही है,—यदि अव्यक्त परात्परसे उसे न उतारूं, जहांतक मुझे जाना होगा और जिसे प्राप्त करना होगा ? मुझे उसे विश्व-व्यवस्थाके अन्दर उतार लाना होगा और, यदि ऐसा हो तो, मुझे विश्वगत भगवान्‌को प्राप्त करना होगा और विश्वात्मा तथा विश्व-शक्तियोंके विषयमें सचेतन होना होगा। परन्तु मुझे उसे यहां मूर्तिमान् करना है,—अन्यथा यह केवल एक प्रभावके रूपमें ही छूट जायगा और कोई भौतिक जगत्‌में स्थापित वस्तु नही होगा, और एकमात्र व्यक्तिके अन्दर विद्यमान भगवान्‌के द्वारा ही ऐसा किया जा सकता है।

ये हैं आध्यात्मिक अनुभवकी गतिशील शक्तियां और यदि भागवत कर्मको पूरा होना है तो मैं इन्हें अंगीकारकरनेको बाध्य हूँ।

*

भगवान्‌से हम 'जो कुछ पा सकते हैं केवल उसीके लिये भगवान्‌को चाहना स्पष्ट ही उचित मनोभाव नही है; परन्तु इन चीजोंके लिये उन्हें चाहना यदि एकदम मना

होता तो ससारमे अधिकांश लोग उनकी ओर बिलकुल न मुडते। मैं समझता हूँ इसी-लिये इसकी स्वीकृति दी गयी है जिसमें कि वे प्रारम्भ कर सकें —— यदि उनमें श्रद्धा हो तो वे जो कुछ चाहते है वह पा सकते है और यह समझ सकते है कि इसे जारी रखना अच्छा है। फिर एक दिन अचानक उन्हें यह विचार सूझ सकता है कि आखिर एकदम यही एकमात्र करणीय नही है, इससे भी अच्छा तरीका और अच्छा भाव है जिसके साथ हम भगवान्के पास जा सकते है। यदि वे वह चीज न पायें जिसे वे चाहते है और फिर भी भगवान्के पास आयें और उनपर विश्वास रखें तो फिर यह सूचित करता है कि वे तैयार हो रहे है। आओ, हम इसे अप्रस्तुत लोगोंके लिये एक प्रकारका शिशु-विद्यालय समझे। परन्तु इसमें सन्देह नही कि वह आध्यात्मिक जीवन नही है, यह केवल एक प्रकारका प्रारम्भिक धार्मिक पथ है। आध्यात्मिक जीवनके लिये तो नियम है कि दे दो और मांगो मत। परन्तु साधक भागवती शक्तिसे अपने स्वास्थ्यको बनाये रखनेके लिये या फिरसे प्राप्त करनेके लिये सहायता करनेकी प्रार्थना कर सकता है यदि वह इसे अपनी साधनाके अंगके रूपमें करे जिसमें कि उसका शरीर आध्यात्मिक जीवनके लिये समर्थ और योग्य हो सके और भागवत कर्मके लिये एक सक्षम यंत्र बन सके।

*

आओ, पहले हम इस बिलकुल अप्रासंगिक विचारको एक ओर अलग रख दें कि यदि भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त होनेपर शाश्वत निरानद या यंत्रणा प्राप्त हो तो हम क्या करेंगे। ऐसी किसी चीजका अस्तित्व ही नही है और इसे व्यर्थ बहसके बीच घुसेड देनेसे प्रमुख प्रश्न मेघाच्छन्न हो जाता है। भगवान् आनंदमय हैं और जो आनन्द वह देते है उसके लिये मनुष्य उन्हें खोज सकता है; परन्तु उनमे दूसरी बहुतसी चीजें भी हैं और मनुष्य उनमेंसे किसी भी चीजके लिये उन्हें खोज सकता है, जैसे शान्तिके लिये, मुक्तिके लिये, ज्ञानके लिये, शक्तिके लिये, दूसरी किसी भी चीजके लिये जिसके प्रति वह आकर्षण या अन्तःप्रेरणा अनुभव करे। किसीके लिये यह कहना बिलकुल सम्भव है कि "मुझे तो भगवान्से शक्ति प्राप्त कर लेने और उनका कार्य या उनका सकल्प सिद्ध करने दो और मै संतुष्ट हूँ, यद्यपि शक्तिका प्रयोग करनेसे कष्ट भी क्यों न उठाना पड़े।" आनन्दको एक अत्यन्त महान् या उल्लासपूर्ण वस्तु समझकर उससे कतराना और केवल या अधिकांशत. शान्ति, मुक्ति, निर्वाणको पानेकी चेष्टा करना सम्भव है। तुम आत्मपरिपूर्णताकी बात करते हो,—मनुष्य परात्परको भगवान् नही बल्कि अपना उच्चतम आत्मा समझ सकता है और उस उच्चतम आत्मामें अपनी सत्ताकी परिपूर्णता पानेका प्रयास कर सकता है; परन्तु परम सुख, परमोल्लास, आनन्द-को उसे आत्मा माननेकी आवश्यकता नही —— मनुष्य उसे मुक्ति, विशालता, ज्ञान, शान्ति, शक्ति, स्थिरता, पूर्णताका आत्मा मान सकता है —— सम्भवतः अत्यंत शांत-स्थिर जिसे किसी वस्तुका एक हिलोर भी इतना भंग न करे कि हर्ष घुस आये। अतएव

यदि कोई कुछ प्राप्त करनेके लिये ही भगवान्‌के पास आता है तो यह सत्य नही है कि मनुष्य अन्य किसी वस्तुके लिये नही वल्कि केवल आनन्द पानेके लिये ही भगवान्‌के पास आ सकता अथवा उनके साथ एकत्व प्राप्त करनेका प्रयास कर सकता है।

यह वात तो एक ऐसी चीजको अतर्भूत करती है जो तुम्हारे सारे तर्कको ही नष्ट-भ्रष्ट कर देगी। क्योंकि ये भागवत प्रकृतिके विभिन्न रूप, उसकी शक्तियां, भागवत सत्ताके स्तर हैं,—परन्तु भगवान् स्वयं कोई निरपेक्ष वस्तु हैं, कोई स्वयसत् सत्ता हैं, अपने रूपोंसे सीमित नहीं है,—अद्‌भुत और अनिर्वचनीय हैं, उन (रूपों) के कारण उनका अस्तित्व नहीं है, वल्कि उनके कारण उन (रूपों) का अस्तित्व है। इससे यह निष्कर्प निकलता है कि यदि वह अपने रूपोंके द्वारा आकर्पित करते है तो वह अपने नितांत निरपेक्ष आत्मस्वरूपके द्वारा और भी अधिक आकर्पित कर सकते हैं जो उनके किसी रूपसे कही अधिक मधुर, शक्तिसंपन्न और गभीर है। उनकी शांति, आनन्दोल्लास, ज्योति, स्वातंत्र्य, सौन्दर्य अद्‌भुत और अनिर्वचनीय हैं, क्योंकि वह स्वयं ही जादुई ढंगसे, रहस्यमय रूपसे, चरम रूपसे अद्‌भुत और अनिर्वचनीय हैं। तव हम उन्हें उनके आश्चर्यमय और अकथनीय स्वरूपके लिये उनकी खोज कर सकते हैं और केवल उनके किसी एक या दूसरे रूपके लिये ही नहीं कर सकते। उसके लिये वस आवश्यक वात यह है कि सर्वप्रथम, हमें उस विन्दुपर पहुँच जाना होगा जहां चैत्य पुरुप अपने अन्दर भगवान्‌के लिये यह खिंचाव अनुभव करता है और, द्वितीयत:, हमें उस विन्दुपर पहुँच जाना होगा जहां मन, प्राण और दूसरी प्रत्येक चीज भी यह अनुभव करती है कि यही वह चीज थी जिसका अभाव वह अनुभव करती थी और आनन्दके लिये जो उपरितलीय खोज थी या अन्य जो कुछ था वह सव केवल प्रकृतिको उस सर्वोच्च चुंवककी ओर खींचनेका एक वहाना था।

तुम्हारा यह तर्क कि चूँकि हम जानते हैं कि भगवान्‌के साथ प्राप्त एकत्व आनन्द प्रदान करेगा, इसलिये अवश्य ही हम आनन्दके लिये उस एकत्वकी खोज करते हैं, सही नही है और न उसमें कोई वल है। जो व्यक्ति किसी रानीको प्यार करता है वह यह जान सकता है कि यदि वह उसके प्रेमका प्रत्युत्तर देगी तो उसे शक्ति, पद प्रतिष्ठा, धन प्राप्त होगा और फिर भी यह आवश्यक नही कि वह शक्ति, पद-प्रतिष्ठा और धनके लिये ही उसका प्रेम चाहे। वह उसे उसीके लिये प्यार कर सकता है। और यदि वह कोई रानी न भी होती तो वह उसे उसी तरह प्यार कर सकता; उसे किसी भी प्रकारका प्रतिफल पानेकी कोई आशा नहीं हो सकती और फिर भी वह उसे प्यार कर सकता, उसकी पूजा कर सकता, उसीके लिये जी सकता, उसीके लिये मर सकता है महज इस कारणसे कि वह वह है। ऐसा घटित हुआ है और मनुष्योंने स्त्रियोंको भोग या उत्तरकी किसी आशाके विना प्यार किया है, उम्र हो जाने और सौन्दर्यके चले जानेके वाद भी सतत और तीव्र रूपमें प्यार किया है। देशभक्त अपने देशको केवल तभी प्यार नही करते जव वह समृद्ध, शक्तिशाली और महान् होता है तथा उसके पास उन्हें देनेके लिये वहुत होता है। देशके प्रति प्रेम उस समय अत्यन्त तीव्र, आवेगपूर्ण, अनन्य हुआ है जव देश गरीव, पतित, दुःखी था, देनेके लिये उसके पास कुछ

न था, वरन् उसकी सेवाका पुरस्कार था हानि उठाना, मार खाना, उत्पीड़न, कारावास, और मृत्यु। फिर भी यह जानते हुए कि वे उसे स्वतंत्र नहीं देखेंगे मनुष्य उसके लिये जीये हैं, मरे है और उसकी उन्होंने सेवा की है — केवल उसके लिये यह सब किया है, न कि जो कुछ वह दे सकता था उसके लिये। मनुष्योंने सत्यको केवल उसके तईं प्रेम किया है और सत्यका जो कुछ भी अश वे खोज सकते या पा सकते थे उसके लिये उन्होंने दरिद्रता, अत्याचार और मृत्युको स्वीकार किया। यहांतक कि वे सर्वदा उसकी खोज-से ही सतुष्ट रहे, उन्होंने उसे नही पाया, और फिर भी अपनी खोजको कभी नही छोड़ा। इसका अर्थ क्या है ? यही कि मनुष्य, देश, सत्य तथा इनके अतिरिक्त दूसरी चीजों-को भी उन्हींके लिये प्यार किया जा सकता है और अन्य किसी चीजके लिये नहीं, किसी परिस्थिति अथवा सहवर्ती गुण अथवा परिणामरूप भोगके लिये नहीं, बल्कि किसी निरपेक्ष वस्तुके लिये कर सकता है जो या तो उनके अन्दर या उनके रूप और परिस्थितिके पीछे विद्यमान होती है। भगवान् एक पुरुष या स्त्री, एक भूभाग या एक मत, सम्मति, आविष्कार या सिद्धान्त से कही अधिक हैं। वह सभी व्यक्तियोंके परेके व्यक्ति हैं, सभी आत्माओंके स्वधाम और स्वदेश है, वह सत्य हैं जिसके केवल अपूर्ण रूप सभी सत्य हैं। और तब क्या उन्हे केवल उन्हीके तईं नहीं प्यार किया जा सकता और खोजा जा सकता, उसी तरह और उससे भी अधिक जिस तरह कि इन सब चीजोंको इनके घटिया रूपो और प्रकृतिमें भी मनुष्योंने प्यार किया और खोजा है ?

तुम्हारी तर्कणा जिस चीजकी अवहेलना करती है वह वह चीज है जो मनुष्य और उसकी खोजके अन्दर और साथ ही भगवान्‌के अन्दर निरपेक्ष है या वैसा होनेकी प्रवृत्ति रखती है — कुछ ऐसी चीज है जिसकी व्याख्या मानसिक युक्ति-तर्क या प्राणिक प्रयोजनसे नही की जा सकती। एक प्रयोजन तो है, पर प्राणिक कामनाका नही, अन्त-रात्माका एक प्रयोजन है। एक मुक्ति है पर मनकी नही, बल्कि आत्माकी मुक्ति है। एक माग भी है, पर वह मांग है जो अन्तरात्माकी सहज-स्वाभाविक अभीप्सा है, प्राण-की कोई लालसा नही। यही वह चीज है जो पूरा-पूरा आत्मदान करनेपर ऊपर आ जाती है, उस समय ऊपर आ जाती है जब "मैं इस वस्तुके लिये तुम्हे चाहता हूँ, मैं उस वस्तुके लिये तुम्हें चाहता हूँ" बदलकर महज यह रह जाता है कि "मैं तुम्हारे लिये तुम्हें चाहता हूँ।" यही वह भगवान्‌में विद्यमान आश्चर्यजनक और अनिर्वचनीय निरपेक्ष वस्तु है जिसे 'अ' सूचित करता है जब वह यह कहता है कि "न तो ज्ञान, न यह, न वह, बल्कि कृष्ण।" उसका आकर्षण निस्सन्देह एक निश्चित विधान है, हमारे अन्दरका आत्मा महत्तर आत्माकी अनिवार्य पुकारके कारण भगवान्‌की ओर खिच जाता है, अन्तरात्मा अपनी पूजाके विषयकी ओर वर्णनातीत ढंगसे खिच जाता है क्योंकि यह अन्यथा हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह यह है और वह (भगवान्) वह हैं। इसके विषयमें बस इतना ही कहा जा सकता है।

मैंने यह सब केवल यह समझानेके लिये लिखा है कि जब मैं भगवान्‌के लिये, अन्य किसी चीजके लिये नहीं, भगवान्‌को खोजनेकी बात कहता हूँ तब मेरा मतलब क्या होता है — जहांतक कि यह समझाने योग्य है। समझाने योग्य हो या न हो,

आध्यात्मिक अनुभवका यह एक अत्यन्त प्रधान तथ्य है। आत्मदानका संकल्प केवल इसी तथ्यकी एक अभिव्यक्ति है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं यह आपत्ति करता हूँ कि तुम आनन्दकी मांग मत करो। तुम उसकी मांग अवश्य करो जबतक कि उसकी मांग करना तुम्हारी सत्ताके किसी भागकी एक आवश्यकता है — क्योंकि ये ही वे चीजें हैं जो भगवान्की ओर ले जाती हैं जबतक कि निरपेक्ष आंतर पुकार, जो कि सब समय विद्यमान रहती है, ठेलकर उपरितलपर नहीं आ जाती। परन्तु वास्तवमें यही वह चीज है जिसने आरम्भसे ही खींचा है और पीछेकी ओर विद्यमान है — यह सुनिश्चित आध्यात्मिक विधान है, भगवान्को पानेकी अन्तरात्माकी निरपेक्ष आवश्यकता है।

मैं नही कहता कि कोई आनन्द नहीं होना चाहिये। स्वयं आत्मदान ही एक बड़ा गंभीर आनन्द है और जो कुछ वह लाता है वह अपने पीछे एक अवर्णनीय आनन्द वहन करता है — और यह अन्य किसी पद्धतिकी अपेक्षा इस पद्धतिसे अधिक शीघ्र आता है और मनुष्य लगभग यह कह सकता है कि "निःस्वार्थ आत्मदान ही सर्वोत्तम नीति है" केवल मनुष्य इसे नीतिके रूपमें नही करता। आनन्द उसका परिणाम है,पर यह परिणामके लिये नहीं किया जाता, बल्कि स्वयं आत्मदानके लिये और स्वयं भगवान्के लिये किया जाता है — एक सूक्ष्म भेद है, मनको ऐसा प्रतीत हो सकता है, पर बहुत सच्चा भेद है।

*

यह कहना मेरा आशय नहीं था कि आनन्दके लिये अभीप्सा करना गलत है। मैंने बस यह सूचित करना चाहा था कि आनन्दको स्थायी रूपसे अधिकृत करनेकी (इसकी सूचनाएं, स्पर्श, निम्न प्रवाह पहले भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है) शर्त्त क्या है; इसके लिये प्रमुख शर्त्त है चेतनाका परिवर्तन, शान्ति, ज्योति आदिका आना, वह सब चीजें जो सामान्य प्रकृतिसे अध्यात्मभावापन्न प्रकृतिमें जाना संभव बनाती हैं। और ऐसी बात होनेके कारण यह अधिक अच्छा है कि चेतनाके इस परिवर्तनको साधनाका प्रथम उद्देश्य बनाया जाय। दूसरी ओर, जो चेतना आनन्दको धारण करनेमें अभी समर्थ नहीं है उसमें तुरत सतत आनन्दके लिये दबाव डालनेसे, उससे भी अधिक इसके स्थानपर निम्नतर (प्राणिक) हर्षों और सुखोंको बैठानेसे इन आध्यात्मिक अनुभवोंका प्रवाह बहुत अच्छी तरह बन्द हो सकता है जो वस्तुतः अविच्छिन्न आनन्दोल्लासको संभव बनाते हैं। परन्तु निश्चय ही मेरा यह कहनेका आशय कभी नहीं था कि आनन्दको प्राप्त करना नहीं है या यह आग्रह करनेका नहीं था कि तुम निरानन्द ब्रह्मकी ओर जाओ। इसके विपरीत, मैंने यह कहा था कि आनन्द योगका मुकुट है, जिसका अर्थ निस्संदिग्ध यह है कि यह उच्चतम सिद्धिका एक अंग है।

जो कुछ मनुष्य सच्चाईके साथ और निरन्तर भगवान्से चाहता है उसे भगवान् अवश्य देते हैं। तब यदि तुम आनन्द चाहो और लगातार चाहते रहो तो तुम अन्तमें

उसे अवश्य प्राप्त करोगे। बस, एकमात्र प्रश्न यह है कि तुम्हारी खोजकी प्रमुख शक्ति क्या होनी चाहिये, कोई प्राणिक माग अथवा कोई चैत्य अभीप्सा जो हृदयके भीतरसे प्रकट हो और मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक चेतनातक अपनेको संचारित कर दे। चैत्य अभीप्सा सबसे बडी शक्ति है और सबसे छोटा पथ बनाती है — और इसके अलावा, हमे अधिक शीघ्र या देरसे उस पथपर आना ही होगा।

*

भगवान्‌को प्राप्त करना निस्सन्देह आध्यात्मिक सत्य और आध्यात्मिक जीवन-की खोज करनेका प्रथम कारण है; यही एकमात्र अपरिहार्य चीज है और बाकी सब इसके बिना कुछ नही है। भगवान् जब एक बार प्राप्त हो जाते हैं तो फिर उन्हें अभि-व्यक्त करना है,—अर्थात्, सबसे पहले अपनी निजी सीमित चेतनाको भागवत चेतना-मे रूपातरित करना है, अनन्त शान्ति, ज्योति, प्रेम, शक्ति, आनन्दमें निवास करना है, अपने मूल स्वभावमें वही बन जाना है और, उसके परिणामस्वरूप, अपनी सक्रिय प्रकृतिमें उसीका पात्र, प्रणालिका, यंत्र बन जाना है। एकत्वके तत्त्वको जड़-भौतिक स्तर पर क्रियामे ले आना या मानवताके लिये कार्य करना सत्यका एक मानसिक अशुद्ध रूपां-तर हैं — ये चीजें आध्यात्मिक प्रयासका पहला सच्चा लक्ष्य नही हो सकती। हमें आत्मा-को, भगवान्‌को प्राप्त करना चाहिये, फिर उसके बाद ही हम यह जान सकते हैं कि कौनसा काम आत्मा या भगवान् हमसे चाहते है। तबतक हमारा जीवन और कर्म भगवान्‌को पानेमें केवल एक साहाय्य या साधन हो सकते है और इनका कोई दूसरा उद्देश्य नही होना चाहिये। हम जैसे-जैसे आतरिक चेतनामें वर्द्धित होते है, अथवा जैसे-जैसे भगवान्‌का आध्यात्मिक सत्य हमारे अंदर वर्द्धित होता है, हमारा जीवन और कर्म भी निस्सन्देह अधिकाधिक उसीसे प्रवाहित होने चाहियें, उसके साथ एक हो जाने चाहियें। परन्तु पहलेसे ही अपनी सीमित मानसिक धारणाओंके द्वारा यह निश्चय कर लेना कि उन्हे कैसा होना चाहिये, भीतर आध्यात्मिक सत्यके विकासको बाधा पहुँचाना है। जैसे-जैसे वह वर्द्धित होगा हम भागवत ज्योति और सत्यको, भागवत शक्ति और बलको, भागवत पवित्रता और शान्तिको अपने कार्य करते हुए, हमारे कर्मो और साथ ही हमारी चेतनाके साथ व्यवहार करते हुए, हमें भगवान्‌की मूर्त्ति-मे पुनर्गठित करनेके लिये उनका व्यवहार करते हुए, कूड़े-करकटको हटाते हुए, उसके स्थानमें आत्माके विशुद्ध सोनेको स्थापित करते हुए अनुभव करेंगे। जब हमारे अन्दर सदा-सर्वदा भागवत उपस्थिति बनी रहती है और चेतना रूपांतरित होती है, केवल तभी हमे यह कहनेका अधिकार होता है कि हम भौतिक स्तरपर भगवान्‌को अभि-व्यक्त करनेके लिये तैयार है। किसी मानसिक आदर्श या सिद्धांतको पकड़े रहने और उसे आंतरिक क्रियापर आरोपित करनेपर किसी मानसिक अनुभवसे अपने-आपको सीमित कर देनेका या भगवान्‌के साथ पूर्ण संपर्क और एकत्वके अन्दर अपनी सच्ची वृद्धि तथा अपने जीवनमें होनेवाले भगवान्‌की इच्छाके उन्मुक्त तथा प्रगाढ़ प्रवाहको

अधूरा रूप प्रदान करके उन्हें अवरुद्ध करने या यहांतक कि मिथ्या बना देनेका खतरा उत्पन्न हो जाता है। यह वस्तुओंको ठीक-ठीक समझनेमें होनेवाली एक ऐसी भूल है जिसकी ओर आजका मन विशेष रूपसे झुका हुआ है। एकमात्र आवश्यक वस्तुसे हमें दूर हटानेवाली इन गौण वस्तुओंको सामने रखनेकी अपेक्षा दिव्य शान्ति या ज्योति या आनन्दके लिये, जिन्हें भगवान्की उपलब्धि प्रदान करती है, भगवान्की ओर जाना बहुत अधिक अच्छा है। भौतिक जीवन तथा साथ ही आंतरिक जीवनका भी दिव्यीकरण उस वस्तुका अंग है जिसे हम भागवत योजनाके रूपमें देख रहे हैं, पर यह केवल आंतरिक उपलब्धिका वह बहिःप्रवाह होनेपर ही संसिद्ध हो सकती है जो एक ऐसी चीज है जो भीतरसे बाहरकी ओर वर्द्धित होती है, किसी मानसिक सिद्धांतको क्रियान्वित करनेसे नहीं संसिद्ध हो सकती।

तुमने पूछा है कि मानसिक खोजको जीवंत आध्यात्मिक अनुभवमें परिणत करनेके लिये कौनसी साधनाका अनुसरण करना चाहिये। सबसे पहली आवश्यकता है अपने अन्दर अपनी चेतनाको एकाग्र करनेका अभ्यास करना। साधारण मानवमन ऊपरी सतहपर क्रिया करता है जो यथार्थ आत्माको छिपा देती है। परन्तु हमारे भीतर एक दूसरी, एक प्रच्छन्न चेतना है जो उपरितलीय चेतनाके पीछे है और जिसमें हम यथार्थ आत्मा तथा प्रकृतिके एक वृहत्तर और गभीरतर सत्यके विषयमें सचेतन हो सकते हैं, आत्माका साक्षात्कार कर सकते और प्रकृतिको मुक्त तथा रूपांतरित कर सकते है। ऊपरी मनको स्थिर-अचंचल बनाना और अपने भीतर निवास करना आरम्भ करना इस एकाग्रताका लक्ष्य है। उपरितलीय चेतनासे भिन्न इस सत्य-चेतनाके दो मुख्य केंद्र हैं, एक तो हृदयमें (स्थूल हृदयमें नहीं, बल्कि वक्षस्थलके मध्यमें अवस्थित हृत्केंद्रमें) है और दूसरा मस्तकमें है। हृदयमें एकाग्र होनेपर भीतरकी ओर उद्घाटन होता है और इस अन्तर्मुखी उद्घाटनका अनुसरण करने और गहराईमें जानेपर मनुष्य अन्तरात्मा या चैत्य पुरुषके, व्यक्तिमें विद्यमान दिव्य तत्त्वके विषयमें सज्ञान होता है। जब यह पुरुष अनावृत हो जाता है, तो वह आगेकी ओर आना, प्रकृतिपर शासन करना, उसे और उसकी सभी क्रियाओं और गतिविधियोंको परम सत्यकी ओर, भगवान्की ओर मोड़ना, और जो कुछ ऊपर है उस सबको उसके अंदर उतार लाना आरम्भ करता है। वह भागवत उपस्थितिका ज्ञान प्रदान करता है, उच्चतम देवताके प्रति सत्ताका आत्मोत्सर्ग सिद्ध करता है, और हमारी प्रकृतिके अन्दर एक महत्तर शक्ति और चेतनाका अवतरण कराता है जो हमारे ऊपर प्रतीक्षा कर रही हैं। भगवान्के प्रति अपने-आपको उत्सर्ग करनेकी भावना तथा इस अंतर्मुखी उद्घाटन और हृदयमें भागवत उपस्थितिकी अभीप्साके साथ हृत्केंद्रमें एकाग्र होना पहला पथ है और, यदि यह करना सम्भव हो तो,स्वाभाविक प्रारम्भ है; क्योंकि इसका परिणाम जब एक बार प्राप्त हो जाता है तो दूसरे पथसे आरम्भ करनेकी अपेक्षा वह आध्यात्मिक पथको बहुत अधिक आसान और सुरक्षित बना देता है।

वह दूसरा पथ है मस्तकमें, मनोमय केंद्रमें एकाग्र होना। यह यदि उपरितलीय मनमें निश्चल-नीरवता ले आता है तो यह हमारे भीतर एक आंतर, विशालतर, गभीर-

तर मनको खोल देता है जो आध्यात्मिक अनुभव और आध्यात्मिक ज्ञान ग्रहण करनेमें अधिक सक्षम होता है। परन्तु एक बार यहां एकाग्र हो जानेपर मनुष्यको अपने निश्चल-नीरव मानसिक चेतनाको ऊपर उन सबकी ओर खोलना चाहिये जो मनसे ऊपर है। कुछ समय बाद मनुष्य यह अनुभव करता है कि चेतना ऊपर उठ रही है और अन्तमे वह उस आवरणके परे चली जाती है जिसने अबतक उसे शरीरमें आबद्ध कर रखा है और सिरसे ऊपर एक ऐसा केंद्र प्राप्त कर लेती है जहां वह अनन्तके अन्दर मुक्त हो जाती है। वहा वह विश्वात्मा, भागवत शान्ति, ज्योति, शक्ति, ज्ञान, आनन्दके सपर्कमे आना, उन्हीमें प्रवेश करना और वे ही बन जाना, प्रकृतिके अन्दर इन चीजोंका अवतरण अनुभव करना आरम्भ कर देती है। मनमें स्थिरता प्राप्त करने और ऊपर आत्मा तथा भगवान्‌को उपलब्ध करनेकी अभीप्सा रखते हुए मस्तकमें एकाग्र होना एकाग्रताका दूसरा तरीका है। परन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मस्तकमें चेतनाको एकाग्र करना केवल इस बातकी तैयारी है कि चेतना ऊपरके केंद्रमें आरोहण कर जाय; अन्यथा, मनुष्य अपने निजी मनमें और उसकी अनुभूतियोंमें ही आबद्ध हो सकता है अथवा अधिक-से-अधिक आध्यात्मिक परात्परतामें निवास करनेके लिये उसके अन्दर ऊपर उठनेके बदले ऊपरके परम सत्यका केवल एक प्रतिबिंब ही उपलब्ध कर सकता है। कुछ लोगोंके लिये मनमें एकाग्र होना अधिक आसान होता है, कुछ लोगोंके लिये हृदय-केंद्रमें एकाग्र होना आसान होता है; कुछ लोग दोनों स्थानोंमें बारी-बारीसे एकाग्र होनेमें समर्थ होते हैं — पर, यदि कोई इसे कर सके तो, हृदय-केंद्रसे प्रारम्भ करना अधिक वांछनीय है।

साधनाका दूसरा पक्ष प्रकृतिकी, मनकी, प्राणात्मा या प्राणशक्तिकी, भौतिक सत्ताकी क्रियाओंसे सम्बन्ध रखता है। यहांपर सिद्धांत यह है कि प्रकृतिको इस प्रकार आंतरिक उपलब्धिके साथ समस्वर कर देना चाहिये कि साधक दो प्रतिकूल भागोंमें विभक्त न हो जाय। यहां कई साधनाएं या प्रक्रियाएं सम्भव है। एक है सभी क्रियाओंको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर देना और आतरिक पथप्रदर्शन तथा साधककी प्रकृतिको अपने हाथोंमें ले लेनेके लिये एक उच्चतर दिव्य शक्तिका आवाहन करना। यदि अन्दरकी ओर अन्तरात्माका उद्‌घाटन हो जाय, यदि चैत्य पुरुष सामने आ जाय तो फिर कोई बड़ी कठिनाई नहीं रह जाती — उस समय उस उद्‌घाटनके साथ-साथ आता है चैत्य विवेक, लगातार सूचनाओंका आना, अन्तमें एक प्रकारका प्रशासन जो सभी अपूर्णताओंको प्रकट करता और धीरे-धीरे तथा धैर्यपूर्वक दूर करता है, समुचित मानसिक तथा प्राणिक क्रियाओंको ले आता और भौतिक चेतनाका भी पुनर्निर्माण करता है। दूसरी पद्धति है मन, प्राण और भौतिक सत्ताकी क्रियाओंसे अनासक्त होकर पीछे हट आना, उनकी क्रियाओंको व्यक्तिके अन्दर सामान्य प्रकृतिकी केवल अभ्यासगत रचना समझना जो विगत क्रियाओंद्वारा हमपर थोप दी गयी है, उन्हें अपनी सच्ची सत्ताका कोई अंग न समझना; जितने अंशमें मनुष्य ऐसा करनेमें सफल होता है उतने अंशमें वह अनासक्त होता जाता है, मन और उसकी क्रियाओंको अपना निजी स्वरूप नहीं समझता, प्राण और उसकी क्रियाओंको अपना निजी स्वरूप

नही मानता, शरीर और उसकी क्रियाओको अपना निजी स्वरूप नही स्वीकार करता, वह अपने भीतर स्थित एक आतर पुरुप — आंतर मत, आंतर प्राण, आतर शरीर — निश्चल-नीरव, शात, मुक्त, अनासक्त पुरुपके विपयमें सचेतन हो जाता है जो ऊपरके यथार्थ आत्माको प्रतिबिम्बित करता और उसका प्रत्यक्ष प्रतिनिधि बन सकता है, इसी आतरिक नीरव पुरुपसे नि सृत होता है उन सब चीजोका परित्याग जो त्याग करने योग्य होती है, केवल उन्ही चीजोका ग्रहण जो रखने योग्य और रूपातरित होने योग्य हो सकती है, पूर्णत्वकी प्राप्तिका एक आतरिक सकल्प अथवा प्रकृतिके परिवर्तन-के लिये पग-पगपर जो कुछ करना आवश्यक है उसे करनेके लिये भागवत शक्तिका आवाहन। यह मन, प्राण और शरीरको भी अतरतम चैत्य सत्ताकी ओर और उसके पथप्रदर्शक प्रभाव अथवा उसके प्रत्यक्ष पथप्रदर्शनकी ओर उद्घाटित कर सकता है। अधिकाश प्रसगोमे ये दोनो पद्धतिया एक साथ प्रकट होती और कार्य करती है तथा अन्तमे घुलमिलकर एक ही पद्धति बन जाती है। परन्तु दोनोमेसे किसी एकसे, जो अत्यन्त स्वाभाविक और करनेमे आसान महसूस हो, आरम्भ किया जा सकता है।

अन्तमें, सभी कठिनाइयोमे, जहा व्यक्तिगत प्रयास अवरुद्ध हो जाता है, गुरुकी सहायता हस्तक्षेप कर सकती और सिद्धिके लिये जो कुछ भी आवश्यक हो अथवा जो कुछ तत्कालिक स्थितिमें आवश्यक हो, उसे सपन्न कर सकती है।

*

यह योग, अन्य किसी भी वस्तुको नही, एकमात्र भागवत सत्यकी खोज करने और उसे मूर्त्तिमान करनेकी अभीप्सामे ही जीवनको सपूर्ण रूपसे उत्सर्ग कर देनेकी मांग करता है। जिस बाहरी उद्देश्य और कर्मके साथ परम सत्यकी खोजका कोई संपर्क नही उसके तथा भगवान्‌के बीच अपने जीवनको विभक्त कर देना इस योगमें स्वीकार्य नही है। इस तरहकी कोई मामूलीसे मामूली चीज भी योगमें सफलताका आना असंभव बना देती है।

तुम्हें अपने अन्दर पैठ जाना होगा और आध्यात्मिक जीवनके प्रति पूर्ण आत्मोत्सर्ग कर देना होगा। यदि तुम योगमे सफल होना चाहते हो तो तुम्हें अपनी सभी मानसिक अभिरुचियोसे चिपकना छोड़ देना होगा, प्राणिक लक्ष्यों और हितों और आसक्तियोंके प्रति संपूर्ण आग्रहको दूर भगाना होगा एवं परिवार, मित्रगण और देशके प्रति अहंकारयुक्त लगावको तोड देना होगा। जिस किसी चीजको बहिर्गामी शक्ति या कर्मके रूपमें आगे आना हो उसे पहले उपलब्ध सत्यसे आना चाहिये न कि निम्नतर मन या प्राणिक आशयोंसे, भागवत संकल्पसे आना चाहिये न कि व्यक्तिगत इच्छा या अहंकी अभिरुचियोंसे।

*

यह आध्यात्मिक प्रयासका एक सर्वस्वीकृत सिद्धांत है कि साधकको बिना कुछ बचाये सब कुछ होम देनेके लिये तैयार रहना चाहिये जिसमे कि वह एक अध्यात्म-भावापन्न चेतनाके द्वारा भगवान्तक पहुँच जाय। यदि उसका लक्ष्य मानसिक, प्राणिक और भौतिक स्तरपर ही आत्मविकास करना हो तो बात दूसरी है — वह जीवन तो अहका जीवन है जिसमे अन्तरात्मा अविकसित या अर्द्ध-विकसित अवस्थामें पीछे रख दिया जाता है। परन्तु आध्यात्मिक साधक जिस एकमात्र विकासकी चेष्टा करता है वह है चैत्य और आध्यात्मिक चेतनाका विकास और वह भी केवल इसलिये कि वह भगवान्को प्राप्त करने और उनकी सेवा करनेके लिये आवश्यक है, स्वयं उस विकासकी खातिर नही। जिस मानसिक, प्राणिक और भौतिक विकासको अथवा अंतर्निहित शक्तियोके उपयोगको आध्यात्मिक जीवनका एक अंग और भगवान्के लिये एक यंत्र बनाया जा सकता है, केवल उन्हीको इस शर्त्तपर रखा जा सकता है कि वे रूपांतरके लिये आत्मसमर्पण करे और आध्यात्मिक आधारपर उनका पुनर्गठन किया जाय। परन्तु उन्हे स्वय अपने लिये अथवा अहके खातिर अथवा अपनी निजी अधिकृत वस्तु या अपने निजी उद्देश्यके लिये व्यवहृत वस्तु समझकर नही, बल्कि केवल भगवान्के लिये रखना चाहिये।

जेम्स (James) के वक्तव्यका जहांतक प्रश्न है, वह निस्सन्देह सत्य है, सिवा उतने अशमें जितनेमे कि राजनीतिज्ञ अपनी छुट्टीके समयोंको शौकके रूपमें अन्य चीजोमे लगा सकता है, पर वह यदि एक राजनीतिज्ञके रूपमें सफल होना चाहे तो उसे अपनी श्रेष्ठतम शक्तियोको राजनीतिमे ही लगाना चाहिये। विपरीत क्रममें, यदि शेक्सपियर और न्यूटनने अपनी शक्तियोंका कुछ अंश राजनीतिमें खर्च किया होता तो वे काव्य और विज्ञानमे वैसी ऊचाईतक जानेमें समर्थ नही हुए होते अथवा यदि वे हुए भी होते तो बहुत कम ही कुछ कर पाये होते। प्रमुख शक्तियोंको एक ही वस्तुपर एकाग्र करना होता है, दूसरी चीजें अवकाशके समयकी केवल गौण कार्य ही हो सकती है अथवा वे कार्यकी अपेक्षा मन बहलाव या दिलचस्पीकी चीजें हो सकती है जो सामान्य मनोविकासको बनाये रखनेके लिये उपयोगी हों।

सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि जीवनका लक्ष्य क्या है। जिस व्यक्ति-का लक्ष्य उच्चतम आध्यात्मिक सत्य और दिव्य जीवनकी खोज करना और प्राप्त करना है उसके लिये, मै नही समझता कि, किसी विश्व-विद्यालयके ओहदेका कोई विशेष महत्त्व हो सकता है, और न मैं यह देखता हूँ कि इन दोनों चीजोंमें कोई व्याव-हारिक सबध ही हो सकता है। यदि लक्ष्य एक लेखक और मात्र बौद्धिक स्तरपर चिंतन करनेवालेका जीवन हो जिसमें कोई उच्चतर उड़ान या गभीरतर अन्वेषण न हो तो फिर बात दूसरी हो सकती है। मैं नहीं समझता कि इस प्रकारके कार्यमें अपनेको लगानेसे जो तुमने इनकार कर दिया है उसका कारण कोई दुर्बलता है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि तुम्हारी प्रकृतिका कोई तुच्छ भाग, और सो भी कोई गभीरतम या प्रबलतम भाग नही, उससे अथवा उस वातावरणसे संतुष्ट होता जिसमें कि वह काम किया गया होता।

ऐसे विषयोंमे चिंतनशील मन नही वल्कि प्राण-पुरुष ही — प्राणशक्ति और कामनामय प्रकृति, या कम-से-कम उसका कोई भाग ही — साधारणतया मनुष्योंके कार्य और चुनावको निश्चित करता है, जब कि कोई ऐसी बाहरी आवश्यकता या दबाव नही होता जो कि बाध्य करता या मुख्यत. निर्णयको प्रभावित करता है। मन केवल उसकी व्याख्या करनेवाला, समर्थन करनेवाला और योजना बनानेवाला कार्य-कर्त्ता होता है। तुम्हारे साधना ग्रहण कर लेनेके कारण तुम्हारी प्राण-सत्ताके इस भागपर ऊपरसे और भीतरसे दवाव पडा है जिसने प्राचीन कामनाओं और प्रवृत्तियो-के प्रति उसके झुकावको, उसकी पुरानी लीकोंको, उन सब चीजोको निरुत्साहित कर दिया है जिन्होंने पहले उसकी दिशाका निश्चय किया होता; यह प्राण, जैसा कि वहुधा उसका एक आरम्भिक परिणाम होता है, नीरव और उदासीन हो गया है। यह अब प्रवल रूपसे साधारण जीवनकी ओर धावित नही होता; अभीतक इसने चैत्य केंद्र और उच्चतर मानसिक सकल्पसे या उनके द्वारा कोई पर्याप्त प्रकाश और प्रेरणा नही ग्रहण किया है जिससे कि वह कोई नया प्राणिक गतिविधि ग्रहण करे और एक नवीन जीवनके पथपर तेजीसे दौड़ पड़े। यही उस उदासीन-भावका कारण है जिसकी तुम चर्चा करते हो तथा उसीसे भविष्य धुँधला दीखता है।

*

यदि तुम्हारा अन्तरात्मा सर्वदा रूपांतरके लिये अभीप्सा करता है तो बस उसीका अनुसरण तुम्हे करना होगा। भगवान्‌को खोजना या यों कहें कि भगवान्‌के किसी रूपको चाहना — क्योंकि यदि किसीमें रूपांतर साधित न हो तो वह संपूर्ण रूपसे भगवान्‌को उपलब्ध नहीं कर सकता — कुछ लोगोंके लिये पर्याप्त हो सकता है, पर उन लोगोंके लिये नहीं हो सकता जिनके अन्तरात्माकी अभीप्सा पूर्ण दिव्य परि-वर्तन साधित करनेकी है।

*

कृष्ण और शिव और शक्तिके बीच 'अ' के अन्तःकरणकी हिचकिचाहट पर मैं अपनी हसी रोक नही सकता। यदि कोई भगवान्‌के एक रूप या दो रूपोंसे आकर्षित हो तो यह विलकुल ठीक है, परन्तु वह यदि एक साथ ही अनेक रूपोंकी ओर आकर्षित हो तो उसे इसके लिये संतप्त होनेकी आवश्यकता नहीं। जिस मनुष्यका कुछ विकास हो चुका है उसकी प्रकृतिमें आवश्यक रूपसे कई पक्ष होते है और यह विलकुल स्वा-भाविक है कि भगवान्‌के विभिन्न रूप उसमें विद्यमान विभिन्न व्यक्तित्वोंको आकर्षित या शासित करें: वह उन सबको स्वीकार कर सकता और उन्हें एकमेव भगवान् तथा एकमेव आद्याशक्तिके अन्दर समन्वित कर सकता है जिनकी ये सभी अभिव्यक्तियां है।

विभाग दो

समन्वयात्मक पद्धति और पूर्णयोग

समन्वयात्मक पद्धति और पूर्णयोग

अब 'अ' के प्रश्नके विषयमें—यह केवल भक्तिका योग नहीं है; यह एक पूर्ण योग है अथवा कम-से-कम वैसा होनेका दावा करता है, जिसका अर्थ है, समस्त सत्ताको उसके सभी भागोंके साथ भगवान्की ओर मोड़ देना। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें ज्ञान और कर्म तथा साथ ही भक्ति भी होनी चाहिये, और इसके अलावा, इसमे प्रकृतिके पूर्ण परिवर्तनको, पूर्णताकी खोजको भी सम्मिलित करना चाहिये जिसमे कि प्रकृति भगवान्की प्रकृतिके साथ एक हो सके। केवल हृदय ही वह वस्तु नहीं है जिसे भगवान्की ओर मुड़ना और बदलना है, बल्कि मनको भी—अतएव ज्ञान आवश्यक है, और संकल्प-शक्ति तथा कर्म एवं सृष्टिकी क्षमताको भी—अतएव कर्म भी आवश्यक है। इस योगमें अन्य योगोंकी पद्धतियां ली गयी हैं — जैसे इस प्रकृति- पुरुषकी पद्धति-को, परन्तु अन्तिम लक्ष्यमें एक प्रकारका अन्तर रखते हुए। पुरुष प्रकृतिसे पृथक् होता है, पर उसका परित्याग करनेके लिये नहीं, बल्कि स्वयं अपनेको और प्रकृतिको जाननेके लिये तथा अब और उसकी कठपुतली बने रहनेके लिये नहीं बल्कि प्रकृतिका ज्ञाता, प्रभु और धारक बननेके लिये; परन्तु वैसा बन जानेपर या वैसा बनते समय भी मनुष्य वह सब भगवान्को अर्पित कर देता है। कोई ज्ञानसे या कर्मसे या भक्तिसे अथवा परिपूर्णताके हेतु आत्मशुद्धि (प्रकृतिके परिवर्तन) की तपस्यासे आरम्भ कर सकता है और बाकीको परवर्त्ती क्रियाके रूपमें विकसित कर सकता है अथवा कोई सबको एक ही क्रियाके अन्दर युक्त कर सकता है। सबके लिये कोई एक नियम नहीं है, यह व्यक्तित्व और प्रकृतिपर निर्भर करता है। आत्मसमर्पण योगकी प्रमुख शक्ति है, परन्तु समर्पणका क्रमवर्द्धमान होना अनिवार्य है; आरम्भमें ही पूर्ण समर्पण करना सम्भव नहीं है, बल्कि सत्तामें उस पूर्णत्वके लिये महज एक संकल्प हो सकता है,—वास्तवमें पूर्ण समर्पण करनेमें समय लगता है; फिर भी सच पूछा जाय तो जब समर्पण पूर्ण हो जाता है केवल तभी साधनाकी पूर्ण बाढ़का आना सम्भव होता है। ऐसा समय आनेतक व्यक्तिगत प्रयास अवश्य जारी रहना चाहिये और समर्पणके यथार्थ रूपको निरन्तर बढ़ते रहना चाहिये। साधक भागवत शक्तिकी क्रियाशक्तिका आवाहन करता है और एक बार जब वह शक्ति सत्तामें आना आरम्भ कर देती है तो सबसे पहले वह व्यक्तिगत प्रयासको सहायता करती है, फिर धीरे-धीरे समस्त क्रियाको अपने हाथमें ले लेती है, यद्यपि साधककी अनुमति सर्वदा आवश्यक बनी रहती है। जैसे-जैसे शक्ति कार्य करती है, वह साधकके लिये आवश्यक विभिन्न पद्धतियोंको, ज्ञानकी, कर्मकी, अध्यात्मभावापन्न कर्मकी, प्रकृतिके रूपांतरकी प्रक्रियाओंको ले आती है। यह भावना कि उन्हें एक साथ युक्त नहीं किया जा सकता, एक भूल है।

*

साधनाका उद्देश्य है चेतनाको भगवान्‌की ओर उद्‌घाटित करना और प्रकृति-को रूपातरित करना। इसे करनेका एक उपाय है मनन या ध्यान, पर यह केवल एक उपाय है, भक्ति दूसरा उपाय है; कर्म एक और उपाय है। योगीगण सिद्धिके प्रथम उपायके रूपमे चित्तशुद्धिकी शिक्षा दिया करते थे और उसके द्वारा उन्हें सन्तका सन्त-भाव और ज्ञानीका शान्त-भाव प्राप्त होता था, पर जिस चीजको हम प्रकृतिका रूपांतर कहते है वह उससे कही बडी चीज है, और यह रूपांतर केवल मनन-ध्यानसे नही साधित होता, इसके लिये कर्म आवश्यक हैं, कर्मयोग अनिवार्य है।

*

ध्यान, समर्पित कर्म या भगवद्‌भक्तिके द्वारा साधारण मनसे बाहर निकलकर आध्यात्मिक चेतनामे प्रवेश किया जा सकता है। हमारे योगका लक्ष्य केवल निष्क्रिय शान्ति या मनकी लवलीनता प्राप्त करना ही नही है बल्कि शक्तिशाली आध्यात्मिक कर्म करना है, और इसलिये इसके लिये कर्म अनिवार्य है, अतिमानसिक सत्यका जहांतक प्रश्न है, वह तो एक दूसरी ही बात है; वह तो केवल भगवान्‌के अवतरण और परा-शक्तिकी क्रियापर निर्भर करता है तथा वह किसी पद्धति या नियमसे बंधा हुआ नही है।

*

मैंने कभी प्राचीन योगोंके सत्यको अस्वीकार नही किया है — मुझे स्वयं वैष्णव भक्ति और ब्रह्ममें निर्वाणकी अनुभूति प्राप्त हुई थी; मैं उनके अपने क्षेत्रमें और उनके अपने उद्देश्यके लिये उनके सत्यको-जहांतक उनका अनुभव जाता है वहां तक उनके सत्यको — स्वीकार करता हूँ — यद्यपि मै किसी भी रूपमें अनुभवपर आधारित मानसिक दर्शनशास्त्रोंके सत्यको स्वीकार करनेके लिये बाध्य नहीं हूँ। मै उसी तरह यह देखता हूँ कि मेरा योग अपने निजी क्षेत्रमें — मेरी समझमें एक विशालतर क्षेत्रमे — और अपने निजी उद्देश्यके लिये सत्य है। पुराने योगोंका उद्देश्य है जीवनसे अलग होकर भगवान्‌की ओर जाना — सो, स्पष्टत., आओ, कर्मका त्याग कर दें। इस नये योगका उद्देश्य है भगवान्‌तक जाना और जो कुछ जीवनमें प्राप्त हुआ है उसके पूर्णत्वको ले आना — उसके लिये, कर्मयोग अनिवार्य है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे कोई रहस्यकी बात नही है या कोई वस्तु किसीको चकरा देने-वाली नही है — यह युक्तिसंगत और अवश्यम्भावी है। केवल तुम कहते हो कि यह चीज असंभव है; परन्तु यही बात है जो प्रत्येक चीजके विषयमें उसके पूरी हो जाने-के पहले कही जाती है।

मैं यहां ध्यान दिला दूँ कि कर्मयोग कोई नया नही बल्कि एक बहुत पुराना योग है; गीता कल नही लिखी गयी थी और कर्मयोग गीतासे पहले था। तुम्हारा जो यह

विचार है कि गीतामें कर्मोका समर्थन केवल इस तरह किया गया है कि कर्म एक अ-परिहार्य जंजाल है, अतएव यह कही अधिक अच्छा है कि इसका उत्तमसे उत्तम उपयोग किया जाय, यह वास्तवमें जल्दबाजीमे किया गया तथा अपक्व विचार है। यदि यही सब कुछ होता तो गीता एक मूढ़की रचना होती और उसके ऊपर दो जिल्दोमें मेरा लिखना अथवा ससारका उसे एक महानतम शास्त्रके रूपमे, विशेषकर आध्यात्मिक प्रयत्नके भीतर कर्मोके स्थानकी समस्या सम्बन्धी उसकी व्याख्याके लिये, मान देना मुश्किलन उचित सिद्ध होता। निस्सन्देह, उसमे इससे बहुत अधिक है। जो हो, तुम्हारा यह सन्देह कि क्या कर्म सिद्धितक ले जा सकते है अथवा यों कहें कि इस सम्भावनाकी तुम्हारी सुस्पष्ट और पूर्ण अस्वीकृति उन लोगोंके अनुभवका खंडन करती है जिन्होंने इस कल्पित असम्भाव्यताको उपलब्ध कर लिया है। तुम कहते हो कि कर्म चेतनाको नीचे गिरा देता है, तुम्हें अन्दरसे बाहरकी ओर खीच लाता है — हां, यदि तुम भीतरसे कर्म करनेके बदले उसमे अपनेको बहिर्मुखी बनानेकी अनुमति देते हो; परन्तु वही चीज है जिसे मनुष्यको नही करना सीखना है। चितन और अनुभव भी मनुष्यको उसी रूपमें बहिर्मुखी बना सकते है; परन्तु आंतर चेतनामे रहते हुए उसके साथ चितन, अनुभव और कर्मको दृढ़तापूर्वक जोड़ना और बाकी वस्तुओंको एक साधन बनाना ही एक समस्या है। कठिन? भक्ति भी तो आसान नहीं है और अधिकांश लोगोंके लिये निर्वाण उससे भी अधिक कठिन है।

मैं नहीं समझता कि तुम मानवहितवाद, क्रियाशीलतावाद, लोकोपकारी सेवा आदि चीजोंको क्यों इसमें घसीट रहे हो। इनमेंसे कोई भी चीज मेरे योगका अंग नहीं है अथवा कर्मकी मेरी परिभाषाके साथ सुसमंजस नहीं है, अतएव ये मुझे प्रभावित नहीं करतीं। मैंने कभी यह नहीं सोचा कि राजनीति या गरीबोंको खिलाना या सुन्दर-सुन्दर कविताएं लिखना सीधे वैकुंठ या ब्रह्मके पास ले जायगा। यदि बात ऐसी होती तो एक ओर रमेशदत्त और दूसरी ओर बोदलेयर (Baudelaire) सबसे पहले उच्च-तमको प्राप्त करेंगे और वहां हमारा स्वागत करेंगे। सच पूछो तो स्वयं कर्मका स्वरूप अथवा महज कर्मण्यता नही बल्कि उसके पीछे विद्यमान चेतना और ईश्वरमुखी संकल्प वे चीजें है जो कर्मयोगका सारतत्त्व हैं, कर्म तो कर्मीके प्रभुके साथ एकत्व प्राप्त करनेका केवल आवश्यक साधन हैं, अज्ञानकी इच्छा और शक्तिसे निकलकर प्रकाशके विशुद्ध संकल्प और शक्तिमें जानेका पथ है।

अन्तमें, ऐसा क्यों मानते हो कि मैं ध्यान अथवा भक्तिके विरुद्ध हूँ? यदि तुम भगवान्‌की ओर जानेके साधनके रूपमें किसी एकको या दोनोंको ग्रहण करो तो उसमें मुझे तनिक भी आपत्ति नही है। केवल मैंने कोई कारण नही देखा कि कोई कर्मोपर आक्रमण करे और उन लोगोंके सत्यको अस्वीकार करे जिन्होंने, जैसा कि गीता कहती है, कर्मोके द्वारा पूर्ण सिद्धि और भगवान्‌के साथ अपनी प्रकृतिका एकत्व, 'संसिद्धिम् स्वाधर्म्यम्' प्राप्त किया है (जैसे जनक और दूसरोंने किया है) — महज इस कारण कि उसने स्वयं उनके गभीर रहस्यको नहीं जान सका है अथवा अभी नही जान सका है — इसी कारण मैंने कर्मोका समर्थन किया है।

*

कर्मसे मेरा अभिप्राय वह कर्म नहीं है जो अहंता और अज्ञानतामें, अहंताकी तुष्टिके लिये और राजसी कामनाके आवेशमे किया जाता है। अहंकार, रजस् और काम अज्ञानकी मुहरछाप है, इनसे विमुक्त होनेकी इच्छाके विना कर्मयोग हो ही नहीं सकता।

कर्मयोगसे मेरा अभिप्राय परोपकार या मनुष्यजातिकी सेवा अथवा उन सब नैतिक या मन कल्पित बातोसे नही है जो मनुष्यका मन कर्मके गभीरतर तत्त्वके स्थानमें लाकर बैठाया करता है।

कर्मसे मेरा अभिप्राय वह कर्म है जो भगवान्‌के लिये किया जाय, भगवान्‌से अधिकाधिक युक्त होकर किया जाय —— एकमात्र भगवान्‌के लिये किया जाय, और किसी चीजके लिये नही। अवश्य ही आरम्भमें यह सहज नही है जैसे गभीर ध्यान और ज्योतिर्मय ज्ञान या सच्चा प्रेम और भक्ति भी आरम्भमे सहज नही है। परन्तु ध्यान, ज्ञान, प्रेम, भक्तिकी तरह कर्म भी यथावत् सद्‌भाव और सद्‌वृत्ति तथा यथार्थ सकल्पके साथ आरम्भ होना चाहिये, तब बाकी सब अपने-आप होगा।

इस भावके साथ किये जानेवाले कर्म भक्ति या ध्यान जैसे ही अव्यर्थ होते है। काम, रजस् और अहकारके त्यागसे स्थिरता और पवित्रता आती है जिसमें शाश्वती शान्ति उतर सकती है; अपना संकल्प भगवत्संकल्पपर उत्सर्ग करनेसे, अपनी इच्छा भगवदिच्छामें निमज्जित करनेसे अहंभावका अन्त होता है और साधककी चेतना विश्वचेतनाके अन्दर प्रसारित हो जाती है या विश्वके भी ऊपर जो कुछ है उसके अन्दर उठ जाती है, प्रकृतिसे पुरुषकी पृथक् सत्ता अनुभूत होती है और बाह्य प्रकृतिके बंधनोंसे मोक्ष होता है; अपने आंतर स्वरूपका साक्षात्कार होता है और बाह्य स्वरूप केवल करण-स्वरूप देख पडता है; यह प्रतीति होती है कि वैश्व शक्ति हमारा कार्य करती है और आत्मा या पुरुष निरीक्षक या साक्षी है पर मुक्त है; उस समय ऐसा लगता है कि हमारे सब काम विश्वजननी या परम माता या भागवती शक्तिने अपने हाथोंमें ले लिये है और वही हृदयके पीछेसे नियंत्रण करती और कर्म करती है। अपने सब संकल्प और कर्म निरन्तर भगवान्‌को निवेदित करते रहनेसे प्रेम और भक्ति-अर्चना बढ़ती है और हृत्पुरुष आगे आ जाता है। ऊर्ध्वस्थित शक्तिको निवेदित करनेसे, हमें क्रमशः अपने ऊपर उसकी सत्ता अनुभूत हो सकती है और हम अपने अन्दर उसका अवतरण, तथा उत्तरोत्तर प्रवर्द्धमान चैतन्य और ज्ञानकी ओर अपना उद्‌घाटन अनुभव कर सकते है। अन्तमें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों एक स्रोत होकर चलते हैं और आत्मपरिपूर्णता सभावित होती है ——अर्थात् वह कार्य बनता है जिसे हम लोग प्रकृतिका दिव्यीकरण कहते है।

ये सब बातें अवश्य ही एकदम एक साथ नही होती; साधककी अवस्था और पात्रताके अनुसार अल्पाधिक मंद गतिसे, अल्पाधिक पूर्णताके साथ आती है। भगवत्साक्षात्कारका कोई ऐसा सीधा सरल राजमार्ग नही है कि चले नही कि पहुँच गये।

यही वह गीतोक्त कर्मयोग है जिसे मैंने इस रूपमें सर्वागीण आध्यात्मिक जीवनकी सिद्धिके लिये संवर्द्धित किया है। इसकी प्रतिष्ठा अटकल या तर्कपर नही

प्रत्युत स्वानुभवपर हुई है। इसमें ध्यानका वहिष्कार नही और भक्तिका तो कदापि नही; क्योंकि भगवान्‌के प्रति स्वात्मार्पण करना, सर्वस्व भगवान्‌पर उत्सर्ग करना इस कर्मयोगका सारतत्त्व है और यह तो तत्त्वतः भक्तिकी ही एक क्रिया है। अवश्य ही इसमे उस ध्यानका वहिष्कार है जो जीवनसे भागता है अथवा उस भावाच्छादित भक्तिका भी वहिष्कार है जो अपने ही आंतर स्वप्नमें वन्द रहती और इसीको योगकी संपूर्ण साधना मान वैठती है। कोई चाहे तो घंटों केवल ध्यानमें अथवा आंतर अचल अर्चन-पूजन और हर्षातिशयमें एकदम निमग्न बैठा रह सकता है, पर पूर्णयोग इतना ही नही है।

*

मैने भक्तिका कभी निषेध नही किया है। और मुझे यह भी याद नही कि किसी समय मैने ध्यानका निषेध किया है। मैने अपने योगमें भक्ति और ज्ञानको उतना ही प्राधान्य दिया है जितना कि कर्मको। हां, इनमेंसे किसी एकको शंकर या चैतन्य-के समान अनन्य रूपसे सर्वोपरि नही माना है।

साधनाके सम्वन्धमें जो कुछ कठिनाई तुम्हें या किसी भी साधकको मालूम होती है वह यथार्थमें ध्यान और भक्ति और कर्मके परस्परविरोधका प्रश्न नही है। कठि-नाई है मनकी अवस्थाके सम्वन्धमें कि किस वृत्तिसे, किस ढंगसे (या इसका और जो चाहो नाम रखो) यह भक्ति अथवा ध्यान या कर्म किया जाय।

कर्म करते हुए यदि तुमसे सतत भगवत्स्मरण नही होता तो कोई विशेष क्षति नही। अभी, आरम्भमें स्मरण और समर्पण तथा अन्तमें कृतज्ञता निवेदन ही काफी है। अथवा अधिक-से-अधिक, काम करते-करते जहां रुक जाओ, वहां स्मरण कर लेना। इस सम्वन्धमें तुम्हारा जो ढंग है वह मुझे कुछ कष्टकर और कठिन मालूम होता है — मालूम होता है कि तुम मन-बुद्धिके जिस अंशको कर्ममें लगाते हो उसी अंशसे स्मरण भी करनेका प्रयत्न करते हो। मैं नही समझता कि यह सम्भव है। काम करते हुए जो लोग सतत स्मरण करते हैं (इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है), वे प्रायः अपनी मन-बुद्धिके पश्चाद्भागसे स्मरण करते हैं अथवा ऐसा भी होता है कि क्रमशः अभ्याससे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि जिससे मनुष्य एक साथ दो प्रकारका विचार या दो प्रकारकी चेतना रख सके — एकको आगे रखे जिसके द्वारा कर्म हो, और दूसरी अन्तःस्थित रहे जो साक्षी-रूपसे देखे और स्मरण करे। एक और तरीका है जो वहुत कालतक मेरा तरीका था — इसमें यह अवस्था रहती है कि कर्म अपने-आप होता रहता है, उसमें अपने वैयक्तिक विचार या मानसिक क्रियाके दखल देनेकी कोई आवश्यकता नही होती और अपना चैतन्य भगवान्‌में चुपचाप पड़ा रहता है। पर यह वात प्रयत्नसे उतनी साध्य नही है जितनी कि अति सरल अविराम अभीप्सा और आत्मसमर्पणेच्छासे साध्य है, अथवा चेतनाकी ऐसी गतिसे भी साध्य है जिससे अतस्सत्ता करण-सत्तासे पृथक् ज्ञात होती है। अभीप्सा और समर्पणके भावसे, उपस्थित

कार्यको करनेके लिये, दिव्य महती शक्तिका आवाहन करना भी एक प्रक्रिया है जिससे कार्य अद्‌भुत रीतिसे सुसपन्न होता है, यद्यपि इस प्रक्रियाको साधनेमें कुछ लोगोंको बहुत समय लगता है। अपनी मन-बुद्धिके प्रयाससे कुछ करनेके बदले अंतःस्थित या ऊर्ध्वस्थित शक्तिसे कार्य करानेके कौशलको जानना साधनाका एक बहुत बड़ा रहस्य है। मेरे कहनेका यह अभिप्राय नही कि मन-बुद्धिका प्रयास अनावश्यक है अथवा उसके द्वारा कुछ नही होता — बात इतना ही है कि यदि मन-बुद्धि हर कामको अपने ही भरोसे करे तो आध्यात्मिक महावीरोंके सिवा और सबके लिये यह प्रयास कष्टप्रद ही होता है। न मेरे कहनेका यह अभिप्राय है कि यह दूसरी प्रक्रिया वह संक्षिप्त मार्ग है जिसकी हम कामना करते हैं। इस रास्तेको तै करनेमें भी, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, बहुत समय लग सकता है। धीरता और सकल्पकी दृढ़ता साधनाकी प्रत्येक प्रक्रियामे ही आवश्यक है।

सामर्थ्य होनी चाहिये, यह बात सामर्थ्यवानोंके लिये तो ठीक ही है — पर अभीप्सा और उस अभीप्साको प्राप्त होनेवाली भागवती दया सर्वथा अलीक कल्पनाएं नही है; आध्यात्मिक जीवनके ये महान् और प्रत्यक्ष अनुभव हैं।

*

रूपान्तरके कार्यमें बाह्य चेतनाको भी शामिल करना इस योगमें अत्यन्त आवश्यक है — इसे ध्यानके द्वारा नही किया जा सकता। ध्यान केवल आंतरिक सत्तापर ही क्रिया कर सकता है। अतएव कर्म सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है — बस, इसे करना चाहिये समुचित मनोभावके साथ और सत्य चेतनामें रहकर, फिर यह भी उतना ही फलदायी होता है जितना कि किसी प्रकारका ध्यान हो सकता है।

*

कर्मको जारी रखनेसे भीतरी अनुभव और बाहरी विकासमें समतोलता बनाये रखनेमें सहायता मिलती है; अन्यथा एकपक्षीयता और परिमाण तथा संतुलनका अभाव विकसित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, भगवान्‌के लिये कर्म करनेकी साधना-को जारी रखना आवश्यक है, क्योकि अन्तमें यह साधकको आंतरिक प्रगतिको बाहरी प्रकृति और जीवनमें ले आनेकी शक्ति प्रदान करता है तथा साधनाको सर्वांगपूर्ण बनाये रखनेमें सहायता करता है।

*

साधनाकी कोई भी अवस्था ऐसी नही है जिसमें कर्म करना असम्भव हो, पथमें कोई स्थल ऐसा नही है जिसमें कर्म करनेका आधार न हो और कर्म करना भगवद्-

ध्यानसे विसंगत जानकर त्याग देना पड़े। आधार तो सदा है ही; यह आधार है भगवान्‌का अवलंब और समस्त सत्ताका, संकल्पका और समस्त शक्तियोंका भगवान्‌की ओर उद्‌घाटित होना, भगवान्‌को समर्पित हो जाना। इस भावसे किया हुआ प्रत्येक कर्म योगसाधनाका साधन बनाया जा सकता है। व्यक्तिविशेषके लिये कहीं-कही कुछ समय ध्यान-निमग्न होना और उतने समयके लिये कार्यको स्थगित रखना या उसे गौण बना देना आवश्यक हो सकता है; पर यह किसी-किसी व्यक्तिकी ही बात है और वह निवृत्ति भी कुछ समयके लिये ही होती है। कर्मका सर्वथा परित्याग और पूर्णतया अपने-आपमें ध्याननिमग्न होना क्वचित् प्रसंगमें ही समुचित हो सकता है; क्योंकि इससे अतिशय एकदेशीय और केवल मनोमयी अवस्था ही बनती है जिसमे साधक एक ऐसे मध्य जगत्‌में रहता है जहां केवल आंतरिक अनुभव होते हैं, पर बाह्य सत्यमें या जो परम सत्य है उसमें उसकी दृढ़ भूमि नहीं होती और आंतरिक अनुभवका वह ठीक उपयोग नही होता जिससे परम सत्य तथा बाह्य जीवनकी उपलब्धिके बीच सुदृढ़ सम्बन्ध और फिर दोनोकी एकता स्थापित हो।

कर्म दो प्रकारका हो सकता है — एक वह कर्म जो साधनाके लिये प्रयोगका क्षेत्र है जिसमें समस्त सत्ता और उसके कर्म क्रमसे अधिकाधिक सामंजस्यको प्राप्त हों और दिव्य बनें, और दूसरा वह कर्म जो भगवान्‌की सिद्ध अभिव्यक्ति है। पर इस पिछले कर्मका समय तो तभी आ सकता है जब भगवत्साक्षात्कार पूर्णतया पार्थिव चैतन्यमें आ जाय; तबतक जो भी कर्म होगा वह प्रयत्न और प्रयोगका ही क्षेत्र होगा।

*

कर्म अपने-आपमें केवल एक प्रकारकी तैयारी है और उसी तरह ध्यान भी अपने-आपमें एक तैयारी है; परन्तु जब कर्म सतत-वृद्धिशील यौगिक चेतनाके साथ किया जाता है तो वह ध्यानकी तरह ही सिद्धिका साधन बन जाता है...। मैं समझता हूँ कि मैंने यह नही कहा है कि कर्म केवल 'तैयार करता है।' ध्यान भी प्रत्यक्ष संस्पर्श प्राप्त करनेके लिये तैयार करता है। यदि हम केवल तैयारीके रूपमें तो कार्य करें और फिर निश्चल ध्यानमग्न संन्यासी बन जायं तब मेरी समूची आध्यात्मिक शिक्षा ही मिथ्या हो जाती है और अतिमानसकी सिद्धिका अथवा ऐसी किसी चीजका जो भूतकालमें नही की गयी है, कोई उपयोग नही रह जाता......।

इस भावके मूलमें जो अज्ञान विद्यमान है वह है यह मान बैठना कि मनुष्यको या तो केवल कर्म ही करना चाहिये या केवल ध्यान ही। उस दृष्टिमें या तो कर्म ही साधन है या ध्यान ही साधन है; दोनों साधन नहीं हो सकते। जहांतक मुझे याद है, मैंने कभी नहीं कहा है कि ध्यान नही करना चाहिये। कर्म और ध्यानके बीच इस प्रकार एक खुली या निर्णीत प्रतियोगिता खड़ी करना विभेदकारी मनकी एक चालाकी है और इसका सम्बन्ध प्राचीन योगोंसे है। कृपया याद रखिये कि मैं सदासे एक पूर्ण-योगकी घोषणा करता आ रहा हूँ जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म—चेतनाकी ज्योति,

आनन्द और प्रेम, कार्यके संकल्प और सामर्थ्य—भगवान्‌के ध्यान, अर्चन और सेवा सबका अपना स्थान है। ध्यान कर्म-योगसे अधिक महान् नहीं है और न कर्म ज्ञानयोगसे अधिक महान् है — दोनों ही एक जैसे हैं।

दूसरी बात — अपनी निजी अत्यन्त सीमित अनुभूतिके आधारपर, दूसरोंकी अनुभूतिकी अवहेलना करते हुए, तर्क करना और उसपर योगके विषयमें एक विशाल सिद्धात वना लेना एक भूल है। यही अधिकांश लोग करते हैं, परन्तु यह पद्धति स्पष्ट ही दोषपूर्ण है। तुम्हें कर्मके द्वारा कोई भी प्रमुख अनुभव नहीं हुआ है और तुमने यह सिद्धात वना लिया है कि ऐसी अनुभूतियोंका होना असम्भव है। परन्तु जिन बहुतसे लोगोंको — दूसरी जगह और यहा आश्रममें भी — ये अनुभूतियां हुई है उनके विषयमें क्या कहा जाय ?

जो हो, यह सिद्धांत मत बनाओ कि मैं सिद्धिके एकमात्र साधनके रूपमें कर्मको सबसे ऊंचा स्थान दे रहा हूँ। मैं केवल उसे अपना समुचित स्थान दे रहा हूँ।

*

तुम यह भूल जाते हो कि मनुष्य अपने स्वभावमें विभिन्न होते हैं और इसलिये प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी तरीकेसे साधनामें आयेगा — एक कर्मके द्वारा, एक भक्तिके द्वारा, एक ध्यान और ज्ञानके द्वारा — और जो लोग ऐसा करनेमें समर्थ हैं वे एक साथ इन सबके द्वारा। अपने निजी पथका अनुसरण करना तुम्हारे लिये एकदम उचित है, चाहे दूसरोंका सिद्धांत जो कुछ भी क्यों न हो — पर दूसरोंको भी अपने पथका अनुसरण करने दो। अन्तमें सब लोग एक साथ एक ही लक्ष्यपर मिल सकते हैं।

*

जो कुछ तुमने पहले अनुभव किया था वह तुम्हारी मानसिक सत्ता और चेतनामें था, यहां आनेके बाद तुम स्पष्ट ही अपनी बाहरी और स्थूल चेतनामें निकल आये हो, यही कारण है कि तुम अनुभव करते हो मानो जो कुछ तुमने पाया था वह चला गया। वह केवल भौतिक चेतनाके अन्धकारसे छिप गया है और गया नही है।

साधनाका जहांतक प्रश्न है, मै समझता हूँ, उससे तुम्हारा मतलब किसी प्रकारकी एकाग्रताका अभ्यास आदि है। क्योंकि कर्म भी साधना है, यदि समुचित मनोवृत्ति और भावनाके साथ किया जाय। आंतरिक एकाग्रताकी साधनाके रूप है:

1. चेतनाको हृदयमें स्थिर कर देना और वहां भगवती मातासम्बन्धी विचार, उनकी मूर्ति या नामपर, तुम्हारे लिये जो सबसे आसान हो, एकाग्रताका अभ्यास करना।

2. हृदयकी इस एकाग्रताके द्वारा क्रमशः और धीरे-धीरे मनको अचंचल बनाना।

3. हृदयमें श्रीमाताजीकी उपस्थिति तथा मन, प्राण और कर्मपर उनके

नियंत्रणके लिये अभीप्सा करना।

परन्तु मनको शांत-स्थिर बनाने और आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि पहले प्रकृतिको शुद्ध और प्रस्तुत किया जाय। इसमें कभी-कभी बहुत वर्ष लग जाते हैं। इसके लिये सबसे आसान तरीका है समुचित मनोवृत्तिके साथ काम करना —अर्थात् कामना या अहंकारके बिना काम करना, जब कामना, मांग या अहंकार आये तब उसकी समस्त क्रियाओंका त्याग करना, भगवती माताकी पूजाके रूपमें काम करना, काम करते हुए उनका स्मरण करना तथा उनसे यह प्रार्थना करना कि वह अपनी शक्तिको प्रकट करें और कार्यको अपने हाथोंमे ले लें जिसमें कि उसमें भी और केवल आंतरिक नीरवतामें ही नहीं, तुम उनकी उपस्थिति और क्रियाको अनुभव कर सको।

*

प्रार्थना और ध्यानका योगमें बहुत अधिक मूल्य है। परन्तु प्रार्थनाको भावावेग या अभीप्साके शिखरपर हृदयकी गहराईसे फूट निकलना चाहिये। जप या ध्यान एक जीवन्त वेग लेकर आता है जो अपने अन्दर हर्ष और उस वस्तुकी ज्योतिको वहन करता है। यदि वे यांत्रिक रूपसे या किसी ऐसी चीजके रूपमें किये जाते हैं जिसका करना अनिवार्य हो (अटल कठोर कर्तव्यके रूपमें!) तो फिर उनमें मनुष्यकी रुचि कम होने लगती है और वे नीरस बनते जाते हैं तथा इस कारण फलहीन बन जाते है...। तुम एक परिणाम उत्पन्न करनेके लिये उसके एक साधनके रूपमें बहुत अधिक जप कर रहे थे, कहनेका मतलब, अत्यधिक एक उपाय, एक पद्धतिके रूपमें कर रहे थे जिससे वह कार्य पूरा हो जाय। यही कारण था कि मैं यह चाहता था कि तुम्हारे अन्दर मानसिक अवस्थाएं विकसित हो जाय, चैत्य पुरुषका, मनका विकास हो जाय, क्योंकि जब चैत्य पुरुष सामने होता है तब प्रार्थनाके अन्दर, अभीप्सा और खोजके अन्दर जीवनी-शक्ति तथा हर्षका अभाव नहीं होता भक्तिकी अविच्छिन्न धारामें कोई रुकावट नहीं उत्पन्न होती एवं जब मन शान्त और अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी होता है तो ध्यान करनेमें कोई कठिनाई तथा रुचिका अभाव नही होता। इसके अलावा, ध्यान वह पद्धति है जो ज्ञानके द्वारा और ज्ञानकी ओर ले जाती है, यह (ध्यान) मस्तककी वस्तु है न कि हृदयकी और इसलिये यदि तुम ध्यान करना चाहो तो तुम ज्ञानसे घृणा नहीं कर सकते। हृदयमें एकाग्र होना ध्यान नहीं है, यह भगवान्‌के लिये, प्रेमास्पदके लिये एक पुकार है। यह योग भी केवल ज्ञानका योग नही है, ज्ञान इसका केवल एक साधन है, पर इसका आधार है आत्मदान, समर्पण, भक्ति, इसकी मूल-भित्ति हृदयमें है और इस मूलभित्तिके बिना कोई चीज स्थायी रूपसे नहीं की जा सकती। यहां ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो जप करते हैं या करते रहे हैं और जिन्होंने अपनी साधनाका आधार भक्तिको बनाया है; ऐसे लोग अपेक्षाकृत कम ही हैं जिन्होने "मस्तक" का ध्यान किया है; सामान्यतया प्रेम, भक्ति और कर्म ही आधार होते हैं; कितने लोग

भला ज्ञानके बलपर आगे बढ सकते है ! बहुत ही थोडे !

*

तुमने चैत्य क्रियाके द्वारा तथा अहकारको ढूँढने और त्याग करनेके प्रयासके द्वारा जो प्रगति की थी उसकी चर्चा मैंने एकदम गंभीरताके साथ की थी। मैंने तुम्हें पहले भी लिखा था और उस पद्धतिका अनुमोदन प्रबल रूपमें किया था। हमारे योग-में वह पथ भक्ति और समर्पणका है — क्योकि चैत्य क्रिया ही सतत और विशुद्ध भक्तिभावको ले आती और अहंकारको दूर करती है जिससे समर्पण करना सम्भव होता है। ये दोनों चीजें वास्तवमें एक साथ चलती हैं।

दूसरा पथ, जो कि ज्ञानका पथ है, मस्तकमें ध्यान करना है जिससे वहां ऊपरकी ओर उद्घाटन होता है, मन अचचल या निश्चल-नीरव होता है तथा उच्चतर चेतना-की शांति आदिका सामान्यतया तबतक अवतरण होता है जबतक कि वह सत्ताको आवेष्टित नहीं कर लेती और शरीरमें नही भर जाती तथा सभी क्रियाओंको अपने हाथमे लेना आरम्भ नही कर देती। परन्तु इसके लिये निश्चल-नीरवता और एक प्रकारकी साधारण क्रियाओंकी शून्यतामेंसे गुजरना होता है — वे बाहर फेंक दी जाती है और विशुद्धत. उपरितलीय कर्मके रूपमें की जाती हैं — और तुम निश्चल-नीरवता और शून्यताको बहुत अधिक नापसन्द करते हो।

तीसरा पथ वह है जो कर्मयोगके दो पथोंमेंसे एक है और वह है प्रकृतिसे पुरुष-को, बाहरी सक्रिय सत्तासे आतरिक नीरव सत्ताको पृथक् कर लेना, जिससे साधकको दो चेतनाएं अथवा एक द्विविध चेतना प्राप्त हो जाती है, एक तो पीछेसे ध्यानपूर्वक निरीक्षण और अवलोकन करती है तथा अन्तमें दूसरीको, जो सम्मुख भागमें सक्रिय होती है, नियंत्रित और परिवर्त्तित करती है। परन्तु इसका भी अर्थ होता है एक प्रकार-की आतरिक शांति और नीरवतामें निवास करना और क्रियाओंके साथ ऐसा बर्ताव करना मानों वे ऊपरी तलकी कोई चीज हों। कर्मयोगको आरम्भ करनेका दूसरा पथ है भगवान्‌के लिये, भगवती माताके लिये कर्मोको करना और अपने लिये न करना, उन्हें तबतक अर्पित और निवेदित करते रहना जबतक कि साधक ठोस रूपमें यह न अनुभव करने लगे कि भागवती शक्तिने क्रियाओंको अपने हाथमें ले लिया है और उसके लिये उन्हें कर रही है।

यदि मेरे योगका कोई रहस्य या चाभी है जिसे कि तुम कहते हो कि तुमने नहीं पाया है, वह इन्ही पद्धतियोंमें निहित है — और, वास्तवमें, स्वयं इनमें कोई भी चीज इतनी रहस्यपूर्ण, असम्भव अथवा यहांतक कि नवीन नही है। सच पूछा जाय तो केवल पीछेकी अवस्थामें होनेवाला आगेका विकास तथा इस योगका लक्ष्य ही नवीन है। परन्तु आरम्भिक अवस्थाओंमें किसीको उसके साथ सरोकार रखनेकी कोई आवश्यकता नही, यदि कोई मानसिक ज्ञानके एक विषयके रूपमें वैसा करना चाहे तो बात दूसरी है।

*

ध्यान भगवान्‌को पानेका एक साधन है और एक महान् पथ है, पर इसे एक छोटा रास्ता नहीं कहा जा सकता — क्योंकि अधिकांश लोगोंके लिये यह एक लम्बी और अत्यन्त कठिन, यद्यपि एक बहुत ऊंची चढ़ाई है। यह पथ किसी भी तरह छोटा नहीं हो सकता जबतक कि यह कोई अवतरण न कराये, और उस हालतमें भी केवल एक आधार ही शीघ्रतासे स्थापित होता है; इसके बाद ध्यानको उस आधारपर बड़े परिश्रम-के साथ एक बडी रचना खडी करनी होती है। ध्यान बडा आवश्यक है पर उससे सम्बन्धित कोई छोटी बात नहीं है।

कर्म बहुत अधिक सरल पथ है बशर्ते कि मनुष्यका मन भगवान्‌से पृथक् होकर कर्मपर ही निबद्ध न हो। लक्ष्य भगवान् ही होने चाहियें और कर्म केवल एक साधन हो सकता है। कविता आदिका उपयोग अपनी आंतर सत्ताके साथ सम्पर्क बनाये रखनेके लिये किया जाता है और वह सब अन्तरतमके साथ सीधा संपर्क करनेकी तैयारी करनेमें सहायक होता है, पर मनुष्यको बस वहीं ठहर नहीं जाना चाहिये, उसे यथार्थ वस्तुतक अवश्य चले जाना चाहिये। यदि कोई एक साहित्यिक व्यक्ति या कवि या चित्रकार होनेकी बात सोचे और वैसा होना ही बस पर्याप्त हो तो यह कोई यौगिक मनोभाव नहीं है। इसी कारण कभी-कभी मैंने यह कहा है कि हमारा उद्देश्य योगी होना,महज कवि, चित्रकार वगैरह होना नहीं है।

प्रेम, भक्ति, समर्पण, चैत्य उद्‌घाटन ही भगवान्‌की ओर जानेके छोटे रास्ते हैं — अथवा हो सकते हैं; क्योंकि यदि प्रेम और भक्ति अति-प्राणिक हों तो यह सम्भावना है कि आनन्दानुभूति और विरह, अभिमान, निराशा आदिके बीच झूलना पड़े, जिससे रास्ता छोटा नहीं बल्कि लम्बा, टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है — सीधी उड़ान नहीं होती — भगवान्‌की ओर दौड़नेके बदले मनुष्य अपने ही अहंकारके चारों ओर चक्कर काटता है।

*

मैंने सर्वदा ही यह कहा है कि साधनाके रूपमें किया गया कर्म — किया गया, तात्पर्य, भगवान्‌से प्रवाहित एक शक्तिके रूपमें किया गया और भगवान्‌को समर्पित कर्म अथवा भगवान्‌के लिये किया गया कर्म या भक्तिभावनासे किया गया कर्म साधना-का एक प्रबल साधन है और ऐसा कर्म विशेष रूपसे इस योगके लिये आवश्यक है। कर्म,भक्तिऔर ध्यान योगके तीन सहायक हैं। कोई चाहे तो तीनोंके या दोके या एकके द्वारा साधना कर सकता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निर्धारित पद्धतिसे, जिसे लोग ध्यान कहते हैं, ध्यान नहीं कर सकते, पर वे कर्मके द्वारा या भक्तिके द्वारा या एक साथ दोनोंके द्वारा प्रगति करते हैं। कर्म और भक्तिके द्वारा मनुष्य एक ऐसी चेतना विकसित कर सकता है जिसमें अन्तमें स्वाभाविक रूपसे ध्यान करना और अनुभव प्राप्त करना सम्भव हो जाता है।

'अ' का जो यह विचार है कि साहित्यका अनुशीलन करनेकी किसी रहस्यपूर्ण

जन्मजात शक्तिके द्वारा मनुष्य अपनेको गुणवान् और आत्मसंयत और पवित्र बना सकता है, इससे यह सब एकदम भिन्न है। यदि उसने मुझसे कर्म और साधनाके विषय-मे प्रश्न पूछा होता तो मैने उसे दूसरे ढंगसे उत्तर दिया होता। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य और कला आंतर सत्ता — आंतर मन, आंतर प्राण — के साथ प्रथम परिचय कराते है या करा सकते हैं; क्योंकि वहींसे वे आते है। और कोई यदि भक्ति-की कविताए, भगवान्की खोज आदिके विषयकी कविताएं लिखता है या उसी प्रकार-के संगीतका निर्माण करता है तो इसका अर्थ है कि उसके भीतर कोई भक्त या जिज्ञासु है जो उस आत्माभिव्यक्तिके द्वारा अपना पोषण करता है। परन्तु इस प्रकारके किसी दृष्टिकोणसे 'अ' ने प्रश्न नही रखा था और इस प्रकारके किसी दृष्टिकोणसे मैने अपना उत्तर नही दिया था। उसने किसी विशिष्ट चरित्रनिर्मायक गुणके विषयमें लिखा था जिसे, ऐसा लगता था कि, उसने साहित्यपर आरोपित किया था।

*

यह पूछनेसे एकदम कोई लाभ नही कि कौन या किस श्रेणीके लोग लक्ष्यपर पहले या अन्तमें पहुँचेगे। आध्यात्मिक पथ कोई प्रतियोगिताका या दौड़का क्षेत्र नहीं है कि इस बातका कोई मूल्य हो। यहां मूल्यवान् वस्तु है भगवान्के लिये व्यक्ति-की अपनी अभीप्सा, अपनी निजी श्रद्धा, समर्पण-भाव, निःस्वार्थ आत्मदान। दूसरों-को भगवान्के ऊपर छोड देना चाहिये जो प्रत्येकको उसकी प्रकृतिके अनुसार ले जायेंगे। ध्यान, कर्म, भक्तिमेंसे प्रत्येक सिद्धिकी ओर जानेके लिये प्राथमिक उपायके साधन हैं, ये सभी इस मार्गमें सम्मिलित किये गये है। यदि कोई कर्मके द्वारा अपनेको अर्पित कर सके तो यह आत्मदानका एक अत्यन्त शक्तिशाली साधन है — उस आत्मदान-का जो स्वय भी साधनाका एक अत्यन्त सामर्थ्यशाली और अनिवार्य तत्त्व है।

पथसे चिपके रहनेका मतलब है उसे बिना छोड़े या उससे बिना मुँह मोड़े उसका अनुसरण करते रहना। यह समस्त सत्ताके, उसके समस्त भागोंमें, आत्मदान करने-का पथ है, चिन्तनशील मन और हृदयके, संकल्प और कर्मके, आंतर और बाह्य करणों-के निवेदनका पथ है, जिसमें कि भगवान्की उपलब्धि कर सके, अपने भीतर उनकी उपस्थितिका, चैत्य और आध्यात्मिक परिवर्तनका अनुभव कर सके। सभी प्रकारसे मनुष्य जितना अधिक अपनेको देता है, उतना ही अधिक अच्छा वह साधनाके लिये होता है। परन्तु सब लोग एक ही मात्रामें, एक ही तीव्रताके साथ, एक ही ढंगसे इसे नहीं कर सकते। दूसरे किस प्रकार इसे करते हैं या इसे करनेमें असफल होते है इसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिये — बस, एक यही बात महत्त्वपूर्ण है कि हम स्वयं इसे निष्ठाके साथ कैसे करते हैं।

यह कहना कि केवल कर्मके द्वारा मनुष्य साधनाकी धारामें प्रवेश करता है बहुत अधिक कहना है। मनुष्य ध्यान या भक्तिके द्वारा भी प्रवेश कर सकता है, परन्तु कर्म पूर्ण धारामें पैठ जानेके लिये और एक ओर बह न जानेके लिये और वहीं चक्कर न काटते रहनेके लिये आवश्यक है। निस्सन्देह सभी कर्म सहायक होते हैं बशर्ते कि उन्हें समुचित भावसे किया जाय।

*

यहां कई ऐसे साधक है जो एकमात्र कर्मके द्वारा, श्रीमाताजीको समर्पित कर्मके द्वारा अथवा ध्यानके लिये बहुत थोड़ा समय देते हुए मुख्यतः कर्मके द्वारा बहुत दूर-तक आगे बढ गये हैं। दूसरे प्रधानतया ध्यानके द्वारा पर कर्म भी करते हुए दूरतक आगे बढ़ गये हैं। जिन लोगोंने केवल ध्यान करनेकी कोशिश की और कर्मसे घवड़ा गये (क्योंकि वे उसे श्रीमाताजीको निवेदित नही कर सके) वे सब 'अ' और 'ब' की तरह असफल ही हुए हैं। परन्तु एक या दो व्यक्ति एकमात्र ध्यानके द्वारा भी सफल हो सकते है, यदि यह उनके स्वभावमें हो या यदि उनमें तीव्र और अटल श्रद्धा और भक्ति हो। सब कुछ साधककी प्रकृतिपर निर्भर करता है।

जहांतक 'पुराने मनुष्य' की बात है, मैं नही समझता कि कर्मी व्यक्तियोंकी बाहरी सत्ता दूसरोंकी अपेक्षा कम परिवर्त्तित हुई है। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो जहां थे वही है या केवल थोड़ासा आगे बढ़े हैं, दूसरे ऐसे है जो बहुत अधिक परिवर्त्तित हुए है — कोई भी पूर्णतः रूपांतरित नहीं हुआ है, यद्यपि कुछ लोगोंने एक अचूक और पक्का आध्यात्मिक और चैत्य आधार प्राप्त कर लिया है। परन्तु यह बात एक समान उन कर्मियोंपर लागू होती है जो ध्यानमें समय नहीं बिताते और उन लोगोंपर भी जो एक लम्बा समय ध्यानमें बिताते हैं।

प्रत्येक साधकको स्वयं उसपर और श्रीमाताजीपर छोड़ देना चाहिये जिसमें वह अपना यथार्थ पथ खोज ले और यह आवश्यक नहीं कि उसका वह पथ ठीक उसके पड़ोसीका ही पथ हो।

*

साधनाकी उस धाराका जहातक प्रश्न है जिसपर सबसे अधिक जोर दिया जाता है, वह निर्भर करती है प्रकृतिपर। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो ध्यानके लिये नहीं बनाये गये हैं और केवल कर्मके द्वारा ही वे अपनेको तैयार कर सकते हैं; फिर ऐसे लोग भी है जो इसके विपरीत हैं। अहंकारके प्रचंड विकासकी जो बात है, वह चाहे किसी पथ-का अनुसरण करनेपर हो सकता है। मैने इसे ध्यानी और कर्मी दोनोंमें विकसित होते हुए देखा है; 'अ' कहता है कि यह भक्तमें भी वैसे ही बढ़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि सभी भूमियां इस नरगिस फूलके लिये अनुकूल है। "साधनाकी कोई आवश्यकता"

कर्म और सृजनात्मक क्रियामें जो समय तुम लगाते हो उसके विषयमें तुम्हें परेशान होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। जिन लोगोंमें एक विशाल सृजनक्षम प्राण होता है या कर्म करनेके लिये निर्मित प्राण होता है वे साधारणतया सबसे अच्छी स्थितिमें तभी होते हैं जब कि उनके प्राणको उसकी गतिविधिसे अलग नहीं किया जाता और वे अंतर्मुखी ध्यानकी अपेक्षा उससे अधिक तेजीके साथ विकसित हो सकते हैं। आवश्यकता बस इस बातकी है कि कर्म समर्पित होना चाहिये जिसमें कि उससे वे अधिकाधिक वर्द्धित हो सकें और जब उन्हें भागवत शक्ति चलावे वे उसे अनुभव करने और उसका अनुसरण करनेके लिये तैयार हो सकें। यह समझना भूल है कि सब समय अतर्मुखी ध्यानमें बने रहना ही निश्चित रूपसे सर्वोत्तम अथवा योगका एकमात्र पथ है।

*

यदि कुछ लोगोंसे ध्यान करनेको नहीं कहा जाता तो फिर यह सबके लिये आवश्यक कैसे है ? अधिक ध्यान उन लोगोंके लिये है जो अधिक ध्यान कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि चूँकि अधिक ध्यान करना अच्छा है इसलिये किसीको और कोई चीज नहीं करनी चाहिये।

*

मैने यह राय नहीं दी है कि तुम्हें केवल ध्यानके द्वारा ही उन्नति करनी है; परन्तु तुममें उसे करनेकी एक महान् क्षमता है और तुम उसके बिना पूरी-पूरी उन्नति नहीं कर सकते। इस योगमें किसी-न-किसी प्रकारका कोई काम सबके लिये आवश्यक है — यद्यपि किसी निश्चित प्रकारके श्रमका रूप लेना इसके लिये जरूरी नहीं है। परन्तु वर्तमान समयके लिये एकाग्रता और आंतरिक अनुभवके द्वारा प्रगति करना तुम्हारे लिये सबसे पहली आवश्यकता है।

यही वह चीज है जिसे हम मनकी क्रियाशीलता कहते हैं जो बराबर ही एकाग्रताके मार्गमें बाधक होती है और सन्देह उत्पन्न करने तथा शक्तियोंको तितर-बितर कर देनेकी कोशिश करती है।

दो प्रकारसे इससे छुटकारा पाया जा सकता है, एक तो इसका त्याग करके और इसे बाहर फेंककर जब कि अन्तमें यह केवल एक बाहरी शक्ति ही रह जाती है — दूसरे, भौतिक मनमें उच्चतर शांति और ज्योतिको नीचे उतारकर।

*

उसे अपने कर्मको उत्सर्ग करना सीखना होगा तथा उसके द्वारा श्रीमाताजी-

की शक्तिको कार्य करते हुए अनुभव करना होगा। जो आंतरिक उपलब्धि विशुद्ध रूपसे निष्क्रिय होती है वह अर्ध-उपलब्धि होती है।

*

परन्तु मै एक विषयपर जोर दे दूँ कि भगवान्‌को प्राप्त करनेका केवल एक ही पथ हो यह आवश्यक नही। यदि कोई ध्यानकी सर्वसम्मत पद्धतिसे या जप जैसी पद्धतियोंसे भगवान्‌को प्राप्त करने, उन्हे अनुभव करने या उन्हें देखनेमें सफल नही होता अथवा अभीतक सफल नही हुआ है तो भी यह सम्भव है कि वह हृदयमें बार-बार भक्तिको पुकारकर अथवा चेतनामें उसे निरन्तर अधिकाधिक वर्द्धित करके या भगवान्‌के लिये कर्म करके और उनकी सेवामे अपनेको उत्सर्ग करके उस ओर प्रगति कर चुका हो। तुमने निश्चय ही इन दिशाओंमें प्रगति की है, तुम्हारे अन्दर भक्ति बढ़ी है और तुमने सेवा करनेकी अपनी क्षमता भी प्रदर्शित की है। तुमने अपनी प्राण-प्रकृतिकी बाधाओंसे मुक्ति पानेकी भी चेष्टा की है और इस तरह कई कठिन दिशाओंमें सफलतापूर्वक शुद्धि ले आनेका प्रयास किया है। आत्मसमर्पणका पथ निस्सन्देह कठिन है, पर यदि कोई सच्चाईके साथ उसपर डटा रहे तो कुछ सफलताका आना और अहंपर आंशिक विजय पाना या उसे घटा देना अवश्यंभावी है और उससे पथपर आगे बढनेमे बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। मनुष्यको, जैसा कि गीता जोर देकर कहती है, निरुत्साहसे मुक्त चेतनाके साथ — 'अनिर्विण्णचेतसा' — योगके पथपर आगे बढ़ते जाना सीखना चाहिये। यदि कोई फिसल भी जाय तो उसे अपनी स्थितिको सुधार लेना चाहिये; यदि कोई गिर भी जाय तो उसे उठ जाना चाहिये और निरुत्साहित न हो भागवत पथपर चल पडना चाहिये। मनोभाव यह होना चाहिये:

"यदि मैं भगवान्‌से चिपका रहूँ तो वह मुझसे वचनबद्ध है; चाहे जो भी घटित हो मै उसे कभी बन्द नही करूँगा।"

*

साधनाका अर्थ है योगाभ्यास करना। तपस्याका अर्थ है साधनाका फल पाने तथा निम्न प्रकृतिको जीतनेके लिये संकल्पशक्तिको एकाग्र करना। आराधनाका तात्पर्य है भगवान्‌की पूजा करना, उन्हें प्रेम करना, आत्मसमर्पण करना, उनको पानेकी अभीप्सा करना, उनका नाम-जप करना, उनसे प्रार्थना करना। ध्यान है चेतनाका भीतरमें केंद्रीभूत हो जाना, मनन-चिंतन करना, अन्दर समाधिमें चला जाना। ध्यान, तपस्या और आराधना ये सभी साधनाके अंग है।

विभाग तीन

साधन-पथकी मौलिक आवश्यकताएं

साधन-पथकी मौलिक आवश्यकताएं

योगके लक्ष्यतक पहुँचना सर्वदा कठिन होता है, पर यह लक्ष्य अन्य किसी भी लक्ष्यसे अधिक कठिन है, और यह केवल उन्हीं लोगोंके लिये है जिनमें पुकार है, क्षमता है, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक खतरेका, यहांतक कि असफलताके खतरेका भी मुकावला करनेकी इच्छा है, और संपूर्ण निःस्वार्थभाव, निष्कामभाव और समर्पण-भावकी ओर आगे बढ़नेका संकल्प है।

*

इस योगका अभिप्राय केवल ईश्वरका साक्षात्कार पाना नहीं है, बल्कि आंतरिक और बाह्य जीवनको पूर्णतः उत्सर्ग कर देना और परिवर्त्तित कर देना है जिसमे कि वह दिव्य चेतनाको अभिव्यक्त करनेके योग्य हो जाय तथा भागवत कर्मका अंग बन जाय। इसका तात्पर्य है एक आंतरिक अनुशासनका अनुसरण जो महज नैतिक तथा भौतिक तपस्याओंसे भी अधिक कठिन और कठोर है। इस पथपर जो कि अधिकांश योगमार्गोंसे बहुत अधिक विशाल और श्रमसाध्य है, तबतक किसीको पग नहीं रखना चाहिये जबतक कि वह अपने अन्दरकी चैत्य पुकार तथा अन्ततक जानेकी अपनी तैयारी-के विषयमें निस्संदिग्ध न हो।

*

तैयारीसे मेरा मतलब क्षमता नहीं बल्कि इच्छुकता है। यदि सभी कठिनाइ-योंका सामना करने तथा अन्ततक जानेका संकल्प अपने अन्दर हो तो पथको ग्रहण किया जा सकता है, फिर कोई बात नहीं चाहे जितना भी लम्बा समय क्यों न लगे।

*

साधारण जीवनसे नितांत अशांत असंतोष ही इस योगके लिये पर्याप्त तैयारी नहीं है। आध्यात्मिक जीवनमें सफलता पानेके लिये एक सुनिश्चित आंतरिक पुकार, प्रबल संकल्प तथा महान् दृढ़ताका होना आवश्यक है।

*

मानसिक सिद्धान्तोका कोई मौलिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि मन ऐसे सिद्धांतोंको बनाता या स्वीकार करता है जो सत्ताकी प्रवृत्तिका समर्थन करते हैं। महत्त्वपूर्ण बात है तुम्हारे अन्दरकी वह प्रवृत्ति और पुकार।

यह ज्ञान कि एक परात्पर सत्, चित् और आनन्द है जो न महज एक नकारात्मक निर्वाण या निष्क्रिय और निराकार ब्रह्म है, बल्कि सक्रिय है, यह बोध कि इस भागवत चेतनाको केवल परे ही नही बल्कि यहा भी प्राप्त किया जा सकता है, और फलस्वरूप योगके लक्ष्यके रूपमे दिव्य जीवनको स्वीकार करना — यह सब मनसे सम्बन्ध नही रखता। यह कोई मानसिक सिद्धातका प्रश्न नही है — यद्यपि मन-बुद्धिके द्वारा भी इस दृष्टिकोणका, यदि अधिक अच्छे रूपमें नही तो, उसी रूपमें समर्थन किया जा सकता है जिस रूपमे किसी भी दूसरे सिद्धान्तका किया जा सकता है,—बल्कि अनुभवका और, अनुभव आनेसे पहले, अन्तरात्माकी श्रद्धाका प्रश्न है जो अपने साथ मन और प्राणका भी समर्थन ले आती है। जो व्यक्ति उच्चतर ज्योतिके संपर्कमें है और जिसे अनुभव प्राप्त है वह इस मार्गका अनुसरण कर सकता है, चाहे अनुसरण करनेमे निम्नतर अगोंके लिये यह जितना भी कठिन क्यों न हो; जिस व्यक्तिको इसका स्पर्श मिल गया है, यद्यपि अभी अनुभव नही मिला है, पर जिसमें पुकार है, पूर्ण श्रद्धा है, अन्तरात्माके समर्थनका दवाव है, वह भी इसका अनुसरण कर सकता है।

*

कोई आदर्शवादी धारणा या धार्मिक विश्वास या भावावेग आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त करनेसे बिलकुल भिन्न वस्तु है। कोई आदर्शवादी विचार तुम्हें आध्यात्मिक ज्योतिकी प्राप्तिकी ओर मोड सकता है, पर वह स्वयं वह ज्योति नही है। परन्तु यह सच है कि "जहां आत्मा चाहता है वही वहता है (प्रकट होता है)।" हम प्रायः किसी भी परिस्थितिसे आध्यात्मिक चीजोका भावात्मक प्रवेग या स्पर्श या मानसिक अनुभूति प्राप्त कर सकते है, जैसे कि विल्वमंगलने अपनी वारांगणा उपपत्नीके शब्दोंसे उसे पाया था। स्पष्ट ही, यह इसलिये घटित होता है कि कोई चीज कहीपर तैयार होती है,—यदि तुम चाहो तो कह सकते हो कि, चैत्य सत्ता अपने सुयोगकी ताकमें रहती है तथा मन, प्राण या हृदयमें कही कोई झरोखा खोल देनेका कोई सुअवसर ग्रहण करती है।

*

नितांत आदर्शवादका प्रभाव केवल तभी हो सकता है जब कि व्यक्तिके मनमें प्रबल संकल्पशक्ति हो जो उसका अनुसरण करनेके लिये प्राणको बाध्य करनेमें समर्थ हो।

*

भगवान्‌में अपने-आपको गर्क कर देनेकी प्रवृत्ति बहुत ही विरल वस्तु है। सामान्यतया कोई मानसिक भावना, कोई प्राणिक प्रवेग या कोई बिलकुल अपर्याप्त कारण होता है जो इस चीजको आरम्भ करता है — अथवा एकदम कोई कारण नही होता। एक मात्र सत्य वस्तु होती है गुह्य चैत्य प्रवेग जिसके विषयमे उपरितलीय चेतनाको कोई ज्ञान नही होता अथवा मुश्किलसे कुछ ज्ञान होता है।

*

सच्चे अन्तरात्मा, चैत्य पुरुषके बारेमें जो कुछ तुम लिखते हो वह बिलकुल ठीक है। परन्तु जब लोग अन्तरात्माकी चर्चा करते हैं तो वे उसका भिन्न-भिन्न अर्थ लेते हैं। कभी-कभी उसका अभिप्राय उस चीजसे होता है जिसे मैंने 'आर्य' में कामनामय आत्माका नाम दिया है,—यह है प्राणमय चेतना जिसमें अभीप्साएं, कामनाएं, सब प्रकारकी अच्छी-बुरी भूखें, स्थूल और सूक्ष्म भावावेग, मनके आदर्शात्मक भावो और चैत्यके दबावोंसे प्रभावित सनसनीदार प्रवृत्तियां मिली-जुली होती है। किन्तु कभी-कभी यह चीज चैत्य प्रेरणाके अधीन रहनेवाला मन और प्राण भी होती है। चैत्य, जबतक परदेमें रहता है तबतक, उसे मन और प्राणके द्वारा ही व्यक्त होना होता है और वहां उसकी अभीप्साओंके साथ प्राणिक तथा मानसिक चीजें मिलजुल जाती एवं उसपर अपना रंग चढ़ा देती हैं। इस प्रकार, परदेके पीछे विद्यमान चैत्य प्रेरणा मनके अन्दर भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करनेके विचारकी भूखके रूपमें प्रकट हो सकती है, जिसे यूरोपके लोग ईश्वरके लिये बौद्धिक प्रेम कहते हैं। प्राणके अन्दर वह भगवान्‌की चाह या उत्कट लालसाके रूपमें प्रकट हो सकती हैं। वह चीज प्राणकी प्रकृतिके कारण, उसके अशांत आवेगों, कामनाओं, उत्सुकताओं, विक्षुब्ध भावावेगों, खिन्नताओं, अवसादों तथा निराशाओंके कारण बहुत कष्ट ला सकती है। पर, जो हो, सब कोई भगवान्‌की ओर विशुद्ध चैत्य मार्गसे नही जा सकते, कम-से-कम तुरत-फुरत तो नहीं ही जा सकते,—मन और प्राणकी चेष्टाएं प्राय: आरम्भमें आवश्यक होती है और आध्यात्मिक दृष्टिसे भगवान्‌के प्रति असंवेदनशील होनेकी अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। इन दोनों अवस्थाओंमें यह अन्तरात्माकी पुकार, अन्तरात्माकी प्रेरणा ही होती है; हां, मन या प्राणकी प्रकृतिके दबावमें पड़कर केवल यह एक रूप या रंग ले लेती है।

*

यह बहुत स्पष्ट है कि 'अ' में आध्यात्मिक अनुभवकी ओर एक सहसा उद्घाटन हो गया है — आश्चर्यजनक रूपमें सहसा उद्घाटन, ऐसा लग सकता है, परन्तु बहुधा उसी रूपमें वह घटित होता है, विशेषकर यदि बाहरमें तो शंकाशील मन हो और अन्दरमें अनुभूतिके लिये तैयार अंतरात्मा हो। ऐसे प्रसंगोंमें वह बहुत बार एक आघात

लगनेके बाद भी आता है जैसे उसके भाईकी बीमारीमे आया है, परन्तु मैं समझता हूँ कि उसका मन पहले ही मुड चुका था और उसने ही उसकी तैयारी की थी। यह अचानक और बार-बार होनेवाला प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि उसके अन्दर एक क्षमता है जिसने उन द्वारोको भग कर दिया है जो उसे अन्दर बन्द रखते हैं — यह अति-भौतिक दर्शनकी क्षमता है। "कॅन्सीक्रेशन" (आत्मनिवेदन) शब्दका आना भी इन अनुभवोका एक सुपरिचित व्यापार है — यही वह चीज है जिसे मैं चैत्य पुरुषकी वाणी कहता हूँ, यह उसके अपने ही अन्तरात्मासे मनके लिये एक सकेत है कि अन्तरात्मा उससे क्या कराना चाहता है। अब उसे इसको स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि यह आवश्यक है कि प्रकृति, बाह्य मनुष्य स्वीकार करे जिससे कि वह प्रभावशाली हो सके। वह (अपने जीवन-मार्गकी) एक मोडपर खडा है और उसे उस मार्गका संकेत दिया गया है जिसे उसकी आतरिक सत्ता, अन्तरात्मा उससे अनुसरण कराना चाहता है — परन्तु, जैसा कि मै कहता हूँ, उसके मन और प्राणकी सहमति आवश्यक है। यदि वह आत्मनिवेदन करनेका निश्चय कर सके तो आत्मनिवेदनका संकल्प करना चाहिये, भगवान्‌के प्रति अपनेको उत्सर्ग करना चाहिये तथा सहायता और पथप्रदर्शनके लिये पुकारना चाहिये। यदि वह तुरन्त ऐसा न कर सके तो वह प्रतीक्षा करे और देखे, पर वह अपनेको, मानो, जो अनुभूति आरम्भ हुई है उसके जारी रहने और विकसित होनेके लिये खुला रखे, जबतक कि यह उसकी अपनी अनुभूतिमें निश्चित रूपमें अनिवार्य न बन जाय। वह सहायता प्राप्त करेगा और, वह यदि उस विषयमें सचेतन बन जाय, तो फिर आगे कोई प्रश्न ही नही रह सकता — पथमें आगे बढ़ना उसके लिये आसान हो जायगा।

*

योगकी ओर मुडनेके लिये उसपर डाला हुआ तुम्हारा प्रभाव अच्छा था, पर वह उसकी प्राणिक प्रकृतिको परिवर्तित करनेकी शक्ति नही रखता था। कोई मानवीय प्रभाव — जो केवल मानसिक और नैतिक ही हो सकता है — वैसा नही कर सकता, तुम देख सकते हो कि वह जैसा पहले था ठीक वैसा ही है। वैसा केवल तभी हो सकता है जब कि उसका अन्तरात्मा भगवान्‌की ओर मुड़ जाय।

*

पथका ज्ञान ही पर्याप्त नही है — उसपर चलना भी होगा, अथवा, यदि कोई वैसा न कर सके तो उसे अपनेको उसपर ले जाने देना होगा। मानवीय प्राणिक और भौतिक बाह्य प्रकृति एकदम अन्ततक बाधा देती है, परन्तु यदि अन्तरात्मा एक बार पुकार सुन लेता है तो वह, शीघ्रतासे या देरसे, अवश्य पहुँच जाता है।

*

जिन लोगोंके अन्दर भगवान्‌के लिये सच्ची पुकार होती है, उनके सामने मन या प्राण चाहे कैसी भी कठिनाइयां क्यों न उपस्थित करें, चाहे जो भी आक्रमण क्यों न आयें अथवा उनकी प्रगति चाहे धीमी और दुःखपूर्ण ही क्यों न हो,—यहांतक कि यदि वे पीछे भी हट जाय अथवा कुछ कालके लिये पथसे पतित भी हो जाय तो भी अन्तमें उनका चैत्य पुरुष सर्वदा ही विजयी होता है और भागवत माहात्म्य प्रभावशाली सिद्ध होता है। उसीपर विश्वास रखो और पथपर डटे रहो — फिर लक्ष्यतक पहुँचना सुनिश्चित है।

*

तुम्हारे प्रश्नका उत्तर मैं पहले ही दे चुका हूं। तुम इस कारण आये कि तुम्हारा अन्तरात्मा भगवान्‌की खोज करनेके लिये प्रचालित हुआ था। यह सत्य है कि तुम्हारे प्राणका कुछ भाग उन लोगोंसे प्रबल रूपसे आसक्त है जिन्हें तुमने पीछे छोड़ा है, पर इससे तुम्हारे अन्तरात्माकी खोज झूठी नहीं हो जाती। यदि प्राणिक कठिनाइयोंका होना और बने रहना यह साबित करता हो कि साधक अयोग्य है और उसके लिये कोई संभावना नहीं, तो आश्रममें केवल एक या दो — और शायद वे भी नहीं — कसौटी-पर उतरेंगे। शुष्कताका अनुभव और अभीप्सा न कर पाना भी कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्येक साधक ऐसे सूखेपनके कालोंमेंसे और यहांतक कि लम्बे कालोंमेंसे गुजरते है। मैं कुछ लोगोंकी ओर संकेत कर सकता हूँ जिनकी गिनती अत्यन्त "उन्नत" साधकों-में की जाती है और फिर भी जो अभीतक पारिवारिक सहजप्रवृत्तिसे पूर्णतः मुक्त नहीं हुए है। अतएव इन प्रतिक्रियाओंके कारण, जो अभी भी तुममें बनी हुई है, विचलित होना बिलकुल अयुक्तिसंगत है। ये प्रतिक्रियाएं आती है और चली जाती है, परन्तु अन्तरात्माकी आवश्यकता स्थायी होती है, उस समय भी जब वह आच्छन्न और निस्तब्ध होती है, और वह बराबर बनी रहेगी और बार-बार प्रकट होगी।

*

जो लोग यहां आये वे सभी भगवान्‌के लिये सज्ञान खोजके साथ नहीं आये। वास्तवमें उनका मन इसे नहीं जानता था, उनका अन्तरस्थ अन्तरात्मा ही उन्हें यहां ले आया। तुम भी इसी तरह और श्रीमाताजीके साथ तुम्हारे अन्तरात्माका जो संबंध है उसीके कारण आये। एक बार यहां आ जानेपर भगवान्‌की शक्ति मानव-प्रकृति-पर कार्य करती है जबतक कि अन्तरस्थ अन्तरात्माके लिये पर्देसे बाहर निकल आने-का पथ नहीं खुल जाता। भगवान्‌के लिये सचेतन खोज स्वयं अपने-आप प्रकृतिके अज्ञानके साथ होनेवाले संघर्षको नहीं रोकता। एकमात्र श्रीमाताजीको आत्मदान कर देनेपर ही [illegible] है।

*

जब किसी व्यक्तिका इस पथपर आना पूर्वनिर्दिष्ट होता है तो सभी परि-स्थितिया मन और प्राणके समस्त स्खलनोंके द्वारा किसी-न-किसी रूपमें उसे उस ओर ले जानेमे सहायता करती है। सच पूछा जाय तो उसके अन्दर विद्यमान उसका चैत्य पुरुप तथा ऊर्ध्वस्थित भागवत शक्ति ही उस उद्देश्यकी सिद्धिके-लिये मन तथा बाह्य परिस्थिति दोनोके उलट-फेरोका व्यवहार करती है।

*

जब अन्तरात्माका आगे बढ़ना अभिप्रेत होता है और उस तरहकी कोई बाहरी कमजोरी होती है तो उसके विरुद्ध बाहरी सत्ताको सहायता करनेके लिये परिस्थितियां उस तरह आती ही हैं — जिसका मतलब है कि पीछेकी ओर कोई वास्तवमें सच्ची अभीप्सा अवश्य होगी; अन्यथा ऐसा नही घटित होता।

*

आध्यात्मिक भवितव्यता सदा बनी रहती है — वह अवरुद्ध हो सकती या कुछ समयके लिये लुप्त हो गयी-सी प्रतीत हो सकती है, पर वह कभी विनष्ट नहीं होती।

*

आध्यात्मिक सुयोग कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे इस भावनाके साथ हलके रूपमें दूर फेंक दिया जाय कि किसी दूसरे समय सब ठीक हो जायगा — दूसरे समयके विपयमें कोई उतना निश्चित नही हो सकता। इसके अतिरिक्त, ये चीजें एक चिह्न छोड़ जाती है और उस चिह्नके स्थानपर पुनरावृत्ति हो सकती है।

*

ज्योतिका दर्शन और जगन्नाथके रूपमें भगवान्‌का दर्शन ये दोनों ही चीजें यह सूचित करती है कि उसमें योग करनेकी क्षमता है और उसकी आंतर सत्ताके लिये भगवान्‌की पुकार हो गयी है। परन्तु क्षमता ही पर्याप्त नही है; भगवान्‌की खोज करनेका संकल्प भी होना चाहिये तथा पथका अनुसरण करनेका साहस और आग्रह भी होना चाहिये। यह पहली वस्तु है जिसे निकाल फेंकना होगा और दूसरी है बाहरी सत्ताकी तामसिकता जिसने उसे उस पुकारका प्रत्युत्तर देनेसे रोक रखा है।

वह ज्योति भागवत चैतन्यकी ज्योति है। इस योगका लक्ष्य है सबसे पहले इस चेतनाके साथ संपर्क स्थापित करना और फिर उसकी ज्योतिमें निवास करना और उस ज्योतिको संपूर्ण प्रकृतिका रूपांतर करने देना जिसमें कि पुरुप भगवान्‌के

साथ प्राप्त एकत्वमें निवास कर सके तथा प्रकृति दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्ति और दिव्य आनन्दकी क्रियाका क्षेत्र बन जाय।

यदि वह इसी चीजको अपने जीवनका चरम उद्देश्य बना ले और बाकी सभी चीजोंको इसी एक उद्देश्यके अधीन कर देनेके लिये तैयार हो जाय तो केवल तभी वह ऐसा करनेमें सफल हो सकता है। अन्यथा इस जीवनमें वह केवल थोड़ीसी तैयारी ही कर सकता है — एक प्रकारका प्रारंभिक संपर्क प्राप्त कर सकता और अपनी प्रकृतिके किसी अंगमें थोडासा आध्यात्मिक परिवर्तन ला सकता है।

*

सभी लोग अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कोई-न-कोई योग कर सकते है यदि उनमें उसे करनेकी इच्छा हो। परन्तु ऐसे थोड़ेसे लोग होते हैं जिनके विषयमें यह कहा जा सकता है कि वे इस योगके अधिकारी है। केवल कुछ लोग ही क्षमताका विकास कर सकते हैं, दूसरे नही कर सकते।

*

कोई व्यक्ति साधनाके योग्य नही होता — अर्थात् कोई व्यक्ति एकमात्र अपनी निजी क्षमताके वलपर उसे नहीं कर सकता। वस, प्रश्न है अपने-आपको इस प्रकार तैयार करना जिसमें कि अपनी निजी नही, वल्कि दिव्य शक्ति पूर्ण रूपमें अपने अन्दर आ जाय जो इस कार्यको, हमारी अनुमति और अभीप्सा रहनेपर, पूरा कर सकती है।

*

यह कहना कठिन है कि कोई विशिष्ट गुण मनुष्यको योग्य वनाता है अथवा उसका अभाव अयोग्य। किसीमें प्रवल कामावेग, शंका-संदेह, विद्रोह-भाव हो सकता है और फिर भी अन्तमें वह सफल हो सकता है, जव कि दूसरा व्यक्ति असफल हो सकता है। यदि किसीके अन्दर मौलिक सच्चाई हो, सभी चीजोंके वावजूद अन्ततक चले जानेका संकल्प हो और सरल-निश्छल वने रहनेकी तत्परता हो तो साधनामें यही सवसे उत्तम सुरक्षा देनेवाली वस्तु होती है।

*

जव कोई सच्ची (यौगिक) चेतनामें प्रवेश करता है तो तुम देखते हो कि सव कुछ किया जा सकता है, यदि अभी केवल जरा-सा प्रारम्भ ही क्यों न किया गया हो; प्रारम्भ करना पर्याप्त है, क्योंकि दिव्य शक्ति, भागवत वल-सामर्थ्य वहां विद्यमान

है। वास्तवमे देखा जाय तो वाहरी प्रकृतिकी क्षमतापर सफलता निर्भर नही करती, (वाह्य प्रकृतिके लिये सपूर्ण आत्मातिक्रमण असम्भव रूपमें कठिन प्रतीत होता है), परन्तु आतरिक सत्ताके वलपर और आतरिक सत्ताके लिये सव कुछ सम्भव है। मनुष्यको केवल आतरसत्ताके साथ सपर्क स्थापित करना होगा और आंतरकी सहायता-से वाह्य दृष्टि ओर चेतनाको परिवर्त्तित करना होगा। यहीं साधनाका कार्य है और सच्चाई, अभीप्सा तथा धैर्य होनेपर उसका आना सुनिश्चित है।

*

तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि ये मनोभाव ऐसे आक्रमण हैं जिनका तुम्हें तुरन्त परित्याग कर देना चाहिये — क्योकि ये और किसी चीजपर नही, वल्कि अपने ऊपर अविश्वास तथा असमर्थताके सुझावोंपर अवलवित होते है जिनका कोई अर्थ नही होता, क्योंकि सच पूछा जाय तो तुम अपनी क्षमता ओर योग्यताके वलपर नहीं वल्कि भगवान्‌की कृपा तथा अपनेसे कही महत्तर किसी दिव्य शक्तिकी सहायतासे ही साधनाके लक्ष्यको सिद्ध कर सकते हो। तुम्हें इस वातको याद रखना होगा और जव ये सूचनाए आये तो इनमे अपनेको पृथक् कर लेना होगा, कभी भी इन्हें न तो स्वी-कार करना होगा या न इनके वशमें होना होगा। किसी साधकमें यदि प्राचीन ऋषियों और तपस्वियोका सामर्थ्य या विवेकानन्दका वल भी हो तो भी वह अपनी साधनाके प्रारम्भिक वर्षोंमे लगातार अच्छी स्थिति या भगवान्‌के साथ एकत्व या अटूट पुकार या अभीप्साकी ऊचाईको वनाये रखनेकी आशा नही कर सकता। समस्त प्रकृतिको अध्यात्मभावापन्न वनानेमें लम्वा समय लगता है और जवतक यह नही हो जाता तवतक उतार-चढाव अवश्य होगा। एक प्रकारके सतत विश्वास और धैर्यको विकसित करना होगा — प्राप्त करना होगा — जरा भी कम नही जव कि परिस्थितियां प्रतिकूल हों — क्योंकि जव वे अनुकूल होती हैं, विश्वास और धैर्यको वनाये रखना आसान होता है।

*

यह कहनेकी आवश्यकता नही कि जिन गुणोंकी चर्चा तुम करते हो वे आध्यात्मिक पथकी ओर जानेमें सहायक होते है, जव कि जिन दोषोंको तुम गिनाते हो उनमेंसे प्रत्येक इस पथका एक वहुत वड़ा रोड़ा है। आध्यात्मिक प्रयासके लिये सच्चाईका होना विशेष रूपसे अत्यन्त आवश्यक है और कुटिलता एक स्थायी वाधा है। सात्त्विक प्रकृतिको आध्यात्मिक जीवनके लिये सदासे अत्यन्त उपयुक्त और अनुकूल माना जाता रहा है, जव कि राजसिक प्रकृति अपनी कामनाओं और आवेगों-के द्वारा भाराक्रात रहती है। और, आध्यात्मिकता एक ऐसी चीज है जो द्वन्द्वोंसे परे होती है, और इसके लिये सवमे अधिक आवश्यकता होती है एक सच्ची ऊर्ध्वमुखी

अभीप्साकी। यह अभीप्सा राजसिक मनुष्यमें भी उठ सकती है और सात्विक मनुष्य-में भी। यदि यह उठती है तो उसके द्वारा राजसिक मनुष्य ठीक उसी तरह अपनी दुर्बलताओं और कामनाओं और आवेगोंसे ऊपर उठकर भागवत पवित्रता और ज्योति और प्रेमतक पहुँच सकता है जैसे कि दूसरा अपने पुण्योंसे ऊपर उठकर वहां पहुँच सकता है। अवश्य ही, यह केवल तभी हो सकता है जब कि वह अपनी निम्न प्रकृतिको जीत ले और अपने अन्दरसे उसे निकाल फेंके; क्योंकि, वह यदि फिरसे उसमें गिर जाय तो यह सम्भव है कि वह पथसे पतित हो जाय अथवा कम-से-कम, जबतक वह गिरावटकी स्थिति बनी रहे तबतक, उसके कारण अपनी आंतरिक प्रगति करनेसे रुका रहे। पर तो भी, धार्मिक और आध्यात्मिक इतिहासमें प्रायः ही बडे-बड़े पापियोंका महान् सन्तों-में, कम गुणशाली या गुणहीन मनुष्योंका आध्यात्मिक जिज्ञासुओं और ईश्वर-प्रेमियो-में परिवर्तन होता रहा है — जैसे, यूरोपमें सन्त ऑगस्टीन, भारतमे चैतन्यके जगाई और मधाई, बिल्वमंगल तथा अनेक दूसरे लोग। भगवान्‌का गृह किसी व्यक्तिके लिये बन्द नही रहता जो सच्चाईके साथ उसके दरवाजोंको खटखटाता है, चाहे पहले उसमें जितनी भी भूल-भ्रांतियां और दोष-त्रुटियां क्यों न रही हों। मानवीय गुण और मानवीय दोष हमारे अन्दर विद्यमान दिव्य तत्त्वके सफेद और काले आवरण हैं जिन्हें यदि एक बार वह तत्त्व भेद दे तो इन दोनोंके भीतरसे वह आत्माकी ऊंचाइयोंकी ओर प्रज्वलित हो सकता है।

भगवान्‌के सम्मुख विनम्रता भी आध्यात्मिक जीवनका एक अपरिहार्य गुण है, और आध्यात्मिक घमंड, दंभ या मिथ्याभिमान और अपने-आपपर ही भरोसा सर्वदा नीचेकी ओर धकेलते हैं। परन्तु भगवान्‌पर विश्वास और अपनी आध्यात्मिक भवि-तव्यतापर विश्वास (अर्थात् यह भाव कि चूँकि मेरा हृदय और अन्तरात्मा भगवान्-को खोजते है, मैं उन्हें प्राप्त करनेमें असफल नही हो सकता)—ये मार्गकी कठिनाइ-योंको देखते हुए बहुत आवश्यक हैं। दूसरोंके प्रति घृणा-भाव रखना अनुचित है, विशेष-कर इस कारण कि भगवान् सबके अन्दर विराजमान हैं। स्पष्ट ही मनुष्योंकी क्रियाएं और अभीप्साएं तुच्छ और मूल्यहीन नही है, क्योंकि समस्त जीवन ही अन्तरात्माका अन्धकारसे निकलकर ज्योतिकी ओर अग्रसर होना है। परन्तु हमारा मनोभाव यह है कि मनुष्यजाति मनद्वारा गृहीत सामान्य उपायोंसे, राजनीति, सामाजिक सुधार, लोकोपकार आदिके द्वारा अपनी सीमाओंसे बाहर नहीं जा सकती — ये चीजें केवल सामयिक या स्थानिक ओषधियां हो सकती हैं। निस्तार पानेका एकमात्र सच्चा उपाय है चेतनाका परिवर्तन, होनेकी एक महत्तर, विशालतर और विशुद्धतर पद्धति-में परिवर्तन, और उसी परिवर्तनपर आधारित जीवन और कर्म। अतएव उसी चीज-की ओर समस्त शक्तियोंको मोड़ देना चाहिये जब एक बार आध्यात्मिक जागृति पूर्ण हो जाय। इसका अर्थ अवहेलना करना नही है, बल्कि जो उपाय निष्फल ज्ञात हुए हैं उनके बदले मात्र फलदायी साधनोंको पसन्द करना है।

*

इसे इस प्रकार रखा जा सकता है; परन्तु पुण्यात्मा और पापी कहना गलत वर्णन है, क्योंकि यह सही नहीं है कि पुण्यात्मा लोग पापियोंकी अपेक्षा अधिक दुःख भोगते है। बहुतेरे पापी ऐसे मनुष्य है जो भगवानकी ओर मुडनेकी तैयारी कर रहे है और बहुतेरे पुण्यात्मा लोगोंको अभी अनेक जन्मोंका चक्कर काटना पड़ेगा और उसके बाद ही वे भगवानकी ओर जानेकी बात सोचेंगे।

*

श्रद्धा, सच्चाई, अभीप्सा, भक्ति इत्यादि जैसे गुण पूर्णताका निर्माण करते है जिसे फूलोंकी हमारी भाषामें सूचित किया गया है। साधारण भाषामें इसका अर्थ कुछ और होगा जैसे पवित्रता, प्रेम, दया, विश्वस्तता और अन्य गुणोंका एक समूह।

*

हृत्पुरुषको सामने ले आओ और उसे वहीं बनाये रखो तथा उसकी शक्तिको मन, प्राण और शरीरके ऊपर प्रयुक्त करो जिसमें वह अपनी अनन्य अभीप्सा, श्रद्धा-विश्वास और समर्पणके बलको, तथा प्रकृतिमें जो कुछ दोष हो, जो कुछ अहंकार और प्रमादकी ओर झुका हुआ हो, ज्योति और सत्यसे दूर चला गया हो, उसे तुरन्त और प्रत्यक्ष रूपमे पहचान लेनेके अपने सामर्थ्यको उनके (मन, प्राण और शरीरके) अन्दर सचारित कर सके।

अहकारके जितने भी रूप हो उन सबको निकाल बाहर करो; उसे अपनी चेतना-की प्रत्येक क्रियामेंसे दूर कर दो।

विश्वव्यापी चेतनाको विकसित करो। अपने अहं-केन्द्रित दृष्टिको विशालतामें, नैर्व्यक्तिकतामे, विश्वगत भगवान्की अनुभूतिमें, विश्वशक्तियोंकी प्रत्यक्ष प्रतीतिमें और जागतिक अभिव्यक्ति, विश्वलीलाकी सत्योपलब्धि तथा रहस्यबोधमें विलीन हो जाने दो।

अहंकारके स्थानमें अपनी सत्य-सत्ताको प्राप्त करो, जो भगवान्का अंश है, विश्वजननीसे उत्पन्न हुआ है और इस अभिव्यक्तिका यंत्र है। परन्तु भगवान्का एक अंश, एक यन्त्र होनेका जो यह बोध है वह सब प्रकारके गर्व, अहंबोध या अहंकारके दावोंसे या श्रेष्ठत्वस्थापन, मांग या वासनासे रहित होना चाहिये। कारण, यदि ये सब चीजें वहां हों तो यह समझना होगा कि वह यथार्थ वस्तु नहीं है।

बहुत लोग साधना करते समय अपने मन, प्राण और शरीरमें ही निवास करते है और वे मन, प्राण और शरीर कभी-कभी या कुछ अशमें ही उच्चतर मन और प्रबुद्ध मनके द्वारा उद्भासित होते हैं; किन्तु अतिमानसिक परिवर्तनके लिये प्रस्तुत होनेके के लिये यह आवश्यक है कि (जैसे ही व्यक्ति-विशेषके लिये इसका समय आ जाय) संबोधि और अधिमानसकी ओर आत्मोद्घाटन किया जाय, जिसमें ये हमारी समस्त

सत्ता और सारी प्रकृतिको अतिमानसिक रूपांतरके लिये तैयार कर दें। चेतनाको शान्तिके साथ विकसित और विस्तृत होने दो, फिर इन सब बातोंका ज्ञान तुम्हें अधिकाधिक होता जायगा।

स्थिरता, विवेक-बुद्धि, अनासक्ति (किन्तु उदासीनता नहीं)—ये सब अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इनके जो विरोधी भाव है वे रूपांतरके कार्यमें बहुत अधिक बाधा पहुँचाते है। अभीप्सामें तीव्रता होनी चाहिये, परन्तु इसे इन सब चीजोंके साथ-साथ रहना चाहिये। न तो जल्दबाजी होनी चाहिये, न जड़ता; न तो राजसिक अति-उत्सुकता होनी चाहिये न तामसिक निरुत्साह — एक धीर-स्थिर, अविराम पर शांत आवाहन और क्रिया होनी चाहिये। सिद्धिको छीनने-झपटने या पकड़ लेनेकी वृत्ति नही होनी चाहिये, बल्कि उसे भीतरसे या ऊपरसे अपने-आप आने देना चाहिये और उसके क्षेत्र, उसकी प्रकृति, उसकी सीमाओंका ठीक-ठीक निरीक्षण करते रहना चाहिये।

श्रीमाँकी शक्तिको अपने अन्दर कार्य करने दो, परन्तु इस विषयमें सावधान रहो कि कही तुम्हारे वर्धित अहंकारकी कोई क्रिया या सत्यके रूपमें सामने आनेवाली कोई अज्ञानकी शक्ति उसके साथ मिलजुल न जाय या उसका स्थान स्वयं ग्रहण न कर ले। विशेष रूपसे इस बातकी अभीप्सा करो कि तुम्हारी प्रकृतिमेंसे समस्त अन्धकार और अचेतनता दूर हो जायं।

ये ही प्रधान शर्त्तें हैं जिनका पालन करनेपर मनुष्य अतिमानसिक रूपांतरके लिये तैयार हो सकता है; परन्तु इनमेंसे किसी भी शर्त्तको पूरा करना आसान नही है, और जब पूर्ण रूपसे इन सबका पालन होगा तभी यह कहा जा सकता है कि प्रकृति तैयार हो गयी है। यदि साधनाका यथार्थ भाव (जो चैत्य भाव होता है, अहंकारशून्य होता है, एकमात्र भागवत शक्तिकी ओर ही उद्‌घाटन है) स्थापित हो जाय तो फिर साधना-की क्रिया बहुत अधिक तेजीके साथ आगे बढ़ सकती है। इस यथार्थ भावको ग्रहण करना और बनाये रखना, अपने अन्दर होनेवाले परिवर्तनको बढ़ाते रहना — बस इतना करना ही साधककी ओरसे सहायता करना है और इसे वह कर सकता है, और सर्वांगीण परिवर्तनकी सहायताके लिये उससे बस इसी एक चीजकी मांग की जाती है।

*

मैं समझता हूँ कि तुम्हारे पत्रका उत्तर देनेका सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि उसमें सन्निहित प्रश्नोंको अलग-अलग लिया जाय। तुमने जो यह निष्कर्ष निकाला है कि अ-प्राच्य प्रकृतिके लिये योग करना असम्भव है, इसीसे मैं आरम्भ करूंगा।

मैं ऐसे निर्णयके लिये कोई कारण नहीं देख पाता; यह समस्त अनुभवके विपरीत है। यूरोपके लोगोंने शताब्दियोंसे सफलता पूर्वक आध्यात्मिक साधनाओंका अभ्यास किया है जो पूर्वीय योगसे मिलती-जुलती थीं और उन्होंने आध्यात्मिक जीवनकी उन रीतियोंका भी अनुसरण किया है जो उनके यहां पूर्वसे आयी थी। उनका अ-पूर्वीय स्वभाव उनके मार्गमें बाधक नही हुआ। प्लोटिनसके और उनसे गृहीत यूरोपियन

रहस्यवादियोंके मार्ग और अनुभव, जैसा कि अभी हालमें सिद्ध किया गया है, एक प्रकारके भारतीय योगसे मिलते-जुलते हैं। विशेषकर, ईसाई मतके प्रचारित होने-के समयसे, यूरोपियन लोगोने इसके रहस्यवादी साधनाओंका अनुसरण किया है जो तत्त्वत एशियाकी साधनाओंसे अभिन्न थी, चाहे वे अपने रूपों, नामों और प्रतीकोंमें जितना अधिक भिन्न क्यो न रही हो। यदि प्रश्न स्वयं भारतीय योगका, उसके अपने विशिष्ट रूपोमे, हो तो भी अनुभव इस अनुमानित अयोग्यताका खंडन करता है। प्राचीन युगोमे पश्चिमके यूनानी और सीथियन तथा पूर्वके चीनी, जापानी और कम्बो-डियन लोगोने बिना किसी कठिनाईके बौद्ध और हिन्दू साधनाओंका अनुसरण किया; वर्तमान कालमें पाश्चात्य लोगोकी एक बहुत बड़ी संख्याने वेदान्त या वैष्णव या अन्य भारतीय आध्यात्मिक साधनाओको ग्रहण किया है और इस अयोग्यता अथवा अनुप-युक्तताकी शिकायत कभी न तो शिष्योंकी ओरसे की गयी है और न गुरुओंकी ओरसे। और, मैं नही समझता कि इस प्रकारकी कोई अलंघ्य खाई क्यों होनी चाहिये; क्योंकि पूर्वके आध्यात्मिक जीवन तथा पश्चिमके आध्यात्मिक जीवनके बीच कोई मौलिक भेद नही है। जो कुछ भेद हैं वह सदा नामों, रूपो और प्रतीकोंका रहा है अथवा किसी एक या दूसरे लक्ष्यपर अथवा आंतरिक अनुभवके किसी एक या दूसरे पक्षपर अधिक जोर दिया जाता रहा है। इस विषयमें भी बहुधा जिन भेदोका आरोप किया जाता है वे या तो वास्तवमें नही है या उतने बड़े नही है जितने कि प्रतीत होते है। मैने एक ईसाई लेखकको (जो इन बौद्धिक तुच्छ विभेदोंके विषयमें तुम्हारे मित्र ऐंगस (Angus) की आपत्तिमे हिस्सा बंटाता हुआ नही प्रतीत होता) यह आरोप लगाते हुए देखा है कि हिन्दू आध्यात्मिक चिंतन और जीवन केवल परात्परको स्वीकार करता और उसीका अनुसरण करता है और सर्वव्यापी भगवान्‌की उपेक्षा करता है, जब कि ईसाई मत भगवान्‌के दोनों स्वरूपोंको उचित स्थान देता है; परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो भारतीय आध्यात्मिकताने, नाम और रूपसे परे उच्चतम दिव्य तत्त्वपर अन्तिम जोर देनेपर भी, संसारके अन्दर परिव्याप्त भगवान् और मनुष्य-प्राणीके अन्तरस्थ भगवान्-को पूरी-पूरी मान्यता और स्थान प्रदान किया है। यह सच है कि भारतीय आध्यात्मिकताके पीछे एक विशालतर और सूक्ष्मतर ज्ञान विद्यमान है। इसने सैकड़ों भिन्न-भिन्न पथोंका अनुसरण किया है, भगवान्‌की ओर जानेके प्रत्येक प्रकारके मार्गों-को स्वीकार किया है और इस तरह वह उन क्षेत्रोंमें प्रवेश करनेमें समर्थ हुई है जो पाश्चात्य साधनाके कम विस्तृत क्षेत्रसे बाहर है। परन्तु इससे मौलिक तत्त्वोंमें कोई अन्तर नही आता, और सच पूछा जाय तो केवल मौलिक तत्त्वोंका ही विशेष मूल्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय योगका अभ्यास करनेकी बहुतेरे पश्चिमी लोगोकी योग्यताकी तुम्हारी व्याख्या यह है कि उनके यूरोपियन और अमेरिकन शरीरमें हिन्दू स्वभाव है। तुम कहते हो कि जैसे गाधीजी आंतरिक रूपमें एक नैतिकता-वादी पाश्चात्य और ईसाई है, वैसे ही आश्रमके पाश्चात्य सदस्य अपने दृष्टिकोणमें मूलतः हिन्दू हैं। परन्तु यह हिन्दू दृष्टिकोण ठीक-ठीक है क्या वस्तु? मैने स्वयं उनके अन्दर कोई ऐसी चीज नही देखी है जिसका वर्णन इस प्रकार किया जाय और

न माताजीने ही देखा है। मेरा अपना अनुभव तुम्हारी व्याख्याका पूर्णतः खंडन करता है। मैं बहन निवेदिताको अच्छी तरह जानता था (वह बहुत वर्षोतक राजनीतिक क्षेत्रमें एक साथिनी और सहकर्मिणी थी) और बहन क्रिस्टीनसे मिला था,—ये दोनों विवेकानन्दकी दो घनिष्ठ यूरोपियन शिष्याएं थी। दोनों ही अपने अन्तरतम प्रदेश-तक पाश्चात्य थीं और हिन्दू दृष्टिकोणका कुछ भी अंश उनमें नहीं था; यद्यपि बहन निवेदितामें, जो एक आयर्लैंडकी महिला थीं, एक ऐसी शक्ति थी कि वह एक तीव्र सहानुभूतिके द्वारा अपने चारों ओरके लोगोंकी जीवन-पद्धतिके अन्दर प्रवेश कर जाती थीं, पर उनका अपना स्वभाव अन्ततक अ-प्राच्य ही बना रह गया, फिर भी उन्हें वेदांतकी धारामें आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। यहां, इस आश्रममें मैंने इसके उन सदस्योंको देखा है जो पश्चिमसे आये है (मैं विशेष रूपसे उन लोगोंको समाविष्ट करता हूं जो यहां बहुत दिनोंसे रह रहे हैं), वे अपने समस्त गुणोंमें विशेष रूपमें पाश्चात्य है और उनमें पश्चिमी मन तथा प्रकृतिकी सभी कठि-नाइयां भी हैं तथा उन्हें अपनी कठिनाइयोंके साथ ठीक वैसे ही निपटना पडा है, जैसे कि भारतीय सदस्योंको अपने स्वभाव और शिक्षाद्वारा उत्पन्न सीमाओं और बाधाओं-के साथ संघर्ष करनेके लिये बाध्य होना पडा है। निःसंदेह, उन्होंने योगकी शर्तोंको तत्त्वतः स्वीकार किया है, पर जब वे आये तब उनमें हिन्दू दृष्टिकोण नहीं था और मैं नहीं समझता कि उन्होंने उसे प्राप्त करनेका प्रयास ही किया। वे भला वैसा क्यों करते? सच पूछा जाय तो योगमें हिन्दू दृष्टिकोण या पाश्चात्य दृष्टिकोणका कोई मौलिक महत्त्व नहीं है, बल्कि महत्त्व है चैत्य पुरुषके झुकावका और आध्यात्मिक लगनका और ये चीजें सर्वत्र एक जैसी हैं।

आखिरकार, यौगिक दृष्टिसे भारतके साधकों और पश्चिममें जन्मे हुए साधकों-के बीच क्या विभेद है? तुम कहते हो कि भारतीयके लिये उसका आधा योग हो चुका रहता है,—प्रथम, इस कारण कि उसका चैत्य पुरुष बहुत अधिक प्रत्यक्ष रूपमें परात्पर भगवान्‌की ओर उन्मुक्त रहता है। विशेषणको छोड़ देनेपर भी, (क्योंकि ऐसे बहुत-से लोग नहीं होते जो स्वभावतः ही परात्परकी ओर आकर्षित हों, अनेक लोग अधिक आसानीसे साकार भगवान्‌को, यहां अंतर्यामी भगवान्‌को खोजते हैं, विशेषकर यदि वे उन्हें किसी मानव-शरीरमें प्राप्त कर सकें); यहां भारतमें निस्संदेह कुछ सुविधा है। इसका कारण महज यह है कि भारतमें आध्यात्मिक खोजका वातावरण और साधना तथा अनुभूतिकी एक दीर्घ परम्परा प्रबल रूपमें बनी हुई है, जब कि यूरोपमें यह वाता-वरण नष्ट हो गया है, परम्परा खंडित हो गयी है, और दोनोंको फिरसे निर्मित करना होगा। यहां मूलभूत शंका-सन्देहका अभाव है जो इतना अधिक यूरोपियन लोगों या, इतना और जोड़ दें कि, यूरोपियन भाववाले भारतीयोंके मनको आक्रांत करता है, यद्यपि इससे भारतीय साधकोंमें व्यावहारिक तथा अत्यन्त फलदायक प्रकारके सन्देह-की महान् क्रिया बन्द नहीं हो जाती। परन्तु जब तुम किसी गभीरतर भावमें अपने सजातीय मानव-प्राणियोंके प्रति उदासीनताकी चर्चा करते हो तो मैं उसका अर्थ समझनेमें अपनेको असमर्थ पाता हूं। मेरा अपना अनुभव यह है कि व्यक्तियोंके प्रति-

माता, पिता, स्त्री, बच्चो, मित्रोंके प्रति — कर्तव्यकी या सामाजिक सम्बन्धकी दृष्टिसे ही नही, वरन् हृदयके घनिष्ठ बन्धनके द्वारा — यूरोपमें भी लोग बिलकुल उतने ही प्रबल रूपमे आसक्त होते है और बहुत बार तो और भी अधिक तीव्र रूपमें; यह योगपथमे सबसे अधिक बाधा डालनेवाली एक शक्ति है, कुछ लोग तो इस आकर्षण-के सामने हार मान जाते हैं और अनेक लोग, यहांतक कि उन्नत साधक भी, इसे अपने मन तथा अपने प्राणिक तंतुसे बाहर निकाल फेंकनेमें असमर्थ होते हैं। दूसरोंके साथ एक "आध्यात्मिक" अथवा "चैत्य" सम्बन्ध स्थापित करनेका आवेग भी — जो बहुत सामान्य रूपमें एक प्राणिक मिलावटको छिपाये रखता है और जो मिलावट कि उन्हें अपने एकमात्र लक्ष्यसे विचलित करती है — प्रायः निरन्तर दिखायी देनेवाला एक लक्षण है। यहां पाश्चात्य और पौर्वात्य मानव स्वभावमें कोई अन्तर नहीं है। केवल भारतकी शिक्षा दीर्घकालसे यह रही है कि सब कुछ भगवान्की ओर मोड़ देना चाहिये और दूसरी प्रत्येक चीजको या तो त्याग देना चाहिये या एक गौण और सहायक क्रिया-मे बदल देना चाहिये अथवा उसके उन्नयनके द्वारा केवल भगवान्की खोजका प्रथम पग बना देना चाहिये। निस्सन्देह, यह चीज भारतीय साधकको, यदि तुरत अनन्य-चित्त बननेमे नही तो भी अपनेको अधिक पूर्णताके साथ लक्ष्यकी ओर मोड़ देनेमें सहायता करती है। उसके लिये लक्ष्य सर्वदा एकमात्र भगवान् ही नहीं होते, यद्यपि यही सबसे ऊंची स्थिति मानी जाती है; परन्तु वह मुख्यतया और प्रथमतः आसानीसे भगवान्को अपने आदर्शके रूपमें ग्रहण करता है।

योगसाधनाके अपने पथमें — कम-से-कम इस योगकी साधनामें — भारतीय साधकको अपनी निजी कठिनाइया होती है, जो पश्चिमी साधकको कम मात्रामें होती हैं। पाश्चात्य प्रकृतिकी कठिनाइया वे हैं जो आसन्न अतीतके यूरोपीय मनकी प्रमुख प्रवृत्तिसे उत्पन्न होती हैं। उसकी सामान्य बाधाएं ये है — मौलिक शंका उठानेकी बहुत अधिक तत्परता और मनमें सन्देहवादी बना रहना; स्वभावकी आवश्यकताके रूपमे मानसिक क्रियाओंको जारी रखनेका अभ्यास, जिससे पूर्ण मानसिक नीरवता प्राप्त करनेमें अधिक कठिनाई होती है; सक्रिय जीवनकी समृद्धिसे उत्पन्न बाहरी वस्तुओंकी ओर एक प्रबल झुकाव (जब कि भारतीय साधक सामान्यतया अवसन्न या निगृहीत प्राणशक्तिसे उत्पन्न दोषोंसे अधिकतर पीड़ित रहते है); मानसिक और प्राणिक स्वमतस्थापनकी आदत और कभी-कभी आक्रामक रूपसे जागृत स्वातंत्र्यका भाव जो किसी महत्तर ज्योति और ज्ञान, यहांतक कि भागवत प्रभावके प्रति भी किसी प्रकारके पूर्ण आतरिक समर्पणको कठिन बना देता है। परन्तु ये चीजे पश्चिमी लोगों-मे सार्वजनीन नहीं हैं, और ये, दूसरी ओर, बहुतसे भारतीय साधकोंमें भी विद्यमान हैं; विशिष्ट भारतीय स्वभावकी कठिनाइयोंकी तरह ही ये भी सत्ताके यथार्थ स्वभाव-की चीजें नही हैं, बल्कि ऊपरी रचनाएं हैं। ये अन्तरात्माके मार्गमें स्थायी रूपसे रोड़ा नही अटका सकतीं, बशर्ते कि अन्तरात्माकी अभीप्सा प्रबल और सुदृढ़ हो, आध्यात्मिक लक्ष्य ही साधकके जीवनकी प्रमुख वस्तु हो। ये ऐसी रुकावटें हैं जिन्हें अन्दरकी अग्नि आसानीसे भस्म कर सकती है यदि इनसे छुट्टी पानेका संकल्प प्रबल हो, और यदि

बाहरी प्रकृति दीर्घ कालतक इनसे चिपकी रहे और इनका समर्थन करती हो भी जिन्हें वह अन्तमें निश्चय ही — यद्यपि कम आसानीसे — जला देगी, बशर्ते कि वह अग्नि, केंद्रीय संकल्प, गभीरतर प्रवेग सब कुछके पीछे हो और यथार्थ तथा सच्चाईयुक्त हो।

तुमने जो यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय योग करनेमें अ-पूर्वीय लोग असमर्थ होते हैं, यह केवल तुम्हारी अपनी कठिनाइयोंके अत्यन्त अवसादपूर्ण तीव्र बोधकी उपज है. तुमने उतनी ही बडी और कठिनाइयोंको नही देखा है जिन्होंने दूसरोंको दीर्घ कालतक परेशान किया है या अभी भी कर रही है। न तो भारतीयोंके लिये और न यूरोपियनोंके लिये ही योगका मार्ग निर्विघ्न और सुगम हो सकता है, इसे देखनेके लिये उनकी साधारण मानव-प्रकृति विद्यमान है ही। प्रत्येक मनुष्यको अपनी निजी कठिनाइयां महान् और चरम और यहांतक कि लगातार और अटल बनी रहनेके कारण असमाधेय प्रतीत होती हैं और विषाद तथा निराशाकी संकटावस्थाओंको लम्बे कालतक बनाये रखती है। पर्याप्त श्रद्धा बनाये रखने या तुरत अथवा लगभग तुरत प्रतिक्रिया करने तथा इन आक्रमणोंको रोक देनेके लिये पर्याप्त चैत्य दृष्टि प्राप्त करनेकी शक्ति मुश्किलसे सौमें दो-तीन व्यक्तियोंको प्राप्त होती है। परन्तु मनुष्यको अपने मनमें यह दृढ़ धारणा नही बैठा लेनी चाहिये कि मैं अक्षम हूँ अथवा इस धारणाके वशीभूत नही हो जाना चाहिये; क्योंकि ऐसे मनोभावके लिये कोई वास्तविक कारण नही है और अनावश्यक रूपसे यह मार्गको अधिक कठिन बना देता है। जहां भी कोई अन्तरात्मा है जो एक बार जागृत हो गया है, वहां निस्सन्देह अन्तरमें एक क्षमता है जो सभी ऊपरी दोषोंसे प्रबल हो सकती और अन्तमें विजयी हो सकती है।

यदि तुम्हारा निर्णय सत्य हो तो इस योगका संपूर्ण लक्ष्य ही एक व्यर्थकी चीज हो जायगा। क्योंकि हम किसी एक जाति या एक राष्ट्र या एक महाद्वीपके लिये अथवा किसी ऐसी उपलब्धिके लिये कार्य नही कर रहे है जिसे प्राप्त करनेकी क्षमता केवल भारतीयोंको अथवा केवल पौर्वात्योंको ही हो। फिर हमारा लक्ष्य यह भी नही है कि हम एक धर्मकी या किसी दार्शनिक मतकी या किसी योगमार्गकी स्थापना करें, बल्कि हमारा लक्ष्य है आध्यात्मिक विकास और अनुभवके एक ऐसे क्षेत्र और एक ऐसे पथका निर्माण करना जो एक ऐसे महत्तर सत्यको नीचे उतार लायगा जो मनसे अतीत तो होगा पर मानव-आत्मा और चेतनाके लिये दुष्प्राप्य नही होगा। जो लोग उस सत्यकी ओर आकर्षित होंगे वे सब उसे प्राप्त कर सकेंगे, चाहे वे भारतके हों अथवा अन्यत्र कहीके, चाहे पूर्वके हो या पश्चिमके। सभी लोग अपनी व्यक्तिगत या सामान्य मानवीय प्रकृतिमें महान् कठिनाइयोंका अनुभव कर सकते है; परन्तु सच पूछा जाय तो उनका भौतिक जन्म या उनका जातीय स्वभाव वह वस्तु नही है जो उनकी मुक्तिकी एक अलंघ्य बाधा बन सके।

II

बस, एक ही अनिवार्य शर्त है, सच्चाई।

'सच्चा' महज एक विशेषण है जिसका अर्थ यह है कि मनुष्यका संकल्प सच्चा सकल्प होना चाहिये। यदि तुम सिर्फ यह सोचते हो कि "मैं अभीप्सा करता हूँ" और ऐसी चीजें करते हो जो उस अभीप्साके साथ मेल नही खाती; अथवा अपनी कामना-ओंका अनुसरण करते हो या अपनेको विपरीत प्रभावोंकी ओर उद्घाटित करते हो तो फिर वह सच्चा संकल्प नही है।

*

यह सच है कि केंद्रीय सच्चाई ही पर्याप्त नही है, वह तो बस एक प्रारम्भ और आधार है; सच्चाईको, जैसा कि तुम कहते हो, सारी प्रकृतिभरमें फैल जाना चाहिये। परन्तु फिर भी, यदि मनुष्यमें द्विविध प्रकृति (केंद्रीय सामंजस्यकारी चेतनाके विना) न हो तो यह आधार सामान्यतया वैसा घटित होनेके लिये पर्याप्त होता है।

*

जब सब कुछ एकमेव परम सत्यके साथ अथवा उसकी अभिव्यक्तिके साथ मेल रखता है तो उसे ही समस्वरता या सामंजस्य कहते है।

*

प्राणसत्तामें सच्चाई ले आना अत्यन्त कठिन है और अत्यन्त आवश्यक है।

*

तुम कहते हो कि तुम्हारी प्रकृतिमें सच्चाई नहीं है। यदि सच्चाईके अभावका मतलब यह हो कि सत्ताका कोई भाग उस उच्चतम ज्योतिके *अनुसार*, जिसे कि साधक प्राप्त कर चुका है, जीवन वितानेमें या आंतरिक सत्ताके साथ वाह्य सत्ताको एकरूप करनेमें अनिच्छुक है तो यह भाग सदा ही सबके अन्दर कुटिल होता है। एकमात्र पथ है आंतर सत्तापर बल देना और उसमें चैत्य तथा आध्यात्मिक चेतनाको विकसित करना, जबतक कि वह चेतना उसमें उतर न आये और *वाहरी सत्तासे भी अन्धकार*-को वाहर न निकाल दे।

मैंने ऐसा कभी नहीं कहा है कि प्राणको भगवत्प्रेममें कोई भाग नही लेना है, केवल यह कहा है कि उसे चैत्य पुरुषके प्रकाशमें अपने-आपको शुद्ध तथा उन्नत करना होगा। मनुष्य-मनुष्यके बीचके स्वानुरागी प्रेमके परिणाम अन्तमें इतने तुच्छ और

विपरीत होते हैं — उसीको मैं साधारण प्राणिक प्रेम कहता हूँ — कि मैं भगवान्की ओर जानेके प्रयासके लिये भी प्राणके अन्दर कोई शुद्धतर, महत्तर और उच्चतर वस्तु चाहता हूँ।

*

मनुष्य सर्वदा मिश्रित होता है और उसकी प्रकृतिमें गुण और दोष एक साथ इस प्रकार मिलेजुले होते हैं कि उन्हें अलग करना प्रायः असम्भव होता है। मनुष्य जो कुछ होना चाहता है अथवा दूसरे उसमें जो कुछ देखना चाहते हैं अथवा कभी-कभी वह अपनी प्रकृतिके एक भागमें जो कुछ होता है या किसी विशेष संपर्कमे जो कुछ होता है उससे वह वास्तविक रूपमें या अन्य संपर्कोमे अथवा अपनी प्रकृतिके दूसरे भागमें बहुत भिन्न हो सकता है। पूर्ण रूपसे सच्चा, निर्भीक, उच्च वस्तुओंके प्रति उद्घाटित होना मानव-प्रकृतिके लिये कोई आसान उपलब्धि नही है। सच पूछा जाय तो एकमात्र आध्यात्मिक प्रयासके द्वारा ही कोई इस चीजको उपलब्ध कर सकता है — और वैसा प्रयास करनेके लिये आवश्यकता होती है कठोर अन्तर्निरीक्षणात्मक आत्मदर्शन-की शक्तिकी, निर्दय होकर अपने अन्दर पर्यवेक्षण करने और छानबीन करनेकी शक्ति-की जिसे पानेमें बहुतसे साधक और योगी भी समर्थ नही होते। वास्तवमें एकमात्र आलोकदायिनी भागवती कृपा-शक्ति ही साधकके सम्मुख उसका स्वरूप उद्घाटित करती और उसमें जो कुछ दोषपूर्ण है उसे रूपांतरित करती है और तभी मनुष्यमें वैसा करनेकी शक्ति आती है। और उस समय भी ऐसा केवल तभी सम्भव होता है जब साधक स्वयं अपनी अनुमति देता और भागवत क्रियाके लिये सम्पूर्ण रूपसे अपने-आपको दे देता है।

*

यदि 'अ' की साधनाको अन्ततक निरन्तर एक वृत्तके अन्दर चक्कर नहीं काटते रहना है अथवा अन्तमें असफल होना और चूर-चूर होकर नष्ट नहीं हो जाना है तो कुछ चीजोंको सरल और निष्कपटभावसे, आत्मसमर्थन किये बिना समझ लेना उसके लिये नितांत आवश्यक है।

इस योगका लक्ष्य है प्राण, मन और शरीरसे परेके एक उच्चतर भागवत सत्यकी ओर उद्घाटित होना और इन तीनोंको उसकी प्रतिमूर्त्तिमें रूपांतरित करना। परन्तु वह रूपांतर तबतक संसिद्ध नही हो सकता और स्वयं वह सत्य अपने अभ्रांत भावमें, पूर्ण ज्योति और यथार्थ आकारमें नहीं जाना जा सकता जबतक कि समूचा आधार मूलतः तथा धैर्यपूर्वक शुद्ध नहीं कर दिया जाता, और जो कुछ मानसिक रचनाओं, प्राणसत्ताकी कामनाओं तथा भौतिक चेतना और भौतिक सत्ताके अतीत है उसे ग्रहण करनेके लिये नमनीय और सक्षम नही बना दिया जाता।

उसकी अत्यन्त सुस्पष्ट बाधा, जिस बाधासे उसे अबतक जरा भी छुटकारा नही मिला है वह है प्रबल राजसिक-प्राणिक अहकार जिसके लिये उसका मन समर्थन और आश्रय खोजता है। प्राणिक अहकारके लिये योगका जामा पहनने, और यह कल्पना करनेसे अधिक अनुकूल कोई चीज नही है कि मै मुक्त, दिव्य, अध्यात्मभावापन्न, सिद्ध और इस तरहकी बाकी सभी चीजें हूँ अथवा उस परिणतिकी ओर आगे बढ़ रहा हूँ, जब कि वास्तवमे इस प्रकारकी कोई चीज वह नही करता होता, बल्कि ठीक वही पुराना व्यक्ति नये आकारोमे होता है। यदि मनुष्य एकनिष्ठ सच्चाईके साथ आत्म-निरीक्षण न करे तो इस चक्रसे बाहर निकलना असम्भव है।

आत्मप्रतारक प्राणिक अहंके निष्कासनके साथ-साथ वह वस्तु भी अवश्य जानी चाहिये जो उसके साथ रहती है, सामान्यतया मनके भागोंमें रहती है, जैसे मानसिक उद्दण्डता, अपने बड़प्पनका झूठा बोध और ज्ञानका आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन। सब प्रकार-के बहानो और सब प्रकारके मिथ्याभिमानोंका अवश्य परित्याग होना चाहिये; मनुष्य जो कुछ नही है वही होनेका सब प्रकारका बहाना अपने प्रति और दूसरोंके प्रति करना, अथवा मनुष्य जो कुछ नही जानता उसे जाननेका बहाना करना, और अपनी निजी आध्यात्मिक स्थितिसे अधिक ऊचा होनेकी सभी प्रकारकी भावना इस सबका त्याग होना चाहिये।

प्राणिक अहंकारके सम्मुख है भौतिक सत्तामें तमस्‌का भद्दापन और भारीपन तथा चैत्य और आध्यात्मिक परिमार्जनका अभाव। उसे अवश्य दूर करना होगा अन्यथा वह सर्वदा प्राण-सत्ता एवं मनके वास्तविक तथा पूर्ण परिवर्तनके मार्गमें बाधा डालता रहेगा।

जबतक ये चीजें मौलिक रूपमें परिवर्त्तित नही हो जातीं, तबतक मानसिक और प्राणिक भागोंमें सहज अनुभूतियां पाने या क्षणस्थायी और निराधार स्थिरता स्थापित करनेमे अन्तमें कोई लाभ नही होगा। सत्तामे कोई भी मौलिक परिवर्तन नही होगा, केवल एक स्थितिसे दूसरीमे निरन्तर जाते रहना, कभी-कभी बाधाओंका वापस आना तथा सर्वदा उसी दोषका बने रहना अध्यायके अन्ततक चलता रहेगा।

इन चीजोंसे छुट्टी पानेकी एकमात्र शर्त्त है सत्ताके समस्त अंगोंमें पूर्ण केंद्रीय सच्चाईका होना, और इसका अर्थ है परम सत्यपर पूरा-पूरा आग्रह करते रहना और परम सत्यके सिवा किसी वस्तुपर आग्रह न करना। तब मनुष्य अपनी निर्दय आलोचना करनेके लिये तत्पर रहेगा तथा ज्योतिकी ओर खुलनेके लिये जागृत रहेगा, जब मिथ्या-पन अपने अन्दर आयेगा तब एक प्रकारकी बेचैनी होगी और ये सब चीजें अन्तमें समूची सत्ताको शुद्ध कर देंगी।

उपर्युक्त दोष लगभग प्रत्येक साधकमें विभिन्न मात्राओंमें प्रायः ही पाये जाते हैं, यद्यपि कुछ साधक ऐसे होते हैं जिन्हें ये दोष स्पर्श नही करते। इनसे छुटकारा मिल सकता है, यदि साधकमें अपेक्षित सच्चाई विद्यमान हो। परन्तु ये यदि सत्ताके केंद्रीय भागोंको अधिकृत कर लें और साधकके मनोभावको दूषित कर दें तो फिर साधक निरन्तर इन्हें प्रकट या प्रच्छन्न रूपमें इनका समर्थन करता रहेगा, मन सदा कपटरूप

देने और समर्थन करनेके लिये सन्नद्ध रहेगा तथा आत्म-समालोचना करनेके गुण-रूपी सर्चलाइट एवं चैत्य पुरुषके विरोधोंसे बचनेकी चेष्टा करेगा। इसका मतलब है कम-से-कम इस जीवनके लिये योगसाधनामें असफल हो जाना।

*

यह बिलकुल स्वाभाविक है कि जबतक सब कुछ स्वच्छ नहीं हो जाता तबतक हमारे मनोभावमें बहुत अधिक मिलावट बनी रहे — साधारण प्रकृति कर्मसे चिपकी रहती है और रूपांतरका कार्य एकाएक पूर्ण रूपसे संपन्न नहीं हो सकता। आवश्यकता बस इस बातकी है कि आधारभूत चेतना दृढ़तापूर्वक भगवान्मे स्थापित हो जाय, तब बाकी भागोंकी मिलावट दिखायी पडेगी और उसे दृढतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकेगा। ऐसा बाहरी रूपमें और आंतरिक रूपमें करना एक महान् उन्नति है।

*

एक साधारण ईसाईके लिये पूर्णत: एकरूप बन जाना, सभी अंगोंमें एकभावापन्न बन जाना बहुत कठिन है; क्योंकि ईसाकी शिक्षा यूरोपीय शिक्षा-दीक्षा तथा समाजके द्वारा शिक्षित किसी बुद्धि-प्रधान और प्राणप्रधान मनुष्यकी चेतनाकी अपेक्षा एकदम किसी दूसरे स्तरकी शिक्षा है। वह बौद्धिक और प्राणप्रधान व्यक्ति जब कोई पादरी या पुरोहित होता है तब भी उससे कभी यह मांग नहीं की जाती कि वह जो कुछ उपदेश देता है उसका अभ्यास वह पूरी सच्चाईके साथ अपने जीवनमें करे। परन्तु सच्चे श्रद्धा-विश्वास या सत्यदर्शनके एकमात्र केंद्रसे विचार करना, अनुभव करना और कार्य करना कहीं भी मानवप्रकृतिके लिये कठिन होता है। एक सामान्य हिन्दू आध्यात्मिक जीवनको सबसे ऊंचा मानता है, संन्यासीका आदर करता है, भक्तके द्वारा प्रभावित होता है; पर अपने परिवारका कोई आदमी यदि आध्यात्मिक जीवन यापन करनेके लिये संसार छोड़ देता है तो कितना आंसू बहाया जाता, तर्क-वितर्क किया जाता, प्रतिवाद किया जाता और शोक प्रकट किया जाता है! यदि उसकी स्वाभाविक मृत्यु हो गयी होती तो उस समय जो कुछ होता उससे भी प्राय: बुरी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह सचेतन मानसिक असद्हृदयता नहीं है— वे पंडितोंकी तरह तर्क करेंगे और यह साबित करनेके लिये शास्त्रकी दुहाई देंगे कि तुम भूल कर रहे हो; यह अचेतनता है, एक प्रकारकी प्राणिक असच्चाई है जिसके विषयमें वे सचेतन नहीं हैं और जो तार्किक मनका व्यवहार पापकर्मके एक साथीके रूपमें करती है।

यही कारण है कि हम इस योगमें सच्चाईपर इतना अधिक बल देते है — और इसका अर्थ है अपनी समस्त सत्ताको एक परम सत्य, एकमात्र भगवान्की ओर सचेतन रूपसे मोड़ देना। पर यह मानवीय प्रकृतिके लिये एक अत्यन्त कठिन कार्य है, कठोर तापस-जीवन या कट्टर धार्मिकतासे भी बहुत अधिक कठिन है। धर्म स्वयं इस प्रकार-

की पूर्ण सुसमंजस सच्चाई नही प्रदान करता — महज चैत्य पुरुष और एकनिष्ठ आध्यात्मिक अभीप्सा ही यह सच्चाई प्रदान कर सकती हैं।

III

अभीप्सा परम सत्यके पूर्ण अवतरण तथा जगत्‌में मिथ्यात्वके ऊपर विजयके लिये होनी चाहिये।

*

जो लोग यहां आते हैं उनमें एक अभीप्सा और एक सम्भावना होती है — उनके चैत्य पुरुषकी कोई चीज उन्हें प्रेरित करती है और अगर वे उसका अनुसरण करें तो वे लक्ष्यपर पहुँच जायेंगे; परन्तु वह चीज अन्तर्मुखीनता नही है। अन्तर्मुखीनताका मतलब है सत्ताका निम्नतर वस्तुओंसे हटकर भगवान्‌की ओर मुड़ जाना।

अभीप्सा बादमें अन्तर्मुखीनता ला सकती है, पर वह स्वयं अन्तर्मुखीनता नहीं है।

श्रीमाताजीने तीन विभिन्न चीजोंकी बात कही: अन्तर्मुखीनता, अन्तरात्माका निश्चित रूपमें भगवान्‌की ओर मुड़ जाना,—भगवान्‌की आंतरिक उपलब्धि,—प्रकृतिका रूपांतर। पहली दो चीजें तेजीसे और अकस्मात् रूपसे और सर्वदाके लिये घटित हो सकती हैं, पर तीसरी चीजके होनेमें बराबर ही समय लगता है और वह एक ही क्षणमे, एक ही बारमें नही हो सकती। मनुष्य रूपांतरकी ब्योरेकी किसी-न-किसी चीजके द्रुत परिवर्तनके विपयमें सज्ञान हो सकता है, पर वह भी एक दीर्घ क्रियाका द्रुत परिणाम होता है।

*

आत्मार्पण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी चेतनाको भगवान्‌के प्रति आत्मदान कर देनेके लिये प्रशिक्षित करता है। परन्तु अन्तर्मुखी-भाव चेतनाकी एक स्वाभाविक क्रिया होता है। यह भाव भीतरसे और ऊपरसे प्राप्त स्पर्शके द्वारा आता है और उसका परिणाम भी होता है। आत्मार्पण मनुष्यको उस स्पर्शके प्रति उद्‌घाटित होनेमें सहायता कर सकता है अथवा वह स्पर्श स्वय अपने-आप भी आ सकता है। परंतु अन्तर्मुखीभाव अभीप्सा और तपस्याकी एक दीर्घ प्रक्रियाकी परिणतिके रूपमें भी आ सकता है। इन विपयोका कोई अटल नियम नहीं है।

यदि चैत्य पुरुष सामने आ जाय तो अन्तर्मुखीभाव आसान हो जाता है अथवा तुरत आ जाता है अथवा अन्तर्मुखीभाव चैत्य पुरुषको सामने ले आ सकता है। यहां भी, फिर, कोई निश्चित नियम नहीं है।

यह दोनों तरहसे हो सकता है, एक स्पर्श होता है और अनुभूति भी होती है और चैत्य पुरुष उसके परिणामस्वरूप अपना समुचित स्थान ग्रहण करता है अथवा चैत्य पुरुष सामने आ सकता है और प्रकृतिको अनुभूतिके लिये तैयार कर सकता है।

रूपांतर क्रमशः होनेवाली चीज है, पर निस्सन्देह अनुभूति पहले अवश्य हो जानी चाहिये, उसके बाद ही रूपातरके उद्देश्यका सिद्ध होना सम्भव होता है।

*

तुम जो कुछ कहते हो वह बिलकुल सही है। हृदयसे उठनेवाली सरल, सीधी और सच्ची पुकार तथा अभीप्सा एकमात्र प्रधान वस्तु है और क्षमताओंकी अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक और प्रभावशाली होती हैं। फिर चेतनाको अन्दरकी ओर मोड़ देना, उसे बहिर्मुखी न बने रहने देना — आंतरिक पुकार, आंतरिक अनुभव, आंतरिक उपस्थितिके पास पहुँचना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

जो सहायता तुम मांगते हो वह तुम्हें प्राप्त होगी। अभीप्साको बढ़ने दो और आंतरिक चेतनाको एकदम खुल जाने दो।

*

शान्ति, पवित्रता, निम्न प्रकृतिसे मुक्ति, ज्योति, शक्ति, आनन्द, दिव्य प्रेम, भागवत सेवा आदिके लिये अभीप्सा करनेका क्या "कारण" है? ये चीजें अपने-आपमें बहुत अच्छी है और मानवीय प्रयासका उच्चतम सम्भव लक्ष्य हैं।

*

हां, यही है पथ — अभीप्साकी तीव्रता अनुभूतिकी तीव्रता ले आती है और जब बार-बार तीव्र अनुभूति होती है तो परिवर्तन आता है।

*

अभीप्सा भगवान्के लिये पुकार है,—संकल्प प्रकृतिके ऊपर सचेतन शक्तिका दबाव है।

*

अभीप्साके लिये शब्दोंकी कोई आवश्यकता नही है। यह शब्दोंमें व्यक्त हो सकती या अव्यक्त रह सकती है।

*

अभीप्साको विचारके रूपमे होनेकी कोई आवश्यकता नहीं — यह भीतरकी एक भावना हो सकती है जो उस समय भी बनी रहती है जब कि मन कर्ममें निरत रहता है।

*

अभीप्साका तात्पर्य है शक्तियोंको पुकारना। जब शक्तियां प्रत्युत्तर दे देती है तब शान्त-स्थिर ग्रहणशीलताकी, एकाग्र पर स्वतःस्फूर्त ग्रहणशीलताकी एक स्वाभाविक स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

*

हमें भगवान्‌के लिये अभीप्सा करनी चाहिये और उन्हें ही समर्पण करना चाहिये तथा यह कार्य उनपर छोड देना चाहिये कि एक बार आधारके पूर्ण हो जानेपर उसके लिये जो कुछ सत्य और उचित हो उसे वह करें।

*

यह उस स्तरपर निर्भर है जहा साधक पहुँच चुका है। व्यक्तिगत अभीप्सा तबतक आवश्यक है जबतक साधक उस अवस्थामें नही पहुँच जाता जिसमें सब कुछ अपने-आप आता है और केवल एक प्रकारका ज्ञान तथा आरोहण उसके आत्मविकासके लिये आवश्यक होता है।

*

"खींचनेका भाव" साधारणतया स्वयं अपने लिये चीजें प्राप्त करनेकी कामनासे आता है — अभीप्सामें एक प्रकारके आत्मदानका भाव होता है जिसमें कि उच्चतर चेतना अवतरित हो और अधिकार जमा ले—जितनी ही अधिक तीव्र पुकार होती है उतना ही अधिक आत्मदानका भाव भी होता है।

*

इसमे सन्देह नही कि जो कुछ तुम करते हो, यहांतक कि साधनाका जो तुम्हारा प्रयास है उस सबमें कामनाकी मिलावटका होना ही तुम्हारी कठिनाई है। कामना धैर्यहीन प्रयत्नकी क्रिया ले आती है और जब कठिनाई अनुभूत होती है और परिणाम तुरत नही आता तथा अन्य विभ्रांत और घबड़ा देनेवाली भावनाएं आती है तो निराशाकी प्रतिक्रिया और विद्रोह उत्पन्न करती है। अभीप्साको कामनाका एक रूप नही

लेना चाहिये, वल्कि उसे आंतरिक आत्माकी एक आवश्यकताका बोध, और भगवान्‌की ओर मुड़ने और उन्हें खोजनेके लिये एक शान्त सुस्थिर सकल्प होना चाहिये। निश्चय ही कामनाकी इस मिलावटसे पूर्णतः बच जाना आसान नही है — किसी भी व्यक्तिके लिये आसान नही है; परन्तु मनुष्यमें जब ऐसा करनेका संकल्प होता है तो अवलंब देनेवाली दिव्य शक्तिकी सहायतासे इसे भी ससिद्ध किया जा सकता है।

*

यदि अच्छी कामनाएं हैं तो बुरी कामनाएं भी आयेंगी। सकल्प और अभीप्साके लिये तो साधनामें एक स्थान है, पर कामनाके लिये नही है। यदि साधकमें कामना है तो उसमें आसक्ति, मांगकी भावना, लालसा, समत्वका अभाव, न पानेपर शोक अवश्य रहेंगे और ये सब चीजें अयौगिक हैं।

*

मनुष्यको जो कुछ उसे मिलता है उससे संतुष्ट रहना चाहिये और फिर भी शांतरूपसे, बिना संघर्षके, और अधिक पानेके लिये अभीप्सा करनी चाहिये — जबतक सब कुछ नहीं आ जाता। कोई कामना, कोई संघर्ष नहीं — बस, होनी चाहिये अभीप्सा, श्रद्धा, उद्‌घाटन — और भागवत कृपा।

*

क्रियाका जहांतक प्रश्न है, यह इस बातपर निर्भर है कि तुम उस शब्दका क्या तात्पर्य लेते हो। कामना बहुधा अत्यधिक प्रयास करनेमें प्रवृत्त करती है जिसका अर्थ अधिकांशतः होता है बहुत अधिक श्रम और तनाव तथा क्लांतिके साथ सीमित परिणाम और कठिनाई या असफलता आनेकी दशामें निराशा, अविश्वास या विद्रोह; अथवा वह शक्तिको खींचनेकी प्रवृत्ति प्रदान करती है। शक्तिको खींचा जा सकता है, परन्तु यौगिक दृष्टिसे प्रबल तथा अनुभवप्राप्त लोगोंके सिवा, यह सर्वदा खतरनाक होता है, यद्यपि यह बहुधा बहुत फलदायी हो सकता है; खतरनाक, सबसे पहले, इस कारण होता है कि इसके कारण तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है या यह विपरीत या अशुभ या मिश्रित शक्तियोंको उतार सकता है जिनमेंसे समुचित शक्तियोंको पहचाननेके लिये साधकको पर्याप्त अनुभव नहीं होता। अथवा, यह भगवान्‌के अबाध दान और यथार्थ पथप्रदर्शनके स्थानमें अनुभव करनेकी साधककी अपनी सीमित शक्तिको या उसकी मानसिक और प्राणिक रचनाओंको बैठा देता है। हर प्रसंगमें बात अलग होती है, प्रत्येक व्यक्तिका साधनाका अपनी निजी पथ होता है। परन्तु तुम्हारे लिये मैं जो परामर्श देना चाहता हूँ वह है निरन्तर उद्‌घाटित रहना, शांतभावसे लगा-

तार अभीप्सा करना अति-उत्सुकताका न होना, प्रसन्नतापूर्ण विश्वास और धैर्य बनाये रखना।

•

सच पूछा जाय तो चैत्य पुरुष ही सच्ची अभीप्सा प्रदान करता है — यदि प्राण-सत्ता शुद्ध हो और चैत्यके अधीन हो तो वह तीव्रता देती है — परन्तु वह यदि अशुद्ध हो तो वह अभीप्साके साथ राजसिक तीव्रता तथा अवसाद और नैराश्यकी प्रतिक्रियाएं ले आती है। आवश्यक स्थिरता और समताका जहांतक प्रश्न है, उन्हें मनके भीतरसे होकर ऊपरसे आना चाहिये।

•

यह चैत्य अभीप्सा, चैत्य अग्नि है। जहां प्राण हस्तक्षेप करता है वहां परिणाम-के लिये अधीरता होती है और यदि परिणाम तुरन्त न हो तो असंतोष होता है। वह अवश्य बन्द होना चाहिये।

ऐसा करना ऊपरी तलके असंस्कृत प्राण-भागके स्वभावमें है। सच्चा प्राण भिन्न प्रकारका होता है, शान्त-स्थिर और शक्तिशाली तथा भगवान्‌के प्रति समर्पित एक समर्थ यन्त्र होता है। परन्तु उसके सामने आनेके लिये सबसे पहले आवश्यक है मनमें ऊपरकी ओर यह सुदृढ़ स्थिति प्राप्त कर लेना — जब चेतना वहां रहती है और मन स्थिर, स्वतन्त्र और विशाल होता है तो सच्चा प्राण आगे आ सकता है।

•

अधीरता और उद्विग्न अशान्ति प्राणसे आती है जो उन चीजोंको अभीप्सामें भी ले आता है। अभीप्सा होनी चाहिये तीव्र, स्थिर और प्रबल (यह सच्चे प्राणका भी स्वभाव है) और उसे अशान्त तथा अधीर नहीं होना चाहिये,—केवल तभी वह स्थायी हो सकती है।

•

एक सीमा पर सनातन अभीप्सा हो सकती है जो आन्तर सत्ताकी समस्याओंको हल नहीं करती।

•

आसन और प्राणायाम करनेका कोई लाभ नहीं। तीव्र आवेगकी आगमे जलनेकी कोई आवश्यकता नहीं। बस, आवश्यकता है एकाग्रता तथा अटूट अभीप्सा-की सामर्थ्यको धैर्यपूर्वक प्राप्त करना जिसमें कि जिस नीरवताकी तुम चर्चा करते हो वह हृदयमें स्थापित हो सके तथा अन्य अंगोंमें भी फैल जाय। फिर भौतिक मन तथा अवचेतना शुद्ध और अचंचल हो सकती है।

*

यह समझना भूल है कि व्याकुलताका सतत अभाव इस बातका चिह्न है कि भगवान्‌के लिये अभीप्सा या आकांक्षा सच्ची नहीं है। सच पूछा जाय तो भक्तियोग-के किन्ही विशिष्ट व्यावर्तक मार्गोंमें ही निरन्तर व्याकुलता या क्रंदन या हाहाकार (यह अन्तिम अधिकांशत: चैत्यकी अपेक्षा प्राणिक ही होता है) का होना आवश्यक नियम माना जाता है। यहां (इस योगमें) यद्यपि चैत्य उत्कंठा कभी-कभी या बहुधा तेज तरंगोंके रूपमें आ सकती है, पर जो कुछ आधारके रूपमें आता है वह सत्ताका एक शान्त-अचंचल भाव होता है और उस अचंचलभावमें अधिकाधिक सत्यका निरन्तर बोध होता है, भगवान्‌के लिये खोजकी वृत्ति तथा भगवान्‌की आवश्यकताका बोध होता है जिससे सब कुछ उसी ओर अधिकाधिक मुड़ जाता है। इसी स्थितिमें अनुभव तथा वर्द्धनशील उपलब्धि आती है। चूंकि तुम्हारे अन्दर उद्‌घाटन बढ़ रहा है इसलिये तुम्हें श्रीमाताजीकी उपस्थिति (आकारसे परे) का यह आभास हो रहा है। जैसे-जैसे यह आंतरिक उपलब्धि बढ़ती है वैसे-वैसे भौतिक आकारमें विद्यमान उनकी उपस्थिति अपना पूर्ण मूल्य प्राप्त करती है।

*

प्रार्थनाएं विश्वाससे भरी होनी चाहियें और वहां शोक या विलाप नहीं होना चाहिये।

*

स्वभावत: ही जितनी अधिक एकमुखी अभीप्सा होती है उतनी ही तेजीसे प्रगति होती है। कठिनाई तब आती है जब या तो प्राण अपनी कामनाओंके साथ या भौतिक चेतना अपनी पुरानी अभ्यासगत क्रियाओंके साथ बीचमें आ जाती है — जैसा कि वे लगभग प्रत्येक व्यक्तिके साथ करती हैं। ऐसे ही समयमें नीरसता और स्वाभाविक अभीप्सामें कठिनाई आती है। यह नीरसता समस्त साधनाओंकी एक चिरपरिचित बाधा है। परन्तु साधकको डटे रहना चाहिये और निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। यदि कोई इन निष्फल कालोंमें भी अपने संकल्पको स्थिर बनाये रखे तो वे निकल जाते

है और उनके निकल जानेके बाद अभीप्सा और अनुभवकी एक महत्तर शक्तिका आना सम्भव हो जाता है।

*

यह तामसिक शक्तियोंका एक सुझाव है जो कठिनाईपर बल देती और उसे उत्पन्न करती है और भौतिक चेतना उसे स्वीकार करती है। वास्तवमें अभीप्सा करना कभी कठिन नही होता। परित्याग तुरत फलदायी न भी हो सके पर परित्यागका और अस्वीकृतिका सकल्प बनाये रखना सर्वदा ही सम्भव होता है।

*

निस्सन्देह, सच्ची और प्रबल अभीप्साकी आवश्यकता है, पर यह सच नही है कि सच्ची चीज तुम्हारे अन्दर नही है। यदि यह न होती तो दिव्य शक्ति कभी तुम्हारे अन्दर कार्य न कर पाती। परंतु यह सच्ची चीज चैत्य पुरुषमें और तुम्हारे हृदयमें बैठी थी और जब कभी ये ध्यानमें सक्रिय हुए तभी वह प्रकट हुई। परन्तु पूर्णताके लिये क्रियाको नीचे भौतिक चेतनामें आना पड़ा और वहां स्थिरता और उद्घाटन ले आना पडा। भौतिक चेतना प्रत्येक व्यक्तिमें ही अपने स्वभावमें सर्वदा थोड़ी जड़ होती है और उसमें सतत प्रबल अभीप्साका होना स्वाभाविक नही है, इसे वहां उत्पन्न करना होता है। परन्तु सबसे पहले वहां उद्घाटन, शुद्धीकरण और दृढ़ स्थिरता होनी चाहिये, अन्यथा भौतिक प्राण प्रबल अभीप्साको अति-उत्सुकता और अधीरता-में बदल देगा अथवा उसे वैसा मोड देनेका प्रयत्न करेगा। अतएव परेशान मत होओ यदि तुम्हें अपनी प्रकृतिकी स्थिति अत्यन्त उदासीन और शांत प्रतीत हो, उसमें पर्याप्त अभीप्सा और गतिविधि न हो। यह प्रगति करनेका एक आवश्यक मार्ग है बाकी चीजे अवश्य आयेंगी।

*

तुम अभी भी मध्यवर्ती कालोंको सहन करनेमें कठिन महसूस कर रहे हो जब कि सब कुछ निश्चल हो जाता है और ऊपरी सतहपर कुछ भी नही संपन्न होता। परन्तु ऐसे मध्यवर्ती काल सबके लिये आते है और इनसे बचा नही जा सकता। तुम्हें इस सुझावका पोषण नही करना चाहिये कि ऐसा होनेका कारण यह है कि तुम्हारे अन्दर अभीप्साका अभाव है या कोई दूसरी अयोग्यता है, और यदि तुममें सतत तीव्र अभीप्सा होती तो ऐसे काल नही आते और अनुभूतियोंकी एक अविरल धारा बनी रहती। बात ऐसी नही है। यदि अभीप्सा होती तो भी मध्यवर्ती काल आते। यदि वैसे समयों-में भी मनुष्य अभीप्सा कर सके तो वह और भी अच्छा है — परन्तु मुख्य बात है शांति-

के साथ उनका सामना करना और चंचल, अवसन्न या निराश न होना। सतत अग्नि केवल तभी प्रज्वलित रह सकती है जब कि मनुष्य एक विशेष स्थितिको प्राप्त कर ले, वह स्थिति है जबकि मनुष्य अपने अन्दर सर्वदा अपने चैत्य पुरुषमें सचेतन रूपमें निवास करता है, परन्तु उसके लिये मन, प्राण और शरीरकी यह समस्त तैयारी आवश्यक है। क्योंकि यह अग्नि चैत्य पुरुषकी अग्नि है और मनुष्य सर्वदा महज मनके प्रयासके बलपर उसपर कब्जा नही कर सकता। चैत्य पुरुषको पूर्णतः मुक्त करना होगा और इसी चीजको पूरी तरह सम्भव बनानेके लिये दिव्य शक्ति कार्य कर रही है।

IV

श्रद्धा (Faith) – सक्रिय संपूर्ण विश्वास और स्वीकृति।

विश्वास (Belief) – केवल बौद्धिक स्वीकृति।

प्रतीति (Conviction) – ऐसी बातोंपर आधारित बौद्धिक विश्वास जो अच्छे कारण प्रतीत हों।

निर्भरता (Reliance) – किसी चीजके लिये किसी दूसरेपर, उसपर भरोसा होनेके कारण, आश्रित होना।

भरोसा (Trust) – दूसरेकी सहायता मिलनेकी सुनिश्चित आशाका भाव तथा उसके वचन, चरित्र आदिपर निर्भरता।

विश्वासिता (Confidence) – भरोसा के कारण उत्पन्न संरक्षणका भाव।

*

श्रद्धा सारी सत्तामें होनेवाला एक भाव है, विश्वास (belief) मानसिक होता है, प्रतीति (conviction) का अर्थ है किसी व्यक्तिपर या भगवान्‌पर भरोसा (trust) अथवा अपनी खोज या प्रयासके परिणामके विषयमें निश्चयताका भाव।

*

मानसिक श्रद्धा सन्देहका विरोध करती है और यथार्थ ज्ञानकी ओर उद्‌घाटित होनेमें सहायता करती है; प्राणिक श्रद्धा विरोधी शक्तियोंके आक्रमणोंको रोकती या उन्हें हराती है तथा यथार्थ आध्यात्मिक संकल्प और कर्मकी ओर खुलनेमें सहायता करती है; भौतिक श्रद्धा मनुष्यको समस्त भौतिक अंधता, तामसिकता या दुःख-क्लेश-के भीतर स्थिर बनाये रखती है तथा यथार्थ चेतनाके आधारकी ओर खुलनेमें सहायता करती है; चैत्य श्रद्धा भगवान्‌के प्रत्यक्ष स्पर्शकी ओर खोल देती है तथा एकत्व एवं समर्पण-भाव ले आनेमें सहायता करती है।

*

मानसिक श्रद्धा वहुत सहायक होती है, पर यह एक ऐसी चीज है जो सर्वदा क्षणिक रूपसे डिग सकती या बिलकुल मेघाच्छन्न हो सकती है — जबतक कि उच्चतर चेतना और अनुभव सदाके लिये स्थिर नही हो जाते। आच्छादित हो जानेपर भी जो चीज बनी रहती है वह है आंतर सत्ताकी अभीप्सा या किसी उच्चतर वस्तुकी आवश्यकताका बोध, जो कि अंतरात्माकी श्रद्धा है। वह भी कुछ समयके लिये आच्छादित हो सकती है पर वह फिर प्रकट होती है — उसपर ग्रहण तो लगता है पर वह विनष्ट नही होती।

*

यही सच्चा संकल्प है। यदि अन्य चेतनाकी लहरें इसे ऊपरी सतहपर ढक भी दे तो इसे अपने अन्दर अटल-अचल बनाये रखो। यदि कोई अपने अन्दर इस प्रकार किसी श्रद्धा या सकल्पको जमा ले तो वह बना रहता है और यदि कुछ कालके लिये मन आच्छादित भी हो जाय या संकल्प धीमा पड़ जाय तो भी मनुष्य उसे पुनः अपने-आप उस जहाजकी तरह निकलते हुए देखता है जो लहरोंके आच्छादनसे बाहर निकलता और अदम्य रूपसें अपनी यात्रापर समस्त उलट-फेरोंके भीतरसे होता हुआ तबतक आगे बढता रहता है जबतक कि वह बन्दरपर नही पहुँच जाता।

*

इस उक्ति ("अन्ध श्रद्धा") का कोई यथार्थ अर्थ नही है। मै समझता हूँ कि इससे उनका तात्पर्य होता है कि वे प्रमाणके बिना विश्वास नहीं करेंगे। परन्तु प्रमाण पानेपर जो निर्णय लिया जाता है वह श्रद्धा नहीं है, वह तो ज्ञान है अथवा वह एक मानसिक राय है। श्रद्धा एक ऐसी वस्तु है जिसे मनुष्य प्रमाण या ज्ञानसे पहले अपनाता है और यह ज्ञान या अनुभूतिपर पहुँचनेमें सहायता पहुँचाती है। इस बातका कोई प्रमाण नही है कि ईश्वरका अस्तित्व है, पर मुझे यदि ईश्वरमें विश्वास हो तो मैं भगवान्‌का अनुभव प्राप्त कर सकता हूँ।

*

श्रद्धा-विश्वास अनुभवपर नही निर्भर करता; वह तो एक ऐसी चीज है जो अनुभवके पहलेसे विद्यमान रहती है। जब कोई योग आरम्भ करता है तो वह साधारणतया अनुभवके बलपर नही आरम्भ करता बल्कि श्रद्धा-विश्वासके बलपर करता है। यह बात केवल योग और आध्यात्मिक जीवनके लिये ही नही वरन् साधारण जीवनके लिये भी ऐसी ही है। सभी कर्मशील व्यक्ति, ज्ञानके आविष्कर्त्ता, उद्घाटक और स्रष्टा श्रद्धाविश्वाससे ही आरम्भ करते हैं और, जबतक प्रमाण नही मिल जाता या कार्य पूरा नही हो जाता तबतक वे निराशा, असफलता, प्रमाणाभाव, अस्वीकृतिके

बावजूद भी अपना प्रयास जारी रखते हैं, क्योंकि उनमे एक चीज ऐसी होती है जो उनमे कहती है कि यही सत्य है, यही वह चीज है जिसका अनुसरण करना होगा और जिसे पूरा करना होगा। रामकृष्णसे जब यह पूछा गया कि क्या अन्ध-श्रद्धा रखना अनुचित नही है तब उन्होने तो यहांतक कह डाला कि अन्ध-श्रद्धा ही तो रखनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धा या तो अन्धी होती है अथवा वह श्रद्धा ही नही होती, बल्कि कोई अन्य चीज होती है, जैसे युक्तिपूर्ण अनुमान, प्रमाणसिद्ध प्रतीति या निरूपित ज्ञान।

श्रद्धा-विश्वास अंतरात्माकी किसी ऐसी चीजके विषयमे गवाही है जो अभी अभिव्यक्त, उपलब्ध या अनुभूत नही हुई है, परन्तु फिर भी जिसे हमारे अन्दरका 'ज्ञाता', सभी लक्षणोंका अभाव होनेपर भी, सत्य या अनुसरण करने अथवा प्राप्त करने योग्य परम वस्तु अनुभव करता है। यह चीज उस समय भी हमारे अन्दर बनी रह सकती है जब मनमें कोई दृढ विश्वास न हो, यहांतक कि जब प्राण सघर्ष करता, विद्रोह करता और अस्वीकार करता हो। ऐसा कौन आदमी है जो योगाभ्यास करता हो और जिसके सामने निराशा और असफलता और अविश्वास और अन्धकारके काल, बहुत लम्बे-लम्बे काल न आते हों? परन्तु कोई चीज उसमें ऐसी होती है जो उसे सहारा देती है और उसके बावजूद भी बनी रहती है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि जिस चीजका वह अनुसरण कर रही थी वह अब भी सत्य है और इसे वह अनुभव ही नही करती बल्कि, उससे कही अधिक, वह इसे जानती है। योगकी मौलिक श्रद्धा, जो अन्तरात्मामें निहित होती है, यह है कि भगवान् है और भगवान् ही वह एकमात्र वस्तु है जिसकी खोज करनी चाहिये — जीवनमें दूसरी कोई चीज ऐसी नही जो उसकी तुलनामें प्राप्त करने योग्य हो। जबतक यह श्रद्धा किसी मनुष्यमें है तबतक वह आध्यात्मिक जीवनके लिये निर्दिष्ट है और मै कहूँगा कि यदि उसकी प्रकृति बाधा-विघ्नोंसे पूर्ण और अस्वीकृतियों तथा कठिनाइयोंसे ठसाठस भरी हुई हो तो भी, और यहांतक कि यदि उसे अनेक वर्षोंतक संघर्ष करना पड़े तो भी, आध्यात्मिक जीवनमें सफलता पाना उसके लिये सुनिश्चित है।

बस, यही श्रद्धा तुम्हे अपने अन्दर विकसित करनेकी आवश्यकता है — युक्ति-तर्क और साधारण समझके साथ मेल खानेवाली यह श्रद्धा उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है कि यदि भगवान्का अस्तित्व है और उन्होंने ही तुम्हें इस पथपर बुलाया है (जैसा कि स्पष्ट है), तो निश्चय ही पीछेकी ओर तथा आदिसे अन्ततक सर्वदा भागवत पथ-प्रदर्शन मौजूद रहेगा और सभी कठिनाइयोंके बावजूद तुम अपने लक्ष्यपर अवश्य पहुँचोगे। असफलताका सुझाव देनेवाली विरोधी शक्तियोंकी वाणियोंको अथवा उनको प्रतिध्वनित करनेवाली अधीरता, प्राणिक जल्दबाजीकी वाणियोंको नही सुनना चाहिये, इस बातपर विश्वास नही करना चाहिये कि चूंकि महान् कठिनाइयां मौजूद है इसलिये सफलता नही मिल सकती अथवा जब अभीतक भगवान् नही दिखायी पड़े तब वह कभी दिखायी नही पड़ेंगे, बल्कि इस मनोभावको ग्रहण करना चाहिये जिसे किसी महान् और कठिन लक्ष्यपर अपना मन एकाग्र करनेपर प्रत्येक व्यक्ति ही ग्रहण करता है और जो यह कहता है कि "सभी कठिनाइयोंके होते हुए भी मैं तबतक

प्रयत्न करता रहूँगा जबतक कि सफल नहीं हो जाता", और जिसमें भगवान्‌में विश्वास रखनेवाला इतना और जोड़ देता है कि "भगवान् है और उन्हें पानेका मेरा प्रयास कभी विफल नही हो सकता। जबतक मै उन्हें पा नहीं लेता तबतक मैं प्रत्येक चीजके भीतर-मे होता हुआ आगे बढ़ता रहूँगा।"

*

तुम्हारा जो यह कहना है कि श्रद्धाके लिये अनुभवका होना जरूरी है और अनुभव-के बिना कोई श्रद्धा नही हो सकती, यह मानव मनोविज्ञानका पूर्णतः खंडन करता है। हजारो लोगोंको उन्हें अनुभव होनेसे पहले ही श्रद्धा होती है। "अनुभव बिना विश्वास नही" का सिद्धांत आध्यात्मिकताके लिये या उसी कारण मानव-कर्मके क्षेत्रके लिये विनाशकारी होगा। सन्तों या भक्तोंको भगवान्‌का अनुभव होनेसे बहुत पहले भग-वान्‌मे श्रद्धा-विश्वास होता है — कर्मी मनुष्यको भी उसके हेतुके सफलतासे मंडित होनेसे बहुत पहले उसमे विश्वास होता है, अन्यथा अपनी उद्देश्यसिद्धिके लिये हार, असफलता और घातक खतरेके बावजूद निरन्तर संघर्ष करनेमें वह समर्थन हुआ होता। मैं नही समझता कि सच्ची श्रद्धासे 'अ' का क्या तात्पर्य है। मेरे लिये श्रद्धा बौद्धिक विश्वास नही है बल्कि अन्तरात्माका एक कार्य है। जब मेरा विश्वास डोल जाता, असफल हो जाता, नष्ट हो जाता है तो मेरा अन्तरात्मा अटल बना रहता और हठपूर्वक जोर देता रहता है कि "यही पथ है, दूसरा नही; जिस सत्यको मैंने अनुभव किया है बस वही सत्य है चाहे मन जो कुछ भी क्यों न विश्वास करे।" दूसरी ओर, अनुभूतियां आवश्यक रूपसे श्रद्धा नही प्रदान करती। एक साधकने मुझे लिखा है, "मैं अनुभव करता हूँ कि श्रीमाताजीकी कृपाशक्ति मेरे अन्दर उतर रही है, पर मैं इसपर विश्वास नही कर सकता क्योंकि यह मेरी प्राणिक कल्पना हो सकती है।" एक दूसरे साधकको वर्षो लगातार अनुभव होते है, पर पीछे गिर जाता है क्योंकि, वह कहता है, उसने "श्रद्धा खो दी" है। ये सब चीजें मेरी कल्पनाएं नही है,ये यथार्थ बातें हैं और स्वयं अपनी कहानी बताती है।

निश्चय ही, मेरा मतलब किसी नैतिक नही बल्कि आध्यात्मिक परिवर्तनसे था — नैतिक मनुष्य गलेतक अहंकारसे भरा हो सकता है, ऐसे अहंकारसे जो उसकी अपनी ही साधुता और पवित्रतासे वर्द्धित होता है। अहंकारसे मुक्त होना आध्यात्मिक दृष्टिसे मूल्यवान् है, क्योंकि तब मनुष्य अपने व्यक्तिगत 'स्व' में अब केंद्रित नही रहता, बल्कि भगवान्‌में केंद्रित हो सकता है। और वही भक्तिकी शर्त भी है......।

मैं नही समझता कि हृद्‌गत भावावेगके विषयमें 'अ' की क्या आपत्ति है; इसका भी अपना स्थान है, केवल इसे सर्वदा बाहरकी ओर प्रक्षिप्त नही रहना चाहिये, बल्कि अन्दरकी ओर प्रेरित होना चाहिये जिसमें कि चैत्य सत्ताके द्वार पूर्णतः उन्मुक्त हो सकें। तुम जो कुछ कहते हो वह पूरी तरह सही है — मुझे प्रसन्नता है कि तुम इतने तेजस्वी और बुद्धिशाली हो रहे हो, निश्चय ही यह चैत्य रूपांतरका फल है। अहंकार एक बहुत

विलक्षण वस्तु है और अपने-आपको छिपानेके अपने तरीकेमें और यह बहाना करनेमें कि यह अहंकार नहीं है, यह सबसे अधिक विलक्षण है। यह भगवान्‌की सेवा करनेकी अभीप्साके पीछे भी सर्वदा छिपा रह सकता है। एकमात्र पथ है इसे इसके सभी पर्दों और गुप्त स्थानोंमेंसे ढूंढ़कर बाहर निकाल देना। तुम्हारा यह विचार भी ठीक है कि यही वास्तवमें योगका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। राजयोगका यह कार्य ठीक ही है कि उसने सबसे आगे शुद्धीकरणको रखा है — जैसे मेरा कार्य भी ठीक ही है कि मैंने 'योग-समन्वय' में एकाग्रताके साथ-साथ इसे सबसे आगे रखा है। तुम्हें बस अपने चारों ओर नजर दौड़ाकर इतना देख लेनेकी आवश्यकता है कि अनुभूतियां और यहांतक कि सिद्धियां भी मनुष्यको लक्ष्यतक नहीं ले जा सकतीं यदि यह कार्य पूरा न हो — किसी भी मुहूर्त्त प्राणके अभीतक अशुद्ध तथा अहंसे भरपूर होनेके कारण वे व्यर्थ हो सकती हैं।

*

चैत्य पुरुषके प्रति समर्पण करनेकी मांग नहीं की जाती, समर्पण भगवान्‌को करना होता है। मनुष्य श्रद्धाके बलपर भगवान्‌की ओर जाता है; ठोस अनुभव साधनाके फलस्वरूप आता है। अपनी चेतनाको अनुभवके लिये तैयार करनेका कोई प्रयास किये बिना कोई मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करनेकी मांग नहीं कर सकता।

यदि मनुष्य पुकार अनुभव करता है तो वह उसका अनुसरण करता है — यदि उसमें कोई पुकार नहीं है तो फिर भगवान्‌को खोजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आरम्भ करनेके लिये श्रद्धा पर्याप्त है — यह भावना एक मानसिक भूल है कि मनुष्य-को खोज करनेसे पहले समझ लेना और ठीक-ठीक जान लेना चाहिये; यदि यह बात सच हो तो यह सभी साधनाओंको असम्भव बना देगी — ठीक-ठीक ज्ञान केवल साध-नाके परिणामस्वरूप ही आ सकता है, उनकी प्रारंभिक वस्तुके रूपमें नहीं आ सकता।

*

मैंने एक प्रबल केंद्रीय और, सम्भव हो तो, पूर्ण श्रद्धाकी बात कही थी, क्योंकि तुम्हारा मनोभाव मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि तुम केवल पूर्ण प्रत्युत्तरकी परवाह करते हो – अर्थात् उपलब्धिकी, सान्निध्यकी परवाह करते और अन्य सभी चीजों-को एकदम असंतोषजनक मानते हो,—और तुम्हारी प्रार्थना तुम्हें वह चीज नहीं उपलब्ध करा रही है। परन्तु साधारणतया प्रार्थना स्वयं अपने-आपमें तुरत वह चीज नहीं उपलब्ध कराती — केवल तभी कराती है जब कि केंद्रमें ज्वलन्त श्रद्धा या सत्ताके सभी भागोंमें पूर्ण श्रद्धा होती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिन लोगोंकी श्रद्धा उतनी प्रबल अथवा समर्पण पूर्ण नहीं है, वे लक्ष्यपर नहीं पहुँच सकते, बल्कि साधारण तौरपर उन्हें तबतक पहले धीमें पगसे चलना होता तथा अपनी प्रकृतिकी

कठिनाइयोका सामना करना होता है जवतक कि अध्यवसाय या तपस्याके द्वारा उनके अन्दर पर्याप्त उद्घाटन नही हो जाता। डगमगानेवाली श्रद्धा तथा धीमे और आंशिक समर्पणमे भी कुछ शक्ति होती है और उनका भी फल होता है, अन्यथा एकमात्र कुछ विरले लोग ही साधना करनेमें समर्थ होते। केंद्रीय श्रद्धासे मेरा मतलव है वह श्रद्धा जो पीछेकी ओर विद्यमान अन्तरात्मा अथवा केंद्रीय पुरुषमें हो, वह श्रद्धा जो उस समय भी वनी रहती है जव कि मन सन्देह करता, प्राण निराश हो जाता तथा शरीर गिर जाना चाहता है, और जो आक्रमणके समाप्त हो जानेपर पुनःप्रकट होती और फिरसे पथपर चलनेकी प्रेरणा देती है। यह प्रवल और प्रदीप्त हो सकती है, यह निष्प्रभ और देखनेमें दुर्वल हो सकती है, पर यह यदि प्रत्येक समय आगे चलते रहनेका आग्रह करती है तो यह यथार्थ वस्तु है। अवसाद और अन्धकार और निराशाके दौरोंका आना साधनाके मार्गकी एक परम्परा है—पूर्वीय या पश्चिमीय सभी योगोंमें उनका होना मानो एक नियमसा हो गया है। मैं स्वय उन सव चीजोंको पूरी तरह जानता हूँ — परन्तु मेरा अनुभव मुझे यह वोध प्रदान करता है कि उनका होना एक अनावश्यक परम्परा है और यदि कोई चाहे तो इनसे छुटकारा मिल सकता है। यही कारण है कि जव कभी वे तुम्हारे अन्दर या दूसरोंमें आती हैं तो मैं उनके सामने श्रद्धाका सिद्धांत खड़ा करनेका प्रयास करता हूँ। यदि वे फिर भी आती हैं तो मनुष्यको यथासम्भव शीघ्रताके साथ उनमेसे गुजर जाना होता और सूर्यालोकमें वापस आ जाना होता है। समुद्रका तुम्हारा स्वप्न पूर्ण रूपसे सही स्वप्न था — अन्तमें साधकके अन्दर कृपाकी स्थितिके आनेको और उसके साथ स्वयं कृपाके आगमनको तूफान और वाढ़ नहीं रोकते। इसी चीजको, मैं समझता हूँ, तुम्हारे अन्दरकी कोई चीज सर्वदा चाह रही है — कृपाशक्तिका अतिमानसिक चमत्कार, कोई चीज जो तपस्या, आत्मपरिपूर्णता तथा दीर्घ परिश्रमकी मांगसे घवड़ाती है। हां, वह आ सकती है, वह यहां वहुतोंके पास वर्षपर वर्ष नितांत असफलता, कठिनाई या भयंकर संघर्षोंके वाद आयी है। परंतु यह सामान्यतया उसी तरह — धीरे-धीरे वढती हुई कृपाशक्तिके रूपमें नहीं — वहुत कठिनाईके वाद आती है, एकदम तुरत नहीं आती। यदि तुम प्रत्युत्तरके आपात-दृष्ट अभावके वावजूद इसके लिये प्रार्थना करते रहोगे तो वह अवश्य आयेगी।

*

जवतक हम परम सत्यको नहीं जान लेते (मनद्वारा नहीं वल्कि अनुभवद्वारा, चेतनाके परिवर्तनके द्वारा) तवतक अपनेको सहारा देने तथा सत्यको पकड़े रहने के लिये हमे अन्तरात्माकी श्रद्धाकी आवश्यकता होती है — परन्तु जव हम ज्ञान-में निवास करते है, यह श्रद्धा ज्ञानमें परिवर्तित हो जाती है।

निस्सन्देह, मैं प्रत्यक्ष आध्यात्मिक ज्ञानकी वात कह रहा हूँ। मानसिक ज्ञान श्रद्धाका स्थान नही ले सकता, जवतक मनुष्यमें केवल मानसिक ज्ञान है तवतक श्रद्धा-की आवश्यकता है।

*

श्रद्धा एक ऐसी वस्तु है जो ज्ञानसे पहले आती है, ज्ञानके बाद नहीं आती। यह सत्यकी एक ऐसी झांकी है जिसे मनने अभीतक ज्ञानके रूपमें नहीं पकड़ा है।

सच पूछा जाय तो बुद्धिके द्वारा कोई योगमें उन्नति नहीं कर सकता, बल्कि चैत्य और आध्यात्मिक ग्रहणशीलताके द्वारा करता है — जहांतक ज्ञान और सच्ची समझका प्रश्न है, यह साधनामें अन्तर्ज्ञानकी वृद्धिके साथ बढती है, भौतिक मन-बुद्धिकी वृद्धिके साथ नहीं बढ़ती।

*

साधनामें चेतनाकी क्रियाके साथ सम्बन्ध रखनेवाली सूक्ष्म प्रकारकी चीजोंमें मनुष्यको आंतरिक चेतनाके द्वारा अनुभव करना और निरीक्षण करना और जानना-समझना सीखना तथा चीजोंकी ओर नमनीय दृष्टि रखते हुए अन्तर्बोधके द्वारा निश्चय करना होता है — नमनीय दृष्टि निर्धारित परिभाषाएं और नियम नहीं बनाती जैसे कि मनुष्य बाहरी जीवनमें बनाता है।

*

भगवान्‌में, भगवान्‌की कृपा-शक्तिमें, साधनाके सत्यमें, मानसिक, प्राणिक और भौतिक कठिनाइयोंके ऊपर आत्माकी अन्तिम विजयमें, अपने पथ और गुरुमें तथा हेकेल (Haechel) या हक्सले (Huxley) या बेरट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell) के दर्शनशास्त्रोंमें लिखी बातोंसे भिन्न वस्तुओंके अनुभवमें श्रद्धा-विश्वास बनाये रखो, कारण, यदि ये चीजें सच्ची न होतीं तो फिर योगका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

*

मै नहीं समझता कि शरीरके कोषाणुओंमें श्रद्धा पैदा करनेकी पद्धतिकी तुलना चन्द्रमाका एक कतला खानेके साथ कैसे की जा सकती है? किसी व्यक्तिको कभी चन्द्रमाका कोई कतला नहीं मिला, परन्तु कोषाणुओंमें श्रद्धा उत्पन्न करके अपनेको नीरोग कर लेना एक वास्तविक तथ्य है और प्रकृतिका एक विधान है और योगसे पृथक् भी इसका प्रदर्शन बहुधा काफी मात्रामें हुआ है। श्रद्धाको तथा अन्य सभी चीजोंको पानेका तरीका है उन्हें प्राप्त करनेका आग्रह करना और जबतक वे प्राप्त न हो जायं तबतक अवसन्न होना या हताश होना या प्रयास छोड देना अस्वीकार कर देना — यही वह तरीका है जिससे सभी चीजें उस समयसे प्राप्त होती आयी है जिस समय इस कठिन धरतीपर चिन्तनशील तथा अभीप्सु जीवोंने निवास करना आरम्भ किया था। यह तरीका है सर्वदा उद्घाटित होना, सर्वदा ज्योतिकी ओर उद्घाटित होना

और अन्धकारकी ओर अपनी पीठ फेर देना। यह तरीका है उन वाणियोको अस्वीकार करना जो लगातार यह कहती हैं कि "तुमसे नही हो सकता, तुमसे नहीं होगा, तुम असमर्थ हो, तुम एक स्वप्नके हाथकी कठपुतली हो"—क्योंकि ये शत्रुकी वाणिया है, ये अपने कर्कश चीत्कारके द्वारा मनुष्यको आगे आनेवाले परिणामसे अलग हटा देती है तथा उनके बाद अपने प्रतिपाद्य विषयके प्रमाणके रूपमें परिणामकी शून्यताकी ओर विजयोल्लासके साथ संकेत करती है। प्रयासमें कठिनाईका आना एक जानी-मानी बात है, परन्तु 'कठिनका अर्थ 'असम्भव' नही है — सच पूछो तो कठिन कार्य सदा ही सपन्न हुए है तथा कठिनाइयोंपर विजय पाना ही उन सब चीजोंका निर्माण करता है जो पृथ्वीके इतिहासमें बहुमूल्य समझी जाती है। आध्यात्मिक प्रयासमें भी बात यही होगी।

तुम्हें बस इस राक्षसका वध करके दृढ़तापूर्वक प्रयास प्रारम्भ कर देना होगा और फिर तुम्हारे लिये दरवाजे खुल जायेंगे, जैसे कि उन बहुतेरे लोगोंके लिये खुल चुके है जिन्हें उनकी अपनी मानसिक या प्राणिक प्रकृतिने रोक रखा था।

*

श्रद्धा दो प्रकारकी होती है:

एक श्रद्धा तो वह है जो मनुष्यमे समत्वभाव ले आती है और दूसरी वह है जो सिद्धि ले आती है।

ये दोनों श्रद्धाए भगवान्के दो भिन्न-भिन्न भावोंसे मिलती-जुलती हैं।

एक तो है परात्पर भगवान् और दूसरे हैं विश्वव्यापी भगवान्।

सिद्धिका संकल्प है परात्पर भगवान्का संकल्प।

विश्वव्यापी भगवान् वह है जिनका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थितियोंके अधीन वस्तुओंके यथार्थ कार्यान्वयनके साथ है। इसी विश्वव्यापी भगवान्का संकल्प इस जगत्की प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक गतिविधिमें अभिव्यक्त होती है।

विश्वव्यापी भगवान्का संकल्प, हमारी साधारण चेतनाके लिये, ऐसी कोई चीज नहीं है जो, वह जो कुछ करना चाहती है उसे, एक स्वतन्त्र शक्तिके रूपमें करती है; वह संकल्प इन सभी सत्ताओं, जगत्में कार्य करनेवाली शक्तियो तथा इन शक्तियोंके विधान और उनके परिणामोंके भीतरसे कार्य करता है — जब हम अपनेको खोलते और सामान्य चेतनासे बाहर निकल आते हैं केवल तभी हम उसे एक स्वतन्त्र शक्तिके रूपमें हस्तक्षेप करते हुए एवं शक्तियोंकी साधारण क्रीड़ाका उल्लंघन करते हुए अनुभव कर सकते हैं।

फिर हम यह भी देख सकते है कि शक्तियोकी क्रीड़ामें भी तथा उनके कारण उत्पन्न विकृतियोंके बावजूद भी वैश्व संकल्प परात्पर भगवान्के संकल्पकी अन्तिम सिद्धिको ले आनेके लिये कार्य कर रहा है।

अतिमानसिक संसिद्धि परात्पर भगवान्का सकल्प है जिसे हम लोगोंको कार्या-

न्वित करना है। जिन परिस्थितियोंके अधीन हम लोगोंको इसे कार्यान्वित करना है वे एक निम्नतर चेतनाकी परिस्थितियां है जिनमें वस्तुएं स्वयं हमारे अज्ञान, दुर्वलताओं तथा भूलोंके कारण, तथा साथ ही परस्पर-विरोधी शक्तियोंके संघर्षके कारण विकृत हो सकती हैं। यही कारण है कि श्रद्धा और समता दोनों अनिवार्य हैं।

हम लोगोंको यह श्रद्धा रखनी होगी कि हमारे अज्ञान और भूल-भ्रांतियों और कमजोरियोंके वावजूद तथा विरोधी शक्तियोंके आक्रमणोंके वावजूद और ऊपरसे दीखनेवाली किसी तात्कालिक असफलताके वावजूद भागवत संकल्प हम लोगोंको, प्रत्येक परिस्थितिके भीतरसे होते हुए, अन्तिम सिद्धिकी ओर ले जा रहा है। यह श्रद्धा हमें समता प्रदान करती है; यह एक ऐसी श्रद्धा है जो, जो कुछ घटित होता है उसे, स्वीकार करती है, अवश्य ही अन्तिम रूपमें नहीं वल्कि एक ऐसी चीजके रूपमें स्वीकार करती है जिसमेंसे अपने मार्गपर हमें गुजरना होगा। एक वार जव समत्वभाव स्थापित हो जाता है तो फिर उससे पोषित होकर दूसरे प्रकारकी श्रद्धा भी स्थापित हो सकती है जिसे अतिमानसिक चेतनाकी किसी वस्तुके द्वारा शक्तिशाली वनाया जा सकता है और जो वर्तमान परिस्थितियोंको जीत सकती तथा जो कुछ घटित होगा एवं परात्पर भगवान्‌की संसिद्धिमें सहायक होगा उसको निर्धारित कर सकती है।

जो श्रद्धा वैश्व भगवान्‌में होती है वह लीलाकी आवश्यकताके द्वारा अपनी कर्म-शक्तिमें सीमित होती है।

इन सीमाओंसे पूर्णतः मुक्त होनेके लिये हमें परात्पर भगवान्‌को प्राप्त करना होगा।

*

वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ामें, विश्वगत संकल्प — जैसा कि हम इसे नाम दे सकते हैं — ऊपरसे देखनेमें हमारे कार्य या साधनाकी किसी सरल और सीधी धाराके अनुकूल सर्वदा कार्य नहीं करता; वह वहुधा ऐसी चीजें उत्पन्न करता है जो ऐसी उथल-पुथल, अकस्मात् मोड़ प्रतीत होती हैं जो धाराको तोड़ देते या वदल देते हैं, जो विपरीत या विपर्यस्तकारी परिस्थिति प्रतीत होते हैं अथवा जो कुछ अस्थायी रूपसे सुनिश्चित या सुस्थापित हो चुका था उससे भ्रामक विच्युति प्रतीत होते है। वस, एकमात्र आवश्यक वात है समताको वनाये रखना तथा जीवन और साधनाके क्रममें जो कुछ घटित होता है उसमेंसे एक सुअवसर एवं प्रगतिके साधनका निर्माण करना। वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ा और संकल्पके पीछे — उस क्रीड़ाके पीछे जिसमें अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओंका सर्वदा सम्मिश्रण होता है–एक उच्चतर गुप्त परात्पर संकल्प होता है और इसी संकल्पकी हमें प्रतीक्षा करनी चाहिये तथा उसीपर विश्वास रखना चाहिये; पर हमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि हम उसकी क्रियाओंको सर्वदा समझ सकेंगे। मन चाहता है कि यह हो या वह, एक वार जव इसने रास्ता ले लिया तो इसे ही वनाये रखना चाहिये, पर जो कुछ मन चाहता है वह सर्वदा वह चीज विलकुल नहीं होती

जो एक वृहत्तर उद्देश्यके लिये अभिप्रेत होती है। यह ठीक है कि मनुष्यको अपनी साधनामे एक सुनिश्चित केंद्रीय लक्ष्यका अवश्य अनुसरण करना चाहिये और उससे अलग नही होना चाहिये, परन्तु किन्ही वाह्य परिस्थितियों, अवस्थाओं आदि-आदिका निर्माण नही करना चाहिये मानो वे ही मौलिक वस्तुएं हों।

*

तुम्हारे पिछले पत्रके प्रश्नका इसके सिवा और कोई उत्तर नही हो सकता कि या तो एकमात्र एकनिष्ठ श्रद्धा या स्थिर सकल्प ही तुम्हें योगका खुला मार्ग दे सकता है। तुम जो सफल नहीं होते इसका कारण वास्तवमें यह है कि तुम्हारे विचार और तुम्हारा सकल्प निरन्तर परिवर्त्तित होते रहते अथवा अस्थिर रहते हैं। अपूर्ण श्रद्धाके होनेपर भी स्थिर मन और संकल्प अनुभूतितक ले जा सकते और अनुभूति प्रदान कर सकते है जिससे अनिश्चित श्रद्धा निश्चयतामें वदल जाती है।

यही कारण है कि विभिन्न उपायोसे सम्वन्धित तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देना मेरे लिये कठिन हो रहा है। मैं कह सकता हूँ कि गीताका पथ स्वयं यहांके योगका एक अंग है और जिन लोगोंने इसका अनुसरण किया है, आरम्भ करनेके लिये अथवा प्रथम अवस्थाके रूपमें, उन्होने इस योगका दूसरोंकी अपेक्षा अधिक सुदृढ़ आधार प्राप्त कर लिया है। इसलिये उसे कोई पृथक् या हीन वस्तु समझकर घृणाकी दृष्टिसे देखना कोई समुचित दृष्टिकोण नही है। परन्तु यह चाहे जो कुछ हो, तुम्हें स्वयं चुनाव करना होगा, कोई दूसरा व्यक्ति तुम्हारे लिये चुनाव नही कर सकता।जो लोग आते-जाते हैं, वे ऐसा करते हुए केवल तभी लाभान्वित हो सकते हैं यदि या क्योंकि उन्होंने ऐसा निर्णय किया है और उसपर दृढ़ रहते हैं; जव वे यहां होते है, केवल योगके लिये ही वे यहा आते हैं, जव वे दूसरी जगह होते है, वहां योगका संकल्प उनमें बना रहता है। तुम्हे निरन्तर तर्क-वितर्क करते रहनेकी आदतसे छुटकारा पाना होगा और यह देखना होगा कि आया योगकी प्रवृत्तिके विना तुम रह सकते हो या नहीं — यदि नही रह सकते तो फिर योगरहित साधारण जीवनकी वात सोचना निरर्थक है — तुम्हारा स्वभाव तुम्हें इसकी खोज करनेके लिये तव भी वाध्य करेगा जव कि तुम्हें सारे जीवन इसका अनुसरण करनेपर भी वहुत थोड़ा-सा फल प्राप्त होगा। परन्तु थोड़ासा फल होनेका मुख्य कारण है तुम्हारा मन जो सर्वदा रोड़े अटकाता है और तुम्हारी प्राणिक दुर्वलता जो उसके तर्कोंको आधार प्रदान करती है। यदि तुम अपने संकल्पको अटल रूपसे स्थिर कर लो तो उससे तुम्हें एक सुयोग मिल जायगा — और फिर चाहे तुम यहा रहकर उसका अनुसरण करो या अन्यत्र उससे केवल मामूली अन्तर पड़ेगा।

मैंने तुम्हारे लिये गीताकी पद्धतिकी सलाह दी थी क्योंकि यहां योगके लिये जो उद्घाटन आवश्यक है वह तुम्हारे लिये अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। तुम यदि कोई श्रमसाध्य प्रयासकी मांग अपनेसे न करो तो वह एक अधिक वड़ा सुअवसर होगा। पर जो हो, यदि तुम साधारण जीवनमें वापस नहीं जा सकते तो, यहां विद्यमान दिव्य

शक्तिके प्रति उद्घाटनके अभावमें, बस यही तुम्हारे लिये पथ प्रतीत होता है।

*

यदि श्रद्धा तथा आत्मदानके लिये अटल और सतत संकल्प बना रहे तो यह एकदम पर्याप्त है। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य-स्वभावके लिये तबतक सन्देह, अन्धता या अभीतक असमर्पित वस्तुओंकी क्रियाके बिना सर्वदा रहना सम्भव नहीं है जबतक कि आंतरिक चेतना इन सबको असम्भव बना देनेके लिये पर्याप्त रूपसे विकसित न हो जाय। वास्तवमें यह इसलिये ऐसा है कि संकल्प *आवश्यक* है जिसमें कि दिव्य शक्ति साधकके मन और हृदयकी पूर्ण अनुमति और संकल्पके साथ इन चीजोंको दूर करनेका कार्य कर सके। इन चीजोंका परित्याग करनेका प्रयास करना तथा संकल्पको स्थायी बनाना पर्याप्त है,—क्योंकि यही प्रयास अन्तमें स्थायित्व ले आता है।

तुम्हारे अनुभवमें नींदकी गहराई इसलिये अभिप्रेत थी कि तुम्हें भीतर गहराईतक ले जाया जाय और, जैसे ही तुम वहां पहुँच गये, तुम चैत्य और आध्यात्मिक अवस्थामें प्रवेश कर गये जिसने सुन्दर मैदान तथा श्वेत ज्योति, शीतलता और शान्तिका रूप ले लिया। सीढ़ी इस चैत्य और आध्यात्मिक स्थितिसे आध्यात्मिक चेतनाके और भी अधिक ऊंचे और ऊंचे स्तरोंमें चढ़नेका प्रतीक थी जहां ज्योतिका मूल स्रोत है। श्रीमाताजीका हाथ उनकी उपस्थिति और सहायताका प्रतीक था जो तुम्हें ऊपर उठायेंगी तथा सीढ़ीके शीर्ष-स्थानपर तुम्हें ले जायेंगी।

*

श्रद्धा तामसिक और निष्फल हो सकती है, उदाहरणार्थ, "मैं विश्वास करता हूँ कि श्रीमाताजी सब कुछ करेंगी, अतएव मैं कुछ नहीं करूँगा। जब वह चाहेंगी, मुझे रूपांतरित कर देंगी।" यह सक्रिय नहीं बल्कि निष्क्रिय और जड़ श्रद्धा है।

*

श्रद्धा, भगवान्‌के ऊपर निर्भरता, भागवत शक्तिके प्रति आत्मसमर्पण और आत्मदान — ये सब आवश्यक और अनिवार्य हैं। परन्तु भगवान्‌के ऊपर निर्भर रहनेके बहाने आलस्य और दुर्बलताको नहीं आने देना चाहिये तथा जो चीजें भागवत सत्यके मार्गमें बाधक होती हैं उनका निरन्तर त्याग होते रहना चाहिये। भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण करनेको, अपनी ही वासनाओं तथा निम्नतर प्रवृत्तियोंके प्रति या अपने अहंकार या अज्ञान और अन्धकारकी किसी शक्तिके प्रति, जो कि भगवान्‌का मिथ्या रूप धारण करके आती है, आत्मसमर्पण करनेका एक बहाना, एक आवरण या एक अवसर नहीं बना देना चाहिये।

*

मनुष्यको भगवान्पर निर्भर होना चाहिये और फिर भी कोई उपयुक्त बनानेवाली साधना करनी चाहिये — भगवान् साधनाके अनुपातमें नही बल्कि अन्तरात्मा तथा उसकी अभीप्साके अनुपातमें फल प्रदान करते हैं। (मेरा मतलब है अन्तरात्माकी सच्चाई, भगवान्के लिये उसकी उत्कठा तथा उच्चतर जीवनके लिये उसकी अभीप्सासे।) फिर चिन्तित होनेसे — मै यह बनूँगा वह बनूँगा, मैं क्या बनूँ आदि सोचते रहनेसे — भी कोई लाभ नही होता। कहना चाहिये: "मै जो कुछ होना चाहता हूँ वह नही बल्कि जो भगवान् चाहते है कि मैं बनूँ वह बननेके लिये तैयार हूँ" — बाकी सब कुछ उसी आधारपर चलते रहना चाहिये।

*

तुमने फिर सही सिद्धांत पकड़ लिया है — सपूर्ण श्रीमाँके लिये हो जाना और पूर्ण रूपसे यह विश्वास बनाये रखना कि मनुष्यको बस उसी विश्वासके साथ चुपचाप चलते रहना है और जिन सब चीजोके आनेकी आवश्यकता है वे सब आयेंगी तथा भगवान् जो कुछ संपन्न करना चाहते है वह सब सपन्न हो जायगा। संसारके अन्दर होनेवाली क्रियाए मानव-मनकी समझके लिये अत्यन्त सूक्ष्म, विलक्षण और जटिल हैं — जब ज्ञान ऊपरसे आता है और मनुष्य उच्चतर चेतनामें उठा लिया जाता है केवल तभी उनको समझनेकी शक्ति आ सकती है। इस बीच मनुष्यको जिस चीजका अनुसरण करना है वह है उस श्रद्धा और प्रेमपर आधारित अन्तरस्थ गभीरतर चैत्य हृदयका आदेश जो कि एकमात्र सुनिश्चित पथप्रदर्शक नक्षत्र है।

*

यह सब मै पहले ही तुम्हे समझा चुका हूँ। यह बिलकुल ठीक है कि, अपने-आपपर छोड देनेपर, तुम कुछ भी नही कर सकते; यही कारण है कि तुम्हें उस शक्तिके सपर्कमे रहना होगा जो यहां जो कुछ तुम अपने लिये नही कर सकते उसे तुम्हारे लिये कर देनेके लिये मौजूद है। तुम्हे जो एकमात्र चीज करनी है वह यह है कि तुम उस शक्तिको कार्य करने दो और अपने-आपको उसके पक्षमें बनाये रखो, जिसका अर्थ है उस शक्तिमे विश्वास बनाये रखना, उसीपर निर्भर करना, अपने-आपको उद्विग्न और परेशान न करना, उसे शान्तिपूर्वक याद करना, उसे शान्तिपूर्वक पुकारना और उसे चुपचाप कार्य करने देना। यदि तुम ऐसा करो तो बाकी सब कुछ तुम्हारे लिये कर दिया जायगा — एकदम तुरन्त नही, क्योंकि बहुत कुछ साफ करना है, पर फिर भी लगातार और अधिकाधिक वह किया जायगा।

*

भागवत करुणा और शक्ति सब कुछ कर सकती हैं, पर साधककी पूर्ण अनुमति होनेपर। वह पूर्ण अनुमति देना सीखना ही साधनाका संपूर्ण अर्थ है। इसमें या तो मनके विचारों, प्राणकी कामनाओं या भौतिक चेतनाकी तामसिकताके कारण समय लग सकता है, परन्तु इन चीजोंको भागवत शक्तिकी सहायतासे या उसकी क्रियाका आवाहन करके दूर करना होगा और ये दूर हो सकती है।

*

किसी प्रकारके निरुत्साहको अपने ऊपर न आने दो और भागवत कृपा शक्ति-पर किसी प्रकारका अविश्वास न रखो। जो भी कठिनाइयां तुम्हारे बाहर हों, जो भी दुर्बलताएं तुम्हारे अन्दर हों, यदि तुम अपनी श्रद्धा और अपनी अभीप्सापर दृढता-पूर्वक डटे रहो तो गुह्य शक्ति तुम्हें निकाल ले जायगी और यहां वापस ले आयगी। यदि तुम विरोधों और कठिनाइयोंसे दबे हुए हो, यदि तुम लड़खड़ाते हो, यदि तुम्हारे लिये मार्ग बन्द प्रतीत होता है तो भी अपनी अभीप्साको पकड़े रहो; यदि कुछ समयके लिये श्रद्धा मेघाच्छन्न हो गयी है तो मन और हृदयमें हमारी ओर मुड़ो और बादल दूर हो जायेंगे। पत्रोंके रूपमें बाहरी सहायताका जहांतक प्रश्न है, हम उसे तुम्हें देने-के लिये पूर्णतः सन्नद्ध हैं......। परन्तु पथपर डटे रहो — फिर अन्तमें सारी चीजें अपने-आप खुल जायंगी और परिस्थितियां आंतरिक आत्माके सामने हार मान जायंगी।

*

यह कठिनाई अवश्य ही अविश्वास और अवज्ञाके कारण आयी होगी। क्योंकि अविश्वास और अवज्ञा ठीक मिथ्याचारकी तरह हैं (वे स्वयं मिथ्यापन ही है और मिथ्या धारणाओं तथा प्रेरणाओंपर ही आश्रित होते हैं), वे महाशक्तिके कार्यमें हस्तक्षेप करते हैं, साधकको उस शक्तिका अनुभव प्राप्त करनेमें या उस शक्तिको पूर्ण रूपसे कार्य करने देनेमें बाधा डालते हैं तथा भागवत संरक्षणकी शक्तिको क्षीण कर देते हैं।

केवल अपनी अन्तर्मुखी एकाग्रताके समय ही नहीं, बल्कि अपने बाहरी कार्यों तथा विभिन्न प्रवृत्तियोंमें लगे रहनेपर भी तुम्हें उचित भाव बनाये रखना होगा। यदि तुम ऐसा कर सको और सब बातोंमें श्रीमांका पथप्रदर्शन स्वीकार करो तो तुम देखोगे कि तुम्हारी कठिनाइयां धीरे-धीरे कम होती जा रही हैं अथवा तुम बड़ी आसानीसे उन्हें पार करते जा रहे हो और सभी चीजें क्रमशः सुगम होती जा रही हैं।

तुम्हें अपने सभी कर्मों और क्रियाओंमें भी ठीक वही करना चाहिये जो तुम अपने ध्यानमें करते हो। श्रीमांकी ओर अपने-आपको उद्घाटित करो, अपने सभी कर्मोंको श्रीमांके पथप्रदर्शनपर छोड़ दो, शान्तिका, सहारा देनेवाली दिव्य शक्तिका तथा दिव्य संरक्षणका आवाहन करो और इसलिये कि ये सब अबाध गतिसे अपना कार्य कर सकें, उन सब मिथ्या प्रभावोंका त्याग करो जो भ्रांत तथा असावधानी या

अचेतनतासे पूर्ण क्रियाओंको उत्पन्न कर उनके मार्गमें बाधक हो सकती हैं।

इस नीतिका अनुसरण करो और तुम्हारी समस्त सत्ता शान्तिके अन्दर, शरण-दायिनी शक्ति और ज्योतिके अन्दर एक, अखण्ड शासनके अधीन हो जायगी।

*

उन्हें (श्रद्धा, समर्पण और समताको) सत्ताके प्रत्येक भाग और अणु-परमाणु-में स्थापित करना होगा जिसमें कि कहीं भी किसी विपरीत स्पंदनकी कोई सम्भावना न रह सके।

*

जो भी विरोधी वस्तुएं उपस्थित हों तुम्हें साहसके साथ उनका सामना करना चाहिये और वे विलुप्त हो जायंगी और सहायता प्राप्त होगी। श्रद्धा और साहस वे सच्चे भाव हैं जिन्हें सर्वदा जीवन और कर्ममे तथा आध्यात्मिक अनुभवमें भी बनाये रखना चाहिये।

*

परीक्षाके क्षणोंमें भागवत संरक्षणमें विश्वास रखना और उस संरक्षणका आवा-हन करना चाहिये; सब समय यह विश्वास रहना चाहिये कि भगवान् जो कुछ चाहते हैं वही सबसे उत्तम है।

जो कुछ तुम्हें भगवान्‌की ओर मोड़ता है उसे ही अपने लिये अच्छा समझकर स्वीकार करना चाहिये — वह सब तुम्हारे लिये बुरा है जो तुम्हें भगवान्‌से दूर हटा ले जाता है।

*

तुम्हारे दुःख-क्लेशका इसके सिवा दूसरा कोई कारण नही है कि तुम उनकी खटखटाहटको सुनने और दरवाजा खोल देनेके लिये इस प्रकार तैयार रहते हो। यदि तुम केवल भगवान्‌को चाहते हो तो यह बिलकुल निश्चित है कि तुम उनको पाओगे, परन्तु प्रत्येक क्षण यह सब शंका-सन्देह उपस्थित करना और व्यग्र होते रहना विलंब कराता तथा हृदय एवं आंखोंके सामने एक निकटवर्त्ती पर्दा डाल देता है। क्योंकि जब साधक कोई प्रगति करेगा तो प्रत्येक पगपर विरोधी शक्तियां पैरोंमें फंदा डाल देनेकी तरह इन सन्देहोंको फेंक देंगी और उसे लड़खड़ाहटके साथ बीचमें ही रोक देंगी — ऐसा करना उनका धंधा ही है......। हमें कहना यह चाहिये कि "चूंकि मैं केवल

भगवान्‌को चाहता हूँ, मेरी सफलता निश्चित है। मुझे बस पूरे विश्वासके साथ आगे बढ़ते जाना है और स्वयं उनका हाथ गुप्त रूपसे मुझे उनकी ओर उनके अपने पथसे और उनके अपने समयपर ले जानेके लिये वहां मौजूद रहेगा।" इसी चीजको तुम्हे अपने मंत्रके रूपमें सतत अपने पास रखना होगा। दूसरी किसी चीजपर मनुष्य शका कर सकता है पर यह बात कि जो व्यक्ति केवल भगवान्‌को चाहता है वह उन्हें अवश्य पायेगा एकदम सुनिश्चित है तथा दो और दो चार होनेसे भी अधिक सुनिश्चित है। यही वह श्रद्धा है जिसे प्रत्येक साधकको अपने हृदयकी गहराईमें रखना चाहिये जो उसे प्रत्येक ठोकर और आघात और अग्निपरीक्षाके समय उसे सँभाले रखे। सच पूछो तो केवल मिथ्या विचार अभी भी तुम्हारे मनपर अपनी परछाई फेंक रहे है जो तुम्हें इस श्रद्धाको बनाये रखनेसे रोकती है। उसे दूर धकेल दो और कठिनाईकी रीढ़ चूर-चूर हो जायगी।

*

दिव्य ज्योतिकी विजयमें अटूट श्रद्धा-विश्वास बनाये रखो और स्थिर समत्वके साथ जड़तत्त्व तथा मानव व्यक्तित्वका सामना करो जबतक कि उनका रूपांतर न हो जाय।

*

यह केवल एक आशा ही नहीं वरन् एक सुनिश्चित बात है कि प्रकृतिका पूर्ण रूपांतर साधित होगा।

*

यदि बहुत अन्धकार है तो भी — और यह जगत् उससे पूर्ण है और मनुष्यकी भौतिक प्रकृति भी — तो भी सच्ची ज्योतिकी एक किरण अन्तमें दसगुने अन्धकार-के विरुद्ध भी विजयी होगी। इसपर विश्वास करो और इससे सर्वदा चिपके रहो।

V

समर्पणका अर्थ है अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें सौप देना — मनुष्य जो कुछ है या उसके पास जो कुछ है सब भगवान्‌को दे देना और किसी चीजको अपना निजी न समझना, अन्य किसीकी इच्छाका नहीं, केवल भगवान्‌की इच्छाका अनुसरण करना, अहंकारके लिये नहीं बल्कि भगवान्‌के लिये जीवन यापन करना।

*

समर्पणका तात्पर्य है संपूर्ण रूपसे श्रीमाँके हाथोंमें आ जाना, और अपने अहं-कारके द्वारा या अन्यथा किसी भी तरह उनकी ज्योति, ज्ञान, संकल्प, उनकी शक्तिकी क्रिया आदिका विरोध न करना।

*

तब यह समर्पणका संकल्प है। परन्तु समर्पण श्रीमाताजीके प्रति होना चाहिये — शक्तिके प्रति भी नहीं, बल्कि स्वयं श्रीमाताजीके प्रति।

*

इस सब जटिलताकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि चैत्य पुरुष अभिव्यक्त हो तो वह अपने प्रति नहीं, बल्कि श्रीमाताजीके प्रति समर्पण करनेकी मांग करेगा।

*

भगवान् उन लोगोंको अपने-आपको देते हैं जो बिना कुछ बचाये और अपनी सत्ताके सभी अंगोंमें अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें अर्पित कर देते हैं। उन्हींके लिये है शान्ति, ज्योति, शक्ति, आनन्द, स्वतन्त्रता, विशालता, ज्ञानकी ऊंचाइयां और आनन्दके सागर।

*

*यहां केवल आंतरिक अर्थ लिया गया है — इसका तात्पर्य कोई बाहरी महानता नहीं है। सभी प्रकारका आत्मदान अहंकारकी दृष्टिमें अपनेको नीचे गिरा देना और न्यून कर देना है। परन्तु वास्तवमें भगवान्‌के प्रति किया गया आत्मदान सत्ताको वर्धित करता और महान् बनाता है — यही बात यहां कही गयी है।

*

यदि कोई समर्पण न हो तो फिर समूची सत्ताका कोई रूपांतर भी नहीं हो सकता।

*यह श्रीमाताजीकी पुस्तक "वार्तालाप" के निम्नांकित उद्धरणकी व्याख्या है: "समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि यह तुम्हारी वृद्धि करेगा; यह तुम्हारे व्यक्तित्व-को न घटायेगा न दुर्बल करेगा, न विनष्ट करेगा, यह उसे प्रबल और महान् बनायेगा।" (वार्तालाप, १म संस्करण, पृ २००)।

यदि कोई भगवान्‌को चाहे तो भगवान् स्वयं उसके हृदयको शुद्ध करनेका भार ले लेंगे, साधनाको विकसित करेंगे तथा आवश्यक अनुभूतियां प्रदान करेंगे; इस रूपमें घटित हो सकता और अवश्य होता है यदि कोई भगवान्‌पर भरोसा और विश्वास तथा समर्पणकी इच्छा रखे। क्योंकि इस प्रकार भगवान्‌के ग्रहण करनेका तात्पर्य है एकमात्र अपने निजी प्रयासपर निर्भर न कर अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमे सौंप देना और फिर इसका मतलब है भगवान्‌पर भरोसा और विश्वास रखना तथा क्रमशः आत्मदान करते जाना। यही वास्तवमें वह साधनाका सिद्धांत है जिसका अनुसरण मैंने किया था और यही योगकी केंद्रीय पद्धति है जिसकी मैंने परिकल्पना की है। मैं समझता हूँ कि यही वह चीज है जिसे श्रीरामकृष्णने अपनी रूपककी भाषामें बिल्लीके बच्चेकी पद्धति बतलायी थी। परन्तु सब लोग एकाएक इसका अनुसरण नहीं कर सकते; इस पद्धतिको अपनानेमें उन्हें समय लगता है — यह पद्धति सबसे अधिक तब विकसित होती है जब मन और प्राण शांत-स्थिर हो जाते हैं।

समर्पणसे मेरा जो तात्पर्य है वह यही मन और प्राणका आंतरिक समर्पण है। निस्सन्देह, एक प्रकारका बाहरी समर्पण भी होता है: उन सभी चीजोंका अर्पण जो आत्माके साथ संघर्ष करती हैं अथवा साधनाकी आवश्यकताके विपरीत पड़ती है, भगवान्‌की पूजा, उनके पथप्रदर्शनका पालन, चाहे प्रत्यक्ष रूपमें, यदि साधक उस स्थितिमें पहुँच चुका हो, अथवा चैत्य पुरुषके द्वारा, अथवा गुरुके मार्गदर्शनका अनुसरण। मैं यह कह दूँ कि प्रायोपवेशन (दीर्घकालतक उपवास) का समर्पणके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है: यह अत्यन्त कठोर तपस्याका एक रूप है और, मेरी रायमें, अत्यधिक कठोर प्रकारका है, बहुधा खतरनाक भी होता है।

आंतरिक समर्पणका सारतत्त्व है भगवान्‌पर भरोसा और विश्वास। साधकका मनोभाव होता है: "मैं भगवान्‌को चाहता हूँ, और किसी चीजको नहीं। मैं पूर्णतः अपनेको उन्हें दे देना चाहता हूँ और चूँकि मेरा अन्तरात्मा इसे चाहता है, इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि मैं उनका साक्षात्कार पाऊं और उन्हें उपलब्ध करूं। मैं इसके सिवा और कुछ नहीं चाहता, बस, मेरे अन्दर होनेवाला उनका कार्य मुझे उनके पास पहुँचा दे, उनका यह कार्य चाहे गुप्त हो या प्रकट, प्रच्छन्न हो या अभिव्यक्त। मैं अपने निजी समय और पथपर कोई आग्रह नहीं करता; वह सब कुछ अपने निजी समय और निजी पद्धतिसे करें; मैं उनपर विश्वास बनाये रखूँगा, उनकी इच्छाको स्वीकार करूंगा, उनकी ज्योति, सान्निध्य और आनन्दके लिये दृढ़तापूर्वक अभीप्सा करूँगा, सभी कठिनाइयों और विलंबोंके भीतरसे गुजरूँगा, उन्हींपर निर्भर रहूँगा और कभी उनका सहारा नहीं छोड़ूँगा। मेरा मन शांत हो जाय और उनपर भरोसा करे और वह इसे ज्योतिकी ओर खोल दें; मेरा प्राण अचंचल हो जाय और केवल उन्हींकी ओर मुड़ जाय और वह इसे अपनी शांति और हर्षकी ओर खोल दें। सब कुछ उनके लिये हो और स्वयं मैं भी उनके लिये होऊं। जो कुछ हो, मैं इस अभीप्सा और आत्मदानके भावको बनाये रखूंगा और इस पूरे भरोसेके साथ आगे बढ़ता रहूँगा कि यह संपन्न हो जायगा।"

यही मनोभाव है जिसे मनुष्यको अपने अन्दर बढ़ाना चाहिये; क्योंकि निश्चय ही इसे तुरत पूर्ण नही बनाया जा सकता — मानसिक और प्राणिक क्रियाएं आड़े आती हैं — परन्तु कोई यदि इसके लिये संकल्प बनाये रखे तो यह सत्तामें विकसित होगा। बाकी चीज है पथप्रदर्शनका अनुसरण करना जब वह प्रकट हो, अपने मन और प्राणकी क्रियाओंको उसमें बाधा न डालने देना।

मेरे कहनेका आशय यह नही है कि यही पथ एकमात्र पथ है और साधना अन्यथा नही की जा सकती — दूसरे बहुत सारे पथ भी हैं जिनके द्वारा मनुष्य भगवान्‌की ओर जा सकता है। परन्तु यह एकमात्र पथ है जिसे मैं जानता हूँ और जिससे प्रकृतिके तैयार होनेसे पहले ही भगवान्‌द्वारा साधनाका ग्रहण किया जाना प्रत्यक्ष तथ्य बन जाता है। दूसरे पथोंमे भागवत क्रिया समय-समयपर अनुभूत हो सकती है, पर वह अधिकांशमें तबतक पर्देके पीछे बनी रहती है जबतक सब कुछ तैयार नहीं हो जाता। कुछ साधनाओंमे भागवत क्रिया पहचानमें नही आती; वहां सब कुछ तपस्याके द्वारा करना आवश्यक होता है। कुछ साधनाओंमें दो चीजें मिलीजुली होती हैं; तपस्या अन्तमें प्रत्यक्ष साहाय्य और हस्तक्षेपका आह्वान करती हैं। यह भावना और अनुभव उस योगसे संबन्ध रखते हैं जो समर्पणपर आधारित होता है। परन्तु जिस भी पथका अनुसरण किया जाय, एकमात्र करणीय कार्य है एकनिष्ठ होना तथा अन्ततक प्रयास करते रहना।

भगवान्‌द्वारा सब कुछ किया जा सकता है,—हृदय और स्वभाव शुद्ध किये जा सकते, आतरिक चेतना जागृत की जा सकती तथा पर्दे दूर किये जा सकते हैं,— यदि कोई भरोसे और विश्वासके साथ अपनेको भगवान्‌के हाथोंमें अर्पण कर दे और यदि कोई तुरत पूर्ण रूपसे ऐसा न कर सके तो भी, जितना अधिक वह ऐसा कर सकेगा उतना ही अधिक आतरिक साहाय्य और पथप्रदर्शन उसे प्राप्त होगा तथा उसके भीतर भगवान्‌का अनुभव बढ़ेगा। यदि सन्देहशील मन कम सक्रिय हो जाय और विनम्रता तथा समर्पणका संकल्प बढ़े तो ऐसा करना पूर्णतः संभव हो सकता है। तब एकमात्र इस वस्तुके सिवा किसी दूसरी शक्ति और तपस्याकी आवश्यकता नहीं होती।

*

साधनाकी प्राथमिक अवस्थामें — और 'प्राथमिक' से मेरा मतलब किसी छोटे अंशसे नही है — प्रयत्न अपरिहार्य है। समर्पण तो ठीक है, पर समर्पण कोई ऐसा कार्य नही है जो एक दिनमें हो जाय। मनके अपने भाव और विचार हुआ करते है और वह उनमे चिपका रहता है; मानव-प्राण समर्पणमें बाधक होता है, क्योंकि प्राण आरम्भिक अवस्थाओंमे जिसे समर्पण समझता है वह संशयग्रस्त आत्मदान है और उसमें प्राणकी मांग भी मिली होती है, भौतिक चेतना पत्थरकी तरह है और यह जिसे समर्पण समझती है वह प्रायः 'तमस्', जड़त्वसे अधिक और कुछ नही होता। केवल एक हृत्पुरुष ही है जो जानता है कि समर्पण कैसे करना होता है और आरम्भ-

में यह हृत्पुरुष तो प्रायः बहुत कुछ छिपा ही रहता है। जब हृत्पुरुष जागता है तब वह एकाएक और सच्चे रूपमें सारी सत्ताका समर्पण करा सकता है, क्योंकि फिर अन्य अंगोंकी जो कुछ कठिनाई होती है उसका उपाय तुरत हो जाता है और वह कठिनाई दूर हो जाती है। पर जबतक हृत्पुरुष नहीं जागता तबतक साधकका अपने पुरुषार्थ-से प्रयत्न करना अपरिहार्य है। अथवा यों समझो कि ऐसा प्रयत्न तबतक आवश्यक होता है जबतक कि भागवत शक्ति ऊपरसे उत्प्लावित होकर सत्तामें न उतर आये और साधना अपने हाथमें न ले ले — साधनाका अधिकाधिक भाग स्वयं ही न करने लग जाय जिसमें साधकके अपने प्रयत्नसे करनेका कार्यभाग बहुत ही थोड़ा शेष रहे — पर तब भी प्रयत्न न सही पर कम-से-कम अभीप्सा तथा सावधानता तो आवश्यक हैं ही जबतक कि मन, इच्छा, प्राण और शरीरको भागवत शक्ति पूर्णतया अधिकृत न कर ले। मैं समझता हूँ, इस विषयका विवेचन मैंने 'माता' पुस्तकके किसी अध्याय-में किया है।

दूसरी ओर, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो पूर्ण समर्पणकी सच्ची और बलवती इच्छाके साथ ही योगारम्भ करते हैं। ये वे लोग हैं जो हृत्पुरुषसे अथवा उस सुस्पष्ट एवं उद्‌बुद्ध मानस-इच्छासे नियंत्रित होते हैं जो जहां एक बार यह मान लेती है कि समर्पण ही साधनाका सिद्धान्त है वहां फिर उसके सम्बन्धमें और कोई बेमतलबकी बात नही चलने देती और आधारके अन्य अंगोंको अपने रास्तेपर चलनेके लिये बाध्य करती है। यहां भी प्रयत्न मौजूद है; पर यह इतना सन्नद्ध और स्वयंस्फूर्त होता है तथा इसमें यह भाव कि हमारे पीछे कोई महती शक्ति है, इतना प्रबल और स्वाभाविक होता है कि साधकको प्रायः भान ही नही रहता कि मैं कुछ भी प्रयत्न कर रहा हूँ, इसके विपरीत जहां मन या प्राणकी ऐसी इच्छा होती है कि वे अपनी इच्छाको ही लिये रहना चाहते हैं, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति-प्रवृत्तिको छोड़ना नही चाहते, वहां तबतक संघर्ष और प्रयत्न ही चलता है जबतक कि आधाररूप यंत्र जो सामने है तथा भागवत शक्ति जो पीछे या ऊपर है, इन दोनोंके बीचकी दीवार टूट नहीं जाती। इस विषयमें कोई ऐसा नियम नही बताया जा सकता जो बिना किसी भेदके साधकमात्रपर समान रूपसे घट सके। मनुष्य-मनुष्यके स्वभावमें इतना अन्तर है कि किसी एक कठोर नियमसे सबका काम नहीं चल सकता।

*

यह सम्भव नहीं कि साधक एकाएक व्यक्तिगत प्रयासके ऊपर जोर देना छोड़ दे — और न यह सर्वथा वांछनीय ही है; क्योंकि मानसिक जड़तासे व्यक्तिगत प्रयास कहीं अच्छा है।

व्यक्तिगत प्रयासको उत्तरोत्तर भागवत शक्तिकी क्रियाके रूपमें रूपांतरित करना होगा। अगर तुम्हें भागवत शक्तिकी उपस्थितिका अनुभव होता हो तो तुम उसका अपने अन्दर अधिकाधिक आवाहन करो जिसमें वह तुम्हारे प्रयासको नियंत्रित करे,

उसे अपने हाथमे ले ले, उसे एक ऐसी चीजमें रूपांतरित कर दे जो तुम्हारी न हो, बल्कि श्रीमाँकी हो। इस तरह व्यक्तिगत आधारमें कार्य करनेवाली शक्तियां भागवत शक्तिके हाथमे चली जायंगी — अवश्य ही उनका इस प्रकार चला जाना हठात् नही, बल्कि धीरे-धीरे पूरा होगा।

परन्तु अन्त पुरुषकी स्थितिको प्राप्त करना आवश्यक है; उस विवेकका विकास अवश्य होना चाहिये जो यह ठीक-ठीक देख सके कि भागवत शक्ति क्या है, व्यक्तिगत प्रयास क्या है और निम्नतर विश्वशक्तियोंसे आकर क्या-क्या चीजें इन दोनोंके साथ मिल गयी हैं। और, जबतक भागवत शक्तिके हाथमें आधारकी सारी शक्तियां नही चली जाती — जिसमें बराबर ही कुछ समय लग जाता है — तबतक सर्वदा ही व्यक्तिगत प्रयास जारी रहना चाहिये, सत्य-शक्तिको निरन्तर स्वीकृति देते रहना चाहिये और प्रत्येक निम्नतर मिश्रणका निरन्तर त्याग करते रहना चाहिये।

अभी तुम्हें व्यक्तिगत प्रयास छोड़ देनेकी आवश्यकता नही है, बल्कि इस बातकी आवश्यकता है कि तुम अपने अन्दर अधिकाधिक भागवत शक्तिका आवाहन करो और उसीके द्वारा अपने व्यक्तिगत प्रयासको नियंत्रित और परिचालित करो।

*

साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें सब कुछ भगवान्के ऊपर छोड़ देना अथवा अपने व्यक्तिगत प्रयासकी आवश्यकता न समझ सब कुछ भगवान्से ही आशा करना युक्तिसगत नही। ऐसा करना तभी संभव होता है जब हृत्पुरुष सामने हो और समस्त क्रियाके ऊपर अपना प्रभाव डालता हो (और तब भी सतर्क रहने और निरन्तर अनुमति देते रहनेकी आवश्यकता होती है), अथवा आगे चलकर, योगकी अन्तिम अवस्थाओंमें ऐसा करना सम्भव होता है जब कि साक्षात् रूपमें या लगभग साक्षात् रूपमें अतिमानस-शक्ति साधककी चेतनाको अपने हाथमें ले लेती है; परन्तु यह अवस्था अभी बहुत दूर है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओंमें ऐसा मनोभाव रखनेसे प्रायः साधक निश्चलता और जडताको प्राप्त होता है।

सत्ताके जो भाग बहुत कुछ यत्रवत् कार्य करते हैं वे ही वास्तवमें ऐसा कह सकते है कि हम निरुपाय हैं, विशेषत. शारीर (स्थूल-भौतिक) चेतना स्वभावतः ही जड़ है और वह या तो मन और प्राणकी शक्तियोंद्वारा या उच्चतर शक्तियोंद्वारा परिचालित होती है। परन्तु सभी साधकोंमें सर्वदा ही इतनी सामर्थ्य होती है कि वे अपने मनके संकल्प और प्राणके प्रवेगको भगवान्की सेवामें नियुक्त करें। अवश्य ही यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता कि इसका फल तुरत ही दिखायी देगा, क्योंकि निम्न प्रकृतिकी बाधा या विरोधी शक्तियोंका आक्रमण कुछ समयतक, यहांतक कि एक दीर्घ कालतक, आवश्यक परिवर्तनको रोक रखनेमें सफलता प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्थामें साधकको तबतक अपने प्रयासमें लगे रहना चाहिये, अपने संकल्पको बराबर भगवान्के पक्षमें नियुक्त करते रहना चाहिये, त्याग करने योग्य वस्तुओंका

त्याग करते रहना चाहिये, सत्य ज्योति और सत्य शक्तिकी ओर अपने-आपको खोले रखना चाहिये और उनका स्थिरता और दृढ़ताके साथ, विना थकावटके, विना अवसाद या अधीरताके आवाहन करते रहना चाहिये जबतक यह अनुभव न होने लगे कि भागवत शक्ति कार्य करने लगी है और बाधाएं दूर होने लगी है।

तुम कहते हो कि तुम अपने अज्ञान और अन्धकारके विषयमे सचेतन हो। पर, यदि यह केवल साधारण सचेतनता हो तो यह पर्याप्त नहीं है। अगर तुम पूरे ब्यौरेके साथ, उनकी वास्तविक क्रियाओमें, उनके विषयमें सचेतन होओ तो फिर आरम्भके लिये यह काफी है। तुम जिन भ्रांत क्रियाओंके विषयमें सचेतन हो चुके हो उनका तुम्हें दृढ़ताके साथ त्याग करना होगा और अपने मन और प्राणको भागवत शक्तिकी क्रियाके लिये एक शान्त और स्वच्छ क्षेत्र बनाना होगा।

*

सक्रिय समर्पण उसे कहते हैं जब तुम अपना संकल्प भागवत संकल्पके साथ युक्त कर देते हो, जो कुछ दिव्य नहीं है उसे त्याग देते हो और जो कुछ दिव्य है उसीको अनु-मति देते हो। निष्क्रिय समर्पण उसे कहते है जब सब कुछ पूर्ण रूपसे भगवान्पर छोड़ दिया जाता है — उसे वास्तवमें बहुत थोड़े लोग ही कर सकते है, क्योंकि व्यवहारमें आकर वह इस प्रकार बदल जाता है कि भगवान्को समर्पण करनेके बहाने तुम निम्न प्रकृतिको समर्पण कर देते हो।

*

यहां दो सम्भावनाएं हैं, एक तो है व्यक्तिगत प्रयासके द्वारा शुद्धीकरण जिसमें लम्बा समय लग जाता है, दूसरी है भागवत कृपाशक्तिका प्रत्यक्ष हस्तक्षेप जिसका कार्य सामान्यतया बहुत तेज होता है। दूसरीके लिये पूर्ण समर्पण और आत्मदानका होना आवश्यक है और फिर उसके लिये साधारण तौरपर यह आवश्यक है कि साधकका मन ऐसा हो जो एकदम अचंचल रह सके तथा भागवती शक्तिको कार्य करने दे, प्रत्येक पगपर अपने पूर्ण समर्थनके द्वारा उसे सहायता करे, पर अन्यथा स्थिर और अचंचल बना रहे। इस अन्तिम शर्तको, जो रामकृष्णद्वारा कथित बिल्लीके बच्चेके भाव-के साथ मिलती-जुलती है, बनाये रखना कठिन है। जिन लोगोंकी अपने सभी कर्मोमें अपने चिंतन और इच्छा-शक्तिके द्वारा बहुत सक्रिय बने रहनेका अभ्यास है, उन्हें उस क्रियाको शान्त करना तथा मानसिक आत्मदानकी निश्चलताको अपनाना कठिन प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह नही है कि वे योग नहीं कर सकते अथवा आत्मदान नही कर सकते — केवल शुद्धि और आत्मदानके संपन्न होनेमें लम्बा समय लग जायगा और इसके लिये साधकमें धैर्य और अटूट लगन तथा अन्ततक डटे रहनेका संकल्प होना चाहिये।

*

इतने थोडे समयमे पूर्ण समर्पण करना सम्भव नही,—क्योंकि पूर्ण समर्पणका अर्थ है अपनी सत्ताके प्रत्येक भागमेंसे अहकी ग्रथिको काट डालना और उसे मुक्त कर पूर्णरूपेण भगवान्को समर्पित कर देना। मन, प्राण और भौतिक चेतनाको (यहांतक कि इनके प्रत्येक भागको और प्रत्येक भागके समस्त क्रियाकलापको) एकके वाद एक, अलग-अलग अपने-आपको समर्पित करना होगा, उन्हें अपने तरीकेको छोड़ना होगा तथा भगवान्के तरीकेको स्वीकार करना होगा। परन्तु साधक जो कुछ कर सकता है वह यह है कि वह आरम्भसे ही अपनी केंद्रीय चेतनामें एक संकल्प और आत्म-निवेदनका भाव उत्पन्न करे और आत्मदानको पूर्ण बनानेका जो कोई अवसर उपस्थित हो उससे लाभ उठाते हुए, पग-पगपर जो कोई मार्ग सामने खुला मिले उसके द्वारा उस मूल भावको परिपूर्ण वनाये। जब एक दिशामे समर्पण हो जाता है तव वह अन्य दिशाओके समर्पणको अधिक आसान और अधिक अनिवार्य बना देता है; परंतु वह स्वयं अन्य ग्रथियोको न तो काटता ही है न ढीला ही करता है, और विशेपकर जो ग्रंथियां हमारे वर्तमान व्यक्तित्व और उसके अत्यन्त प्रिय रचनाओंके साथ घनिष्ठ रूपमें सवद्ध होती है वे, केंद्रीय सकल्पके स्थापित हो जाने तथा उस संकल्पके कार्यमें परिणत हो जानेकी पहली मुहर-छाप लग जानेपर भी, वहुत वार महान् कठिनाइयां उपस्थित कर सकती है।

*

यह (समर्पणका भाव) प्रारम्भमे एकदम पूर्ण नही हो सकता, पर यह सच्चा हो सकता है — यदि केंद्रीय संकल्प सच्चा हो और साधकमें श्रद्धा और भक्ति हो। उसके अन्दर विपरीत क्रियाए हो सकती है, पर ये दीर्घकालतक टिके रहनेमें असमर्थ होंगी और निम्नतर भागके समर्पणकी अपूर्णता खतरनाक ढंगसे हस्तक्षेप नही करेंगी।

*

यह इस वातपर निर्भर करता है कि पूर्ण समर्पणका क्या तात्पर्य लिया जाता है — सत्ताके किसी भागमे उसका अनुभव या सत्ताके सभी भागोंमें उसका यथार्थ कार्य। पहला किसी भी समय वड़ी आसानीसे आ सकता है; केवल दूसरेको पूर्ण करनेमें समय लगता है।

*

पूर्ण समर्पणको केवल ध्यानमें अनुभूत एक अनुभव ही नही होना चाहिये, वल्कि एक यथार्थ तथ्य होना चाहिये जो समस्त जीवनको, सभी विचारों, अनुभवों और कर्मोको नियन्त्रित करे। जवतक ऐसा नही होता, साधकके अपने संकल्प और प्रयासका

उपयोग आवश्यक है, पर एक ऐसे प्रयासका उपयोग जिसमें समर्पणकी भावना भी मौजूद हो, साधकके संकल्प और प्रयासको सहायता देनेके लिये दिव्य शक्तिका आवाहन हो तथा सफलता या विफलतासे अविक्षुब्ध हो। जब दिव्य शक्ति साधनाका भार अपने हाथोंमें ले लेती है, तब निस्सन्देह प्रयास बन्द हो सकता है, पर फिर भी सत्ताकी सतत अनुमति और जागरूकताकी आवश्यकता होगी जिसमें कि साधक किसी भी समय किसी मिथ्या शक्तिको प्रवेश न करने दे।

*

यह (यह विचार कि साधना किसी व्यक्तिकी अपेक्षा स्वयं भगवान्द्वारा की जाती है) एक सत्य है पर एक ऐसा सत्य है जो तबतक चेतनाके लिये प्रभावशाली नही बनता जबतक कि वह साक्षात् अनुभवमें नही आ जाता अथवा जितनी मात्रामें वह अनुभूत होता है उतनी ही मात्रामें सार्थक भी होता है। इसके कारण जो लोग रुक जाते हैं वे ऐसे लोग होते हैं जो इस भावनाको स्वीकार तो करते है पर इसे अनुभव नही करते — अतएव उनमें न तो तपस्याका बल होता है और न भागवत करुणाका बल। दूसरी ओर, जो लोग इसका साक्षात्कार कर सकते हैं वे अपनी तपस्याके पीछे तथा उसके अन्दर भी भागवत शक्तिकी क्रियाको अनुभव करते हैं।

*

जो लोग कोई प्रयास नहीं करते,—प्रयासका अभाव अपने-आपमें एक कठिनाई है — वे प्रगति नहीं करते।

*

समर्पणकी बातें करने या संपूर्ण आत्मनिवेदनकी महज एक भावना या धीमी इच्छा रखनेसे कोई लाभ नहीं होगा; एक मौलिक और सर्वांगपूर्ण परिवर्तनकी प्रबल प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिये।

केवल मानसिक मनोभाव ग्रहण कर लेनेसे यह कार्य नहीं किया जा सकता, यहांतक कि बहुतसे आंतरिक अनुभव प्राप्त कर लेनेसे भी नहीं हो सकता जो कि बाहरी मानवको वैसा ही छोड़ देते हैं जैसा कि वह पहले था। बस, इसी बाहरी मानवको उद्घाटित होना, समर्पित होना और परिवर्त्तित होना होगा। उसकी प्रत्येक छोटी-से-छोटी क्रिया, आदत, कार्यको समर्पित हो जाना होगा, उन्हें देखना, रोके रखना और दिव्य ज्योतिके सामने खोल देना होगा, भागवत शक्तिको उन्हें अर्पित कर देना होगा जिसमें उनके पुराने रूप और आशय नष्ट कर दिये जायं तथा उनका स्थान दिव्य सत्य एवं भगवती माताकी रूपांतरकारी चेतनाका कार्य ले लें।

*

यदि पूर्ण समर्पण न किया जाय तो बिल्लीके बच्चेका भाव ग्रहण करना सम्भव नही है,—वह महज तामसिक निष्क्रियताका रूप ले लेता और अपनेको समर्पणका नाम दे देता है। यदि प्रारम्भमे पूर्ण समर्पण करना सम्भव न हो तो इसका तात्पर्य है कि व्यक्तिगत प्रयास आवश्यक है।

*

जो वृत्तिया यत्रवत् चलती रहती है उनको मानसिक संकल्पके द्वारा बन्द करना बराबर ही अधिक कठिन होता है, क्योकि वे किसी युक्ति-तर्क या मानसिक समर्थनके ऊपर बिलकुल ही निर्भर नही करती; बल्कि वे पारस्परिक संयोग या केवल यंत्रवत् क्रिया करनेवाली स्मृति या अभ्यासके ऊपर अवलंबित होती है।

परित्यागका अभ्यास अन्तमे विजयी होता है, पर केवल व्यक्तिगत प्रयासके बलपर इसे करनेसे इसमे एक लम्बा समय लग सकता है। अगर तुम यह अनुभव कर सको कि भागवत शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है तो फिर यह कार्य अधिक आसान हो जायगा।

पथप्रदर्शिका दिव्य शक्तिको आत्मदान करनेमें तुम्हारे किसी भागको जड़ता या तामसिकता नही दिखानी चाहिये और न तुम्हारे प्राणके किसी भागको निम्नतर आवेग और वासनाके सुझावोंका त्याग न करनेके लिये इस आत्मदानकी आड़ लेनी चाहिये।

योगाम्यास करनेके सदा ही दो पथ होते है — एक है सजग मन और प्राणकी क्रियाके द्वारा साधना करना, जिसमें मन और प्राणकी सहायतासे साधक देखता है, निरीक्षण करता है, विचार करता है और निश्चित करता है कि क्या करना चाहिये या क्या नही करना चाहिये। अवश्य ही इस क्रियाके पीछे भी भागवत शक्ति विद्यमान रहती है और उस शक्तिका आवाहन कर उसे अपने अन्दर ले आया जाता है — क्यों-कि, अगर ऐसा न किया जाय तो फिर कुछ भी विशेष कार्य नही हो सकता। फिर भी इस पथमे व्यक्तिगत प्रयास ही प्रधान होता है और वही साधनाके अधिकांश भार-को वहन करता है।

दूसरा पथ है हृत्पुरुपका—इस पथमें चेतना भगवान्की ओर उन्मुक्त रहती है, वह केवल हृत्पुरुपको ही नही उन्मुक्त करती और सामने ले आती, बल्कि वह मन, प्राण और शरीरको भी उन्मुक्त करती है, ज्योतिको ग्रहण करती है, इस बातका ज्ञान प्राप्त करती है कि क्या करना होगा, यह अनुभव करती और देखती है कि स्वयं भागवत शक्ति ही उसे कर रही है तथा भागवत क्रियाको स्वयं भी अपनी सजग और सचेतन सम्मति देकर एवं उसका आवाहन कर निरन्तर सहायता करती रहती है।

परन्तु जबतक चेतना पूर्णरूपेण उन्मुक्त होनेके लिये तैयार नही हो जाती, जबतक वह इस प्रकार पूर्णतः भगवान्के अधीन नही हो जाती कि उसके सारे कर्मोका प्रारम्भ भगवान्के द्वारा ही होने लगे, तबतक बहुधा साधनामें इन दोनों मार्गोका मिला-जुला

रहना अवश्यंभावी होता है। किन्तु जब ऐसा हो जाता है तब साधकका सारा उत्तर-दायित्व चला जाता है और उसके कंधोंपर कोई व्यक्तिगत भार नही रह जाता।

*

जबतक उच्चतर शक्तिकी पूर्ण उपस्थिति नहीं आ जाती और उसकी सचेतन क्रिया नहीं होने लगती तबतक व्यक्तिगत प्रयासकी कुछ मात्राका होना अपरिहार्य है। निस्सन्देह, स्वयं अपने लिये नही बल्कि भगवान्‌के लिये साधना करना ही सच्चा मनोभाव है।

*

प्रत्येक वस्तु भगवान्‌के लिये होनी चाहिये, यह भी। भगवान्‌पर फल छोड़नेका जहांतक प्रश्न है, यह इस बातपर निर्भर करता है कि इस वाक्यांशका तुम क्या अर्थ लेते हो। यदि इसका अर्थ है भागवत कृपापर निर्भरता और समता और निरन्तर अभीप्सा करते रहनेका धैर्य, तब तो यह बिलकुल ठीक है। परन्तु इसे इतनी दूर नही फैला देना चाहिये कि यह अभीप्सा और प्रयास करनेमें ढिलाई और उदासीनताको अन्तर्भुक्त कर ले।

*

मैं नहीं समझता कि किसी प्रकारके समर्पणका यह अर्थ क्यों होगा कि जाकर सो जाया जाय या सभी बाहरी वस्तुओंसे, यहांतक कि श्रीमाताजीसे भी अपनेको बन्द कर दिया जाय। जो हो, जो समर्पण करना आवश्यक है वह है सज्ञान समर्पण; परन्तु उसके लिये कोई शांतिहीन संघर्ष करने अथवा दोषों और कठिनाइयोंपर अत्यधिक बल देनेकी आवश्यकता नही है। श्रीमाताजीके मनोभावकी जो बात है, उसे समझनेके लिये तुम्हें अपने भीतर दृष्टि डालनी होगी; यदि तुम बाहरसे देखोगे तो तुम उसे समझ नहीं सकोगे।

*

तुम्हारी साधनामें तपस्याकी प्रधानता है; क्योंकि तुममें एक तीव्र और सक्रिय शक्ति है जो तुम्हें उसमें प्रवृत्त करती है। कोई भी पथ पूर्णतया आसान नहीं है, और समर्पणके पथमें कठिनाई है सच्चा और पूर्ण समर्पण करनेकी। एक बार जब पूर्ण समर्पण हो जाता है तो निश्चय ही इससे सारी बातें अधिक आसान हो जाती हैं — यह बात नहीं कि सारी बातें तुरत-फुरत हो जाती हैं या फिर कोई कठिनाई ही नही

रह जाती, बल्कि उस समय एक आश्वासन, एक साहाय्य प्राप्त होता है और उत्तेजना-का अभाव होता है जो चेतनाको विश्रांति तथा साथ ही बल देता है और अत्यन्त बुरे प्रकारकी बाधासे मुक्ति प्रदान करता है।

*

हां, निश्चय ही तुम ठीक कह रहे हो। स्वयं समर्पणकी प्रक्रिया भी एक तपस्या है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि वास्तवमें तपस्याकी द्विविध प्रक्रिया और निरन्तर वर्द्धमान समर्पण दीर्घकालतक तब भी बना रहता है जब कि पर्याप्त मात्रामें समर्पण-भावका होना प्रारम्भ हो चुका होता है। परन्तु एक समय आता है जब साधक दिव्य शक्तिकी उपस्थिति और क्रियाशक्तिको निरन्तर अनुभव करता है तथा अधिकाधिक यह अनुभव करता है कि वही सब कुछ कर रही है — इस प्रकार अनुभव करता है कि सबसे बुरी कठिनाइयां भी इस अनुभवको विक्षुब्ध नहीं कर पातीं तथा व्यक्तिगत प्रयत्न अब आवश्यक नहीं होता, वरन् मुश्किलसे सम्भव भी होता है। यही भगवान्-के हाथोंमें प्रकृतिके पूर्ण समर्पणका चिह्न है। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो इस अनुभव-के आनेसे पहले भी श्रद्धाके बलपर इस स्थितिको ग्रहण करते हैं और यदि श्रद्धा और भक्ति प्रबल हो तो वह स्थिति उन्हें अनुभव प्राप्त होनेतक सभी कठिनाइयोंमेंसे निकाल ले जाती है। परन्तु सब लोग प्रारम्भसे ही इस स्थितिको नहीं ग्रहण कर सकते — और कुछ लोगोंके लिये तो यह खतरनाक होगी, क्योंकि वे सम्भवतः किसी गलत शक्ति-के हाथोंमें अपनेको सौंप देंगे और उसे ही भगवान् समझेंगे। अधिकांश लोगोंके लिये तपस्याके द्वारा समर्पण-भावको विकसित करना आवश्यक है।

*

हां, यदि साधकको यह बोध होता हो कि उसकी सभी तपस्याओंके पीछे भागवत शक्ति विद्यमान है, उन्हें ग्रहण करता है और उनका फल प्रदान करता है तो यह कम-से-कम समर्पणका प्रथम रूप है।

*

जब संकल्प और शक्ति केंद्रीभूत होते और मन, प्राण और शरीरको संयमित तथा परिवर्तित करनेके अथवा उच्चतर चेतनाको नीचे उतार लानेके अथवा किसी अन्य यौगिक उद्देश्य या किसी महान् उद्देश्यके लिये अभ्यस्त होते हैं तो उसे ही तपस्या कहते हैं।

*

भगवान्‌के तरीके मानव-मनके तरीकों जैसे नही है या हमारे आदर्शोके अनुरूप नहीं होते और उनके विषयमें निर्णय करना या भगवान्‌के लिये यह निर्धारित करना कि उन्हें क्या करना या क्या नहीं करना चाहिये, असम्भव है, क्योंकि हम जैसा जान सकते हैं उससे कहीं अच्छा भगवान् जानते हैं। यदि हम जरा भी भगवान्‌को मानते है तो यथार्थ बुद्धि और भक्ति दोनों ही मुझे सुस्पष्ट श्रद्धा और समर्पण-भावकी मांग करनेमें एकमत प्रतीत होती हैं।

*

भागवत क्रियाओंको समझनेके लिये साधकको भागवत चेतनामें प्रवेश करना चाहिये, जबतक ऐसा नहीं होता तबतक श्रद्धा और समर्पणभाव बनाये रखना ही एक-मात्र यथार्थ मनोभाव है। भला उस वस्तुके विषयमें मन कैसे निर्णय दे सकता है जो उसकी समस्त सीमाओंके परे है?

*

साधनाका सच्चा मनोभाव है अपने मन और प्राणिक इच्छाको भगवान्‌के ऊपर आरोपित न करना, बल्कि भगवान्‌की इच्छासे अवगत होना और उसका अनुसरण करना। यह नहीं कहना कि "यह मेरा अधिकार है, मेरी चाह, मांग, अभाव और आवश्यकता है, क्योंकि इसे मैं नहीं पाता?" बल्कि अपने-आपको दे देना, समर्पण करना तथा जो कुछ भी भगवान् दें उसे हर्षके साथ ग्रहण करना, दु:ख-शोक न मनाना या विद्रोह न करना सबसे अच्छा तरीका है। उस समय तुम जो कुछ ग्रहण करोगे वह तुम्हारे लिये समुचित वस्तु होगी।

*

भगवान् उसे करनेके लिये (हमारी सभी सच्ची आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिये) बाध्य नहीं हैं, वह पूरा कर सकते या नहीं भी कर सकते हैं; वह चाहे पूरा करें या न करें इससे उस व्यक्तिके लिये कोई अन्तर नहीं पड़ता जो उनके प्रति समर्पित हो चुका है। यदि उसमें अन्तर पड़ता है तो उसके समर्पणमें कोई हिचकिचाहट है और इसलिये वह पूर्ण समर्पण नही है।

*

किसी मानव-प्राणीके लिये प्रारम्भमें समस्त अभिरुचियोंसे मुक्त हो जाना और जो कुछ भी भागवत इच्छासे आये उसे हर्षपूर्वक ग्रहण करना सम्भव नही है।

प्रारम्भमें मनुष्य जो कर सकता है वह है इस सतत भावनाको उस समय भी बनाये रखना कि जो कुछ भगवान् चाहते हैं वह सदा सबसे अच्छेके लिये होता है, जब कि मन यह नहीं देखता कि ऐसा कैसे हो सकता है, जिस चीजको वह अभी प्रसन्नतापूर्वक नहीं स्वीकार कर सकता उसे समर्पण-भावके साथ स्वीकार करना और इस तरह स्थिर समत्वतक पहुँचना जो उस समय भी हिलता-डुलता नहीं जब कि ऊपरी सतहपर बाह्य घटनाओंके प्रति क्षणिक प्रतिक्रियाकी अस्थायी दिखाएं होती हैं। यदि यह भाव एक बार दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाय तो बाकी चीजें आ सकती हैं।

•

समर्पणका तात्पर्य है भागवत प्रभाव और पथप्रदर्शनको पूरे हृदयसे स्वीकार करना, जब आनन्द और शान्ति उतरें तब उन्हें बिना सन्देह या कुतर्कके स्वीकार करना और उन्हें वर्धित होने देना, जब दिव्य शक्ति काम करती हुई अनुभूत हो तो बिना विरोध उसे काम करने देना, जब सच्चा ज्ञान दिया जाय तब उसे ग्रहण करना और उसका अनुसरण करना, जब भागवत संकल्प प्रकट हो तो उसका यन्त्र बन जाना।

भगवान् पथ दिखा सकते हैं, पर वह चलनेको बाध्य नहीं करते। 'मनुष्य' नामधारी प्रत्येक मनोमय प्राणीको यह आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है कि वह चाहे तो भागवत पथप्रदर्शनको स्वीकार करे या न करे, भला अन्यथा किस प्रकार कोई सच्चा आध्यात्मिक विकास साधित हो सकता है?

•

एक सीमातक प्रत्येक व्यक्तिको अपना चुनाव करनेकी स्वतन्त्रता प्राप्त है — जबतक कि वह पूर्ण समर्पण नहीं कर देता — और जिस तरह वह उस स्वतन्त्रताका उपयोग करता है, उसे आध्यात्मिक या अन्य परिणामोंको ग्रहण करना पड़ता है। सहायता केवल दी जा सकती है, थोपी नहीं जा सकती। मौन रहो, निश्चल भाव-से [illegible] स्वीकार न करनेका अर्थ है अपने निजी मार्गसे चलनेकी प्राणकी इच्छा। जब मनुष्यमें जब निराशाका भाव नहीं रह जाता, जब भगवान्‌के प्रति मौलिक आत्मोद्-घाटन हो जाता है तो भगवान् हस्तक्षेप कर सकते हैं।

•

इस अवस्थामें समस्त [illegible] व्यक्तिकी एक विशिष्ट सांकेतिक स्वतन्त्र इच्छापर अवलम्बित है। [illegible] कि [illegible] भी यह बनी रहती है और व्यक्तिकी [illegible] पर [illegible] होती है — यद्यपि भगवान्‌के समर्पण [illegible] ही यह [illegible] और [illegible] रहता है। [illegible] यह समर्पण [illegible]

तन्त्र समर्पण होना चाहिये।

*

मनुष्य भगवान्‌को इसलिये आत्मार्पण करता है कि वह पृथक्त्वके भ्रमसे मुक्त हो जाय — स्वयं आत्मार्पणका कार्य ही यह सूचित करता है कि सब कुछ भगवान्-का है।

*

प्रारम्भमें आत्मसमर्पण आत्मज्ञानके द्वारा नही बल्कि कही अधिक प्रेम और भक्तिके द्वारा आता है। परन्तु यह सच है कि आत्मज्ञान होनेपर पूर्ण समर्पण करना अधिक सम्भव हो जाता है।

*

समर्पण और प्रेम-भक्ति विपरीत वस्तुएं नही हैं — वे साथ-साथ रहती हैं। यह सच है कि आरम्भमें मन ज्ञानके द्वारा समर्पण कर सकता है पर इससे मानसिक भक्ति परिलक्षित होती है और, ज्योंही समर्पण-भाव हृदयतक पहुँचता है, भक्ति एक भावके रूपमें अभिव्यक्त होती है और भक्तिके भावके साथ प्रेम उदित होता है।

*

उच्चतर मनकी अनुभूतिके अन्दर भक्ति और समर्पण-भाव हो सकता है पर यह जैसे चैत्य चेतनामें होता है वैसे वहां अनिवार्य नहीं होता। उच्चतर मनमे मनुष्य "ब्रह्म" के साथ अपने तादाम्यके विषयमें अत्यधिक सचेतन हो सकता है और तब वहां भक्ति या समर्पण-भावका स्थान नही होता।

*

मनुष्य आत्मदान किये बिना ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उस समय वह निर्व्यक्तिक ब्रह्मकी ओर मुड़ता है। उसकी शर्त्त है सभी कामनाओंका तथा प्रकृतिके साथ सब प्रकारके तादात्म्यका परित्याग करना। मनुष्य भगवान्‌के प्रति अपनी प्रकृतिका तथा साथ ही अन्तरात्माका आत्मदान कर सकता है और उसके द्वारा ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त कर सकता है, वह स्थिति केवल अभावात्मक ही नहीं वरन् भावात्मक भी होगी, वह केवल प्रकृतिसे मुक्ति नहीं वरन् स्वयं प्रकृतिकी भी मुक्ति

होगी।

*

ब्राह्मी-स्थिति अन्तरात्मामें शान्ति और मुक्तिकी एक अभावात्मक स्थिरता ले आती है। आत्मदान एक भावात्मक मुक्ति ले आता है जो प्रकृतिमें कर्मकी एक सबल शक्ति भी बन सकती है।

*

यदि तुम केवल उच्चतर चेतनामें ही समर्पित हो, निम्नतर चेतनामें कोई शांति या पवित्रता नही है तो निश्चय ही वह पर्याप्त नही है और तुम्हें सर्वत्र शान्ति और पवित्रताके आनेकी अभीप्सा करनी चाहिये।

*

जब चैत्य पुरुष, हृदय तथा चिन्तनशील मन समर्पण कर चुके है तब बाकी बस समय और प्रक्रियाका प्रश्न है — और फिर अशान्तिका कोई कारण नही। केंद्रीय और फलोत्पादक समर्पण किया जा चुका है।

*

ऐसा कभी नही कहा जा सकता कि बहुत शीघ्र आत्मसमर्पण कर दिया गया। कुछ चीजोंके प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता हो सकती है, पर समर्पणके लिये नही।

*

सच पूछा जाय तो पूर्ण समर्पणकी उस चेतनापर ही साधनाका चैत्य आधार स्थापित हो सकता है। एक बार जब यह चीज स्थापित हो जाती है तो फिर, चाहे जो भी कठिनाइयां अतिक्रम करनेके लिये बाकी हों, साधनाका मार्ग पूर्णतः सरल-सहज, सूर्यालोकित, फूलके खिलनेकी तरह स्वाभाविक बन जाता है। जो कुछ तुम अनुभव कर रहे हो वह इस बातका संकेत है कि तुम्हारे अन्दर क्या विकसित हो सकता है और क्या विकसित होना चाहिये।

*

जो कठिनाइयां उठती हैं वे यदि स्वयं प्रकृतिमें है तो यह अनिवार्य है कि वे उठें और प्रकट हों। समर्पण करना आसान नहीं है, प्रकृतिका एक वहुत वड़ा भाग इसका विरोध करता है। यदि मन समर्पण करनेका संकल्प बनाता है तो इन सब आंतरिक वाधाओंका प्रकट होना अनिवार्य है। ऐसे समय साधकको उन्हें देखना चाहिये और उनसे अपनेको पृथक् कर लेना चाहिये, अपनी प्रकृतिमेंसे उन्हें त्याग देना और अतिक्रम कर जाना चाहिये। इसमें वहुत लम्बा समय लग सकता है पर इसे करना आवश्यक है। वाहरी वाधाएं आंतरिक समर्पणको तवतक रोक नही सकतीं जवतक कि स्वयं प्रकृतिके अन्दरकी कोई वाधा उन्हें सहायता न करती हो।

*

यह साधकपर निर्भर करता है। कुछ लोग पहले वाहरी क्रियाओंको समर्पित करना आवश्यक महसूस कर सकते हैं जिसमें कि वह आंतरिक समर्पण ले आये।

*

प्राणका समर्पण करना सर्वदा कठिन होता है, क्योंकि विश्वव्यापी प्राणिक अज्ञानकी शक्तियां समर्पण करनेमें अनिच्छुक होती है। परन्तु इसका मतलव यह नहीं है कि प्राणमें समर्पण करनेकी कोई मौलिक अक्षमता है।

*

एक वच्चेकी तरह वन जाना और अपने-आपको सम्पूर्णतः दे देना तवतक असम्भव है जवतक कि चैत्य पुरुषका प्रभुत्व न हो और वह प्राणकी अपेक्षा अधिक वलशाली न हो।

*

साधारण प्राण कभी समर्पण करनेके लिये इच्छुक नही होता। सच्चा अन्तरतम प्राण अन्य प्रकारका होता है — भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण उसके लिये उतना ही आवश्यक होता है जितना चैत्य पुरुषके लिये।

*

यदि प्राणकी मांगों या चित्कारोंके साथ किसी प्रकारका तादात्म्य हो तो वह अवश्य ही उस समयके लिये समर्पणको कम कर देता है।

*

तुमने जो अपनी प्रतिक्रियाका वर्णन दिया था उसीके आधारपर मैंने कहा था कि वहा प्राणकी कोई माग थी। विशुद्ध चैत्य या आध्यात्मिक आत्मदानमें इस प्रकार-की कोई प्रतिक्रिया नही होती, कोई विषाद या नैराश्य नही होता, मनुष्य यह नही कहता कि "भगवान्‌की खोज करनेसे मुझे क्या लाभ हुआ है?", कोई क्रोध, विद्रोह, अभिमान, चले जानेकी इच्छा नही होती — जैसा कि तुमने यहां वर्णन किया है — बल्कि पूर्ण विश्वास तथा सभी परिस्थितियोंमें भगवान्‌से चिपके रहनेका आग्रह होता है। इसी चीजको मै चाहता था कि तुम बनाये रखो; यही एकमात्र आधार है जिसमें मनुष्य सभी कठिनाइयो और प्रतिक्रियाओसे मुक्त रहता तथा सतत आगे बढ़ता रहता है।

पर ये सब भावनाए क्या अन्तरात्माके आत्मदानका चिह्न हैं? यदि वहां प्राणका मिश्रण नही है तो फिर ये सब चीजें जब मै तुम्हें पत्र लिखता हूँ तो कैसे आती है तथा मेरे लिखने और तुम्हें रास्ता दिखानेकी कोशिश करनेके परिणामस्वरूप कैसे आती है?

सत्ताके इस भागको जब उसका स्वभाव दिखा दिया जाता है औचेंर उससे बदलने-के लिये कहा जाता है तो उसकी पहली क्रिया यह होती है कि वह विद्रोह कर बैठता है।

कठिन? हमारी साधनाका पहला सिद्धांत ही यह है कि समर्पण ही सिद्धिका उपाय है और जबतक मनुष्य अहंका या प्राणिक मांग और कामनाओंका पोषण करता है, पूर्ण समर्पण करना असम्भव है — आत्मदान अपूर्ण है। हमने कभी इस बातको छिपाया नही है। यह कठिन हो सकता है और है भी; पर यह साधनाका ठीक सिद्धांत भी है। चूँकि यह कठिन है इसलिये इसे नियमित और धैर्यपूर्वक तबतक करते रहना होगा जबतक कि काम पूरा नही हो जाता।

तुम्हें प्राणिक मिश्रणको, जब कभी वह दिखायी देता है, त्यागते रहना होगा। यदि तुम सतत उसका त्याग करते रहो तो वह अधिकाधिक अपनी शक्तिको खोता जायगा और विलीन हो जायगा।

इसका तात्पर्य है कि अभीतक पुरानी क्रिया हठपूर्वक पर असंगत रूपसे तथा यंत्रवत् बनी हुई है। वास्तवमें इसी ढंगसे ये चीजें बनी रहनेका प्रयत्न करती है। परन्तु यह जानेके लिये बाध्य है यदि तुम इसे ताजा जीवन न प्रदान करो।

मुझे इसमें कोई सन्देह नही — तुम्हें बस इस बातको सही रूपमें समझना होगा और फिर तुम तुरत समुचित स्थानपर पहुँच सकते हो।

*

अधिकांश साधकोंमें इसी तरहके विचार है — अथवा कभी-न-कभी थे। वे प्राणिक अहंसे उठते है जो या तो भगवान्‌को नही चाहता अथवा उन्हें अपनी निजी उद्देश्यसे चाहता है और स्वयं भगवान्‌के उद्देश्यसे नही चाहता। जब बदलनेके लिये

उसपर दबाव डाला जाता है अथवा जब उसकी कामनाएं पूरी नही की जातीं तो वह आग-बबूला हो उठता है — यही इन सब चीजोंके मूलमें है। यही कारण है कि इस योगमें हम समर्पणपर अधिक बल देते हैं — क्योंकि एकमात्र समर्पणके द्वारा (विशेषकर प्राणिक अहंके समर्पणद्वारा) ही ये चीजें जा सकती हैं — भगवान्‌के लिये भगवान्‌को स्वीकार करना चाहिये और किसी दूसरे उद्देश्यसे नही और भगवान्‌के तरीकेसे स्वीकार करना चाहिये और अपने निजी तरीकेसे अथवा अपनी निजी शर्त्तोंपर नहीं।

*

अब जो तुमने अनुभव करना आरम्भ किया है वह है हृत्पुरुषद्वारा प्रभावित तुम्हारे भौतिक (शारीर) स्तरका आत्मसमर्पण।

तुम्हारे सभी अंग मूलत: समर्पित हो चुके हैं, परन्तु उन सभी अगोंको और उनकी सभी क्रियाओंमें, पृथक्-पृथक् और संयुक्त रूपमें, हृत्पुरुषोचित आत्मदानकी भावनाको धीरे-धीरे बढ़ाकर इस समर्पणको पूर्ण बनाना होगा।

भगवान्‌के द्वारा उपभुक्त होनेका अर्थ है पूर्ण रूपसे समर्पित हो जाना, जिसके फलस्वरूप साधक यह अनुभव करता है कि भागवत उपस्थिति, शक्ति, ज्योति, आनन्दने उसकी सारी सत्ताको अधिकृत कर रखा है, स्वयं उसने इन सब चीजोंको अपनी तृप्तिके लिये अधिकृत नही किया है। स्वयं अधिकार करनेकी अपेक्षा इस प्रकार समर्पित और भगवान्‌के द्वारा अधिकृत होनेमें बहुत अधिक आनन्द मिलता है। साथ-ही-साथ इस समर्पणके फलस्वरूप अपनी सत्ता और प्रकृतिके ऊपर एक प्रकारका शांत और आनन्दप्रद प्रभुत्व भी प्राप्त होता है।

*

मैंने कहा है कि यदि किसीके मन और हृदयमें समर्पण तथा एकत्वका तत्त्व विद्यमान है तो फिर इसे शरीर तथा अवचेतनाके अधिक अन्धकारपूर्ण भागोंतक प्रसारित करनेमें कोई कठिनाई नही है। चूँकि तुम्हारे अन्दर यह केंद्रीय समर्पण-भाव और एकत्व है, तुम इसे आसानीसे सर्वत्र पूर्ण बना सकते हो। इसके लिये जो कुछ आवश्यक है वह है पूर्ण चेतना प्राप्त करनेके लिये स्थिर-भावसे अभीप्सा करना। तब अन्य भागोंकी तरह जड़-भौतिक और अवचेतन भागोंमें भी ज्योति प्रविष्ट हो जायगी और फिर वहां स्थिरता, विशालता तथा सभी प्रतिक्रियाओंसे मुक्त सुसमंजसता आ जायगी जो अन्तिम परिवर्तनका आधार होगी।

*

एक ऐसी अवस्था है जिसमें साधक अपने अन्दर काम करनेवाली भागवत शक्ति या कम-से-कम उसके परिणामोंके विषयमें सज्ञान होता है और अपनी निजी मानसिक क्रियाओ,प्राणिक चचलता या भौतिक अन्धता और तामसिकताके द्वारा शक्तिके अवतरणमे अथवा उसके कार्यमें बाधा नही डालता। इसे ही कहते हैं भगवान्‌के प्रति उद्‌घाटन। उद्‌घाटनका सर्वोत्तम पथ है समर्पण; परन्तु जबतक समर्पणभाव नहीं है तबतक अभीप्सा और अचचलता इसे एक खास हदतक कर सकते हैं। समर्पणका अर्थ है अपने अन्दरकी प्रत्येक चीजको भगवान्‌के हाथोंमें अर्पित कर देना, जो कुछ हम है और हमारे पास है सब कुछ उत्सर्ग कर देना, अपने ही विचारों, कामनाओं, अभ्यासो आदिपर आग्रह न करना, वल्कि दिव्य सत्यको ऐसा अवसर देना कि वह उनके स्थानमे अपने ज्ञान, संकल्प और कर्मको सर्वत्र स्थापित कर दे।

*

उद्‌घाटन एक ऐसी चीज है जो संकल्प और अभीप्साकी सच्चाईके द्वारा अपने-आप घटित होती है। इसका अर्थ है उन उच्चतर शक्तियोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होना जो श्रीमाताजीसे आती है।

*

आत्मोद्‌घाटनका उद्देश्य है भगवान्‌की शक्तिको अपने अन्दर प्रवाहित होने देना, उसे ज्योति, शान्ति, आनन्द आदि ले आने देना तथा रूपांतरका कार्य करने देना। जब व्यक्तिकी सत्ता इस प्रकार भागवत शक्तिको ग्रहण करती है और वह शक्ति उसके अन्दर कार्य करती है, अपने परिणाम उत्पन्न करती है (चाहे वह व्यक्ति उसकी प्रक्रियासे पूर्णतः सज्ञान हो या न हो), तो कहा जाता है कि वह व्यक्ति उद्‌घाटित है।

*

ये मनके कार्य हैं; उद्‌घाटन चेतनाकी एक 'अवस्था' है जो उसे श्रीमाताजीकी ओर मोडे रखती है और तब चेतना अन्य गतिविधियोंसे मुक्त होकर जो कुछ भगवान्‌से आवे उसकी प्रतीक्षा करती और उसे ग्रहण करनेमें समर्थ होती है।

*

सच पूछो तो श्रीमाताजीपर विश्वास रखनेपर आवश्यक उद्‌घाटन उस समय होगा जब तुम्हारी चेतना तैयार हो जायगी।

सच पूछो तो एकमात्र ध्यानके द्वारा वह चीज नहीं आयेगी जो कि आवश्यक

है। वह श्रीमाताजीके प्रति श्रद्धा और उद्घाटन होनेपर आयेगी।

*

श्रीमाँकी ओर अपनेको खोले रखो, उन्हें सर्वदा स्मरण करो और उनकी शक्तिको अपने अन्दर कार्य करने दो, अन्य सभी प्रभावोंका त्याग करो — यही योगका नियम है।

*

योगाभ्यासमें तुम्हारे लक्ष्यकी प्राप्ति केवल तभी होगी जब तुम अपनी सत्ताको श्रीमाँकी शक्तिकी ओर खोलोगे और लगातार समस्त अहंकार और माग और कामनाका, भागवत सत्यको प्राप्त करनेकी अभीप्साके अतिरिक्त अन्य सभी उद्देश्योंका त्याग कर दोगे। यदि ऐसा ठीक-ठीक किया जाय तो भागवत शक्ति और ज्योति काम करना आरम्भ कर देंगी और तुम्हारे अन्दर शान्ति और समता, आंतरिक बल-वीर्य, विशुद्ध भक्ति तथा क्रमवर्द्धमान चेतना और आत्मज्ञान ले आयेंगी जो कि योगकी सिद्धिके लिये आवश्यक आधार हैं।

*

इस योगका सारा सिद्धांत ही है भागवत प्रभावकी ओर अपने-आपको उद्घाटित करना। यह प्रभाव तुम्हारे सिरके ऊपर ही वर्तमान है; यदि तुम एक बार इसके विषयमें सचेतन हो सको तो फिर तुम्हें इसका आवाहन कर अपने अन्दर इसे उतारना होगा। वह मनके अन्दर और शरीरके अन्दर अवतरित होता है शान्तिके रूपमें, ज्योतिके रूपमें, कार्य करनेवाली एक शक्तिके रूपमें, भगवान्की साकार या निराकार उपस्थितिके रूपमें, आनन्दके रूपमें। जबतक यह चेतना नहीं प्राप्त होती तबतक साधकको श्रद्धा-विश्वास बनाये रखना होगा और आत्मोद्घाटनके लिये अभीप्सा करनी होगी। अभीप्सा, आवाहन और प्रार्थना एक ही चीजके भिन्न-भिन्न रूप हैं और ये सभी फलदायक हैं; इनमेंसे जो भी रूप तुम्हारे पास आये या तुम्हारे लिये सबसे अधिक आसान हो उसीको तुम अपना सकते हो। दूसरा मार्ग है एकाग्रताका; तुम अपनी चेतनाको हृदयमें एकाग्र करो (कोई-कोई सिरमें या सिरके ऊपर करते हैं) और हृदयमें श्रीमाँका ध्यान करो और वहां उनका आवाहन करो। इनमेंसे किसी एक मार्गका अथवा भिन्न-भिन्न समयोंपर दोनों मार्गोंका अनुसरण किया जा सकता है — जिस समय जो मार्ग स्वभावतः तुम्हारे सामने आ जाय अथवा जिसकी ओर तुम्हारी प्रवृत्ति हो जाय। पर, विशेषकर आरम्भमें, सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि अपने मनको अचंचल बनाया जाय, ध्यानके समय उन सभी विचारों

और वृत्तियोंका त्याग किया जाय जो साधनाके लिये विजातीय हों। अचंचल मनमें ही अनुभूतिके आनेके लिये क्रमशः तैयारी होती जायगी। परन्तु सब कुछ यदि एक साथ ही न हो तो तुम्हे अधीर नही होना चाहिये, मनके अन्दर पूर्ण अचंचलता स्थापित करनेमे समय लगता है, जबतक चेतना तैयार न हो जाय तबतक तुम्हें अपने प्रयासमें लगे रहना चाहिये।

*

इस योगमे सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि साधक भागवत प्रभावकी ओर अपने-आपको उन्मुक्त कर पाता है या नही। अगर अभीप्सा सच्ची हो, और सभी बाधाओंके रहते हुए भी उच्चतर चेतनामें उठ जानेका धीर-स्थिर संकल्प हो तो किसी-न-किसी रूपमें यह उन्मुक्ति (आत्मोद्घाटन) साधकमें अवश्य आती है। पर मन, हृदय और शरीरके तैयार होने या न होनेकी अवस्थाके अनुसार इसके आनेमें कम या अधिक समय लग सकता है; अतएव साधकमें यदि पर्याप्त धैर्य न हो तो आरम्भमे आनेवाली कठिनाइयोंके कारण वह अपना प्रयास छोड़ सकता है। इस योगमें इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नही है कि साधक अपनी चेतनाको एकाग्र करे, विशेषकर हृदयमे एकाग्र करे और श्रीमांकी उपस्थिति और शक्तिका आवाहन इसलिये करे कि वह उसकी सत्ताको अपने हाथमे ले ले और अपनी शक्तिकी क्रियाओंके द्वारा उसकी चेतनाको रूपांतरित करे। कोई चाहे तो अपने मस्तकमें या भृकुटिके बीच भी चेतनाको एकाग्र कर सकता है, परन्तु अधिकांश लोगोंके लिये इस तरह आत्मोद्घाटन करना अत्यन्त कठिन होता है।जब मन शान्त-स्थिर हो जाता है और एकाग्रता दृढ तथा अभीप्सा तीव्र हो जाती है तब अनुभूतिका होना आरम्भ हो जाता है। श्रद्धा-विश्वास जितना ही अधिक होता है उतनी ही शीघ्रतासे परिणाम भी प्राप्त होनेकी संभावना हो जाती है। शेष चीजोंके लिये साधकको केवल अपने ही प्रयासपर नहीं निर्भर करना चाहिये, बल्कि भगवान्के साथ एक संपर्क स्थापित करने तथा श्रीमांकी शक्ति और उपस्थितिको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करनेमें सफल होना चाहिये।

*

तुम्हारा मन और चैत्य पुरुष आध्यात्मिक लक्ष्यपर एकाग्र हैं और भगवान्की ओर खुले है — यही कारण है कि दिव्य प्रभाव केवल मस्तक और हृदयतक नीचे आता है। परन्तु प्राण-पुरुष और प्रकृति और भौतिक चेतना निम्नतर प्रकृतिके प्रभावके अधीन हैं। जबतक प्राण और शरीर समर्पित नही हो जाते या स्वयं अपने-आप उच्चतर जीवनकी मांग नही करते,इस संघर्षके चलते रहनेकी सम्भावना है।

प्रत्येक वस्तुको समर्पित कर दो, दूसरी सभी कामनाओं या हितोंका परित्याग कर दो, अपनी प्राण-प्रकृतिको खोलनेके लिये तथा अचंचलता, शान्ति, ज्योति और

आनन्दको सभी केंद्रोंमें नीचे उतार लानेके लिये भागवती शक्तिका आवाहन करो। अभीप्सा करो और श्रद्धा तथा धैर्यके साथ परिणामकी प्रतीक्षा करो। पूर्ण सच्चाई तथा सर्वांगपूर्ण आत्मनिवेदन और अभीप्सापर ही सब कुछ निर्भर करता है।

जबतक तुम्हारा कोई भी अंग जगत्के अधिकारमें रहेगा तबतक जगत् तुम्हें सतायेगा। केवल उसी समय तुम जगत्से मुक्त हो सकते हो जब कि तुम पूर्ण रूपसे भगवान्के हो जाओ।

*

उद्घाटन सबके लिये एक जैसा ही होता है। इसका प्रारम्भ मन और हृदयके उद्घाटनके साथ होता है, फिर मुख्य प्राणका उद्घाटन होता है — जब यह उद्घाटन निम्नतर प्राण और भौतिक स्तरतक पहुँचता है तो वह पूर्ण हो जाता है। परंतु उद्घाटनके साथ-साथ ऊपरसे आनेवाली वस्तुके प्रति पूर्ण आत्मदान भी अवश्य होना चाहिये; यही पूर्ण परिवर्तनकी शर्त है। सच पूछा जाय तो अन्तिम अवस्था ही वास्तवमें कठिन होती है और वहींपर सब लोग, जबतक विजयी नहीं हो जाते, ठोकरें खाते हैं।

*

सर्वदा भागवती शक्तिके साथ संपर्क बनाये रखो। तुम्हारे लिये बस इतना ही करना और भागवती शक्तिको अपना कार्य करने देना सबसे उत्तम बात है; जहां कहीं भी आवश्यक होगा वह निम्न शक्तियोंको अपने अधिकारमें ले लेगी और उन्हें शुद्ध कर देगी; अन्य समयोंमें वह उन सबको तुम्हारे अन्दरसे बाहर निकाल देगी और स्वयं तुम्हारे अन्दर भर जायगी। परन्तु तुम यदि अपने मनको ही पथप्रदर्शन करने दोगे, तर्क-वितर्क करने और निर्णय करने दोगे कि क्या करना चाहिये तो भागवत शक्तिके साथ अपना संपर्क खो दोगे और निम्नतर शक्तियां अपने तईं काम करना आरम्भ कर देंगी और सब कुछ अस्तव्यस्त हो जायगा तथा गलत क्रिया बन जायगा।

*

1. अपने-आपको अधिकाधिक उत्सर्ग करो — अपनी समस्त चेतनाको और जो कुछ उसमें घटित होता है उस सबको, अपने सभी कर्मों और क्रियाओंको।

2. यदि तुममें दोष और दुर्बलताएं हैं तो उन्हें परिवर्तित करने या विनष्ट कर देनेके लिये भगवान्के सम्मुख रखो।

3. मैंने जो कुछ तुमसे कहा था उसे करनेका प्रयास करो, हृदयमें एकाग्र होनेका अभ्यास करो जबतक कि वहां निरन्तर भगवान्की उपस्थितिका अनुभव न

करने लगो।

*

उद्‌घाटन और, जब कभी आवश्यक हो, निष्क्रियता होनी चाहिये, पर उच्चतम चेतनाके प्रति होनी चाहिये, जो कुछ भी आवे उसके प्रति नही।

अतएव निष्क्रियताकी स्थितिमे भी एक प्रकारकी शान्त सजगता बनी रहनी चाहिये। अन्यथा या तो अनुचित क्रियाएं होने लगेंगी या तामसिकता आ घेरेगी।

*

सयमके त्याग करनेका अर्थ होगा प्राणको खुले रूपमें क्रीड़ा करने देना और उसका तात्पर्य होगा सब प्रकारकी शक्तियोंको अन्दर प्रवेश करनेका अवसर प्रदान करना। जबतक अधिमानससे लेकर एकदम नीचेतक समस्त सत्तामें, प्रत्येक वस्तु-पर अतिमानसिक चेतनाका अधिकार नही हो जाता और वह सबके अन्दर प्रविष्ट नही हो जाती तबतक शक्तियोंकी एक अस्पष्ट क्रीड़ा चलती रहती है, और प्रत्येक शक्ति, अपने मूलमें वह चाहे जितना भी दिव्य, हो, ज्योतिकी शक्तियोंके द्वारा व्यवहृत हो सकती है अथवा, जब वह मन और प्राणके भीतरसे गुजरती है तब, अन्धकार-की शक्तियोंके द्वारा अवरुद्ध हो सकती है। सजगता, विवेक और संयमका तबतक परित्याग नही किया जा सकता जबतक कि पूर्ण विजय नहीं प्राप्त हो जाती और चेतना रूपांतरित नहीं हो जाती।

*

हां, सजगतामें ढिलाई नही होनी चाहिये। यथार्थमें, जब सत्तामें स्वत.चालित ज्ञान और कर्म स्थापित हो जाते हैं केवल तभी सतत सजगताकी आवश्यकता समाप्त होती है — पर उस स्थितिमें भी उसका संपूर्ण रूपसे त्याग नहीं किया जा सकता जबतक कि पूर्ण ज्योति नही आ जाती।

*

साधकके लिये तीन प्रधान संभावनाएं है — (1) भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करना और भगवान्‌पर निर्भर करना। (2) अद्वैतवादियों और बौद्ध लोगोंकी तरह सब कुछ अपने-आप करना। (3) मध्यमार्गका अनुसरण करना, दिव्य शक्तिकी सहायता प्राप्त कर अभीप्सा और परित्याग आदि क्रियाओंके द्वारा आगे बढ़ते रहना।

*

प्रत्येक मन चरम दिव्य सत्यको पानेका अपना निजी पथ ग्रहण कर सकता है और वहां प्रत्येकके लिये एक प्रवेश-द्वार है तथा वहांतक जानेकी यात्राके लिये हजार मार्ग है। भगवत्कृपामें विश्वास करनेकी अथवा अपने उच्चतम आत्मासे भिन्न किसी परम देवको स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं—ऐसे योगमार्ग भी हैं जो इन चीजोंको नहीं स्वीकार करते। फिर, बहुतोंके लिये किसी योगशैलीकी आवश्यकता नहीं होती — वे मन या हृदय या संकल्पके एक प्रकारके दबावके द्वारा मन या हृदय आदि तथा जो कुछ ठीक उसके परे है और उसका मूल स्रोत है उसके बीचके पर्देको फाड़कर किसी सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं। पर्देके फटनेके बाद क्या घटित होता है यह साधक्-की चेतनापर होनेवाली दिव्य सत्यकी क्रीड़ापर तथा साधककी प्रकृतिके झुकावपर निर्भर करता है। इसलिये ऐसा माननेका कोई कारण नहीं कि 'अ' को अपने स्व-रूपका साक्षात्कार उनके भीतरसे होनेवाले विकासके द्वारा अपने निजी तरीकेसे नहीं हुआ होगा, अगर उनका मन इस वर्णनपर आपत्ति करता है तो कह सकते हैं कि वह भागवत कृपासे नहीं हुआ होगा, पर, इतना कहा जा सकता है कि, उनके अन्तरस्थ आत्माकी सहज-स्वाभाविक क्रियाके द्वारा हुआ होगा।

कारण, इस "कृपाशक्ति" का जहांतक प्रश्न है, हम इसका वर्णन इसी ढंगसे करते हैं, क्योंकि हम अनन्त आत्मा या स्वयंभू सत्ताके अन्दर एक ऐसी उपस्थिति या एक सत्ता, एक चेतनाका अनुभव करते हैं जो निर्णय करती है,—यही वह सत्ता है जिसकी चर्चा हम भगवान् कहकर करते हैं,—यह कोई पृथक् पुरुष नहीं है, बल्कि वह एकमेव पुरुष है जिसका हमारा व्यक्तिगत आत्मा एक अंश या एक पात्र है। पर सबके लिये इसी रूपमें इसे मानना आवश्यक नहीं है। मान लें कि यह केवल सबका निर्व्यक्तिक आत्मा है, फिर भी इस आत्मा और इसके साक्षात्कारके विषयमें उपनिषद् कहती है: "यह ज्ञान तर्क-बुद्धिद्वारा या तपस्याद्वारा या अत्यधिक विद्वत्ताद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, बल्कि जिन लोगोंको यह आत्मा चुनता है, उन लोगोंके सामने वह अपने शरीरको प्रकट करता है।" हां, यह वही चीज है जिसे हम भागवत कृपाके नामसे पुकारते हैं,—यह ऊपरसे या अन्दरसे होनेवाली एक क्रिया है जो मानसिक कारणोंसे स्वतन्त्र है और जो स्वयं अपनी गतिका निर्णय करती है। हम इसे भागवत कृपा कह सकते हैं; हम इसे अन्तरस्थ आत्मा कह सकते हैं जो उपरितलपर मनोमय यंत्रके सम्मुख अभिव्यक्त होनेके लिये अपने समय और पद्धतिका चुनाव करता है; हम इसे आन्तर पुरुष या आन्तर प्रकृतिका आत्मसाक्षात्कार और आत्मज्ञानमें प्रस्फु-टन कह सकते हैं। जिस प्रकार हमारे अन्दरकी कोई चीज इसकी ओर जाती है या यह स्वयं हमारे सामने प्रकट होता है उसी रूपमें मन इसे देखता है। परन्तु वास्तवमें यह वही एक वस्तु तथा प्रकृतिके अन्दर विद्यमान पुरुषकी वही एक पद्धति होता है।

*

मैं भागवत कृपाके विषयमें कुछ कहना चाहूँगा — क्योंकि तुम ऐसा समझते

प्रतीत होते हो कि उसे भागवत बुद्धिकी जैसी कोई चीज होनी चाहिये जो ऐसी पद्धतियोसे कार्य करती है जो मानव-बुद्धिकी पद्धतियोंसे बहुत भिन्न नहीं होतीं। परन्तु बात ऐसी नही है। फिर यह वैश्व भागवत करुणा भी नहीं है जो उन सबपर निष्पक्ष-भावसे कार्य करती है जो उसके पास आते हैं और सब प्रकारकी प्रार्थनाओंको स्वीकार करती है। यह न तो पुण्यात्माओंका वरण करती है और न पापियोंका परित्याग करती है। भागवत कृपा अत्याचारी तारससके सोल (Saul of Tarsus) को सहायता करने आयी, दुश्चरित्र सत ऑगस्टीनके पास आयी, लोगनिन्दित जगाई-मधाईके पास, बिल्वमगलके पास आयी और ऐसे बहुतसे लोगोंके पास आयी जिनके परिवर्तनने मानवीय नैतिक बुद्धिकी शुचितावादको अच्छी तरह आघात पहुँचाया होगा; परन्तु वह पुण्यात्माओंके पास भी आयी — उसने उनको उनके धर्माभिमानसे मुक्त किया और वह उन्हें इन चीजोंसे परे एक शुद्धतर चेतनामें ले गयी। यह एक ऐसी शक्ति है जो किसी भी विधानसे, यहांतक कि वैश्व विधानसे भी श्रेष्ठ है — सभी आध्यात्मिक द्रष्टाओंने 'विधान' और 'कृपा' के बीच विभेद किया है। फिर भी यह विवेकशून्य नही है — केवल इसका अपना निजी विवेक है जो वस्तुओं, व्यक्तियों और समुचित समयों तथा अनुकूल अवसरोंको मनकी दृष्टि या किसी दूसरी सामान्य शक्तिकी दृष्टि-से भिन्न दृष्टिसे देखता है। व्यक्तिके अन्दर कृपाके आनेकी अवस्थाकी तैयारी बहुधा घने पर्देके पीछे ऐसे उपायोसे होती है जिन्हें मनद्वारा नहीं समझा जा सकता और जब कृपाके आनेकी अवस्था आती है तो फिर कृपा अपने-आप कार्य करती है। ये तीन प्रकारकी शक्तियां हैं: (1) वैश्व विधान, कर्मका विधान या और कुछ; (2) भागवत करुणा जो विधानके जालके भीतरसे जितने लोगोतक पहुँच पाती है उतने लोगोंपर कार्य करती है और उन्हे उनका सुअवसर प्रदान करती है; (3) भागवत कृपा जो अधिक हिसाब किये विना कार्य करती है पर साथ ही दूसरोंकी अपेक्षा अधिक अदम्य रूपसे कार्य करती है। बस, प्रश्न यह है कि क्या जीवनकी समस्त असंगतियोंके पीछे कोई ऐसी चीज है जो पुकारका प्रत्युत्तर दे सके और चाहे जितनी कठिनाईके साथ क्यों न हो, अपनेको तबतक खोले रख सके जबतक कि वह भागवत कृपाकी ज्योतिके लिये तैयार न हो जाय — और वह 'कोई चीज' कोई मानसिक और प्राणिक क्रिया नही होनी चाहिये बल्कि कोई आंतरिक 'कोई चीज' होनी चाहिये जो आंतरिक आंख-के द्वारा अच्छी तरह देखी जा सके। यदि वह चीज है और जब वह सम्मुख भागमें क्रियाशील होती है, तो 'करुणा' कार्य कर सकती है, यद्यपि 'कृपा' की पूर्ण क्रिया तब भी प्रतीक्षा कर सकती और सुनिश्चित निर्णय या परिवर्तनका अनुगमन कर सकती है; क्योंकि यह किसी भावी कालके लिये स्थगित हो सकती है, क्योंकि सत्ताका कोई अंश या तत्त्व अभी भी आडे आता हो, कोई ऐसी चीज हो जो अभी ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत न हो।

परन्तु 'किसी भी चीजको', किसी भी विचार, किसी भी घटनाको अपने और भगवान्के बीच बाधक क्यों बनने दिया जाय? जब तुम्हारे अन्दर पूरी अभीप्सा और प्रसन्नता है तो फिर भगवान् और अपनी अभीप्साके सिवा किसी चीजका विचार

नही होना चाहिये, किसी चीजको महत्त्व नही देना चाहिये। यदि कोई भगवान्‌को शीघ्रतासे, अखण्ड रूपमें, संपूर्ण रूपमें पाना चाहता हो तो उसका मनोभाव यही होना चाहिये, वही चरम, संपूर्ण-तल्लीनकारी विषय होना चाहिये, उसे ही ऐसा एकमात्र विषय बना देना चाहिये जिसमें दूसरी किसी चीजको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

भला भगवान्‌सम्बन्धी मानसिक विचारोंका, उन्हें क्या होना चाहिये, उन्हें कैसे कार्य करना चाहिये, उन्हें कैसे कार्य नही करना चाहिये आदि सम्बन्धित विचारोंका क्या मूल्य है—वे केवल रास्तेकी बाधाएं ही हो सकते हैं। एकमात्र भगवान्‌का ही महत्त्व है। जब तुम्हारी चेतना भगवान्‌का आलिंगन करेगी तब तुम जान सकते हो कि भगवान् क्या हैं, उससे पहले नही। कृष्ण कृष्ण हैं, हम इस बातकी परवाह नहीं करते कि उन्होंने क्या किया या नही किया; एकमात्र उन्हें देखना, उनसे मिलना, उनकी ज्योतिका, उपस्थितिका, प्रेमका और आनन्दका अनुभव करना ही महत्त्वपूर्ण बात है। ऐसा ही बराबर आध्यात्मिक अभीप्साके प्रसंगमे होता है — यही आध्यात्मिक जीवनका मूल सिद्धांत है।

*

"भगवान्‌का सामान्य कार्य है वस्तुओंके यथार्थ विधानके अन्दर निरन्तर हस्तक्षेप करते रहना"—यह हो सकता या नहीं भी हो सकता पर हम सामान्यतया इसे भागवत कृपा नहीं कहते। भागवत कृपा कोई ऐसी चीज है जिसे मनसे नहीं समझा जा सकता, किसी ऐसी चीजसे बद्ध नहीं है जिसे बुद्धि शर्तके रूपमें स्थापित कर सके,—यद्यपि साधारणतया चैत्य पुरुषकी कोई पुकार, अभीप्सा, तीव्रता उसे जगा सकती है, फिर भी कभी-कभी उस पुकारके विना भी किसी वाह्य कारणसे वह कार्य करती है।

*

यह आवश्यक नही कि कृपा ऐसे ढंगसे कार्य करे जिसे मानव-मन समझ सके, वह साधारण तौरपर वैसा नहीं करती। वह अपने निजी "रहस्यपूर्ण" ढंगसे कार्य करती है। सर्वप्रथम सामान्यतया वह पर्देके पीछेसे कार्य करती है, वस्तुओंको तैयार करती है, पर अपनेको प्रकट नही करती। फिर पीछे वह प्रकट हो सकती है, पर साधक यह अच्छी तरह नहीं समझता कि क्या हो रहा है; अन्तमें, जब वह समझने योग्य हो जाता है, वह अनुभव भी करता है और समझता भी है अथवा कम-से-कम वैसा करना आरम्भ करता है। कुछ लोग एकदम आरम्भसे ही या बहुत शीघ्र अनुभव करने और समझने लगते हैं; परन्तु यह सामान्य स्थिति नहीं है।

*

मै सामर्थ्य और कृपाके विषयमें जो कुछ कहता हूँ उसमें नहीं समझने लायक कुछ नही है। आध्यात्मिक अनुभूतिके लिये सामर्थ्यका भी एक मूल्य है, पर यह कहना कि केवल सामर्थ्यसे ही, अन्य किसी उपायसे नही, यह सिद्ध हो सकता है — यह घोर अतिरजन है। कृपा कोई मनगढत कथा नही है, यह आध्यात्मिक अनुभवका एक तथ्य है। वहुतसे लोगोंने, जिन्हे विज्ञ और शक्तिशाली लोग महज 'नाचीज' समझेंगे, कृपाद्वारा सिद्धि पायी है; निरक्षर, मानसिक शक्ति या शिक्षणसे रहित, चरित्र या सकल्पकी "शक्ति" से शून्य वे थे, फिर भी उन्होंने अभीप्सा की और अचानक अथवा शीघ्रतासे आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर ली, क्योंकि उनमें श्रद्धा थी अथवा क्योंकि वे सच्चे थे। मैं नही समझता कि जो तथ्य आध्यात्मिक इतिहासके यथार्थ तथ्य हैं और विलकुल साधारण आध्यात्मिक अनुभवके तथ्य हैं उनके विषयमें वाद-विवाद क्यों किया जाय और उन्हे अस्वीकार क्यों किया जाय और इस प्रकार उनके विषयमें वहस क्यों की जाय मानो वे महज कल्पनाकी वस्तुएं हों?

सामर्थ्य, यदि वह आध्यात्मिक हो तो, आध्यात्मिक सिद्धि ले आनेवाली एक शक्ति है; उससे भी महत्तर शक्ति है सच्चाई; सवसे महत्तम शक्ति है कृपा। मैंने अनगिनत वार कहा है कि यदि मनुष्य सच्चा हो, वहुत विलंव होने और अत्यधिक कठिनाइयां होनेपर भी, वह अन्ततक पहुँच जायगा। मैंने वार-वार भागवत कृपाकी वात कही हैं। मैंने कितनी ही वार गीताकी इस पंक्तिका हवाला दिया हैं — "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिस्यामि मा शुचः—मैं तुम्हे समस्त पाप और वुराईसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।"

*

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई स्पष्ट उत्तर नही दिया जा सकता, क्योंकि, इसके दो पक्ष है और उनमेंसे दोनों सत्य हैं। भगवत्कृपाके विना कुछ भी नहीं किया जा सकता, परन्तु पूर्ण भगवत्कृपाके प्रकट होनेके लिये साधकको स्वयं तैयारी करनी होगी। यदि सब कुछ भगवान्के हस्तक्षेपपर निर्भर है तो फिर मनुष्य केवल एक कठ-पुतली है और साधनाका कोई उपयोग नही, और फिर न तो कोई शर्त्त है न कोई वस्तु-ओंका विधान—अतएव कोई विश्व नही है, वस हैं केवल भगवान् जो अपनी मर्जीके मुताबिक चीजोंको लुढ़काते रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अन्तिम रूपसे यह कहा जा सकता है कि सब कुछ भागवत वैश्व कार्य है, पर यह होता है व्यक्तियोंके द्वारा, शक्तियोंके द्वारा — प्रकृति माताकी शर्त्तोंके अधीन। विशेप हस्तक्षेप हो सकता है और होता भी है, पर सव कुछ विशेष हस्तक्षेप ही नहीं हो सकता। जिस अनुभवका तुमने वर्णन किया है वह सम्भवतः प्राण-लोकका है और इतने अचानक रूपमें और सुस्पष्ट रूपमें अनुभवोंका होना प्राण-जगत्की ही विशेषता है — परन्तु वे स्थायी नही होते, वें केवल तैयार करते हैं। जव मनुष्य मन और प्राण और शरीरके परे जो कुछ है उसके साथ संपर्क स्थापित कर लेता है और वहां ऊपर उठ जाता है तभी सामान्य-

तथा महान् स्थायी मौलिक अनुभूतियां आती हैं।

*

योग एक प्रकारका प्रयास, एक तपस्या है — यह केवल तभी प्रयास या तपस्या नहीं होता जब मनुष्य सच्चे रूपमें किसी उच्चतर कियाके प्रति समर्पण कर देता है और समर्पण-भावको बनाये रखता और उसे पूर्ण बनाता है। यह सब प्रकारके विवेक-विचार और संगतिसे शून्य कोई कल्पना-संगीत नही है अथवा महज कोई चमत्कार नहीं है। इसके अपने नियम-कानून और शर्त्तें हैं और मैं नही समझता कि तुम भगवान्से यह मांग कैसे कर सकते हो कि वह प्रत्येक चीज किसी तीव्र चमत्कारके द्वारा पूरा कर दें।

मैंने कभी नहीं कहा है कि यह योग एक सुरक्षित योग है — कोई योग ऐसा नहीं है। प्रत्येक योगके अपने-अपने खतरे हैं जैसे कि मानव-जीवनके प्रत्येक महान् प्रयासमें होते हैं। परन्तु उन्हें पार किया जा सकता है यदि मनुष्यमें केंद्रीय सच्चाई हो और भगवान्के प्रति सत्यनिष्ठा हो। ये दो आवश्यक शर्त्तें हैं।

*

तपस्याके बारेमें ब्रह्मानन्द जो कुछ कहते हैं वह, निस्सन्देह, सत्य है। यदि कोई श्रम और तपस्या करनेको, मन और प्राणको संयमित करनेको प्रस्तुत न हो तो वह बड़े आध्यात्मिक उपलब्धियोंकी मांग नहीं कर सकता — क्योंकि मन और प्राण सर्वदा ही अपने निजी राज्यको अधिक दिन बनाये रखनेके लिये, अपनी रुचियों और अरुचियोंको लादनेके लिये तथा उस दिनको टालनेके लिये कौशल और बहाने ढूंढ़ निकालेंगे जब कि उन्हें अन्तरात्मा और आत्माका अनुगत यंत्र और खुली प्रणाली बनना होगा। कभी-कभी भगवत्कृपा ऐसे परिणाम उत्पन्न कर सकती है जिसके हम अधिकारी न हों अथवा ऊपरसे देखनेमें अधिकारी न हों, पर हम अपने स्वत्व और विशेषाधिकारके रूपमें कृपाकी मांग नही कर सकते — क्योंकि, तब तो वह कृपा ही नही होगी। जैसा कि तुमने देखा है, कोई यह मांग नहीं कर सकता कि उसे तो बस पुकारना है और उत्तर अवश्य आना चाहिये। इसके अलावा, मैंने बराबर ही देखा है कि भगवत्कृपाके हस्तक्षेप करनेसे पहले वास्तवमें एक लम्बी अदृश्य तैयारी होती रहती है, और फिर, उसके हस्तक्षेप करनेके बाद भी, मनुष्यको जो कुछ प्राप्त हुआ है उसे बनाये रखने और विकसित करनेके लिये पर्याप्त मात्रामें कार्य करनेकी आवश्यकता होती है — जैसे कि अन्य सभी विषयोंमें मनुष्यको तबतक करना पड़ता है जबतक पूर्ण सिद्धि नहीं आ जाती। उसके बाद, निस्सन्देह, परिश्रम समाप्त हो जाता है और मनुष्य एक सुनिश्चित स्थितिमें आ जाता है। अतएव किसी-न-किसी तपस्यासे बचा नही जा सकता।

काल्पनिक बाधाओंके विषयमें भी तुम्हारा कथन सही है......। यही कारण है कि हम सर्वदा ही मानसिक निर्माणों और प्राणिक रचनाओंको कोई मूल्य नहीं देते —क्योंकि वे मोर्चाबन्दियां है जिन्हे मन और प्राण भगवान्‌द्वारा अधिकृत होनेसे बचनेके लिये तैयार करते है। परन्तु सबसे पहली चीज है इन सब चीजोंके विषयमें सचेतन होना जैसे कि अब तुम हो गये हो,— गूढ़ रहस्य है इन सबको मार गिरानेके लिये, और कोरी स्लेट बनाने, सच्चे निर्माणके लिये स्थिरता, शान्ति और सहर्ष उद्घाटनका आधार बनानेके लिये दृढ बने रहना।

*

सर्वोत्तम सभव उपाय है भागवत कृपाको अपने अन्दर कार्य करने देना, कभी उसका विरोध न करना, कभी उसके प्रति अकृतज्ञ न होना और उसके विरुद्ध न हो जाना — बल्कि दिव्य ज्योति, शान्ति, एकत्व और आनन्दके लक्ष्यतक सर्वदा उसका अनुसरण करते रहना।

*

थोड़े लोग ही ऐसे होते है जिनसे कृपाशक्ति विमुख होती है, पर अनेक होते हैं ऐसे लोग जो कृपाशक्तिसे विमुख हो जाते है।

*

किसी भी पद्धतिसे समर्पण करना अच्छा है, पर स्पष्ट ही निर्व्यक्तिक भगवान् पर्याप्त नही है, क्योंकि उनके प्रति किया हुआ समर्पण अपने परिणाममें बाह्य प्रकृतिका कोई रूपांतर किये बिना आंतरिक अनुभवतक ही सीमित हो सकता है।

*

हां, निर्व्यक्तिक (अरूप) भगवान्‌के प्रति किया हुआ समर्पण सत्ताके अंगोंको त्रिगुणों और अहंभावके अधीन छोड़ देगा – क्योंकि निराकारत्वके अन्दर निष्क्रिय अंग मुक्त हो जायंगे पर सक्रिय प्रकृति फिर भी त्रिगुणोंकी क्रीड़ाके अंदर बनी रहेगी। बहुतसे लोग ऐसा समझते है कि वे अहंसे मुक्त हो गये है क्योंकि वे आकाररहित सत्ताका बोध प्राप्त करते हैं। वे यह नही देखते कि ठीक पहलेकी तरह ही उनके कर्ममें अहंकारमय तत्त्व ज्योंके त्यों बने रहते हैं।

*

तुम निर्व्यक्तिककी बात इस तरह कर रहे हो मानो वह कोई व्यक्ति (पुरुष) हो। निर्व्यक्तिक 'सः' (वह) नहीं है, वह तो 'तत्' है। वह 'तत्' भला कैसे मार्ग दिखा सकता या सहायता कर सकता है? निर्व्यक्तिक ब्रह्म निष्क्रिय, पृथक्, उदासीन है, विश्वमें जो कुछ घटित होता है उसके साथ उसका कोई सरोकार नहीं होता। बुद्ध-का शाश्वत भी वही चीज है। उसमे जो कुछ भी निर्व्यक्तिक सत्य या ज्योति है, उसे तुम्हें पाना होगा, उसका उपयोग करना होगा, उसे लेकर तुम जो कुछ कर सको उसे तुम्हें करना होगा। वह स्वयं तुम्हारा पीछा करनेका कष्ट नहीं उठाता। यह बौद्ध लोगोंकी भावना है कि अपने लिये प्रत्येक चीज तुम्हे स्वय करनी होगी।

*

गुरुके प्रति समर्पणको सब समर्पणोसे श्रेष्ठ समर्पण कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा तुम केवल निराकारको ही नहीं बल्कि साकारको, केवल अपने अन्दर विद्यमान भगवान्को ही नहीं, बल्कि अपने बाहर विद्यमान भगवान्को समर्पण करते हो; उससे तुम्हें अपने आत्मामें पीछे हटकर ही नहीं जहां कि अहभाव है ही नहीं, बल्कि अपनी व्यक्तिगत प्रकृतिमें भी जहां कि वह शासन करता है, अहको अतिक्रम करनेका सुयोग प्राप्त होता है। वह समग्र भगवान्के प्रति — 'समग्रं माम्......मानुषी तनुं आश्रितम्' –के प्रति पूर्ण समर्पण करनेके संकल्पका चिह्न है। निस्सन्देह, इन सब बातोंके सत्य होनेके लिये उसे यथार्थ आध्यात्मिक समर्पण होना चाहिये।

*

गुरुको सब भावों — परात्पर, निर्व्यक्तिक, सव्यक्तिक – में स्वीकार करना चाहिये।

*

गुरु योगका पथप्रदर्शक होता है। जब भगवान्को पथप्रदर्शकके रूपमें स्वीकार किया जाता है तब उन्हें गुरुके रूपमे स्वीकार किया जाता है।

*

गुरु-शिष्यका सम्बन्ध उन अनेक सम्बन्धोंमेंसे केवल एक सम्बन्ध है जिन्हें मनुष्य भगवान्के साथ स्थापित कर सकता है, और इस योगमें, जिसका लक्ष्य अतिमानसिक सिद्धि है, इसे यह नाम देनेका प्रचलन नहीं है; बल्कि यहां तो भगवान्को दिव्य ज्योति, ज्ञान, चैतन्य तथा आध्यात्मिक सिद्धिका मूलस्रोत, जीवंत सूर्य माना जाता है, और

जो कुछ मनुष्य प्राप्त करता है वह सब वहींसे आता हुआ तथा सारी सत्ता भागवत हाथोंद्वारा पुनर्गठित होती हुई अनुभूत होती है। यह मानव गुरु-शिष्यके सम्बन्धसे, जो कि अधिकांशमें एक सीमित मानसिक आदर्श है, कहीं अधिक महान् और अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। फिर भी, यदि मनको अभी भी अधिक परिचित मानसिक भावनाकी आवश्यकता हो तो इसे तबतक रखा जा सकता है जबतक इसकी आवश्यकता है; केवल अपने अन्तरात्माको इससे बँध मत जाने दो और इसे भगवान्‌के साथके अन्य सम्बन्धों तथा अनुभवके विशालतर रूपोंके अंत:प्रवाहको सीमित मत करने दो।

*

अतिमानसिक योगमें गुरु शब्दका प्रयोग करनेकी प्रथा नहीं है, यहां सब कुछ स्वयं भगवान्‌से आता है। परन्तु कोई व्यक्ति इसे चाहता है तो वह फिलहाल इसका प्रयोग कर सकता है।

*

नहीं, भगवान्‌के प्रति समर्पण और गुरुके प्रति समर्पण एक ही चीज नहीं है। गुरुको समर्पण करनेपर मनुष्य गुरुके अन्दर विद्यमान भगवान्‌को समर्पण करता है — यदि वह केवल एक मानव-सत्ता ही हो तो वह समर्पण निष्फल होता है। परन्तु भागवत उपस्थितिकी जो चेतना होती है वही गुरुको सच्चा गुरु बनाती है, इसलिये यदि शिष्य उनके प्रति यह समझकर भी समर्पण करे कि वह जिसे समर्पण कर रहा है वह एक मनुष्य है तो वह उपस्थिति उस समर्पणको फलदायी बना देगी।

*

सभी सच्चे गुरु एक ही चीज है, एकमेव गुरु हैं, क्योंकि सभी एकमेव भगवान् हैं। यह एक मौलिक और व्यापक सत्य है। परन्तु एक विभेदका सत्य भी है, भगवान् विभिन्न व्यक्तित्वोंमें विभिन्न मनों, शिक्षाओं, प्रभावोंके साथ निवास करते हैं जिसमें कि वह विभिन्न शिष्योंको उनकी विशेष आवश्यकता, स्वभाव, भवितव्यताके साथ विभिन्न पथोंसे सिद्धिकी ओर ले जाय। क्योंकि सभी गुरु एक ही भगवान् हैं इसलिये इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि यदि शिष्य अपने लिये मनोनीत गुरुको छोड़कर दूसरेका अनुसरण करता है तो वह अच्छा करता है। भारतीय परंपराके अनुसार प्रत्येक शिष्यसे गुरुके प्रति अटूट निष्ठाकी मांग की जाती है। "सभी एक हैं" यह एक आध्यात्मिक सत्य है, पर तुम इसे अन्धाधुंध कर्ममें परिवर्तित नहीं कर सकते; तुम सभी व्यक्तियोंके साथ एक ही ढंगसे बर्ताव नहीं कर सकते क्योंकि वे एक ही ब्रह्म हैं; यदि कोई ऐसा करे तो उसका परिणाम व्यावहारिक रूपमें भयानक अव्यवस्था होगी।

यह एक कठोर मानसिक तर्क है जो कठिनाई उत्पन्न करता है पर आध्यात्मिक विषयों-में मानसिक तर्क सहज ही भूल कर बैठता है; अंतर्ज्ञान, श्रद्धा-विश्वास, नमनीय आध्यात्मिक बुद्धि ही यहां एकमात्र पथप्रदर्शक होते है।

श्रद्धाका जहांतक प्रश्न है, आध्यात्मिक अर्थमें श्रद्धा कोई मानसिक विश्वास नही है जो हिलडुल सकता और बदल सकता है। यह मनमें वह रूप ले सकती है, पर वह विश्वास स्वयं श्रद्धा नही है, वह तो उसका केवल बाहरी रूप है। ठीक जिस तरह शरीर, बाहरी आकृति तो बदल सकती है पर आत्मा ठीक वही बना रहता है, वैसी ही बात यहां भी है। श्रद्धा अन्तरात्मामें विद्यमान एक निश्चयता है जो तर्क-बुद्धिपर, किसी एक या दूसरी मानसिक भावनापर, परिस्थितियोंपर, मन या प्राण या शरीरकी किसी एक या दूसरी क्षणिक अवस्थापर निर्भर नहीं करती। यह आच्छादित, अन्धकारग्रस्त हो सकती है, यह निर्वापित भी प्रतीत हो सकती है, पर यह तूफान या ग्रहण-के बाद फिर दुबारा प्रकट होती है; जब मनुष्य यह सोच लेता है कि वह सदाके लिये बुझ चुकी है तब भी वह अन्तरात्मामें जलती हुई दिखायी देती है। मन शंका-सन्देहों-का एक चंचल सागर हो सकता है और फिर भी वह श्रद्धा भीतर विद्यमान रह सकती है और, यदि ऐसा हो तो, वह सन्देह-ग्रस्त मनको भी रास्तेपर बनाये रखेगी, जिससे कि वह अपने बावजूद भी अपने पूर्वनिर्दिष्ट लक्ष्यकी ओर बढ़ता जाता है। श्रद्धा आध्यात्मिक, दिव्य, आन्तरात्मिक आदर्शके विषयमें एक प्रकारकी निश्चयता है, एक ऐसी चीज है जो उस समय भी उससे चिपकी रहती है जब कि वह आदर्श जीवनमें चरितार्थ नही होता, जब कि निकटतम तथ्य या चिरस्थायी परिस्थितियां उसका खंडन करती हुई प्रतीत होती हैं। यह मानव-जीवनका एक सामान्य अनुभव है; यदि यह बात ऐसी न होती तो मनुष्य परिवर्तनशील मनका एक खिलौना या परिस्थितियोंका एक खेल होता।

*

मुझे ऐसा नही लगता कि 'अ' के पत्र प्रचलित विचारों और साधारण प्रवृत्तिके एक संक्षिप्त रेखांकनके रूपमें प्रशंसनीय हैं; बल्कि मुझे जो बात इसमें प्रशंसनीय प्रतीत हुई वह यह थी कि उस (लेखक) में इन विचारों और प्रवृत्तियोंसे इतने पूर्ण रूपमें पीछे हट आनेकी और ज्ञानके (उसके लिये) एक नये और स्थायी स्रोतसे देखनेकी उसमें एक शक्ति है। यदि वह इन प्रचलित मानव गतिविधियोंमें ही दिलचस्पी रखता होता और उन्हींके संपर्कमें रहा होता तो मैं नहीं समझता कि उसने उन विषयोंमें रोमां रोलां या अन्य लोगोंसे कुछ अधिक अच्छा किया होता। परन्तु उसे उन विषयोंकी योग-दृष्टि, शीर्ष-दृष्टि प्राप्त है और उसने जिस सुगमताके साथ यह करनेमें समर्थ हुआ है उसने मुझे आकर्षित किया है।

उसने जो इतनी दूरतक प्रगति की है उसकी व्याख्या मैं इस प्रकार करूंगा कि उसने संपूर्ण रूपमें योगके सामान्य अधिकारके अर्थमें अपनी निजी योग्यताके द्वारा

इतनी प्रगति नही की है वल्कि जिस तीव्रता और पूर्णताके साथ उसने अपने अन्दर भक्त और शिष्यका मनोभाव ग्रहण किया है उसके द्वारा की है। यह आधुनिक मनके लिये, चाहे वह यूरोपियन हो अथवा 'शिक्षित" भारतीय, एक विरल उपलब्धि है। क्योकि आधुनिक मन, जव वह अन्य प्रकारका होना चाहता है तव भी, विश्लेपणकारी, सन्देहयुक्त और नैसर्गिक रूपसे "स्वतत्र" होता है; यह अपने पास आनेवाली दिव्य ज्योति और दिव्य प्रभावसे पीछे हट जाता है और उसके सम्मुख हिचकिचाता है; वह उनके अन्दर सहज सरलताके साथ यह चिल्लाता हुआ कूद नहीं जाता कि "यहा मै हूँ, मै जो कुछ था या प्रतीत होता था वह सव भाड फेंकनेके लिये तैयार हूँ, यदि इस प्रकार मैं 'तेरे' अन्दर प्रवेश कर सकूं, तू अपने ढगसे, भगवान्के ढंगसे मेरी चेतनाका दिव्य सत्यके अन्दर पुनर्गठन कर।" हमारे अन्दर कोई ऐसी चीज है जो इसके लिये तैयार है, परन्तु वहा यह तत्त्व है जो हस्तक्षेप करता है और अग्रहणशीलताका पर्दा तैयार करता है; मै स्वय अपने सम्बन्धमे और दूसरोंके सम्वन्धमें अपने निजी अनुभव-से यह जानता हूँ कि कितने लबे कालतक यह एक पथ वना सकता है जो, संभवत: हम लोगोके लिये जो सपूर्ण सत्यकी खोज करते है, कभी भी छोटा और आसान नहीं हो सकता, पर फिर भी, हम वहुत वार इधर-उधर भटकनेसे, रुक जानेसे, पीछे हटनेसे तथा विपथ-गामी होनेसे वच जा सकते हैं। मै तो सवसे अधिक इस वातकी प्रशंसा करता हूँ कि 'अ' ने इतनी आसानीसे इस दुर्जेय वाधाको जीत लिया है।

मै नही समझता कि उसके गुरु किसी दृष्टिसे न्यून पड़ते हैं, पर जिस मनोभावको उसने ग्रहण किया है, गुरुकी दुर्वलताओंसे, यदि कोई हों, कुछ आता-जाता नहीं। सच पूछा जाय तो गुरुकी मानवीय त्रुटियां रास्तेमे वाधक नहीं हो सकतीं यदि साधकमें चैत्य उद्घाटन, विश्वास-भरोसा और आत्मसमर्पणभाव हो। गुरु अपने व्यक्तित्व या अपनी सिद्धिकी मात्राके अनुरूप भगवान्की प्रणाली या प्रतिनिधि या अभिव्यक्ति होता है; पर वह चाहे जो कुछ हो, साधक जव उसकी ओर खुलता है तो वह भगवान्-की ओर ही खुलता है, और यदि कोई चीज प्रणालीकी शक्तिके द्वारा निर्दिष्ट होती है तो कही अधिक वह ग्रहणशील चेतनाके अतर्निहित और सहज-स्वाभाविक मनो-भावके द्वारा निर्दिष्ट होती है — वह चीज एक ऐसा तत्त्व होती है जो उपरितलीय मनमें सरल विश्वास या प्रत्यक्ष शर्तरहित आत्मदानके रूपमें प्रकट होता है, और एक बार जव यह तत्त्व वहां आ जाता है तो मौलिक वस्तुएं उस व्यक्तिसे भी प्राप्त की जा सकती हैं जो शिष्यसे भिन्न दूसरे लोगोंको एक निम्न कोटिका आध्यात्मिक स्रोत प्रतीत होता है, और वाकी चीजें, यदि गुरुका मानव-रूप उन्हें न भी दे सके तो, अपने-आप भगवान्की कृपासे साधकके अन्दर विकसित होंगी। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अ' ने प्रारम्भसे ही शायद यह चीज कर ली है; परन्तु आजकल अधिकांश लोगोंमें यह मनो-भाव वहुत अधिक हिचकिचाहट और विलंव और संघर्षके वाद कठिनाईसे आता प्रतीत होता है। मैं अपनी ही वात लूं, मैं अपने आंतरिक जीवनकी ओर अपने पहले निर्णायक मोड़के लिये एक ऐसे व्यक्तिका ऋणी हूँ जो वुद्धि, शिक्षा और क्षमतामें मुझसे अनन्तत: निम्न कोटिके थे और किसी भी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्ण और श्रेष्ठ नहीं थे;

परन्तु, जब मैंने उनके पीछे एक शक्ति देखी और सहायताके लिये उनकी ओर मुडनेका निर्णय किया तो मैंने संपूर्णतः अपनेको उनके हाथोंमे छोड दिया और एक सहज-स्वाभाविक निष्क्रियताके साथ उनके मार्गदर्शनका अनुसरण किया। वह स्वयं ही आश्चर्यचकित हो गये और दूसरोंसे बोले कि उन्होंने कभी पहले कोई दूसरा आदमी ऐसा नहीं देखा जो इतने पूर्ण रूपसे और बिना कुछ बचाये अथवा अपने सहायकके पथ-प्रदर्शनके प्रति कोई शंका-सन्देह उठाये बिना आत्मसमर्पण कर सका हो। परिणाम यह हुआ कि एक ऐसे मौलिक प्रकारके रूपांतरकारी अनुभवोंका तांता बँध गया कि वह उसे समझ नहीं सके और उन्हें मुझसे यह कहना पड़ा कि मैं भविष्यमे समर्पणभावकी उसी पूर्णताके साथ अपने-आपको अन्तरस्थ गुरुके हाथोंमें छोड़ दूँ जिस पूर्णताके साथ मैंने मानव-प्रणालीके हाथोंमें छोड़ा था। मैं यह उदाहरण यह दिखानेके लिये दे रहा हूँ कि ये चीजें कैसे काम करती हैं; ये समझे-बूझे तरीकेसे काम नही करती जिसे मानव-बुद्धि निश्चित करना चाहती है, बल्कि किसी अधिक रहस्यपूर्ण तथा महत्तर विधानके द्वारा कार्य करती है।

*

तुम आध्यात्मिक क्षमतामें (स्वयं अपनेसे अथवा दूसरे गुरुओंसे) निम्न कोटिके किसी गुरुको स्वीकार कर सकते हो जिसमें बहुतसी मानवीय अपूर्णताएं मौजूद हों और फिर भी, यदि तुममें श्रद्धा, भक्ति, समुचित आध्यात्मिक योग्यता हो तो तुम स्वयं गुरुसे पहले भी उनके द्वारा भगवान्‌का संस्पर्श प्राप्त कर सकते हो, आध्यात्मिक अनुभूतियां, आध्यात्मिक सिद्धि उपलब्ध कर सकते हो। यहां 'यदि' शब्दपर ध्यान दो, क्योंकि वह शर्त्त आवश्यक है; यह बात नहीं है कि प्रत्येक शिष्य प्रत्येक गुरुके साथ ऐसा कर सकता है। किसी मक्कारसे तुम उसकी मक्कारीके सिवा और कुछ नहीं प्राप्त कर सकते। गुरुके अन्दर कोई ऐसी वस्तु अवश्य होनी चाहिये जो भगवान्‌के साथ संपर्क स्थापित करना संभव बनावे, कोई वस्तु होनी चाहिये जो उस समय भी काम करती है जब कि वह अपने बाहरी मनमें उसकी क्रियाके विषयमें जरा भी सचेतन नहीं होता। यदि उसमें जरा भी कोई आध्यात्मिक वस्तु न हो तो वह गुरु नहीं है, केवल एक मिथ्या गुरु है। निस्सन्देह, दो गुरुओंके बीच आध्यात्मिक उपलब्धिमें पर्याप्त विभिन्नताएं हो सकती है; परन्तु बहुत कुछ गुरु और शिष्यके आंतरिक सम्बन्धपर निर्भर करता है। कोई व्यक्ति किसी बहुत महान् आध्यात्मिक पुरुषके पास जा सकता है और उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता अथवा केवल थोड़ासा ही प्राप्त कर सकता है; परन्तु कोई व्यक्ति उससे कम आध्यात्मिक क्षमतावाले पुरुषके पास जा सकता और जो कुछ वह दे सकता है वह सब — और उससे अधिक भी — प्राप्त कर सकता है। इस वैषम्यके अनेक और सूक्ष्म कारण हैं; यहां उसके विषयमें विस्तार-पूर्वक कुछ कहनेकी आवश्यकता नही। यह बात प्रत्येक व्यक्तिके साथ अलग-अलग होती है। मैं समझता हूँ कि जो कुछ दिया जा सकता है उसे देनेके लिये गुरु सर्वदा

तत्पर रहता है, यदि शिष्य ग्रहण कर सकता हो, अथवा संभवतः, जब वह ग्रहण करनेके लिये तैयार हो जाता हो । यदि वह ग्रहण करना अस्वीकार करता है या अपने अन्दर अथवा बाहर इस प्रकार व्यवहार करता है कि ग्रहण करना असंभव हो जाता है अथवा यदि वह सच्चा नही होता या गलत मनोभाव ग्रहण कर लेता है तो बातें कठिन हो जाती है। परन्तु कोई यदि सरल-सच्चा और निष्ठावान् हो और उसका मनोभाव सही हो तथा यदि गुरु कोई सच्चा गुरु हो तो फिर चाहे जितना समय लगे, मनुष्य आध्यात्मिक सिद्धि अवश्य प्राप्त करेगा।

*

रामकृष्णने पहले स्वयं सिद्धि प्राप्त की और उसके बाद दूसरोंको देना प्रारंभ किया — वैसे ही बुद्धको प्राप्त हुई। मै दूसरोंके विषयमें नहीं जानता। निस्सन्देह, पूर्णताका अर्थ है अपने निजी पथमें सिद्धि प्राप्त करना। रामकृष्णने सर्वदा इस बातको एक नियमके रूपमे रखा कि किसीको तबतक दूसरोंका गुरु नही बनना चाहिये जबतक उसे पूर्ण अधिकार न प्राप्त हो जाय।

*

दिव्य शक्तिकी क्रिया तपस्या, एकाग्रता और साधनाकी आवश्यकताका निषेध नही करती। बल्कि उसकी क्रिया इन चीजोंके प्रत्युत्तरके रूपमें अथवा इनकी सहायिकाके रूपमें आती है। यह ठीक है कि कभी-कभी दिव्य शक्ति उनके बिना भी क्रिया करती है; यह बहुत बार उन लोगोंमें प्रत्युत्तर उत्पन्न करती है जिन्होंने अपनेको तैयार नही किया है और जो तैयार नही मालूम होते। परन्तु यह सर्वदा या सामान्यतया उस रूपमे कार्य नही करती, न यह कोई एक प्रकारका जादू है जो शून्यमें या बिना किसी पद्धतिके कार्य करता है। और न यह कोई मशीन है जो सभी व्यक्तियोंपर या सभी अवस्थाओं और परिस्थितियोंमें एक ही ढंगसे कार्य करती है; यह कोई भौतिक नही बल्कि आध्यात्मिक शक्ति है और इसके कार्यको नियमोंसे नही बांधा जा सकता।

दिव्य गुरुकी शक्तिको एक ऐसे शिक्षककी शक्तिसे सीमित करनेकी जो बात है जो रास्ता तो दिखा देता है पर सहायता नही कर सकता या पथपर नही ले जा सकता, वह शुद्ध अद्वैतवादियों और बौद्धोंके मार्ग जैसे कुछ योग-मार्गोंकी परिकल्पना है। शुद्ध अद्वैतवादी और बौद्ध लोग कहते हैं कि तुम्हें अपने-आपपर निर्भर करना होगा और कोई दूसरा तुम्हारी सहायता नही कर सकता; परन्तु विशुद्ध अद्वैतवादी भी वास्तवमें गुरुपर निर्भर करते है और बौद्धधर्मका प्रधान मंत्र बुद्धके शरणागत होनेपर जोर देता है। दूसरे साधनमार्गोंके लिये तो, विशेषकर उन मार्गोंके लिये जो, गीताकी तरह, भगवान्‌के "सनातन अंश" के रूपमें व्यक्तिगत जीवके सत्यको स्वीकार करते है अथवा जो यह विश्वास करते हैं कि भगवान् और भक्त दोनों सत्य है, गुरुकी सहायतापर, उसे

एक अनिवार्य साधन समझकर, सर्वदा निर्भर किया गया है।

विवेकानन्दके अनुभवकी सत्यतापर जो आपत्ति की गयी है उसे मैं नही समझता: वह तो ठीक वही अनुभव था जो आत्माके चरम अनुभवके रूपमें उपनिषदोंमें वर्णित है। यह बात सत्य नही है कि समाधिमें प्राप्त अनुभवको जाग्रत् अवस्थामें भी नही बनाये रखा जा सकता।

*

हां, यह प्राण-पुरुषका एक दोष है, अनुशासन माननेके संकल्पका अभाव है। अध्यापकसे सीखना होता है और उनकी शिक्षाके अनुसार कार्य करना होता है, क्योंकि अध्यापक उस विषयको जानते है और यह भी जानते हैं कि उसे कैसे सीखा जाता है — ठीक जिस तरह कि आध्यात्मिक मामलोंमें गुरुका अनुसरण करना पड़ता है जिन्हें ज्ञान प्राप्त होता है और जो मार्गको जानते हैं। अगर कोई सब कुछ स्वयं अपने-आप सीखे तो सम्भावनाएं ऐसी हैं कि वह सब कुछ गलत ही सीखेगा। भला गलत रूपमें सीखनेकी स्वतंत्रतासे क्या लाभ? निस्सन्देह, यदि विद्यार्थी अध्यापककी अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली हो तो वह अध्यापककी अपेक्षा कहीं अधिक सीख लेगा, ठीक जिस तरह कि कोई महान् आध्यात्मिक क्षमता रखनेवाला व्यक्ति उस सिद्धितक पहुँच सकता है जो गुरुको प्राप्त नहीं है — परन्तु फिर भी प्रारंभिक अवस्थाओंमें संयम और अनुशासन अपरिहार्य हैं।

*

अबतक किसी मुक्त पुरुषने गुरुवादपर आपत्ति नहीं की है; साधारणतया केवल ऐसे लोग ही कोई गुरु स्वीकार करना अपनी प्रतिष्ठाके विरुद्ध समझते हैं जो मन या प्राणमें निवास करते हैं और जिनमें मनका अहंकार और प्राणका मद होता है।

*

वह सब सस्ता योग है। गुरुका स्पर्श या कृपा किसी चीजको खोल सकती है, पर फिर भी कठिनाइयोंका सर्वदा समाधान करना होता है। सच बात यह है कि यदि साधकमें पूर्ण समर्पण-भाव हो जिसका मतलब है चैत्य पुरुषका प्राधान्य, तो ये कठिनाइयां किसी बंधन या बाधाके रूपमें अब अनुभूत नहीं होतीं बल्कि केवल उपरितलीय अपूर्णताओंके रूपमें अनुभूत होती हैं जिन्हें कृपाकी क्रिया दूर कर देगी।

*

मेरे विचारमे रामकृष्णका यह वचन* साधनामें घटित होनेवाली किसी निश्चित विशिष्ट घटनाको व्यक्त करता है और किसी व्यापक और पूर्ण अर्थमें इसकी व्याख्या नही की जा सकती, क्योंकि उस अर्थमें उसके लिये सत्य होना कठिन है। सभी कठिनाइयां एक मुहूर्त्तमे दूर हो जाती हैं? अच्छा; विवेकानन्दको तो आरम्भसे ही रामकृष्णकी कृपा प्राप्त थी, परन्तु मैं समझता हूँ कि उनकी संदेह करनेकी कठिनाई कुछ दिनोतक बनी रही और उनके जीवनके अन्ततक क्रोधको संयमित करनेकी कठिनाई बनी रही — उसके कारण उन्हे कहना पडा कि जो कुछ मुझमें अच्छा है वह सब मेरे गुरुका दान है, पर ये चीजें (क्रोध वगैरह) मेरी अपनी संपत्ति है। परन्तु जो बात सत्य हो सकती है वह यह है कि गुरु और शिष्यके बीच एक विशिष्ट स्पर्शके द्वारा केंद्रीय कठिनाई विलीन हो सकती है। परन्तु कृपाका तात्पर्य क्या है? यदि यह गुरुकी साधारण अनुकंपा और कृपा है तो, हम समझेंगे कि, वह शिष्यके साथ बराबर ही विद्यमान है; उनका शिष्यको स्वीकार करना ही एक कृपाका कार्य है और उनकी सहायता शिष्यके ग्रहण करनेके लिये बराबर ही विद्यमान है। परन्तु गुरुके माध्यमसे अथवा सीधे जो कृपाका, भागवत कृपाका स्पर्श मिलता है वह एक विशेष घटना होता है और उसके दो पक्ष होते है,—गुरु या भगवान्‌की कृपा, सच पूछा जाय तो दोनों ही एक साथ, एक पक्षमें होती हैं और दूसरी ओर शिष्यके अन्दर "कृपाप्राप्तिकी स्थिति" होती है। "कृपाप्राप्तिकी स्थिति" बहुधा एक लंबी तपस्या या शुद्धीकरणके द्वारा तैयार होती है जिसमे कोई भी बात निश्चित रूपसे घटित होती हुई नही प्रतीत होती, अधिक-से-अधिक केवल कुछ स्पर्श या झांकियां या क्षणस्थायी अनुभूतियां होती है, और कृपा एकाएक चेतावनी दिये बिना आ जाती है। यदि यही बात रामकृष्णके वचनमें कही गयी है तो यह सच है कि जब कृपा आती है तो मौलिक कठिनाइयां एक मुहूर्त्तमें दूर हो सकती हैं और सामान्यतया होती ही है। अथवा, कम-से-कम, कोई ऐसी चीज घटित होती है जो शेष साधनाको — चाहे उसमें जितना भी लम्बा समय क्यों न लगे — निश्चित और सुरक्षित बना देती है।

यह निर्णायक स्पर्श "बिल्लीके बच्चे" जैसे लोगोंके पास अत्यन्त आसानीसे आता है, उन लोगोंके पास जिनके अन्दर चैत्य पुरुष और भावात्मक प्राणके बीच किसी स्थानपर गुरु या भगवान्‌के प्रति समर्पणकी एक तीव्र और निर्णायक क्रिया होती है। मैंने देखा है कि जब यह क्रिया होती है और साथ ही सचेतन केंद्रीय निर्भरता होती है जो मनको तथा प्राणके शेष भागको भी विवश करती है तब मौलिक कठिनाई समाप्त हो जाती है। यदि अन्य कठिनाइयां बनी रहती है तो वे कठिनाइयोंके रूपमें अनुभूत नही होती; बल्कि महज ऐसी चीजें प्रतीत होती है जिन्हें बस करना होता है और उनसे कोई परेशानी नही होती। कभी-कभी किसी तपस्याकी आवश्यकता नहीं होती — मनुष्य बस अपनी बातें उस दिव्य शक्तिके सामने रख देता है जिसे वह मार्गदर्शन कराते

*"गुरुकी कृपासे सभी कठिनाइयां एक क्षणमें विलीन हो सकती है ठीक जैसे कि युगव्यापी अन्धकार दियासलाई जलाते ही क्षण भरमे विलीन हो जाता है।

हुए या साधना करते हुए अनुभव करता है और उसकी क्रियाको अनुमति देता है, उसके विपरीत जो कुछ होता है उस सबका त्याग करता है, और फिर वह शक्ति जो कुछ दूर हटाना है उसे हटा देती है या जो कुछ बदलना है उसे बदल देती है, शीघ्रतासे या धीरे-धीरे — परन्तु शीघ्रता या धीमेपनका कोई महत्त्व नही प्रतीत होता क्योंकि मनुष्य-को पूरा विश्वास रहता है कि वह अवश्य होगा। यदि तपस्याकी आवश्यकता होती है तो उसे एक प्रवल साहाय्यके इतने अधिक बोधके साथ किया जाता है कि तपस्याके अन्दर कोई चीज कठिन या कठोर नही होती।

दूसरोंके लिये, "बन्दरके बच्चे" जैसे लोगोंके लिये अथवा जो लोग अभी भी अधिक स्वतंत्र होते हैं, अपने निजी विचारोंका अनुसरण करते हैं, अपनी निजी साधना करते है, केवल कुछ शिक्षा या सहायता चाहते हैं,उनके लिये भी गुरुकी कृपा होती है, परन्तु वह साधकके स्वभावके अनुसार कार्य करती है और कम या अधिक मात्रामें उसके प्रयत्नकी प्रतीक्षा करती है; यह सहायता करती है, कठिनाईमे मदद देती है, खतरेके समय रक्षा करती है, परन्तु शिष्य सर्वदा यह नही जानता अथवा सभवत मुश्किलसे थोड़ासा जानता है कि क्या किया जा रहा है, क्योंकि वह स्वयं अपने-आपमें तथा अपने प्रयासमें निमग्न रहता है। ऐसे लोगोंमें उस निर्णायक आंतरिक क्रियाके, स्पर्शके आनेमें अधिक समय लग सकता है जो कि सब कुछ सुस्पष्ट कर देता है।

परन्तु सबके साथ कृपा विद्यमान है और किसी-न-किसी तरह कार्य कर रही है और यह केवल तभी शिष्यका त्याग कर सकती है जब कि स्वयं शिष्य ही उसे छोड़ देता या त्याग देता है — निर्णायक और अन्तिम विद्रोहके द्वारा, गुरुके परित्यागके द्वारा, सम्बन्धविच्छेद और अपनी स्वतन्त्रताकी घोषणाके द्वारा, अथवा विश्वास-घातके किसी कार्य या मार्गके द्वारा जो कि उसे उसके अपने चैत्य पुरुषसे ही विच्छिन्न कर देता है। परन्तु फिर भी, शायद अन्तिम स्थितिको छोड़कर — यदि उसमें कोई अन्तिम हदतक चला जाय — कृपाका वापस आना असम्भव नहीं होता।

यही इस विषयमें मेरा अपना ज्ञान और अनुभव है। परन्तु रामकृष्णके कथन-के पीछे क्या वस्तु निहित है और क्या उन्होने स्वयं उसे एक सामान्य और निरपेक्ष वक्तव्यके रूपमें लिया था — इस विषयमें मैं कुछ भी घोषणा नही करता।

*

यह सदा ही कहा गया है कि शिष्य बनानेका अर्थ है स्वयं अपनी कठिनाइयों तथा साथ ही शिष्यकी कठिनाइयोंको अपने ऊपर लेना। निस्सन्देह, यदि गुरु शिष्य-के साथ एकाकार न हो जायं, उसे स्वयं अपनी चेतनामें न ले लें, उसे अपनेसे बाहर रखें और उसे केवल उपदेश देकर बाकी उसे अपने-आप करनेके लिये छोड़ दें तो इन परिणामोंकी संभावना बहुत कम हो जाती है, लगभग शून्य हो जाती है।

*

जब कोई सच्चाईके साथ समर्पणभावको ग्रहण करता है तो कोई भी चीज छिपायी नही जानी चाहिये जिसका साधनाके जीवनके लिये कोई मूल्य हो। दोष स्वीकार करनेसे बाधक तत्त्वोंको चेतनामेसे निकाल बाहर करनेमें सहायता मिलती है और यह आतरिक वातावरणको परिष्कृत करके गुरु और शिष्यके मध्य एक अधिक घनिष्ठ और अधिक अतरंग और फलदायी सम्बन्ध उत्पन्न करता है।

VI

साधना-पथके सभी विषयोंमें ऐसा ही होता है — परन्तु चाहे जितना लम्बा समय लगे मनुष्यको डटे रहना चाहिये, केवल इसी तरह मनुष्य लक्ष्यपर पहुँच सकता है।

*

योगमें जिस शक्तिकी आवश्यकता होती है वह है बिना थके, उदास हुए, निरुत्साहित या अधीर हुए तथा बिना प्रयास छोड़े या अपने लक्ष्य अथवा संकल्पका परित्याग किये श्रम, कठिनाई या असुविधामें गुजर जानेकी शक्ति।

*

चाहे जो भी पद्धति व्यवहृत हो, दृढ़ता और अध्यवसाय आवश्यक हैं। क्योंकि चाहे जिस पद्धतिका व्यवहार क्यों न किया जाय, प्राकृतिक प्रतिरोधकी जटिलता उससे संघर्ष करनेके लिये वहा मौजूद रहेगी।

*

इस योग जैसे योगमें धैर्यकी आवश्यकता होती है, क्योकि इसका उद्देश्य है मौलिक हेतुओ तथा प्रकृतिके प्रत्येक भाग और ब्योरेका परिवर्तन करना। यह कहनेसे काम नही चलेगा कि "कल मैने अपने-आपको पूर्णतः श्रीमाताजीके हाथोंमें सौप देनेका निश्चय किया, और देखो वह नही किया गया है, इसके विपरीत, सभी पुरानी विपरील चीजें फिर एक बार वापस आ गयी है"। निंस्सन्देह, जब तुम ऐसी स्थितिमें आ जाते हो जहां तुम इस प्रकारका संकल्प लेते हो, तो तुरन्त रास्तेमें बाधा डालनेवाली सभी चीजें अवश्य उठ खड़ी होती है — ऐसा निरपवाद रूपसे घटित होता है। ऐसे समय करनेकी चीज यह है कि पीछे हट आया जाय, निरीक्षण किया जाय और त्याग दिया जाय, अपने ऊपर इन चीजोंको अधिकार न जमाने दिया जाय, अपने केंद्रीय संकल्पको इनसे अलग रखा जाय और उनका मुकाबला करनेके लिये श्रीमाताजीकी शक्तिका

आवाहन किया जाय; यदि कोई फंस ही जाय, जैसा कि बहुधा होता है, तो जितना शीघ्र संभव हो उतना शीघ्र उनसे छुटकारा पाया जाय और फिर आगेकी ओर बढ़ा जाय। यही चीज प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक योग करता है — चूंकि कोई व्यक्ति एक ही झपटमें सब कुछ नहीं कर सकता इसलिये अवसन्न होना इस विषयके सत्यके एकदम विपरीत है।

जो स्थिरता तुमने प्राप्त की है वह एक व्यक्तिगत गुण है परन्तु वह श्रीमाताजी-के साथ अपना संपर्क बनाये रखनेपर निर्भर करता है — क्योंकि सच पूछो तो उनकी शक्ति ही उसके पीछे तथा जो प्रगति तुम कर सकते हो उस सबके पीछे विद्यमान रहती है। उसी शक्तिपर निर्भर करना, अधिकाधिक पूर्णताके साथ उसकी ओर खुलना तथा केवल अपने लिये ही नहीं बल्कि भगवान्के लिये आध्यात्मिक उन्नति करनेका प्रयास करना सीखो — तब तुम अधिक आसानीसे आगे बढ़ोगे।

*

यह निश्चित है कि भगवान्के लिये तीव्र अभीप्सा होनेपर प्रगतिमें सहायता मिलती है; परन्तु धैर्यकी भी आवश्यकता है। क्योंकि सच पूछो तो एक बहुत बड़ा परिवर्तन लानेकी आवश्यकता है और, यद्यपि उसमें महान् तीव्रताके क्षण आ सकते हैं, पर उस तरह सब समय कभी घटित नहीं होता। पुरानी चीजें यथासंभव अधिकसे अधिक चिपकी रहना चाहती हैं; जो नयी चीजें आती हैं उन्हें विकसित होना होता है और उन्हें आत्मसात् करने तथा प्रकृतिके लिये उन्हें स्वाभाविक बनानेमें चेतनाको समय लगता है।

अपने मनमें इस श्रद्धा-विश्वासको सुदृढ बनाये रखो कि आवश्यक चीज की जा रही है और पूर्ण रूपमें की जायगी। इस विषयमें कोई सन्देह नहीं हो सकता।

*

यह सच है कि बहुत धैर्य और दृढ़ताकी आवश्यकता है। तब दृढ़ और धैर्य-शील बनो और साधनाके लक्ष्यपर एकाग्र हो जाओ, पर उन्हें तुरत प्राप्त करनेके लिये अति-उत्सुक मत होओ। तुम्हारे अन्दर एक कार्य करना है और वह किया जा रहा है; अटल श्रद्धा और विश्वासका मनोभाव रखकर उसके करनेमें सहायता करो। संदेह सबके अन्दर उठते हैं, वे मानवके भौतिक मनके लिये स्वाभाविक है — उनका त्याग करो। उसी तरह तुरंत परिणाम पानेके लिये अधीरता और अति-उत्सुकताका होना मानवीय प्राणके लिये स्वाभाविक है; ये चीजें श्रीमाताजीमें दृढ़ विश्वास होनेपर ही विलीन होंगी। जिन भगवान्को तुम्हारा जीवन अर्पित है उनके रूपमें श्रीमाताजी-के प्रति प्रेम और विश्वासके साथ प्रत्येक विरोधी भावनाका सामना करो और तब वे विरोधी भावनाएं कुछ समय बाद फिर तुम्हारे पास नहीं आ पायेंगी।

अधीर होना सर्वदा ही एक भूल है, यह सहायता नहीं करता वल्कि रुकावट डालता है। स्थिर प्रसन्न श्रद्धा और विश्वास ही साधनाका सर्वोत्तम आधार है; बाकी चीजोंके लिये अपने-आपको ग्रहण करनेके लिये सतत निर्बाध खोले रखना चाहिये और उसके साथ-साथ ऐसी अभीप्सा रहनी चाहिये जो तीव्र तो हो, पर सर्वदा शान्त-स्थिर और अटूट हो। पूर्ण यौगिक सिद्धि एकदम तुरत-फुरत नहीं आती, वह आधार-की एक दीर्घ तैयारीके बाद आती है जिसमें एक लम्बा समय लग सकता है।

भागवत कृपाके विपयमें कोई संदेह नही हो सकता। यह पूर्ण रूपसे सत्य भी है कि यदि मनुष्य सच्चा हो तो वह भगवान्‌को पा सकता है। परन्तु इसका मतलब यह नही है कि वह तुरत, आसानीसे और अविलंब पा जायेगा। तुम्हारी भूल यहीं है, भगवान्‌के लिये एक समय, पांच वर्ष, छ: वर्ष निश्चित कर देते हो, और सन्देह करते हो क्योंकि अभीतक उसका परिणाम नही दिखायी देता। कोई मनुष्य केंद्रमें सरल-सच्चा हो सकता है और फिर भी उसमें बहुतसी ऐसी चीजें हो सकती है जिन्हें उप-लब्धि शुरू होनेसे पहले परिवर्तित करना जरूरी हो। उसकी सच्चाईको उसे निरन्तर प्रयास करते रहनेके योग्य बनाना चाहिये — क्योंकि यह भगवान्‌की चाह है जिसे कोई चीज बुझा नही सकती — न तो विलंब, न निराशा, न कठिनाई और न कोई दूसरी ही चीज।

*

"मै फिर कोशिश करूँगा" कहना पर्याप्त नही है; आवश्यक बस यह है कि निरन्तर प्रयास किया जाय — अविरत, विपादसे रहित हृदयसे, जैसा कि गीता कहती है, 'अनिर्विण्णचेतसा।' तुम साढ़े पांच वर्षोंकी बात करते हो मानो यह एक ऐसे उद्देश्यके लिये बहुत लम्बा समय हो, परन्तु जो योगी इतने समयमें अपनी प्रकृति-का मूलत· रूपांतर कर लेने और भगवान्‌का ठोस निश्चित अनुभव प्राप्त कर लेनेमें समर्थ है, वह आध्यात्मिक पथपर सरपट दौड़नेवाला एक विरल व्यक्ति ही माना जायेगा। किसीने कभी यह नही कहा है कि आध्यात्मिक परिवर्तन एक आसान कार्य है। सभी आध्यात्मिक साधक यह कहेंगे कि यह कठिन है परन्तु सर्वप्रधान रूपसे करने योग्य है। यदि भगवान्‌के लिये किसीकी चाह सर्वोच्च चाह बन जाय तो वह अवश्य ही बिना किसी मनस्तापके उसीके प्रति अपना समूचा जीवन अर्पित कर सकता है और समय, कठिनाई या परिश्रमके लिये शिकायत नही कर सकता।

फिर, तुम अपने अनुभवोंको अस्पष्ट और स्वप्न-जैसे कहते हो। सबसे पहले आंतरिक जीवनमें छोटी-छोटी अनुभूतियोंकी अवहेलना करना विज्ञता, युक्तियुक्तता या सामान्य समझदारीका कोई अंग नही है। सच पूछा जाय तो साधनाके प्रारम्भमें और दीर्घ कालतक छोटी-छोटी अनुभूतियां ही एकके बाद एक आती है और, यदि उन्हें पूरा मूल्य दिया जाता है तो, क्षेत्रको तैयार करती हैं, प्रारंभिक चेतनाका निर्माण करती है तथा एक दिन बड़ी-बड़ी अनुभूतियोंके लिये दीवालें तोड़कर रास्ता बनाती है। परंतु

तुम यदि इस महत्त्वाकांक्षापूर्ण भावनासे उनका तिरस्कार करो कि या तो तुम्हे बड़ी-बड़ी अनुभूतियां होनी चाहियें या कुछ नही होना चाहिये, तो इसमे कोई आश्चर्य नही कि वे कभी-कदाचित् दीर्घ कालमें एक बार आयें और अपना काम न कर सके। अधि-कंतु, तुम्हारी सभी अनुभूतियां तुच्छ नहीं थी। उनमेंसे कुछेक शरीरमें स्थिरता लाने-वाला दिव्य शक्तिका अवतरण जैसा था — जिसे तुम सुन्नता कहा करते थे — जिसे आध्यात्मिक ज्ञान रखनेवाला कोई भी व्यक्ति उच्चतर शान्ति और ज्योतिके प्रति चेतनाके उद्घाटनका प्रथम प्रबल पगके रूपमें स्वीकार किया होता। परन्तु वे चीजें तुम्हारी आशाओंके अनुरूप नही थीं और तुमने उन्हें कोई विशेष महत्त्व नही दिया। जहांतक अस्पष्ट और स्वप्न-सदृश होनेका प्रश्न है, तुम इसलिये ऐसा अनुभव करते हो कि तुम उनकी ओर और तुम्हारे अन्दर जो कुछ घटित होता है उस सबकी ओर बाहरी भौतिक मन और बुद्धिकी दृष्टिसे देखते हो जो केवल भौतिक वस्तुओंको ही सत्य और महत्त्वपूर्ण और सुस्पष्ट मान सकती है और उसके लिये आंतरिक घटनाए अवास्तव, अस्पष्ट और सत्यहीन वस्तुएं है। आध्यात्मिक अनुभव स्वप्नों और सूक्ष्मदर्शनोंकी अवहेलना भी नही करता; यह उसे ज्ञात है कि इनमेंसे बहुतसी चीजें बिलकुल ही स्वप्न नही होतीं बल्कि किसी आंतरिक लोककी अनुभूतियां होती हैं और यदि आंतरिक लोकोंकी उन अनुभूतियोंको, जो बाह्य सत्ताके अन्दर आंतरिक आत्मा-के उद्घाटनकी ओर ले जाती है जिसमें कि आंतर आत्मा बाह्य सत्तापर प्रभाव डाले और उसे रूपांतरित करे, यदि सूक्ष्म चेतनाकी तथा समाधि-चेतनाकी अनुभूतियोंको स्वीकार न किया जाय तो भला जाग्रत् चेतना शरीर और शारीरमन तथा इंद्रियोंके संकीर्ण कारागारसे बाहर कैसे प्रसारित होगी? कारण, आंतरिक जागृत चैतन्य-से अस्पृष्ट भौतिक मनको वैश्व चैतन्य या शाश्वत ब्रह्मका अनुभव भी बहुत अच्छी तरह महज प्रातीतिक और अविश्वसनीय प्रतीत हो सकता है। वह सोचेगा, "निस्सन्देह विलक्षण हैं, बल्कि मजेदार हैं, पर बहुत अधिक प्रातीतिक हैं, है न? भ्रम-भ्रांतियां हैं, हां!" आध्यात्मिक साधकका पहला कार्य है बाहरी मनके दृष्टिकोण-से दूर भागना और आंतरिक व्यापारोंको आंतरिक मनसे देखना जिसके लिये वे बहुत शीघ्र शक्तिशाली और स्फूर्त्तिदायक सत्य बन जाते है। यदि कोई ऐसा करता है तो वह यह देखना प्रारम्भ करता है कि यहांपर सत्य और ज्ञानका एक विस्तृत क्षेत्र है जिसमें मनुष्य एक आविष्कारसे दूसरे आविष्कारकी ओर आगे बढ़ सकता और अन्तमें सबसे उच्च आविष्कारतक पहुँच सकता है। परन्तु बाहरी भौतिक मनको यदि भगवान् और आध्यात्मिकताके विषयमें थोड़ीसी कोई धारणा होती है तो वह आंतर सत्य और अनुभवकी ठोस भूमिसे मीलों दूरकी केवल जल्दबाजीभरी प्रागनुभव धारणा ही होती है।

मेरे पास अन्य विषयोंपर किसी हदतक विचार करनेके लिये समय नहीं है। तुम भगवान्‌की कठोर मांगों और कड़ी शर्तोंकी चर्चा करते हो — परन्तु कितनी कठोर मांगें और लौह शर्त्तें तुम भगवान्‌पर डाल रहे हो! करीब-करीब तुम उनसे यह कहते हो, "मैं पग-पगपर शंका करूंगा और तुम्हें अस्वीकार करूंगा, परन्तु तुम्हें

अपनी निर्भूल उपस्थितिसे मुझे भर देना होगा; जब कभी मैं तुम्हारे या योगके विषय-मे सोचूंगा मै विषाद और नैराश्यसे भरा रहूँगा, परन्तु तुम्हें मेरे विषादको अपने आह्लादपूर्ण अदम्य आनन्दसे परिप्लावित कर देना होगा; मैं केवल अपने बाहरी भौतिक मन और चेतनाके साथ ही तुम्हारे पास आऊंगा, पर तुम्हें उसके अन्दर मुझे वह शक्ति देनी होगी जो मेरी समूची प्रकृतिको तेजीसे रूपांतरित कर देगी।" हां, मै नही कहता कि भगवान् ऐसा नहीं करेंगे या नही कर सकेंगे, परन्तु यदि ऐसा चमत्कार मपन्न करना है तो तुम्हें उनको कुछ समय और संभावनाका बस एक हजारवां भाग देना होगा।

*

भगवान् कठिन हो सकते हैं, पर उनकी कठिनाइयां जीती जा सकती हैं यदि कोई उनसे लगा रहे।

*

यह साधना एक कठिन कार्य है और समयके लिये शिकायत नहीं करनी चाहिये; केवल अन्तिम अवस्थाओंमें ही बहुत बड़ी और सतत तीव्र प्रगतिकी आशा असंदिग्ध रूपसे की जा सकती है।

*

दिव्य शक्तिका जहांतक प्रश्न है, प्राणके शुद्ध और समर्पित होनेसे पहले शक्ति-के अवतरणके अपने खतरे हैं। उसके लिये पवित्रीकरण, ज्ञान, हृदयकी अभीप्साकी तीव्रता और शक्तिके जितने कार्यको वह सहन और आत्मसात् कर सके उतने कार्य-के लिये प्रार्थना करना अधिक अच्छा है।

*

सर्वदा अपने अन्दर निवास करो और कार्योंमें स्वयं ग्रस्त हुए बिना उन्हें करो, फिर कोई भी प्रतिकूल चीज घटित नहीं होगी, अथवा, यदि घटित हुई तो कोई गंभीर प्रतिक्रिया नहीं होगी।

किसी भी कारणसे (आश्रम) छोड़नेका विचार, निस्सन्देह, निरर्थक और असंगत है। रूपांतरके लिये आठ वर्ष बहुत थोड़ा समय है। अधिकांश लोग अपने दोषोंके विषयमे सचेतन होने तथा परिवर्तनके लिये गंभीर संकल्प बनानेमें उतना या अधिक समय व्यय कर देते हैं — और उसके बाद संकल्पको पूर्ण और अन्तिम

सिद्धिमें परिवर्त्तित करनेमें एक लम्बा समय लग जाता है। जब-जब मनुष्य ठोकर खाता है, उसे अपने यथार्थ स्थानपर वापस आ जाना चाहिये और अभिनव संकल्पके साथ आगे बढ़ना चाहिये; ऐसा ही करनेसे पूर्ण परिवर्तन साधित होता है।

*

श्रद्धा-विश्वासके लिये अभीप्सा करनेके सिवा मैं क्या तुमसे चाहता हूँ? हां, ठीक थोड़ीसी पद्धतिमें संपूर्णता और दृढ़ता! दो दिन अभीप्सा मत करो और फिर कूड़ेखानेमें चले जाओ, भूकंप तथा शोपेन हावरके सिद्धांतोंको विकसित करो और उसके साथ ही गधापन और उससे संबन्धित बाकी चीजोंका विकास करो। भगवान्‌को पूरा खेलनेका अवसर दो। जब वह तुम्हारे अन्दर कोई चीज प्रज्वलित करें या प्रकाशकी तैयारी करें तो तुम विषादका गीला कंबल लेकर बीचमें मत आ जाओ और उस गरीब लौपर मत फेंको। तुम कहोगे, "यह तो महज एक मोमबत्ती है जो जलायी गयी है — बिलकुल ही और कोई चीज नहीं!" परन्तु ऐसे मामलोंमें, जब कि मानव मन, प्राण और शरीरका अन्धकार दूर करना हो, सर्वदा एक मोमबत्तीसे ही प्रारम्भ होता है — उसके बाद आता है दीपक और फिर उसके बाद सूर्य; परन्तु प्रारंभिक वस्तुको अपना परिणाम अवश्य उत्पन्न करने देना चाहिये और अवसाद, सन्देह तथा निराशाके मोटे तत्त्वोंके द्वारा उसके स्वाभाविक प्रभावोंसे अपनेको पृथक् नहीं कर लेना चाहिये। प्रारम्भमें, और बहुत लम्बे समयतक, साधारणतया अनुभूतियां थोड़ी मात्रामें ही आती हैं और उनके बीच-बीचमें शून्य व्यवधान होते हैं— परन्तु, यदि उसकी प्रगति होने दी जाय, तो ये व्यवधान कम होते जायंगे, और क्वाण्टम सिद्धांत आत्माके न्यूटोनियन सातत्य सिद्धांतको स्थान दे देगा। परन्तु तुमने इसे कभी भी सच्चा अवसर नही प्रदान किया है। शून्य व्यवधानोंमें संदेह और इनकार आकर बस गये हैं और इसलिये अनुभूतिकी संख्याएं विरल हो गयी हैं, प्रारम्भ एक प्रारम्भ ही बना रह गया है। दूसरी कठिनाइयोंका तुमने सामना किया और उन्हें त्याग दिया है, परन्तु इस कठिनाईको तुमने बहुत दिनोंतक बहुत अधिक दुलार किया है और यह मजबूत बन गयी है — इसका सामना सतत प्रयासके द्वारा करना होगा। मैं यह नहीं कहता कि कोई चीज आनेसे पहले समस्त शंका-संदेहोंको विलीन हो जाना होगा — उसका अर्थ होगा साधनाको असंभव बना देना, क्योंकि शंका-संदेह मनपर निरन्तर आक्रमण करते रहते हैं। मैं बस यह कहता हूँ कि आक्रामकको अपना साथी मत बनाओ, उसके लिये खुला दरवाजा मत छोड़ो और आरामदायक स्थानपर मत बैठाओ। सबसे बढ़कर, विषाद और नैराश्यके उस निरुत्साहित करनेवाले गीले कंबलके द्वारा अन्दर आनेवाले भगवान्‌को मत भगाओ!

अधिक गंभीरताके साथ इस बातको कहें तो — निश्चित रूपसे स्वीकार कर लो कि यह कार्य करना है, बस यही एकमात्र कार्य है जो तुम्हारे लिये या पृथ्वीके लिये बाकी है। इससे बाहर है भूकंप और हिटलर और एक भग्नशील सभ्यता और, साधा-

रण रूपमे कहे तो, गधापन और सर्वनाश। सर्वोपरि एकमात्र करणीय वस्तुकी ओर, उस वस्तुकी ओर जानेके लिये तर्क करो जिसे पूरा करनेमें सहायता देनेके लिये तुम भेजे गये हो। वह कठिन है और पथ लंबा है और जो प्रोत्साहन दिया गया है वह नगण्य है? तो क्या है? तुम्हे भला इतनी बड़ी चीजके आसान होनेकी क्यों आशा करनी चाहिये अथवा यह आशा क्यो करनी चाहिये कि या तो खूब तेजीसे सफलता मिलनी चाहिये या बिलकुल नही मिलनी चाहिये? कठिनाइयोंका सामना करना ही होगा और जितनी अधिक प्रसन्नताके साथ उनका सामना किया जायगा उतने ही शीघ्र वे विजित होगी। एकमात्र करणीय बात है सफलताके मंत्रको पकड़े रखना, विजय-की निश्चयताको, इस सुदृढ सकल्पको बनाये रखना कि "इसे मुझे प्राप्त करना ही होगा और इसे मै जरूर प्राप्त करूंगा।" असंभव? असंभव नामकी कोई चीज नही है — कठिनाइयां हैं और दीर्घ प्रयासकी चीजें हैं, पर असंभव चीजें नही है। जो कुछ करनेका दृढ संकल्प मनुष्य कर लेता है वह आज या कल अवश्य पूरा हो जाता है — वह संभव हो जाता है। काली निराशाको दूर भगाओ और बहादुरीके साथ अपने योगको जारी रखो। जैसे-जैसे अन्धकार दूर होगा, आंतरिक द्वार खुलते जायंगे।

*

चाहे तपस्यासे हो या आत्मसमर्पणसे — इससे कुछ नहीं आता-जाता; प्रधान बात बस यही है कि साधक लक्ष्यकी ओर अपनी दृष्टि बनाये रखनेमें दृढ़ रहे। एक बार जब उसने अपने पैर इस मार्गपर रख दिये तब फिर भला किसी तुच्छतर वस्तुके लिये वह कैसे इससे पीछे हट सकता है? यदि साधक दृढ बना रहे तो फिर पतनोंसे कुछ भी नही आता-जाता, वह फिरसे उठता और आगे बढ़ता है। अगर वह अपने लक्ष्यपर दृढ बना रहे तो भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गका अन्त विफलतामें नही हो सकता। और अगर तुम्हारे अन्दर कोई चीज ऐसी हो जो तुम्हें बराबर आगे चलनेके लिये प्रेरित करती हो — वैसी चीज अवश्य ही तुममें है — तो फिर पदस्खलन या पतन या श्रद्धा-विश्वासका भंग हो जानेसे अंतिम परिणाममें कोई अन्तर नही पड़ सकता। जबतक संघर्ष समाप्त नही हो जाता और हमारे सामने सीधा, उन्मुक्त और निष्कंटक मार्ग नही दिखायी देता तबतक हमे अपने प्रयासमें निरन्तर लगे रहना चाहिये।

*

तुम्हें बस शान्त-स्थिर और अपने पथका अनुसरण करनेमें दृढ़ बने रहना है और तुम अन्ततक पहुँच जाओगे। यदि तुम ऐसा करो तो परिस्थितियां अन्तमें तुम्हारी इच्छाके अनुसार रूप ग्रहण करनेको बाध्य होंगी, क्योंकि तब वह इच्छा तुम्हारे अन्दर भगवान्‌की ही इच्छा होगी।

*

प्रारंभिक अवस्थाओंमें सर्वदा ही कठिनाइयां आती हैं और प्रगति रुक-रुककर होती है तथा जबतक सत्ता तैयार नहीं हो जाती, आन्तरिक द्वारोंके खुलनेमें देर होती है। यदि तुम जब कभी ध्यान करते हो निश्चलताका अनुभव करते हो और आन्तरिक ज्योतिकी झलकें पाते हो तथा आन्तरिक आवेग यदि इतना प्रबल हो जाता है कि बाहरी पकड़ ढीली होने लगती है और प्राणिक उत्पातोंकी शक्ति घटने लगती है तो यह अपने-आपमें एक महान् प्रगति है। योगका मार्ग लम्बा है, भूमिका एक-एक इंच बहुत प्रतिरोधका सामना करके जीतना होता है तथा साधकको और किसी गुणकी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती जितनी कि धैर्य और ऐकान्तिक अध्यवसायकी और उसके साथ ऐसे श्रद्धा-विश्वासकी जो सभी कठिनाइयों, विलम्बों तथा आपातदृष्ट असफलताओंमें स्थिर बना रहता है।

*

जो मनुष्य एकान्ततासे डरता है और कोई नयी वस्तु चाहता है वह योग नहीं कर सकता अथवा कम-से-कम वह योग नहीं कर सकता जिसमें अपार लगन और धैर्यकी आवश्यकता होती है। मृत्युका भय एक प्राणिक दुर्बलताको सूचित करता है जो योगकी क्षमताके भी विपरीत है। इसी तरह, जो व्यक्ति अपने प्राणावेगोंके आधि-पत्यके अधीन होता है वह भी योगको कठिन अनुभव करेगा और, जबतक उसे सच्ची आन्तरिक पुकारका सहारा न प्राप्त हो और उसमें आध्यात्मिक चेतना तथा भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त करनेकी सच्ची और प्रबल अभीप्सा न हो तबतक वह बहुत आसानीसे सांघातिक रूपमें पतित हो सकता है और उसका प्रयास निष्फल हो सकता है।

मे किया था।

*

जिस मनुष्यमे जीवन और उसकी कठिनाइयोका मुकाबला धैर्य और दृढ़ताके साथ करनेका साहस नही है वह कभी साधनाकी और भी अधिक बड़ी आतरिक कठिनाइयोको पार करनेमे समर्थ नही होगा। इस योगका एकदम पहला पाठ यह है कि अचचल मनसे, अटूट साहस तथा भागवती शक्तिपर संपूर्ण निर्भरताके साथ जीवन तथा उसकी परीक्षाओका सामना किया जाय।

*

अचल-अटल बने रहो तथा एक दिशामे — श्रीमाताजीकी ओर मुड़े रहो।

विभाग चार

साधनाका आधार

साधनाका आधार

अगर मन चंचल हो तो योगकी नींव डालना संभव नहीं। सबसे पहले यह आवश्यक है कि मन अचंचल हो। और व्यक्तिगत चेतनाका लय कर देना भी इस योगका प्रथम उद्देश्य नहीं है, बल्कि प्रथम उद्देश्य है व्यक्तिगत चेतनाको एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी ओर खोल देना और इसके लिये भी जिस बातकी सबसे पहले आवश्यकता है वह है मनकी अचंचलता।

*

सबसे पहली बात जो साधनामें करनी है वह है मनमें एक सुस्थापित शान्ति और निश्चल-नीरवताको प्राप्त करना। अन्यथा तुम्हें अनुभूतियां तो हो सकती हैं, पर कुछ भी स्थायी नहीं होगा। एकमात्र निश्चल-नीरव मनमें ही सत्य-चेतनाका निर्माण किया जा सकता है।

अचंचल मनका अर्थ यह नहीं है कि उसमें कोई विचार या मनोमय गतियां एकदम होंगी ही नहीं, बल्कि यह अर्थ है कि ये सब केवल ऊपर-ही-ऊपर होंगी और तुम अपने अन्दर अपनी सत्य सत्ताको इन सबसे अलग अनुभव करोगे, जो इन सबको देखती तो है पर इनके प्रवाहमें वह नहीं जाती, जो यह योग्यता रखती है कि इन सबका निरीक्षण करे और निर्णय करे तथा जिन चीजोंका त्याग करना हो उन सबका त्याग करे एवं जो कुछ सत्य चेतना और सत्य अनुभूति हो उन सबको ग्रहण और धारण करे।

मनका निष्क्रिय होना अच्छा है, पर इस विषयमें सावधान रहो कि तुम केवल सत्यके सामने तथा भागवत शक्तिके संस्पर्शके सामने ही निष्क्रिय भाव रखते हो। अगर तुम निम्न प्रकृतिकी सुझायी हुई बातों और उसके प्रभावके प्रति वैसा निश्चेष्ट भाव बनाये रहोगे तो तुम अपनी साधनामें उन्नति नहीं कर सकोगे अथवा तुम ऐसी विरोधिनी शक्तियोंके पंजेमें पड़ जाओगे जो तुम्हें योगके सच्चे मार्गसे बहुत दूर ले जा सकती है।

श्रीमाँके सामने यह अभीप्सा करो कि तुम्हारे मनमें यह अचंचलता और शान्ति सुप्रतिष्ठित हो और तुम्हें बाह्य प्रकृतिके पीछे वर्तमान तथा ज्योति और सत्यकी ओर उन्मुख इस आंतर सत्ताका बोध निरन्तर बना रहे।

जो शक्तियां साधनाके मार्गमें बाधा पहुँचाती है वे निम्नतर मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिकी शक्तियां हैं। उनके पीछे मनोमय, प्राणमय और सूक्ष्म-भौतिक जगतोंकी विरोधी शक्तियां हैं। इन सबका मुकाबला केवल तभी किया जा सकता है जब मन और हृदय एकमात्र भगवान्‌की ही अभीप्सामें एकाग्र और केंद्रित हो चुके

हो।

पहली सीढी है अचचल मन — निश्चल-नीरवता है उसके वादकी सीढ़ी; फिर भी अचचलता वहा अवश्य रहनी चाहिये; और अचंचल मनसे मेरा मतलब यह है कि भीतर एक ऐसी मनोमयी चेतना होनी चाहिये जो यह देखती है कि विचार उसके पास आ रहे है और इधर-उधर मंडरा रहे है पर वह स्वयं यह नहीं अनुभव करती कि वह विचार कर रही है या उन विचारोंके साथ तादात्म्य स्थापित कर रही है या उन्हे अपना समझ रही है। विचार, मानसिक गतियां उसके भीतरसे होकर ठीक उसी तरह गुजर सकती हैं जिस तरह पथिक कही वाहरसे एक शान्त प्रदेशमें आते हैं और उसमेंसे होकर चले जाते है — अचंचल मन उन्हें देखता है अथवा उन्हें देखनेकी परवा भी नही करता, परन्तु, उन दोनो ही अवस्थाओंमें, वह न तो क्रियाशील होता है न अपनी अचचलताको ही खोता है। निश्चल-नीरवता अचंचलतासे कुछ अधिक चीज है, इसे प्राप्त करनेका उपाय है आभ्यंतरीण मनसे विचारोंको सर्वथा वाहर निकाल देना और मनको एकदम निःशब्द वना देना या उसे हटाकर एकदम विचारोंसे वाहर रखना। परन्तु इससे भी अधिक आसानीसे इसकी स्थापना होती है ऊपरसे इसका अवतरण होनेपर — साधक इसे नीचे उतरती हुई, व्यक्तिगत चेतनामें प्रवेश करती हुई और उसे अधिकृत करती हुई या उसे चारों ओरसे घेरती हुई अनुभव करता है और तब उसकी व्यक्तिगत चेतना विशाल नैर्व्यक्तिक निश्चल-नीरवतामें अपने-आपको विलीन करनेमें प्रवृत्त होती है।

*

मनको ऐसे ढगसे अचंचल वना देना कि कोई विचार न आये आसान नही है और साधारणतया इसमें समय लगता है। अत्यन्त आवश्यक वात है मनमें अचंचलता-का अनुभव करना जिसमें कि यदि विचार आयें तो वे मनको विक्षुब्ध न करें अथवा अधि-कृत न करें या उसे अपने पीछे-पीछे न चलाये, वल्कि मात्र उसके भीतरसे गुजर जायं। सबसे पहले मन गुजरते हुए विचारोंका साक्षी होता है और उनका चिंतक नही होता, पीछे वह इस योग्य हो जाता है कि वह विचारोंका निरीक्षण न करे वरन् उन्हें विना देखे गुजर जाने दे और अपने अन्दर एकाग्र हो अथवा उस वस्तुपर एकाग्र हो जिसे वह विना कठिनाईके चुन लेता है।

दो प्रधान वस्तुएं है जिन्हें साधनाके आधारके रूपमें प्राप्त करना होगा — चैत्य पुरुषका उद्घाटन तथा ऊर्ध्वस्थित आत्माका साक्षात्कार। चैत्य पुरुषके उद्-घाटनके लिये श्रीमाताजीपर एकाग्र होना और उनको आत्मनिवेदन करना सीधा पथ है। भक्तिके वढनेका जो तुम अनुभव करते हो वह चैत्य विकासका प्रथम लक्षण

है। श्रीमाताजीकी उपस्थिति या शक्तिका बोध या उनकी स्मृति और यह अनुभव कि वह तुम्हें सहारा दे रही और बल दे रही है — यह दूसरा लक्षण है। अन्तमें, अतरस्थ अंतरात्मा अभीप्सा करनेमें सक्रिय होना आरम्भ करता है और चैत्य ज्ञान मनको समुचित विचारोंकी ओर, प्राणको समुचित गतिविधियों और अनुभवोंकी ओर ले जाने लगता है, उन सब चीजोंको दिखाने और परित्याग करने लगता है जिन्हें त्याग देना है और समस्त सत्ताको, उसकी सभी गतिविधियोंमें, एकमात्र भगवान्‌की ओर मोड़ने लगता है। आत्मसाक्षात्कारके लिये मनमें शान्ति और निश्चल-नीरवताका होना पहली शर्त्त है। उसके बाद साधक मुक्ति, स्वातत्र्य, विशालताका अनुभव करना, एक निश्चल-नीरव, प्रशान्त, किसी वस्तु या सभी वस्तुओंसे अस्पृष्ट, सर्वत्र और सबमें विद्यमान, भगवान्‌के साथ संयुक्त या एकाकार चेतनामें निवास करना आरम्भ करता है। दूसरी अनुभूतियां भी मार्गमें आती है या आ सकती है, जैसे कि आतरिक सूक्ष्म-दृष्टिका उद्‌घाटन, भीतर दिव्य शक्तिके कार्य करनेका बोध और क्रियाकी विभिन्न गतियों और घटनाओंका बोध आदि। साधक चेतनाके ऊपर उठने तथा ऊपरसे दिव्य शक्ति, शान्ति, आनन्द या ज्योतिके अवतरित होनेके विषयमें भी सचेतन हो सकता है।

*

निश्चल-नीरवता सदा ही अच्छी होती है; पर मनकी अचंचलतासे मेरा मतलब यह नहीं है कि मन बिलकुल ही निश्चल-नीरव हो जाय। मेरा मतलब यह है कि मन सब प्रकारकी हलचल और बेचैनीसे मुक्त हो, धीर-स्थिर, शान्त और प्रसन्न हो जिसमें वह अपने-आपको उस शक्तिकी ओर खोल सके जो प्रकृतिका रूपांतर करेगी। प्रधान बात यह है कि बेचैन करनेवाले विचारों, विकृत अनुभवों, भावनाओंकी उलझनों तथा दुःखदायी वृत्तियोंके मनपर निरन्तर आक्रमण करते रहनेकी जो आदत पड़ जाती है उससे छुटकारा पाया जाय। ये सब चीजें प्रकृतिमें विक्षोभ उत्पन्न करती हैं, उसे आच्छादित करती हैं और दिव्य शक्तिके लिये कार्य करना कठिन बना देती हैं। जब मन अचंचल और शान्त होता है तब दिव्य शक्ति अधिक आसानीसे अपना काम कर सकती है, तुम्हारे लिये यह संभव होना चाहिये कि तुम अपने अन्दरकी उन सब चीजोंको बिना घबड़ाये या अवसन्न हुए देख सको जिनका परिवर्तन करना आवश्यक है और तब परिवर्तन और भी अधिक आसानीसे हो सकता है।

*

शून्य मन और स्थिर मनमें भेद यह है कि जब मन शून्य हो जाता है तब उसमें कोई विचार नहीं रहता, कोई धारणा नही रहती, किसी प्रकारकी कोई मानसिक क्रिया नहीं होती, केवल वस्तुओंकी एक मूलगत प्रतीति होती है, उनके विषयमें

कोई बधी-बधाई भावना नही होती। किन्तु स्थिर मनमें मनोमय सत्ताका सार-तत्त्व ही शान्त हो जाता है, इतना शान्त हो जाता है कि कोई भी चीज उसे विचलित नही करती। यदि विचार आते या क्रियाएं होती है तो वे मनमेंसे बिलकुल ही नहीं उठतीं, बल्कि वे बाहरसे आती हैं और ठीक वैसे ही मनमेंसे गुजर जाती है जैसे पक्षियोंका दल निर्वात आकाशमेंसे होकर गुजर जाता है। वह गुजर जाता है, कहीं कोई हलचल नही मचाता, कही कोई चिह्न नही छोड़ जाता। यदि हजारों आकृतियां या अत्यन्त प्रचड घटनाएं भी मनके भीतरसे होकर गुजरें तो भी उसकी शान्त अचंचलता बनी रहती है, मानो उस मनकी रचना ही एक शाश्वत और अविनाशी शान्तिके तत्त्वसे हुई हो। जिस मनने इस स्थिरताको प्राप्त कर लिया है वह कार्य करना आरम्भ कर सकता है, यहांतक कि तीव्रता और शक्तिशालिताके साथ कार्य कर सकता है, पर फिर भी वह अपनी मूलगत निस्तब्धताको बनाये रखेगा — वह अपने भीतरसे कुछ भी नही उत्पन्न करेगा, बल्कि ऊपरसे जो कुछ आयेगा उसे वह ग्रहण करेगा और उसे एक मानसिक रूप प्रदान करेगा, उसमें अपनी ओरसे कुछ भी नही मिलायेगा, और यह सब वह धीर-स्थिर और अनासक्त होकर करेगा, यद्यपि करेगा सत्यके आनन्दके साथ तथा सत्यके आत्मप्राकटचकी सुखदायी शक्ति और ज्योतिके साथ।

*

निश्चल-नीरव हो जाना, विचारोसे मुक्त तथा निस्पंद हो जाना मनके लिये कोई बुरी बात नही है — कारण, प्राय: ही जब मन निश्चल-नीरव हो जाता है तब ऊपरसे एक सुविशाल शान्तिका पूर्ण अवतरण होता है और उस विशाल शान्तावस्थामें उस शान्त आत्माका साक्षात्कार होता है जो मनसे ऊपर अपनी बृहत् सत्ताको सर्वत्र फैलाये हुए है। परन्तु इस अवस्थामें कठिनाई यह होती है कि जब यह शान्ति और मनकी निश्चल-नीरवता प्राप्त हो जाती है तब प्राणमय मन तेजीसे भीतर घुस आने और उस स्थानको अधिकृत करनेकी चेष्टा करता है अथवा उसी उद्देश्यसे यंत्रवत्-चालित मन अपने तुच्छ अभ्यासगत विचारोंकी परंपराको जारी करनेकी कोशिश करता है। इस अवस्थामे साधकको चाहिये कि वह सावधानीके साथ इन सब आगंतुकोंको दूर हटा दे तथा इन्हें एकदम शान्त कर दे जिसमें कम-से-कम ध्यानके समय मन और प्राणकी शान्ति और स्थिरता पूरी मात्रामें बनी रहे। अगर तुम दृढ़ और शान्त संकल्प बनाये रखो तो तुम इस कार्यको सबसे उत्तम रूपमें कर सकते हो। इस तरहका संकल्प उस पुरुषका संकल्प होता है जो मनके पीछे रहता है; जब मन शान्त हो जाता है, जब वह निश्चल-नीरव हो जाता है तब हम उस पुरुषको जान सकते हैं जो पुरुष भी निश्चल-नीरव है और प्रकृतिकी क्रियासे अलग है।

शान्त, धीर-स्थिर, आत्मप्रतिष्ठित होनेमें मनकी यह अचंचलता, बाह्य प्रकृतिसे आंतर पुरुषकी यह पृथकता बहुत सहायक होती है, प्राय: अनिवार्य होती है। जबतक हमारी सत्ता विचारोंके भंवरमें फंसी रहती है अथवा प्राणमय गतियोंके विक्षोभसे

प्रभावित होती है तबतक हम इस तरह शान्त तथा आत्मप्रतिष्ठ नहीं हो सकते। इन सबसे अपने-आपको अलग करना, इनसे हटकर पीछे खड़ा होना, इन्हें अपने-आपसे पृथक् अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तविक व्यक्तित्वको खोज निकालनेके लिये तथा अपनी प्रकृतिमें उसे मूर्तिमान् करनेके लिये दो चीजोंकी आवश्यकता है — पहली चीज है हृदयके पीछे रहनेवाले अपने अन्तरात्माके विषयमें सचेतन होना तथा दूसरी है प्रकृतिसे पुरुषकी यह पृथक्ता। क्योंकि हमारा सच्चा व्यक्तित्व पीछे है और बाह्य प्रकृतिकी क्रियाओं-के द्वारा ढका हुआ है।

इसका कारण महज यह है कि तुम मानसिक और प्राणिक क्रियाओं तथा संबंधोंसे भरे हुए हो। साधकमें ऐसी शक्ति होनी चाहिये कि वह मन और प्राणको शान्त कर दे, यदि प्रारम्भमें सब समय वह शान्त न भी कर सके तो भी जब वह चाहे तब अवश्य कर दे — क्योंकि सच पूछा जाय तो ये मन और प्राण ही चैत्य पुरुष तथा आत्माको ढक देते हैं और उनमेंसे (चैत्य पुरुष और आत्मामेंसे) किसीको प्राप्त करने-के लिये मनुष्यको उनके (मन और प्राणके) पर्देके भीतरसे जाना होता है। परन्तु वे यदि बराबर सक्रिय हों और उनकी क्रियाओंके साथ यदि तुम सदैव एकात्म बने रहो तो पर्दा सर्वदा बना रहेगा। यह भी संभव है कि तुम इन क्रियाओंसे अपनेको पृथक् रखो और उनकी ओर इस प्रकार देखो मानो वे तुम्हारी अपनी क्रियाएं न हों बल्कि प्रकृतिकी कोई यांत्रिक क्रिया हों जिसे तुम एक निर्लिप्त साक्षीकी भांति देखते हो। उस समय मनुष्य एक आंतर सत्ताके विषयमें सज्ञान होता है जो पृथक् और शान्त होती है तथा प्रकृतिमें अंतर्ग्रस्त नहीं होती। यह आंतर मन या प्राण पुरुष हो सकता है, न कि चैत्य पुरुष, पर आंतरिक मनोमय और प्राणमय पुरुषकी चेतनाको प्राप्त करना सर्वदा ही चैत्य पुरुषके उद्‌घाटनकी ओर जानेका एक पग होता है।

हां, वाणीपर पूरा संयम प्राप्त करना कहीं अच्छा होगा — यह अपने भीतर पैठने तथा सच्ची आंतर और यौगिक चेतना विकसित करनेका एक महत्त्वपूर्ण पग है।

*

पहले इस बातको स्मरण रखो कि साधनाको निर्विघ्न बनानेके लिये चंचल मन और प्राणकी शुद्धिसे उत्पन्न एक आंतरिक अचंचलताकी सबसे पहले आवश्यकता है। उसके बाद यह याद रखो कि बाहरी कर्म करते समय श्रीमांकी उपस्थितिका अनुभव करना ही साधनामें बहुत कुछ अग्रसर होना है और इसे पर्याप्त आंतरिक उन्नति हुए बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता। संभवतः जिस बातको तुम इतना अधिक आवश्यक अनुभव करते हो पर जिसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर पाते वह है इस बात-का सतत और स्पष्ट अनुभव होना कि श्रीमांकी शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है, ऊपरसे अवतरित हो रही है और तुम्हारी सत्ताके विविध स्तरोंको अधिकृत कर

रही है। यह अनुभव प्राय. ही आरोहण और अवरोहणकी द्विविध गति आरंभ होनेके पहले हुआ करता है, समय आनेपर यह अनुभव तुम्हें भी अवश्य होगा। इन बातोंके प्रत्यक्ष रूपमें आरंभ होनेमे बहुत लम्बा समय लग सकता है, विशेषकर उस अवस्थामें जब कि मनको बहुत अधिक क्रियाशील होनेका अभ्यास हो और निश्चल-नीरव होनेकी आदत उसमे बिलकुल न हो। यह (मनकी) सक्रियता एक तरहका पर्दा डाल देती है और जबतक यह रहती है तबतक मनकी चंचल यवनिकाके पीछे बहुतसा कार्य करना पडता है और साधक यह समझता है कि कुछ भी नहीं हो रहा है जब कि उसे तैयार करनेके लिये वास्तवमें बहुतसा आरंभिक कार्य होता रहता है। अगर तुम बहुत शीघ्र और सुस्पष्ट उन्नति करना चाहो तो यह केवल तभी हो सकता है जब तुम निरन्तर आत्मनिवेदनके द्वारा अपने हृत्पुरुपको सामने ले आओ। इसके लिये तीव्र अभीप्सा करो, पर अधीरताको मत आने दो।

*

मनकी अचचलताको बनाये रखो और अगर वह अचंचलता कुछ समयतक सूनी भी मालूम हो तो उसकी कोई परवा मत करो; हमारी चेतना बहुत बार एक पात्रकी तरह होती है जिसमेंसे मिश्रित तथा अवांछित वस्तुओंको निकाल देना पड़ता है और उसे कुछ समयतक खाली रखना पड़ता है, जबतक कि वह नवीन और यथार्थ, उचित और विशुद्ध वस्तुसे नहीं भर दी जाती। परन्तु उस समय एक बातसे बचना चाहिये और वह यह है कि कहीं उन्ही पुरानी गंदी चीजोंसे वह पात्र फिर न भर जाय। उतने दिन प्रतीक्षा करो, ऊपरकी ओर अपने-आपको खोले रखो, बड़ी धीरता और स्थिरताके साथ, अत्यधिक बेचैनी और व्याकुलताके साथ नही, शान्तिका आवाहन करो जिसमें उस निश्चल-नीरवतामें वह उतर आये, और जब एक बार वहां शान्ति स्थापित हो जाय तब आनन्द और भागवत उपस्थितिका आवाहन करो।

*

यद्यपि आरम्भमें स्थिरता एक अभावात्मक वस्तु ही मालूम होती है, फिर भी उसे प्राप्त करना इतना कठिन है कि यदि उसकी भी प्राप्ति हो जाय तो यह मानना पड़ेगा कि साधनामें बहुत कुछ उन्नति हो गयी है।

वास्तवमें स्थिरता कोई अभावात्मक वस्तु नहीं है, यह तो सत्पुरुपका अपना स्वरूप है और भागवत चेतनाका भावात्मक आधार है। अन्य चाहे जिस वस्तुकी अभीप्सा की जाय, चाहे कोई वस्तु प्राप्त की जाय, पर इसे अवश्य बनाये रखना चाहिये; यहांतक कि ज्ञान, शक्ति और आनन्द अगर आते हैं और उन्हें यह आधार नही मिलता तो वे ठहर नही पाते और उन्हें तबतकके लिये वापस लौट जाना पड़ता है जबतक कि सत्पुरुपकी दिव्य पवित्रता और शान्ति वहां स्थायी रूपसे नही स्थापित हो जाती।

भागवत चेतनाकी जो और दूसरी-दूसरी चीजें हैं उनके लिये अभीप्सा करो, परन्तु यह अभीप्सा स्थिर और गभीर होनी चाहिये। यह स्थिर होती हुई भी तीव्र हो जाती है, पर यह अधीर, अशान्त या राजसिक उत्सुकतासे भरी हुई नहीं होनी चाहिये।

केवल अचंचल मन और अचचल सत्ताके अन्दर ही अतिमानस-सत्य अपनी सच्ची सृष्टिकी रचना कर सकता है।

*

सबसे पहले यह अभीप्सा तथा श्रीमाँसे प्रार्थना करो कि तुम्हारे मनमें अचंचलता स्थापित हो, तुममें शुद्धता, स्थिरता और शान्तिका निवास हो, तुम्हें प्रबुद्ध चेतना, प्रगाढ़ भक्ति, तथा समस्त आंतर और बाह्य कठिनाइयोंका सामना करनेके लिये और योगसाधनामें अन्ततक पहुँचनेके लिये बल और आध्यात्मिक सामर्थ्य प्राप्त हो। अगर चेतना जागृत हो जाय और वहां भक्ति तथा अभीप्साकी तीव्रता हो तो मनके लिये क्रमशः ज्ञानसपन्न होना संभव हो जायगा, अवश्य ही अगर वह अचचल और शान्त होना सीख ले।

*

शान्त, अक्षुब्ध और अचंचल होना साधनाकी नहीं बल्कि सिद्धिकी पहली शर्त है। केवल थोड़ेसे लोग (बहुत थोड़े, सौमें एक, दो, तीन या चार साधक) ही ऐसे होते है जो उसे प्रारम्भसे ही प्राप्त कर सकते हैं। अधिकांश लोगोंको कहीं इसकी समीपतातक पहुँचनेसे पहले लंबे समयतक तैयारी करनी पड़ती है। उसके बाद भी जब वे शान्ति और स्थिरताको अनुभव करना आरम्भ करते हैं तो उसे स्थापित करनेमें समय लगता है — वे काफी लंबे समयतक शान्ति और अशान्तिके बीच झूलते रहते हैं जबतक कि प्रकृतिके सभी भाग सत्य और शान्तिको स्वीकार नहीं कर लेते। अतएव तुम्हारे लिये यह मान लेनेका कोई कारण नहीं कि तुम प्रगति नहीं कर सकते अथवा लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकते। तुम्हें अपनी प्रकृतिके एक भागमें बहुत कठिनाई महसूस हो रही है जो इन भावनाओंकी ओर खुले रहनेका, श्रीमाताजीसे पृथक्त्व और सबंधियोंसे आसक्त रहनेका अभ्यासी है, और उन्हें छोड़नेके लिये इच्छुक नहीं है — बस यही बात है। परन्तु प्रकृतिके उस भागमें प्रत्येक साधकके सामने — यहांके अत्यन्त सफल साधकोंके भी सामने — वैसी ही दुःसाध्य कठिनाइयां आती हैं। जबतक वहां ज्योतिकी विजय नहीं हो जाती तबतक मनुष्यको सतत प्रयास करते रहना होता है।

*

यदि शान्तिका अनुभव न भी हो तो साधकको आगे बढ़ते रहना चाहिये — अचचलता और एकाग्रता आवश्यक हैं। उच्चतर स्थितियोंके विकसित होनेके लिये

शान्ति बडी आवश्यक है।

II

"Peace (पीस), calm (कॉम), quiet (क्वायट), silence (साइलेंस)" — इन शब्दोमेसे प्रत्येकका अर्थ अलग-अलग है, पर उनकी व्याख्या करना आसान नही है।

Peace (पीस) — शांति
Calm (कॉम) — स्थिरता
Quiet (क्वायट) — अचंचलता
Silence (साइलेस) — निश्चल-नीरवता

अचचलता एक ऐसी अवस्था है जिसमें कोई बेचैनी या उथल-पुथल नही होती।
स्थिरता और भी अचल अवस्था है जिसे कोई विक्षोभ प्रभावित नहीं कर सकता।
शान्ति और भी अधिक भावात्मक अवस्था है; इसमें एक प्रकारकी सुस्थित और सुसमजस विश्रांति और मुक्तिका बोध होता है।

निश्चल-नीरवता एक ऐसी स्थिति है जिसमें या तो मन या प्राणकी कोई क्रिया नही होती अथवा एक महान् प्रशान्ति होती है जिसका कोई ऊपरी तलकी क्रिया भेदन या परिवर्तन नही कर सकती।

*

अचचलता कुछ-कुछ अभावात्मक स्थिति है — यह विक्षोभका अभाव है।

स्थिरता भावात्मक स्तब्धता है जो उपरितलीय विक्षोभके बावजूद भी बनी रह सकती है।

शान्ति है एक प्रकारकी स्थिरता जो गभीर होते-होते एक ऐसी चीज बन जाती है जो बहुत भावात्मक होती है और लगभग एक प्रकारका स्तब्ध तरंगहीन आनन्द बन जाती है।

निश्चल-नीरवता चिंतन अथवा अन्य क्रियाशीलताके प्रकंपकी समस्त गतिका अभाव है।

*

स्थिरता प्रबल और भावात्मक अचंचलता है, सुदृढ़ और ठोस — साधारण अचंचलता महज अभावात्मक स्थिति है — महज विक्षोभका अभाव।

शाति गहरी अचंचलता है जहां कोई विक्षोभ नही आ सकता — ऐसी अचचलता है जिसमें सुप्रतिष्ठित सुरक्षा और मुक्तिका बोध होता है।

पूर्ण निश्चल-नीरवतामें या तो कोई विचार नही होते या विचार आते है, पर वे वाहरसे आनेवाली और निश्चल-नीरवताको भंग न करनेवाली किसी चीजके रूप-में अनुभूत होते हैं।

मनकी निश्चल-नीरवता, मनकी शान्ति या स्थिरता तीन अलग-अलग चीजे हैं जो एक-दूसरेके बहुत समीप हैं और एक-दूसरीको ले आती हैं।

*

अचंचलता उस अवस्थाको कहते है जव मन या प्राण विक्षुब्ध, अशांत तथा विचारों और भावनाओंके द्वारा वहिर्गत या परिपूर्ण न हो। विशेषत: जव दोनो (मन और प्राण) ही अनासक्त होते और इन सबको एक उपरितलीय क्रियाके रूपमें देखते हैं तो हम कहते है कि मन या प्राण अचंचल है।

स्थिरता इससे अधिक भावात्मक स्थिति है, यह महज विक्षुब्धता, अति-क्रिया-शीलता या उपद्रवका अभाव नही है। जव एक सुस्पष्ट या महान् या प्रबल स्तब्धता विद्यमान होती है जिसे कोई चीज भंग नही करती या भंग नही कर सकती, तव हम कहते हैं कि स्थिरता स्थापित हो गयी है।

*

ये (स्तब्धता और निश्चलता) साधारण शब्द है, ये कोई विशेष यौगिक अर्थ नहीं रखते, साधारण अर्थ रखते हैं। अचंचलता, स्थिरता और शान्ति इन सबको स्तब्धता कहा जा सकता है; निश्चल-नीरवता उस चीजसे मिलती-जुलती है जो निश्चलताका तात्पर्य है।

*

यह मन और प्राणकी निश्चल-नीरवता है — यहां निश्चल-नीरवताका अर्थ केवल विचारोंका वन्द हो जाना नहीं है वल्कि मानसिक और प्राणिक उपादान-तत्त्व-का निष्कंप हो जाना है। इस निष्कंपताकी गहराईकी विभिन्न मात्राएं होती है।

*

पहली है व्यक्तिगत आधारकी सामान्य मौलिक स्थिरता — दूसरी है वैश्व चेतनाकी मौलिक असीम स्थिरता, वह स्थिरता सर्वदा वनी रहती है, चाहे वह समस्त क्रियाओंसे पृथक् हो या उन्हें सहारा देती हो।

यह ऊर्ध्वस्थित आत्माकी स्थिरता है जो आत्मा नीरव, अक्षर और अनन्त है।

*

शान्ति स्थिरताकी अपेक्षा अधिक भावात्मक स्थिति है — एक अभावात्मक स्थिरता भी हो सकती है जो विक्षोभ या उपद्रवका महज अभाव है, परन्तु शान्ति सर्वदा ही कोई भावात्मक वस्तु होती है जो स्थिरताकी तरह केवल मुक्तिका बोध नही ले आती बल्कि एक विशेष प्रकारकी प्रसन्नता अथवा स्वयं आनन्दको ले आती है।

एक भावात्मक स्थिरता भी होती है, एक ऐसी चीज जो उपद्रव मचानेवाली सभी वस्तुओंके विरुद्ध अडिग बनी रहती है, जो अभावात्मक स्थिरताकी तरह पतली और उदासीन नही होती बल्कि प्रबल और ठोस होती है।

*

शान्तिमें निश्चलताके बोधके साथ-साथ एक प्रकारकी सुसंगति होती है जो मुक्ति और पूर्ण संतुष्टिका बोध प्रदान करती है।

*

शान्ति निस्तब्धता और स्थिरता है — वह आनन्द नही है। अवश्य ही एक प्रकारका स्थिर आनन्द हो सकता है।

*

शान्ति मुक्तिका चिह्न है — आनन्द सिद्धिकी ओर जाता है।

*

यह आवश्यक नही कि शान्ति गंभीर या हर्षहीन हो — इसमें कोई भी चीज खिन्न नही होनी चाहिये — परन्तु प्रसन्नता या हर्ष या हलकेपनका बोध जो शांतिके अन्दर आता है उसे निश्चित रूपसे कोई आंतरिक वस्तु, स्वतःसिद्ध होनी चाहिये या अनुभूतिके गहरी होनेके कारण उत्पन्न होना चाहिये — तुम जिस ठहाकेकी बात करते हो उसकी तरह इसे किसी बाहरी कारणसे अथवा उसपर निर्भर करके, उदाहरणार्थ, किसी मजेदार, उल्लासकारी वस्तु आदिकी तरह प्रकट नही किया जा सकता।

*

हर्ष भी अन्दर गहराईमें होना चाहिये, तब शान्ति और आंतरिक चेतनाकी गहराइयोंके साथ उसका संघर्ष नही होगा।

*

वे (शान्ति और धैर्य) एक साथ रहते है। सभी प्रकारके दवावोंके अधीन धैर्य बनाये रखकर तुम शान्तिका आधार स्थापित करते हो।

*

यह (पवित्रता) एक तत्त्वकी अपेक्षा कहीं अधिक एक अवस्था है। शान्ति पवित्रता प्राप्त करनेमें सहायता करती है —— क्योंकि शान्तिके अन्दर विक्षुब्ध करने-वाले प्रभाव समाप्त हो जाते है और पवित्रताका सारतत्त्व है केवल भागवत प्रभावको प्रत्युत्तर देना और अन्य क्रियाओंके साथ कोई संपर्क न रखना।

*

पवित्रता है किसी दूसरे प्रभावको नहीं, बल्कि केवल भगवान्‌के प्रभावको स्वीकार करना।

*

पवित्रताका अर्थ है गंदगी या मिलावटसे मुक्त रहना। दिव्य पवित्रता वह चीज है जिसमें निम्नतर प्रकृतिकी गंदी अज्ञानपूर्ण क्रियाओंका कोई मिश्रण न हो। साधारणतया (सामान्य भाषाके अन्दर) पवित्रताका अर्थ माना जाता है कामवासनाके आवेग और प्रकोपसे मुक्त रहना।

*

चैत्यकी अपेक्षा भागवत पवित्रता एक अधिक विशाल और सर्वालिंगनकारी अनुभूति है।

*

पवित्रता या अपवित्रता चेतनापर निर्भर है; भागवत चेतनाके अन्दर सब कुछ पवित्र है, अज्ञानमें सब कुछ अपवित्रताके अधीन है, केवल शरीर या शरीरका कोई भाग ही नहीं, बल्कि मन और प्राण और सब कुछ। केवल आत्मा और चैत्य पुरुष सर्वदा पवित्र बने रहते हैं।

*

पवित्र मनका अर्थ है वह मन जो अचंचल हो तथा निरर्थक या विघ्नकारी स्वभाववाले विचारोंसे मुक्त हो।

*

अचंचल मन वह मन है जो परेशान नहीं होता, अस्थिर नहीं होता और मानसिक कार्यकी आवश्यकतासे सर्वदा स्पंदित होता रहता है।

तुम जिस चीजकी बात कर रहे हो वह एकाग्र मन है, जो किसी चीज या किसी विषयपर एकाग्र है। वह एकदम भिन्न चीज है।

*

क्या तुम यह समझते हो कि अचंचल मन किसी वस्तुका त्याग नहीं कर सकता और केवल चंचल मन ही वैसा कर सकता है? सच पूछो तो अचंचल मन ही सर्वोत्तम रूपसे वैसा कर सकता है। अचंचल होनेका अर्थ जड और तामसिक होना नहीं है।

*

यह निरर्थक बात है। मनसे कुछ न करना ही अचंचल या नीरव होना नहीं है। निष्क्रियतामें तो मन यांत्रिक रूपमें सोचता रहता और किसी एक विषयपर एकाग्र होनेके बदले चारों ओर बिखरा होना है — बस, यही बात है।

*

निष्क्रिय शान्ति कुछ करती है — ऐसा नहीं माना जाता। सच पूछो तो जब पूर्ण ठोस रूपसे शान्ति उपस्थित हो जाती है तो केवल उसीके द्वारा समस्त विक्षोभ ऊपरी सतहपर अथवा चेतनाके बाहर ठेल दिया जाता है।

*

निश्चल शान्तिका यह सामान्य स्वभाव नहीं है कि वह केवल निष्क्रियतामें ही एकाग्र हो सकती है। वह कर्ममें या कर्मके पीछे भी रह सकती और एकाग्र हो सकती है।

*

सच पूछा जाय तो यह अचंचल और सहज-स्वाभाविक कर्म ही विशिष्ट दिव्य कर्म है। आक्रामक कर्म, जैसा कि तुम कहते हो, केवल तव होता है जब वहां विघ्न और विरोध हो। परन्तु इसका मतलव यह नही कि अचचल शक्ति तीव्र नहीं हो सकती। यह आक्रामककी अपेक्षा अधिक तीव्र हो सकती है, परन्तु इसकी तीव्रता केवल शांतिकी तीव्रताको बढ़ाती है।

*

हां, निश्चय ही, मानसिक शान्ति, प्राणिक शान्ति और भौतिक प्रकृतिकी शांति भी होती है। ऊपरसे जो शांति अवतरित होती है वह उच्चतर चेतनाकी शाति होती है।

*

यह एक ही शाति है – पर यह स्थूल रूपमे स्थूल पदार्थमें, ठोस रूपमें भौतिक मन और स्नायु-सत्तामें, साथ ही आंतरिक रूपमे मन और प्राणमे अथवा सूक्ष्म रूपमें सूक्ष्म शरीरमें अनुभूत होती है।

*

निस्सन्देह, शांति, पवित्रता और निश्चल-नीरवता सभी स्थूल वस्तुओंमें अनुभूत हो सकती हैं — क्योंकि दिव्यात्मा सवके अन्दर विद्यमान है।

*

विश्व-ब्रह्मांडके पीछे जो विराट् निश्चल-नीरवता विद्यमान है उसीपर विश्वकी समस्त गतिविधि अवलंबित है।

दिव्य निश्चल-नीरवतासे ही शान्ति आती है; जव शान्ति गभीर और गभीर होती जाती है तो वह अधिकाधिक निश्चल-नीरवता वनती जाती है।

अधिक वाह्य अर्थमें निश्चल-नीरवता शब्दका प्रयोग उस स्थितिके लिये होता है जिसमे विचार या अनुभव आदिकी कोई क्रिया नही होती, केवल मनकी महान् निस्तब्धता वनी रहती है।

परन्तु निश्चल-नीरवतामें कर्म हो सकता है, स्थिरभावसे ठीक वैसे ही जैसे कि वैश्व कर्म वैश्व निश्चल-नीरवतामें चलता रहता है।

*

निष्क्रिय-नीरवता वह स्थिति है जिसमें आंतरिक चेतना शून्य और प्रशांत बनी रहती है, बाहरी चीजो और शक्तियोंके प्रति कोई प्रतिक्रिया नही करती।

सक्रिय निश्चल-नीरवता वह स्थिति है जिसमें एक महान् शक्ति होती है जो निश्चल-नीरवताको भग किये बिना वस्तुओं और शक्तियोंपर फैल जाती हैं।

*

प्रयत्न, बाधा-विघ्न आदिसे सत्ताका विश्राम। आत्मा कर्मके भीतर भी आंतरिक रूपसे प्रशात रहता है — शाति ही यह आध्यात्मिक विश्राम प्रदान करती है। तमस् तो इससे अध पतन है और अकर्मण्यतामे ले जाता है।

*

सपूर्णत. निश्चल-नीरव मनमे सामान्यतया बिना किसी सक्रिय गतिके भगवान्-के निष्क्रिय भावका अनुभव होता है। परन्तु उस स्थितिमें सभी उच्चतर विचार और अभीप्साए और क्रियाएं उठ सकती है। अतएव उस समय कोई अखण्ड नीरवता नही होती बल्कि साधक पृष्ठभूमिमें एक मौलिक निश्चल-नीरवताका अनुभव करता है जो किसी भी क्रियासे विक्षुब्ध नही होती।

*

संभवतः तुम सर्वदा यह समझते हो कि चूँकि निश्चल-नीरवता चेतनामें विद्य-मान है इसलिये समूची चेतना अवश्य ही उससे एक समान प्रभावित रहेगी। परन्तु मानव-चेतना उस तरह एक टुकड़ेसे बनी हुई नही है।

*

यह संभव नही कि यह सहज-स्वाभाविक निश्चल-नीरव स्थिति तुरत-फुरत सदाके लिये स्थायी हो जाय, पर यही चीज है जिसे साधकमें बढ़ना चाहिये जबतक कि सतत आंतरिक निश्चल-नीरवता न स्थापित हो जाय — ऐसी निश्चल-नीरवता जो किसी बाहरी क्रियासे या यहांतक कि आक्रमण या विघ्न डालनेके किसी प्रयाससे भी भंग न हो सके।

जिस अवस्थाका तुम वर्णन करते हो वह निश्चित रूपसे इस आंतरिक निश्चल-नीरवताकी वृद्धिको सूचित करती है। इसे अन्तमें समस्त आध्यात्मिक अनुभव और क्रियाके आधारके रूपमें स्थापित हो जाना होगा। यदि कोई यह न जाने कि निश्चल-नीरवताके पीछे अपने अन्दर क्या कार्य चल रहा है तो इससे कुछ फर्क नही पड़ता।

कारण, योगसाधनामें दो अवस्थाएं आती हैं — एक वह जिसमें सब कुछ नीरव होता है और साधकके मनमें कोई विचार, भावना या क्रिया नहीं होती जब कि वह दूसरोंकी तरह ही बाहरमें कार्य भी करता रहता है — दूसरी वह अवस्था होती है जिसमें एक नवीन चेतना सक्रिय हो जाती है और ज्ञान, हर्ष, प्रेम तथा दूसरी-दूसरी आध्यात्मिक भावनाएं तथा आंतरिक क्रियाएं ले आती है, पर फिर भी उसके साथ-ही-साथ एक प्रकारकी मौलिक निश्चल-नीरवता या अचंचलता बनी रहती है। ये दोनों ही अवस्थाएं आंतरिक सत्ताके विकासके लिये आवश्यक हैं। अखण्ड निश्चल-नीरव स्थिति, जिसमें हल्कापन, सूनापन और मुक्तिका भाव होता है, दूसरी अवस्थाके आने-की तैयारी करती है और जब वह आती है तो उसे धारण करती है।

III

हां, जो सुस्थिर शांति और शक्ति तीव्रता तथा समतोलता बनाये रखती है और जिसमेंसे प्रत्येक विजातीय वस्तु झड़ जाती है, वह योगका सच्चा आधार है।

*

निश्चय ही यह चीज ऐसी ही होनी चाहिये। इस चीजको अवश्य ही इतनी दूरतक चले जाना चाहिये कि तुम इस शांति और विशालताको एकदम अपना स्वरूप, अपनी चेतनाका स्थायी उपादानतत्त्व — अपरिवर्तनीय रूपसे वहां विद्यमान अनु-भव करने लगो।

*

यह निस्संदेह बहुत अच्छा है। शांति और निश्चल-नीरवताको अन्दर गहराई-में बैठ जाना चाहिये, इतनी गहराईमें कि जो कुछ भी बाहरसे आये वह भीतर स्थापित स्थिरताको बिना विक्षुब्ध किये केवल ऊपरी सतहपरसे गुजर जाय। यह भी अच्छा है कि ध्यान स्वयं अपने-आप होता है — इसका अर्थ है कि योग-शक्तिने साधनाको अपने हाथमें लेना प्रारम्भ कर दिया है।

*

जब सत्ताके अन्दर सर्वत्र शांति पूरी तरह स्थापित हो जायगी तो ये चीजें (निम्न-तर प्राणकी प्रक्रियाएं) उसे विचलित करनेमें समर्थ नहीं होंगी। वे पहले ऊपरी तल-पर तरंगोंके रूपमें आ सकती हैं, फिर केवल सूचनाओंके रूपमें आती हैं जिनकी ओर मनुष्य दृष्टि डालता है अथवा दृष्टि डालनेकी परवा नहीं करता, पर दोनों अवस्था-

ओमें वे बिलकुल भीतर नहीं पैठती, प्रभावित या विक्षुब्ध नहीं करती।

इसकी व्याख्या करना कठिन है, पर यह पर्वतकी जैसी एक चीज है जिसपर मनुष्य पत्थर फेंकता है — यदि पूराका पूरा पर्वत सचेतन हो तो वह पत्थरोंका स्पर्श अनुभव कर सकता है, पर वह चीज इतनी कम और ऊपरी होगी कि वह जरा भी प्रभावित नहीं होगा। अन्तमें वह प्रतिक्रिया भी विलीन हो जाती है।

*

यदि एक बार शांति या निश्चल-नीरवता पूर्णतः स्थापित हो जाय तो ऊपरी तलपर होनेवाली चाहे जितनी भी क्रियाएं उसे भंग या नष्ट नहीं कर सकती। वह विश्वकी समस्त गतिविधियोंको वहन कर सकती है और फिर भी वैसी ही बनी रह सकती है।

*

निस्सन्देह। यदि ऊपरी सतहपर विक्षोभ हो तो भी आंतरिक सत्तामें एक सुप्रतिष्ठित शांतिको अनुभव करना बिलकुल स्वाभाविक बात है। वास्तवमें समस्त सत्तामें पूर्ण समता प्राप्त करनेसे पहले योगीकी यही सामान्य स्थिति है।

*

जब शांति और विशालता विद्यमान होती है तो भी ये चीजें (प्राणिक भौतिक अहंजन्य क्रियाएं) ऊपरी तलपर तैर सकती है और भीतर घुसनेकी चेष्टा कर सकती है — केवल तब वे चेतनाको अधिकृत नहीं करती बल्कि उसे महज छूती है। इसीको पुराने योगी प्रकृतिकी बची-खुची यांत्रिक क्रियाएं मानते थे — उसके अन्ध अभ्यासका जारी रहना समझते थे जो आत्माकी वास्तविक मुक्तिके बाद भी बना रहता था। इसे हलके रूपमें लिया जाता था और महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था — परन्तु यह दृष्टिकोण हमारे योगके लिये मान्य नहीं है, क्योंकि इसका उद्देश्य केवल पुरुषकी मुक्ति नहीं है बल्कि प्रकृतिका भी पूर्ण रूपांतर है।

*

हां, अंतर्मुखी गति यथार्थ गति है। अपने अन्दर शांति और निश्चल-नीरवतामें निवास करना प्रथम आवश्यकता है। मैंने विशालताकी बात कही थी क्योंकि निश्चल-नीरवता और शांतिकी विशालतामें ही (जिसे योगीगण एक साथ ही व्यक्तिगत और विश्वगत आत्माका साक्षात्कार मानते है) आंतर और बाह्यको समन्वित करने-

का आधार विद्यमान है। वह आयेगा।

*

जब शांति गहरी या विस्तृत होती है तो वह प्रायः आंतर सत्तामें होती है। सत्ता-के बाहरी अंग सामान्यतया अचंचलताकी एक विशेष सीमाके परे नहीं जाते — वे केवल तभी गहरी शांति प्राप्त करते हैं जब कि वे आंतर सत्तासे आनेवाली शांतिसे परिप्लावित हो जाते हैं।

*

हां, निश्चय ही — शांति आंतर सत्तासे प्रारम्भ होती है — यह आध्यात्मिक और चैत्य होती है पर यह बाहरी सत्तामें भर जाती है — जब यह कार्यकलापमें विद्य-मान रहती है तो इसका तात्पर्य है कि या तो सामान्य चचल मन, प्राण और शरीर आंतरिक शांतिकी बाढ़में डूब गये हैं अथवा, एक अधिक उन्नत अवस्थामें, वे आंशिक या पूर्ण रूपमें ऐसे विचारों, शक्तियों, भावावेगों, संवेदनोंमें पूर्णतः रूपांतरित हो गये हैं जिनके अपने एकदम उपादान-तत्त्वमें ही आंतरिक निश्चल-नीरवता और शांति विद्यमान है।

*

हमारी आंतरिक आध्यात्मिक उन्नति उतनी बाहरी अवस्थाओंपर नहीं निर्भर करती जितनी कि इस बातपर निर्भर करती है कि हम अपने भीतरसे उन अवस्थाओंके प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया करते हैं — सदासे आध्यात्मिक अनुभूतिका यह चरम सिद्धांत रहा है। यही कारण है कि हम लोग इस बातपर जोर देते हैं कि साधक उचित भाव ग्रहण करे और उसे बराबर बनाये रखे, एक ऐसी आंतरिक स्थिति प्राप्त करे जो बाह्य परिस्थितियोंपर निर्भर न करती हो, जो एकदम आरंभमें ही यदि आंतरिक प्रसन्नताकी स्थिति न हो सकती हो तो भी वह समता और स्थिरताकी एक अवस्था अवश्य हो, और वह जीवनके धक्कों और थपेड़ोंके वशमें रहनेवाले ऊपरी मनमें निवास करनेके बदले अधिकाधिक अपने भीतर प्रवेश करे और भीतरसे ही बाहरकी ओर देखे। केवल इसी आंतरिक स्थितिमें प्रतिष्ठित होनेपर साधक जीवन तथा जीवनमें बाधा पहुँचानेवाली शक्तियोंसे कहीं अधिक बलवान् बन सकता है और उनपर विजय पानेकी आशा कर सकता है।

भीतर अचंचल बने रहना, बाधा-विपत्ति या उत्थान-पतनसे विचलित या निरुत्साहित न हो पथपर चलनेके अपने संकल्पमें दृढ़ बने रहना — यही वह पहली बात है जिसे इस योगमार्गमें सीखना पड़ता है। अन्यथा करनेसे चेतनाको अस्थिर

होनेका अवसर मिल जाता है और अनुभूतिको वनाये रखनेमें कठिनाई होती है जिसकी तुमने शिकायत की है। यदि तुम अन्दरसे स्थिर और अचंचल बने रहो तो ही अनुभूतिकी धाराएं एक हदतक अबाध गतिसे प्रवाहित हो सकती है — यद्यपि ऐसा कभी नही होता कि वीच-वीचमें व्याघात और उत्थान-पतनके काल विलकुल न आते हों; पर इनका भी यदि ठीक तरहसे उपयोग किया जाय तो ये काल साधनामें व्यर्थ नष्ट हुए कालकी जगह अनुभूतिको पचाने और कठिनाइयोंको नष्ट करनेके काल वन सकते हैं।

बाह्य परिस्थितियोंकी अपेक्षा आध्यात्मिक वातावरण कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई साधक इसे प्राप्त कर सके और साथ ही अपने श्वास लेनेके लिये और उसीमे रहनेके लिये अपना निजी आध्यात्मिक वायुमंडल उत्पन्न कर सके तो यही उसकी उन्नतिके लिये समुचित अवस्था होगी।

*

तुम्हें समझ लेना चाहिये कि जहा अचंचल परिपार्श्व वांछनीय हैं, वहां सच्ची अचचलता हमारे भीतर है और कोई दूसरा वह अवस्था तुम्हें नहीं दे सकता जिसे तुम चाहते हो।

*

अभीप्सा करो, समुचित मनोभावके साथ एकाग्र होओ और, फिर चाहे जो कठिनाइया हों, जिस उद्देश्यको तुमने अपने सामने रखा है उसे तुम अवश्य प्राप्त करोगे।

पीछे जो शांति है और तुम्हारे अन्दर जो "अधिक सत्य कोई वस्तु" है, उसीमें निवास करना तुम्हें सीखना होगा और यह अनुभव करना होगा कि वही वस्तु तुम स्वयं हो। और इसके अतिरिक्त और जो कुछ है उसे तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूप नही समझना होगा, बल्कि उसे वाहरी तलपर होनेवाली उन गतियोंका प्रवाह समझना होगा जो वरावर परिवर्तित होती रहती हैं या बार-बार घटित होती रहती है और जो वास्तविक स्वरूपके प्रकट होते ही निश्चित रूपसे वन्द हो जाती है।

इसका सच्चा प्रतिकार है शांति; कठिन कार्यमें लगकर मनको दूसरी ओर फेर लेनेसे केवल अस्थायी रूपसे ही कुछ चैन मिल सकता है — यद्यपि आधारके विभिन्न भागोमें समुचित सामंजस्य बनाये रखनेके लिये कुछ कार्य करना आवश्यक है। अपने सिरके ऊपर और उसके इर्दगिर्द शांतिका अनुभव करना पहली सीढ़ी है; तुम्हें उस शांतिके साथ अपना संबंध स्थापित करना होगा और उसे तुम्हारे अन्दर अवतरित होकर तुम्हारे मन, प्राण और शरीरमें भर जाना होगा तथा तुम्हें इस प्रकार घेर लेना होगा कि तुम उसीमें निवास करने लगो — क्योंकि तुम्हारे साथ भगवान्‌की उपस्थितिके होनेका एकमात्र चिह्न यही शांति है, और अगर एक वार तुम इसे पा लो तो

वाकी चीजें अपने-आप आना आरम्भ कर देंगी।

भाषणमें सत्यता और विचारमें सत्यता वहुत महत्त्वपूर्ण है। जितना ही अधिक तुम यह अनुभव करोगे कि मिथ्यात्व अपना अंश नहीं है, वह वाहरसे तुम्हारे अन्दर आता है, उतना ही अधिक उसका त्याग करना और उसे अस्वीकार करना तुम्हारे लिये आसान हो जायगा।

अपना प्रयास जारी रखो और जो कुछ अभी वक्र है वह सरल हो जायगा तथा भगवान्‌की उपस्थितिके सत्यको तुम निरन्तर जानने और अनुभव करने लगोगे और प्रत्यक्ष अनुभूतिके द्वारा तुम्हारी श्रद्धाकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

*

जव ज्योति और शांति प्राणमय और भौतिक चेतनामें भरी होती है तो यही चीज समस्त प्रकृतिकी यथार्थ क्रियाके आधारके रूपमें सदा वनी रहती है।

भीतर, ऊपर और अस्पृष्ट, आंतरिक चेतना और आंतरिक अनुभूतिसे परिपूर्ण वने रहना,--जव आवश्यक हो तो एक या दो व्यक्तिकी वातें ऊपरी चेतनासे सुन लेना, पर उससे भी अविक्षुब्ध रहना, न तो वाहरकी ओर खिंच जाना या आक्रांत होना — वस यही साधनाकी पूर्ण स्थिति है।

*

तुमने अपनी अवस्थाके विषयमें जो कुछ लिखा है वह मोटे रूपमें सही मालूम होता है। निश्चय ही तुम्हारे भीतर एक महत्तर स्थिरता और आंतर सत्ताकी स्वतंत्रता है जो वहां पहले नहीं थी। यही चीज तुम्हें समता प्रदान करती है जिसे तुम वहां अनुभव करते हो और कहीं अधिक गंभीर उपद्रवोंसे वचनेकी क्षमता भी प्रदान करती है। जव साधकको आंतरिक स्थिरताका यह आधार प्राप्त हो जाता है तो ऊपरी तलकी कठिनाइयों और अपूर्णताओंको घवड़ाहट, उदासी आदिके विना दूर किया जा सकता है। विना आक्रमणके दूसरोंके मध्य चले जानेकी शक्ति भी उसी कारणसे आती है।

दूसरे प्रश्नके विषयमें; उस विषयमें कोई सामान्य नियम नहीं है, परन्तु तुम्हारा मनोभाव तुम्हारे लिये यथार्थ मनोभाव है — क्योंकि तुममें पीछेकी ओर एक अधिक साधारण, तीक्ष्ण और व्यापक ढंगका सच्चा मनोभाव होनेके कारण तुम्हें क्षमताका कोई विशेष विकास करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो लोग विशेष विकासकी आवश्यकता महसूस करते है वे वास्तवमें उसे मांगते हैं और उसे पाते हैं।

*

यह निश्चल-नीरवता आंतरिक चेतनाकी निश्चल-नीरवता है और वास्तवमें इसी निश्चल-नीरवतामे, जो बाहरी वस्तुओंसे अविचलित रहती है, चेतनाकी सच्ची क्रिया निश्चल-नीरवताको भंग किये विना आ सकती है — जैसे, यथार्थ बोध, संकल्प, अनुभव, कर्म। उस स्थितिमें मनुष्य श्रीमाताजीकी क्रियाको भी अधिक आसानीसे अनुभव कर सकता है। गर्मीका जहांतक प्रश्न है, यह अवश्य ही 'अग्नि'की गर्मी होगी — पवित्रीकरण और तपस्याकी अग्निकी गर्मी। जब आंतरिक क्रिया होती रहती है तो बहुधा उस प्रकारका अनुभव होता है।

मनुष्योंके साथ व्यवहार करनेके विषयमें जो तुम अनुभव करते हो वह बिलकुल सही है। यह इन वस्तुओंकी ओर देखनेका चैत्य पुरुषका तरीका है।

*

तुम्हारे पत्रमे उद्धृत उस योगीके संदेशको मैंने फिरसे पढ़ा है, परन्तु संदर्भसे पृथक् होनेके कारण उसका कोई अधिक या बहुत निश्चित तात्पर्य नही निकाला जा सकता। उसमे दो वक्तव्य है जो काफी स्पष्ट हैं:

"निश्चल-नीरवतामें ही है ज्ञान" — मनकी निश्चल-नीरवतामें ही सच्चा ज्ञान आ सकता है, क्योंकि मनकी साधारण क्रियावली केवल बाहरी भावनाओं और प्रतिरूपोंकी सृष्टि करती है जो यथार्थ ज्ञान नहीं है। वाणी साधारणतया बाह्य प्रकृति-की अभिव्यंजना होती है; अतएव ऐसी वाणी बोलनेमें अपने-आपको अत्यधिक व्यस्त करनेमे शक्तिका अपव्यय होता है और आंतर श्रवणमें बाधा पडती है जो श्रवण कि सच्चे ज्ञानका शब्द प्रदान करता है......। "श्रवणं करनेपर तुम जो कुछ सोचते हो उसे जीत लोगे" का अर्थ सभवतः यह है कि नीरवताके अन्दर सच्ची विचार-रचनाएं प्रकट होंगी जो अपने-आपको कार्यान्वित और सिद्ध कर सकती है। विचार एक शक्ति बन सकता है जो अपने-आपको संसिद्ध करती है, परन्तु साधारण उपरितलीय चिंतन उस प्रकारका नही होता; उससे और कोई कार्य होनेकी अपेक्षा कही अधिक शक्ति-का अपव्यय होता है। सच पूछो तो जो विचार अचंचल या निश्चल-नीरव मनमें आता है उसीमे शक्ति होती है।

"कम बोलो और शक्ति प्राप्त करो" का भी मूलतः यही अर्थ है; केवल सत्यतर ज्ञान ही नही, बल्कि एक महत्तर शक्ति भी मनकी अचंचलता और निश्चल-नीरवता के अन्दर आती है जो ऊपरी सतहपर बुलबुले उठानेकी जगह, अपनी निजी गहराइयों-मे पैठ सकती और जो कुछ उच्चतर चेतनासे आता है उसे सुन सकती है।

सभवतः उनका मतलब यही था; ये बातें उन सभी लोगोंको मालूम है जिन्हें योगका कुछ अनुभव प्राप्त है।

*

शांति बाह्य संस्पर्शोंकी समस्त पराधीनतासे मुक्त करती है — यह वह चीज प्रदान करती है जिसे गीता 'आत्मरति' कहती है। परन्तु आरंभमें इसे अक्षुण्ण बनाये रखनेमें कठिनाई होती है जब कि दूसरोंके साथ संबंध स्थापित होता है, क्योंकि चेतना-को वाणीके रूपमें अथवा बाह्य आदान-प्रदानके रूपमें बाहरकी ओर दौड़ पडनेकी या फिर सामान्य स्तरपर नीचे उतर आनेकी आदत होती है। अतएव साधकको जबतक यह स्थापित नहीं हो जाती तबतक बहुत सावधान रहना चाहिये। एक बार स्थापित हो जानेपर यह सामान्यतया अपनी रक्षा आप करती है, क्योंकि उच्चतर शांतिसे भरपूर चेतनाके लिये सभी बाहरी संपर्क उपरितलीय चीजें बन जाते हैं।

*

तुमने निश्चल-नीरव आंतरिक चेतनाको प्राप्त कर लिया है, परन्तु वह अशांति-से आच्छादित हो सकती है — अगली स्थिति यह है कि स्थिरता और निश्चल-नीरवता आधारके रूपमें अधिकाधिक बाहरी चेतनामें स्थापित हो जाय......। तब सामान्य शक्तियोंकी क्रीड़ा केवल ऊपरी सतहपर होगी और अधिक आसानीसे उनके साथ समु-चित व्यवहार किया जा सकेगा।

*

यही सही रास्ता है — उच्चतर चेतनाकी शांतिको बनाये रखना। तब यदि प्राणिक अशांति उत्पन्न भी हो तो वह केवल ऊपरी सतहपर ही रहेगी। इससे साधना-का आधार तबतक बना रहेगा जबतक कि दिव्य शक्ति सच्चे प्राणको मुक्त नहीं कर लेती।

*

यदि तुम शांति प्राप्त कर लो तो प्राणको शुद्ध करना आसान हो जाता है। यदि तुम केवल शुद्ध और शुद्ध ही करते रहो और अन्य कुछ भी न करो तो तुम बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ोगे — क्योंकि प्राण फिर गंदा होता जायगा और उसे तुम्हें सैकड़ों बार शुद्ध करना होगा। शांति एक ऐसी चीज है जो अपने-आपमें शुद्ध है, अतएव उसे प्राप्त करना अपने उद्देश्यको सिद्ध करनेका निश्चित पथ है। केवल गंदगीको देखना और उसे साफ करते रहना अभावात्मक पथ है।

*

जब तुम सर्वदा "निम्नतर शक्तियों", "आक्रमणों" और "उनके द्वारा अधिकृत

होनेकी बातों" आदिको ही सोचते रहोगे तो शांति और अचंचलताको कैसे प्राप्त करोगे ? यदि तुम स्वाभाविक और शांत भावसे वस्तुओंकी ओर देख सको, केवल तभी तुम अचंचलता और शांति प्राप्त कर सकते हो।

*

तुमने अपने पहले प्रयासमे परिणाम प्राप्त करनेके लिये अतिउत्सुकता तथा अतिश्रमके किसी दोषको आने दिया होगा और उसीके कारण अवसाद और प्राणिक संघर्ष उत्पन्न हुआ होगा। इसके कारण जब चेतनाका पतन हुआ तो दुःखी, निराश और विभ्रांत प्राण ऊपरी सतहपर आ गया और प्रकृतिके विरोधी पक्षसे आनेवाले संदेह, निराशा और जड़ताके सुझावोंको पूरी तरह प्रवेश करनेका मार्ग दे दिया। मानसिक चेतनाकी तरह ही तुम्हें प्राणिक और भौतिक चेतनामें भी स्थिरता और समताका सुदृढ़ आधार स्थापित करनेका प्रयास करना चाहिये; अपने भीतर दिव्य शक्ति और आनन्दको पूरी तरह नीचे उतर आने दो, पर उतर आने दो सशक्त आधारमें जो उसे धारण करनेमें समर्थ हो — पूर्ण समता ही वह क्षमता और दृढ़ता प्रदान करती है।

*

असफलताका कारण क्षमताका अभाव नहीं है बल्कि दृढ़ताका अभाव है — प्राणकी एक प्रकारकी चंचलता तथा एक प्रकारकी तीव्र जल्दबाजी है जो पूरे ब्यौरेकी तथा सतत प्रयासकी परवा नही करती। तुम्हें आवश्यकता है आंतरिक नीरवताकी तथा ठोस सामर्थ्य और शक्तिकी जो इस आंतरिक नीरवतामें कार्य कर सके, प्राणको अपना यंत्र बना ले पर उसे उसके दोषोंके द्वारा कार्यको परिच्छिन्न न करने दे।

*

इसे (शांतिको) पहले नीचे हृदय और नाभि-केंद्रतक उतार लाना होगा। इसमे एक विशेष प्रकारकी आंतरिक स्थिरता प्राप्त हो जाती है — यद्यपि वह पूर्ण नही होती। शांतिको पुकारनेका इसके सिवा और कोई दूसरा तरीका नहीं है कि उसके लिये अभीप्सा की जाय, एक प्रबल स्थिर संकल्प बनाया जाय और जिन भागोंमें शांतिका आवाहन करना हो उन भागोंमें जो सब चीजें भगवान्‌की ओर मुड़ी हुई नही हैं उन सबका परित्याग किया जाय — यहां वे भाग है भावात्मक तथा उच्चतर प्राण।

*

स्वयं अपने-आपमें वैश्व-भाव प्राणको विक्षुब्ध होनेसे नही रोक सकता —

वास्तवमें जब समस्त सत्तामें, नीचे अत्यंत स्थूल भागतकमें पूर्ण समर्पणका भाव आ जाता है और शांतिका पूर्ण अवतरण हो जाता है तभी प्राणको विक्षुब्ध होनेसे रोका जा सकता है।

*

मन और प्राण सर्वदा ही स्थूल भागकी अपेक्षा कही अधिक वैश्व शक्तियोके प्रति खुले होते हैं। परन्तु वे स्थूल भागकी अपेक्षा तबतक अधिक अशांत हो सकते है जबतक कि वे ऊपरसे आनेवाली शांतिके अधीन नही हो जाते।

*

ऊपरसे स्थिरता तुम्हारे पास आयी और उसने तुम्हारा संबंध ऊपरसे जोड दिया, और यदि तुम दृढ़तापूर्वक उसे पकड़े रहो तो तुम शांत-स्थिर बने रह सकोगे। परन्तु इन प्राणिक उपद्रवोंसे मुक्त होनेके लिये तुम्हें वहीं ऊपर विद्यमान दिव्य शक्ति और संकल्पको नीचे उतार लाना होगा अथवा कम-से-कम इस प्रकार उनके साथ संबंध स्थापित करना होगा कि जब कभी तुम अज्ञानकी शक्तियोके विरुद्ध उनका आवाहन करो तभी वे कार्य करें।

*

यौगिक स्थितिकी पहली नींव है सभी अवस्थाओंमें, सत्ताके सभी भागोंमें समता और शांतिका बने रहना। उसके बाद प्रकृतिके झुकावके अनुसार या तो ज्योति (अपने साथ ज्ञान वहन करती हुई) या शक्ति (अपने साथ बल-सामर्थ्य तथा बहुत प्रकारकी क्रियाशीलता वहन करती हुई) अथवा आनन्द (अपने साथ प्रेम तथा सत्ता-का आह्लाद वहन करते हुए) आ सकता है। परन्तु शांतिका आना पहली शर्त है जिसके बिना दूसरी कोई वस्तु स्थायी नही हो सकती।

*

यह सही है कि साधकमें जो कुछ सबसे प्रबल है उसके द्वारा वह अत्यंत आसानी-से भगवान्‌की ओर खुल सकता है। परन्तु......शांति सबके लिये आवश्यक है; शांति और वर्द्धमान पवित्रताके बिना, यदि कोई उद्घाटित भी हो तो भी, उद्घाटनके कारण ऊपरसे आनेवाली सभी वस्तुओंको पूर्णतः ग्रहण नही कर सकता। ज्योति भी सबके लिये जरूरी है — ज्योतिके बिना ऊपरसे आनेवाली सभी चीजोंका पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता।

*

जब मन निश्चल-नीरव होता है तब वहां शांति विद्यमान रहती है और उस शांतिके भीतर सभी वस्तुए, जो दिव्य होती है, आती है। जब वहां मन नही होता तो वहां आत्मा होता है जो मनसे अधिक महान् है।

*

निश्चल-नीरवता और शांति स्वयं ही उच्चतर चेतनाका अंग है — बाकी चीजे निश्चल-नीरवता और शातिके अन्दर आती है।

*

यह वैष्णव भावना है कि वैदान्तिक शांति पर्याप्त नही है, भगवान्‌का प्रेम और आनन्द अधिक मूल्यवान् है। परन्तु जबतक ये दो चीजें एक साथ नहीं रहती, अनुभूत प्रेम और आनन्द सभवत· तीव्र तो होते है पर स्थायी नही होते, और यह भी सच है कि ये आसानीसे मिश्रित हो जाते, दिग्भ्रांत हो जाते अथवा किसी ऐसी चीजकी ओर मुड जाते है जो सत्य वस्तु बिलकुल नहीं होती। शांति और पवित्रताको चेतनाके आधारके रूपमे अवश्य प्राप्त करना होगा, अन्यथा भागवत क्रीडाके लिये कोई सुदृढ़ आधार-भूमि नही प्राप्त हो सकती।

*

आखिरकार साधनाका सच्चा आधार तुम्हें मिल गया। यह स्थिरता, शांति और समर्पणभाव ही वह समुचित वातावरण है जिसमें बाकी सभी चीजें — ज्ञान, शक्ति और आनन्द — आती हैं। इस स्थितिको पूर्ण होने दो।

काममें लगे रहनेपर जो यह स्थिति नही बनी रहती, इसका कारण यह है कि यह अभी ठीक मनके क्षेत्रमें ही आबद्ध है और मनने भी उस निश्चल-नीरवताके दान-को अभी हालमें ही ग्रहण किया है। जब यह नयी चेतना पूर्ण रूपसे गठित हो जायगी और प्राणमय प्रकृति तथा भौतिक सत्तापर अपना पूर्ण अधिकार जमा लेगी (अभीतक निश्चल-नीरवताने प्राणका स्पर्शमात्र किया है अथवा उसपर अपना एक प्रभावभर फैलाया है, उसे अभीतक अधिकृत नही किया है), तब यह दोष दूर हो जायगा।

तुमने अपने मनमें जो अभी शांतिकी अचंचल चेतना प्राप्त की है उसे केवल स्थिर ही नही होना होगा, बल्कि उसे विशाल भी होना होगा। तुम्हें उसे सर्वत्र अनुभव करना होगा, यह अनुभव करना होगा कि तुम स्वयं उसमें हो और सब कुछ उसमें है। यह अनुभव भी कर्मके अन्दर स्थिरताको आधार बनानेमें सहायता करेगा।

तुम्हारी चेतना जितनी ही अधिक व्यापक होगी उतना ही अधिक तुम ऊपरसे

आनेवाली चीजोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होगे। उस समय ऊपरसे भागवत शक्ति अवतरित हो सकेगी और तुम्हारे आधारमें शांतिके साथ-साथ शक्ति और ज्योति-को लें आ सकेगी। अपने अन्दर जिस चीजको तुम संकीर्ण और सीमित अनुभव कर रहे हो वह तुम्हारा भौतिक (स्थूल) मन है; यह तभी विशाल बन सकता है जब कि ये विशालतर चेतना और ज्योति नीचे उतर आयेंगी और तुम्हारी प्रकृतिको अवि-कृत कर लेंगी।

जिस भौतिक तामसिकतासे तुम दुःख पा रहे हो वह केवल तभी कम हो सकती और दूर हो सकती है जब आधारमें ऊपरसे शक्तिका अवतरण हो।

अचंचल बने रहो, अपने-आपको खोले रखो और भागवत शक्तिका आवाहन करो जिसमें वह स्थिरता और शांतिको स्थापित करें, चेतनाको प्रसारित करें और अभी उसमें जितनी ज्योति और शक्ति ग्रहण करने तथा धारण करनेकी क्षमता हो उतनी उसके अन्दर ले आयें।

इस विषयमें सावधान रहो कि कहीं अति-उत्सुकताका भाव न आ जाय, अन्यथा उससे, जितनी अचंचलता और समतुलता प्राण-प्रकृतिमें अबतक प्रतिष्ठित हो चुकी है, वह फिरसे भंग हो सकती है।

अंतिम परिणाममें विश्वास बनाये रखो और दिव्य शक्तिको अपना काम करने-के लिये समय दो।

*

यदि अभीप्सा नहीं तो कम-से-कम जो कुछ आवश्यक है उसकी भावनाको ही बनाये रखो — (1) यह भावना बनाये रखो कि नीरवता और शांति एक विशालता-में बदल जायेंगी जिसे तुम आत्माके रूपमें अनुभव करोगे — (2) निश्चल-नीरव चेतना ऊपरकी ओर भी विस्तारित हो जायगी जिससे तुम अपने ऊपर उसके मूल-स्रोतको अनुभव कर सकोगे — (3) सब समय शांति आदि विद्यमान रहेंगी। ये चीजें सबकी सब तुरत आ जायं यह आवश्यक नहीं, पर तुम्हारे मनमें क्या चीज रहनी चाहिये यह समझ लेनेपर तामसिकताकी स्थितिमें कभी भी पतित होनेसे बचा जा सकता है।

*

विशालता और स्थिरता यौगिक चेतनाका आधार हैं और आंतरिक विकास तथा अनुभवके लिये सर्वोत्तम अवस्था है। यदि भौतिक चेतनामें विशाल स्थिरता स्थापित हो सके, एकदम शरीर तथा उसके समस्त कोषाणुओंको अधिकृत और परि-प्लुत कर दे तो वह उसके रूपांतरका आधार बन सकता है; सच पूछा जाय तो इस विशालता और स्थिरताके बिना रूपांतर मुश्किलसे संभव होता है।

*

यह यथार्थ भौतिक चेतना है जिसे तुमने अब प्राप्त किया है। समग्र सत्ता निरन्तर विश्व-प्रकृतिकी अन्य शक्तियां भीतर आनेका प्रयास करनेके लिये तत्पर रहती है, परन्तु साधकको यदि आन्तर सत्ताकी स्थिरता प्राप्त हो जो कि उन चीजोंको अपनी सत्ता तक चैत्य पुरुषकी ज्योतिमें (जो कि तुरन्त उन्हें प्रकट कर देती और त्याग देती है) बाहरकी किसी चीजके रूपमें अनुभव कराती है, तो इसीको सच्ची चेतना प्राप्त करना कहते हैं जो साधकको सुरक्षित रखती है, जब कि अधिक सुनिश्चित रूपांतरके कार्यकी तैयारी होती रहती है या वह कार्य संपन्न होता रहता है।

ऊपरसे दिव्य शक्ति, ज्योति, ज्ञान, आनन्द आदिका अवतरण होनेपर रूपांतर सिद्ध होता है। अतएव तुम्हारी यह भावना यथार्थ है कि तुम्हें ऊपरसे होनेवाले ज्योतिके अवतरणके लिये एक अनवरत अभीप्सा या प्रार्थनाके साथ अपने-आपको खोलना चाहिये। केवल यह अभीप्सा इस स्थिरता और विशालताके अन्दर होनी चाहिये, उसे इस स्थिरता और विशालताको तनिक भी भंग नहीं करना चाहिये — और तुम्हें परिणामके तुरत न आनेके लिये तैयार रहना चाहिये — वह (परिणाम) तेजीसे आ सकता है, पर वह कुछ समय भी ले सकता है।

•

'ठोस पत्थर' की तरह अपने-आपको बोध करनेका यह अनुभव इस बातको सूचित करता है कि तुम्हारी बाह्य सत्तामें — परन्तु मुख्यतः प्राणमय भौतिक सत्तामें — एक प्रकारके ठोस सामर्थ्य और शांतिका अवतरण हुआ है। सर्वदा यही वह चीज होती है जो आधारका, पक्की नींवका काम करती है और इसीमें अन्य सभी चीजें (आनन्द, ज्योति, ज्ञान, भक्ति) भविष्यमें अवतरित हो सकती हैं और इसीके ऊपर निरापद रूपमें स्थित हो सकती या क्रिया कर सकती है। दूसरी अनुभूतिमें सुन्न पड़ जानेकी जो बात तुमने लिखी है, उसका कारण यह है कि वहांपर गति अन्दरकी ओर थी; परन्तु यहांपर योगशक्ति बाहरकी ओर, पूर्ण जाग्रत् बाह्य प्रकृतिके अन्दर आ रही है जिसमें कि वह वहां योगको तथा योगके अनुभवको स्थापित करना आरम्भ करे। अतएव यहांपर वह सुन्न पड़नेकी बात नहीं है जो कि सत्ताके बाहरी अंगोंसे चेतनाके पीछे हट आनेका चिह्न है।

•

शांतिसे भरपूर रहना, हृदय अचंचल रहना, दुःखसे विचलित न होना तथा हर्षसे उत्तेजित न होना बहुत अच्छी स्थिति है। आनन्दका जहांतक प्रश्न है, वह अपनी पूर्णतम तीव्रताके साथ पर कहीं अधिक स्थायी स्थिरताके साथ केवल तभी आ सकता है जब कि मन शांतिपूर्ण हो और हृदय सामान्य हर्ष और शोकसे मुक्त हो। यदि मन और हृदय अशांत, परिवर्तनशील, चंचल हों तो एक प्रकारका आनन्द आ सकता है,

पर वह प्राणिक उत्तेजनाके साथ मिला-जुला होगा और स्थायी नही हो सकता। सब-से पहले साधकको अपनी चेतनामें शांति और स्थिरताको स्थापित कर लेना चाहिये, फिर उसे एक ठोस आधार मिल जायेगा जिसपर आनन्द फैल सकता है और अपने समयपर चेतना और प्रकृतिका एक स्थायी अंग बन सकता है।

*

शांतिकी एक महान् लहर (अथवा समुद्र) और एक सुविशाल ज्योतिर्मय सद्-वस्तुका निरंतर बोध – ये दोनों बातें स्पष्ट रूपमे परम सत्यकी उस मूलगत उपलब्धि-को सूचित करनेवाली हैं जो मन और अंतरात्मापर उस परम सत्यका प्रथम सस्पर्श होनेपर प्राप्त होती है। इससे अधिक अच्छे प्रारभ या स्थापनाकी कामना नहीं की जा सकती — यह उस चट्टानके समान है जिसके आधारपर बाकी सब कुछ निर्मित किया जा सकता है। निश्चय ही इसका अर्थ "कोई एक उपस्थिति" नही है बल्कि इसका अर्थ है "वह एकमात्र (भागवत) उपस्थिति" — और अगर इस अनुभूतिको किसी तरह अस्वीकार करके या इसके स्वरूपके विषयमें संदेह करके इसे दुर्बल बना दिया जाय तो यह एक बड़ी भारी भूल होगी।

इसकी कोई परिभाषा करनेकी कोई आवश्यकता नही और न किसीको इसे किसी एक रूपमें परिवर्त्तित करनेकी चेष्टा ही करनी चाहिये। क्योंकि यह उपस्थिति अपने स्वभावमें अनंत है। अगर वह साधककी ओरसे निरंतर स्वीकृत होती रहे तो इसे अपना या अपने अन्दरसे जो कुछ अभिव्यक्त करना है उसे यह अनिवार्य रूपसे और स्वयं अपनी ही शक्तिसे करेगी।

यह बिलकुल ठीक है कि यह भगवान्‌के यहांसे आयी हुई करुणा है और ऐसी करुणाका एकमात्र प्रतिदान है उसे स्वीकार करना, कृतज्ञ बने रहना और जिस शक्ति-ने चेतनाको स्पर्श किया है उसके प्रति अपने-आपको खोले रखना और इस तरह उसे सत्ताके अन्दर जो कुछ विकसित करना है उसे विकसित करने देना। प्रकृतिका सर्वांगीण रूपांतर एक क्षणमें नही किया जा सकता; इसमें दीर्घ समय लगेगा ही और यह विभिन्न स्तरोंको पार करता हुआ ही आगे बढ़ेगा। अभी जो अनुभूति तुम्हें हुई है वह केवल आरंभ है, दीक्षामात्र है, जिस नवीन चेतनामें उस रूपातरका होना संभव होगा उसका आधारमात्र है। इस अनुभूतिका अनायास अपने-आप होना ही इस बातको प्रकट करता है कि यह मनके, सकल्पके या भावावेशके द्वारा रचित कोई चीज नही है, यह एक ऐसे सत्यसे आयी है जो इन सबसे परे है।

*

यदि तुम अपने हृदयमें विशालता और स्थिरता और श्रीमांके लिये प्रेम भी बनाये रखो तो सब कुछ सुरक्षित है, क्योंकि इसका अर्थ है योगका द्विविध आधार प्राप्त

कर लेना ऊपरसे अपने साथ शांति, मुक्ति और प्रशांति लिये हुए उच्चतर चेतनाका अवतरण तथा चैत्य पुरुषका उद्‌घाटन जो सभी प्रयासों या सभी स्वाभाविक गति-विधियोंको यथार्थ लक्ष्यकी ओर मोडे रखता है।

*

अचञ्चलता और नीरवताको जो तुम अनुभव करते हो और उसके अन्दर जो प्रसन्नताका बोध है यह सब निस्सन्देह सफल साधनाका सच्चा आधार है। जब मनुष्य इसे प्राप्त कर लेता है तो वह इस विषयमें निस्संदिग्ध हो सकता है कि साधना एक मजबूत पायेपर खडी हो रही है। तुम्हारा यह समझना भी ठीक है कि यदि यह अचंचलता पूर्ण रूपसे स्थापित हो जाय तो जो कुछ भीतर छिपा हुआ है वह सब बाहर आ जायेगा। फिर यह भी सही है कि इस शांतिसे प्राप्त प्रसन्नता किसी भी बाहरी चीजसे प्राप्त प्रसन्नताकी अपेक्षा बहुत अधिक महान् है — उसके साथ किसी चीजकी तुलना नही की जा सकती। बाह्य विषयोंके आकर्षणके प्रति उदासीन होना योगका एक प्रारंभिक नियम है, क्योंकि यह अनासक्ति आन्तर सत्ताको शांति तथा यथार्थ चेतनामें मुक्त करती है। जब मनुष्य सभी वस्तुओंमे भगवान्‌को देखता है केवल तभी योगके लिये वस्तुओंको एक मूल्य प्राप्त हो जाता है, परन्तु उस दशामें भी वह मूल्य उनके अपने लिये नही होता या कामनाके विषयोंके रूपमें नही होता, बल्कि अतरस्थ भगवान्‌के लिये तथा भागवत कर्म एव अभिव्यक्तिके साधनके रूपमें होता है।

IV

समताका तात्पर्य है सभी परिस्थितियोंमें अपने भीतर अविचलित बने रहना।

*

समता सच्ची आध्यात्मिक चेतनाका प्रमुख अवलंब है और जब साधक किसी प्राणिक वृत्तिको भावना या वाणी या कर्ममें अपनेको बहा ले जाने देता है तब वह इसी समतासे भ्रष्ट होता है। समता ठीक वही चीज नही है जो सहनशीलता है,—यद्यपि इसमें कोई सदेह नही कि सुस्थिर समता मनुष्यकी सहनशीलता और धैर्यकी शक्तिको बहुत अधिक, यहातक कि असीम रूपमें बढ़ा देती है।

समताका अर्थ है अचंचल और स्थिर मन और प्राण; इसका अर्थ है घटित होनेवाली या कही गयी या तुम्हारे प्रति की गयी वस्तुओंसे स्पृष्ट या विचलित न होना, बल्कि उनकी ओर सीधी नजरसे देखना, व्यक्तिगत भावनाद्वारा सृष्ट विकृतियोंसे मुक्त रहना, और उस चीजको समझनेका प्रयास करना जो उनके पीछे विद्यमान हो, यह समझना कि वे क्यों घटित होती हैं, उनसे क्या शिक्षा लेनी चाहिये, हमारे अन्दर

ऐसी कौनसी चीज है जिसके विरुद्ध वे निक्षिप्त की गयी है और उनसे कौनसा आतरिक लाभ उठाया जा सकता या उनकी सहायतासे कौनसी प्रगति की जा सकती है। इसका अर्थ है प्राणिक क्रियाओंके ऊपर आत्मप्रभुत्व,—क्रोध और असहिष्णुता और गर्व तथा साथ ही कामना और अन्य चीजें — इन्हें अपनी भावात्मक सत्तापर अधिकार नही जमाने देना और आंतरिक शांतिको भंग नही करने देना, जल्दबाजीमें और इन चीजोंके द्वारा प्रणोदित होकर न बोलना और न कार्य करना, सर्वदा आत्माकी एक स्थिर आंतर स्थितिमें रहकर कार्य करना और बोलना। इस समताको किसी पूर्णत पूर्ण मात्रामें प्राप्त करना आसान नही है, परन्तु साधकको इसे अपनी आंतरिक स्थिति तथा बाह्य क्रियाओंका आधार बनानेके लिये सर्वदा अधिकाधिक प्रयास करते रहना चाहिये।

समताका एक दूसरा अर्थ भी है — मनुष्यों और उनकी प्रकृति और कर्म तथा उन्हें चलानेवाली शक्तियोंके विषयमें एक सम दृष्टिकोण बनाये रखना; यह चीज मनुष्यकी दृष्टि और विचारमें विद्यमान समस्त व्यक्तिगत भावनाको तथा यहांतक कि समस्त मानसिक पक्षपातको मनसे दूर हटाकर मनुष्य तथा उनकी प्रकृति आदिके सत्यको देखनेमें सहायता पहुँचाती है। व्यक्तिगत भावना सर्वदा विकृति उत्पन्न करती है और मनुष्योंके कामोंमें, केवल स्वयं कामोंको नहीं, बल्कि उनके पीछे विद्यमान उन चीजोंको दिखाती है जो प्रायः वहां नही होतीं। उसका परिणाम होता है गलत-फहमी और भूल निर्णय जिससे बचा जा सकता था; उस समय सामान्य परिणाम लानेवाली चीजें बहुत बड़ा रूप ग्रहण कर लेती हैं। मैंने देखा है कि इसी चीजके कारण जीवनमें इस प्रकारकी आधीसे अधिक अनपेक्षित घटनाएं घटती हैं। परन्तु साधारण जीवनमें व्यक्तिगत भावना तथा असहिष्णुता सर्वदा ही मानव-स्वभावका अंग बनी रहती है और आत्मरक्षाके लिये आवश्यक हो सकती हैं, यद्यपि, मेरी रायमें, वहां भी, मनुष्यों और वस्तुओंके प्रति एक प्रबल, उदार और सम मनोभाव रखना आत्मरक्षा-का उससे बहुत अधिक अच्छा उपाय सिद्ध होगा। परन्तु एक साधकके लिये, उनको अतिक्रम करना और आत्माकी स्थिर शक्तिमें कहीं अधिक निवास करना उसकी प्रगति-का एक आवश्यक अंग है।

आंतरिक प्रगतिकी पहली शर्त्त यह है कि प्रकृतिके किसी भी भागमें जो कुछ भी गलत क्रिया हो या हो रही हो — गलत विचार, गलत भावना, गलत वाणी, गलत कार्य हो उसे पहचाना जाय और गलतसे मतलब है वह चीज जो सत्यसे, उच्चतर चेतना और उच्चतर आत्मासे, भगवान्‌के पथसे विरत हो। एक बार पहचान लेनेपर उसे स्वीकार करना चाहिये, उसपर मुलम्मा नहीं चढ़ाना चाहिये और न उसका समर्थन करना चाहिये,—उसे भगवान्‌के प्रति अर्पित कर देना चाहिये जिसमें कि दिव्य ज्योति और भगवत्कृपा अवतरित हों और उसके स्थानमें सत्य चेतनाकी यथार्थ क्रिया स्था-पित करें।

*

समताके विना साधनामें सुदृढ़ प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। परिस्थितियां चाहे जितनी भी अप्रिय हों, दूसरोंका व्यवहार चाहे जितना भी नापसन्द हो, तुम्हें पूर्ण स्थिरताके साथ तथा किसी प्रकारकी क्षोभ उत्पन्न करनेवाली प्रतिक्रियाके विना उन्हें ग्रहण करना सीखना चाहिये। इन्हीं चीजोंसे समताकी परीक्षा होती है। जब सब कुछ अच्छी तरह चलता रहता है और सभी मनुष्य तथा परिस्थितियां अनुकूल होती हैं तब तो स्थिर और सम बने रहना आसान होता है; परन्तु जब ये सब विपरीत हो जाते हैं तभी स्थिरता, शांति और समताकी पूर्णताकी जांच की जा सकती है, तभी उन्हें दृढ़तर और पूर्णतर बनाया जा सकता है।

*

यह बहुत अच्छा है कि तुम्हें यह अनुभव प्राप्त हुआ है; क्योंकि इस प्रकारकी समतासे परिपूर्ण चेतना ही ठीक वह वस्तु है जिसे प्राप्त करना है और जो यथार्थ आधार है जिसपर श्रीमांसे परिपूर्ण ठोस यौगिक चेतना निर्मित की जा सकती है। यदि इसे स्थापित किया जा सके तो साधनाकी अधिकांश तकलीफें और कठिनाइयां दूर हो सकती हैं — सभी आवश्यक परिवर्तन प्रगतिको रोक देनेवाले और भंग कर देनेवाले इन सब उपद्रवों और उलट-फेरोंके विना, शांतिके साथ घटित हो सकते हैं। साथ ही उस चेतनाके अन्दर यह समझनेकी यथार्थ और स्पष्ट शक्ति वर्द्धित हो सकती है कि मनुष्य और वस्तुएं क्या हैं और विना किसी संघर्षके उनके साथ कैसे व्यवहार किया जा सकता है और यह चीज हमारे कार्य-कर्मको बहुत अधिक आसान बना सकती है। एक बार जब यह चेतना आ जाती है तब वह निश्चित रूपसे बार-बार आती और बढ़ती रहती है।

*

जो कुछ लोग कहते हैं या जो सूचनाएं आती हैं उन्हें सुननेसे कोई लाभ नहीं। दोनों ही चीजें ऐसी हैं जिनसे प्रभावित न होना सीखना चाहिये। इन सब मामलोंमें एक प्रकारकी समताकी आवश्यकता होती है जिसमें कि साधकको सुदृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाय। एकमात्र वस्तु जो महत्त्वपूर्ण है वह है भगवान्‌को प्राप्त करना।

*

यह (इन्द्रियोंका यथार्थ कार्य) है वस्तुओंके दिव्य या सत्य रूपको ग्रहण करना और उनके प्रति नापसदगी या कामनाके विना एक सम आनन्दकी प्रतिक्रिया निक्षिप्त करना।

*

पूर्ण समता स्थापित होनेमें समय लगता है और यह तीन चीजोंपर निर्भर है — अन्तरात्माका एक आंतरिक समर्पणभावके द्वारा भगवान्को निवेदित हो जाना, आध्यात्मिक स्थिरता और शांतिका ऊपरसे अवतरित होना तथा समताका खडन करनेवाली समस्त अहंकारपूर्ण, राजसिक तथा अन्य भावनाओंको सतत, दीर्घ कालतक और आग्रहपूर्वक परित्याग करते रहना।

सबसे प्रथम करणीय वस्तु है हृदयकी पूर्ण एकाग्रता तथा आत्मदान — आध्यात्मिक स्थिरता तथा समर्पणभावका बढ़ते रहना वह स्थिति है जिसमे अह, रजोगुण आदिका परित्याग करना सफल होता है।

*

जब उच्चतर चेतनाकी शांति अवतरित होती है तो वह सर्वदा अपने साथ समताकी इस प्रवृत्तिको अपने साथ ले आती है, क्योंकि समताके बिना निम्नतर प्रकृतिकी लहरोंके द्वारा शांतिके आक्रांत होनेकी संभावना बराबर रहती है।

*

समता इस योगका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है; यह आवश्यक है कि दुःख और कष्टमें भी समताको बनाये रखा जाय — और इसका अर्थ है दृढ़ता और स्थिरताके साथ सहन करते रहना, बेचैन या विचलित अथवा अवसन्न या हताश न होना तथा भगवान्की इच्छापर अटल विश्वास रखकर अग्रसर होते रहना। परन्तु समताके अन्दर तामसिक स्वीकृतिके लिये कोई स्थान नहीं। उदाहरणार्थ, अगर साधना करते समय किसी प्रयासमें सामयिक विफलता हो जाय तो समता अवश्य बनाये रखनी चाहिये, उससे विचलित या हताश नहीं होना चाहिये, पर साथ ही विफलताको भागवत इच्छाका चिह्न भी नही समझना चाहिये और न अपना प्रयास ही छोड़ना चाहिये। बल्कि इसके बदले तुम्हें उस विफलताका कारण और तात्पर्य खोज निकालना चाहिये और विश्वासके साथ विजयकी ओर आगे बढ़ना चाहिये। यही बात रोगके विषयमें भी कही जा सकती है — तुम्हें उससे दुःखित, विचलित या बेचैन नहीं होना चाहिये, पर साथ ही रोगको भगवदिच्छा समझकर स्वीकार भी नही करना चाहिये, बल्कि तुम्हें यह समझना चाहिये कि यह शरीरकी एक अपूर्णता है और जैसे तुम अपने प्राणकी अपूर्णताओं या मनकी भूलोंको दूर करनेकी चेष्टा करते हो वैसे ही तुम्हें इस शरीरकी अपूर्णताको भी दूर करना है।

*

यौगिक समता अंतरात्माकी समता है, एकमेव आत्माके, सर्वत्र विद्यमान एक-

मेव भगवान्‌के ज्ञानपर आधारित समत्व है –– अभिव्यक्तिके अन्दर विद्यमान समस्त विभेदो, मात्राओं और विरोधोके बावजूद एकत्मका साक्षात्कार है। मानसिक समता-का तत्त्व विभेदो,मात्राओ और विरोधोकी उपेक्षा करने अथवा उन्हें नष्ट कर देनेका प्रयास करता है, इस प्रकार कार्य करनेका प्रयत्न करता है मानों एक समान हो अथवा सबको एक समान कर देनेका प्रयास करता है। यह रामकृष्णके भानजे, हृदयके जैसा है, जो रामकृष्णका स्पर्श पानेपर यह चिल्लाने लगा कि "राम-कृष्ण, तुम ब्रह्म हो और मै भी ब्रह्म हूँ, हम दोनोंमें कोई विभेद नहीं है", परन्तु जब उसने शांत होना अस्वीकार कर दिया तब रामकृष्णने अपनी शक्ति ही वापस खींच ली। अथवा वह उस शिष्यके जैसा है जिसने महावतकी बात सुनना अस्वीकार कर दिया और जो यह कहते हुए हाथीके सामने खड़ा हो गया कि "मैं ब्रह्म हूँ", जबतक कि हाथीने अपनी सूंडमे उसे उठाकर एक ओर नहीं रख दिया। जब उसने अपने गुरु-से शिकायत की तो गुरुने कहा, "हा, परन्तु तुमने महावत ब्रह्मकी बात क्यों नही सुनी ? यही कारण था कि हाथी ब्रह्मको तुम्हें उठाना पड़ा और हानिके पथसे अलग रखना पडा।" अभिव्यक्तिके अन्दर सत्यके दो पक्ष है और तुम उनमेंसे किसीकी अवहेलना नहीं कर सकते।

*

निस्सन्देह, घृणा और अभिशाप समुचित मनोभाव नहीं है। यह भी सही है कि सभी वस्तुओ और सभी लोगोंको स्थिर और सुस्पष्ट दृष्टिसे देखना, किसी चीजमे अंतर्ग्रस्त न होना, अपने विचारोंमें निष्पक्ष रहना बिलकुल उचित यौगिक मनोभाव है। पूर्ण समताकी एक स्थितिको स्थापित किया जा सकता है जिसमें मनुष्य सबको, मित्र और शत्रु दोनोंको, एक जैसा देखता है, और जो कुछ मनुष्य करते हैं या जो कुछ घटित होता है उस सबसे विचलित नही होता। प्रश्न यह है कि क्या यही सब कुछ है जिसकी हमसे माग की जाती है ? यदि ऐसा है, तो सामान्य मनोभाव यही होगा कि प्रत्येक चीजके प्रति तटस्थ उदासीनताका भाव रखा जाय। परन्तु जो गीता पूर्ण और अखड समतापर प्रबल रूपसे जोर देती है वह यह भी कहती है कि "युद्ध करो, शत्रुका नाश करो, विजय प्राप्त करो।" यदि किसी प्रकारके सामान्य कर्मकी अपेक्षा नही की जाती, सिवा अपनी व्यक्तिगत साधनाके मिथ्यात्वके विरुद्ध सत्यके प्रति एक-निष्ठाकी आवश्यकता नहीं है, सत्यके लिये विजय प्राप्त करनेका कोई संकल्प नही है तो फिर उदासीनताकी समता पर्याप्त होगी। परन्तु यहां एक कार्य संपन्न करना है, एक दिव्य सत्यको स्थापित करना है जिसके विरुद्ध प्रभूत शक्तियां व्यूहबद्ध है, अदृश्य शक्तियां विद्यमान है जो अपने यंत्रके रूपमें दृश्य वस्तुओं, व्यक्तियों तथा कार्योका उप-योग कर सकती है। अगर कोई शिष्योंके, इस सत्यके अन्वेषकोंके दलमें सम्मिलित हो तो उसे सत्यका पक्ष लेना होगा, उन शक्तियोंके विरुद्ध खड़ा होना होगा जो इसपर आक्रमण करती हैं और इसको गला घोंटकर मार डालना चाहती है। अर्जुनने दोनों-

में किसी पक्षमें खड़ा न होनेकी इच्छा की थी, आक्रामकोंके विरुद्ध भी शत्रुताका कोई कर्म करना अस्वीकार कर दिया था; पर जिस श्रीकृष्णने समतापर इतना अधिक बल दिया है उन्होंने उसके मनोभावकी बहुत जोरदार शब्दोंमें भर्त्सना की और उसी तरह शत्रुके साथ उसके युद्ध करनेपर भी आग्रह किया। उन्होंने कहा, "समता बनाये रखो, और सत्य-को स्पष्ट रूपमें देखते हुए युद्ध करो।" अतएव सत्यका पक्ष लेना और आक्रमण करने-वाले मिथ्यात्वके विरुद्ध कुछ भी अंगीकार करना अस्वीकार करना, वेहिचक विरोधि-यों और आक्रामकोंके विरुद्ध तथा उनके प्रति विश्वासपात्र बने रहना समताके साथ मेल नहीं खाता। यह व्यक्तिगत और अहंजन्य भावना है जिसे दूर झाड फेंकना होगा; घृणा और प्राणिक दुर्भावनाका त्याग करना होगा। परन्तु आक्रामकों तथा शत्रुओं-के प्रति वफादार बने रहना और उनके साथ समझौता करना अस्वीकार करना अथवा उनकी भावनाओं और मांगोंको सहर्ष स्वीकार करना और यह कहना कि "आखिर-कार, हमसे वे लोग जो कुछ मांगते हैं उसके साथ हम समझौता कर सकते है", अथवा उन्हें अपने साथी और अपने निज जन स्वीकार करना — ये चीजें बहुत महत्त्व रखती हैं। यदि उनके आक्रमणसे उस कार्यको तथा उस कार्यके नेताओं और कर्मियोंको भौतिक रूपमें हानि होनेकी आशंका हो तो हम तुरत इसे समझ जायेंगे। परन्तु आक्र-मण चूँकि कहीं अधिक सूक्ष्म प्रकारका है इसलिये क्या निष्क्रिय मनोभाव समुचित हो सकता है? यह भीतरी और बाहरी आध्यात्मिक युद्ध है, तटस्थ बने रहने और समझौता करनेसे अथवा निष्क्रिय बने रहनेसे भी हम शत्रु सेनाओंको आगे बढ़ने और सत्य तथा उसके बच्चोंको कुचल डालनेका अवसर प्रदान कर सकते हैं। यदि तुम इस दृष्टिकोणसे इस बातको देखो तो तुम समझ जाओगे कि यदि आंतरिक आध्यात्मिक समता उचित है तो साथ ही सक्रिय वफादारी और दृढ़तापूर्वक सत्यका पक्ष लेना भी उचित है, और ये दोनों बातें बेमेल नहीं हो सकती।

अवश्य ही, मैंने एक सामान्य प्रश्नके रूपमें ही इसका विचार किया है, सभी विशेष प्रसंगों अथवा व्यक्तिगत प्रश्नोंको अलग छोड़ दिया है। यह एक कर्मका सिद्धांत है जिसे उसके समुचित प्रकाश और अनुपातमें देखना होगा।

विभाग पाँच

कर्मके द्वारा साधना

कर्मके द्वारा साधना

साधारण जीवनका जो कर्म होता है वह अपने ही किसी उद्देश्य और अपनी ही किसी उत्कण्ठाकी पूर्तिके लिये किसी बौद्धिक या नैतिक नियमकी अधीनतामें किया जाता है और कभी-कभी वह किसी बौद्धिक आदर्शसे भी सम्पृक्त होता है। गीताके योगमें कर्मका ब्रह्मार्पण, वासनाजय, निरहंकार और निष्काम कर्म, भगवान्‌की भक्ति, विश्वचैतन्यके साथ योग, सब प्राणियोंके साथ एकत्वबुद्धि और भगवान्‌के साथ एकात्मता है। हमारे इस योगमें इन सब बातोंके साथ अतिमानसिक ज्योति और शक्तिके अवतरण (इसके अन्तिम उद्देश्य) और प्रकृतिके रूपान्तरको भी जोड़ दिया गया है।

*

कर्ममे प्राणके आत्मार्पणके कुछ लक्षण ये हैः— यह बोध (महज विचार या अभीप्सा नही) कि समस्त जीवन और कर्म श्रीमाँके है और इस आत्मार्पण और समर्पणमे प्राण-प्रकृतिका तीव्र हर्ष। इसके फलस्वरूप शांत-स्थिर परितृप्ति और कर्म तथा उसके व्यक्तिगत परिणामोंके प्रति अहंजन्य आसक्तिका तिरोधान, परन्तु उसके साथ-ही-साथ कर्ममें तथा भागवत उद्देश्यसे अपनी क्षमताओंके उपयोग-मे महान् हर्ष।

यह अनुभव होते रहना कि प्रत्येक मुहूर्त्त भागवत शक्ति हमारे कर्मोंके पीछे क्रिया-शील है और पथप्रदर्शन कर रही है।

एक अटूट श्रद्धा-विश्वास जिसे कोई परिस्थिति या घटना भंग न कर सके। यदि कठिनाइया आती हैं तो वे मानसिक संदेह या तामसिक स्वीकृतिको नही जगातीं; वल्कि इस सुदृढ विश्वासको उत्पन्न करती है कि सच्चा आत्मार्पण होनेपर भागवत शक्ति कठिनाइयोंको हटा देगी, और इस विश्वासके साथ-साथ इस उद्देश्यसे साधक उनकी ओर और अधिक मुडेगा और उनपर निर्भर करेगा। जव साधकमें पूर्ण श्रद्धा और आत्मार्पणका भाव होता है तो उस समय दिव्य शक्तिको ग्रहण करनेकी क्षमता भी आती है जो मनुष्यसे यथार्थ कार्य कराती है और सही पद्धति ग्रहण कराती है और तव परिस्थितिया अनुकूल हो जाती है और परिणाम दिखायी देने लगता हैं।

इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये आवश्यक चीज है सतत अभीप्सा करते रहना, पुकारते रहना और आत्मदान करना और अपने अन्दरकी या चारों ओरकी जो सव चीजें पथमें वाधा डालती हैं उन सवका परित्याग करनेका संकल्प वनाये रखना। कठि-नाइयां तो आरभमे, और परिवर्तनके लिये जितने अधिक समयकी आवश्यकता होगी उतने समयतक वरावर ही होंगी; परन्तु उनका सामना यदि सुस्थिर श्रद्धा, संकल्प तथा धैर्यके साथ किया जाय तो वे विलीन होनेको वाध्य होगीं।

*

वह साधारण कर्मयोग है जिसमें साधक स्वयं अपना कार्य चुनता है पर उसे भगवान्‌को अर्पित करता है — 'वह कर्म उसे दिया गया है' का तात्पर्य यह है कि वह अपने मन या हृदय या प्राणके किसी आवेगके वश उस ओर चालित हुआ है और यह अनुभव करता है कि उस आवेगके पीछे कोई वैश्व शक्ति अथवा वैश्व भगवत्-शक्ति विद्यमान है और वह अपनेको यह देखनेका प्रशिक्षण देनेका प्रयास करता है कि सभी कर्मोंके पीछे एकमेव दिव्य शक्ति विद्यमान रहकर उसके और दूसरोंके अन्दर वैश्व उद्देश्यको सिद्ध करती है।

एक वार जव वह प्रत्यक्ष समर्पणके आदर्शको ग्रहण कर लेता है तो उसे प्रत्यक्ष परिचालना या पथप्रदर्शन प्राप्त करना होता है — यही कारण है कि वह जिसे महज मानसिक, प्राणिक या भौतिक आवेग समझता है जो उसकी अपनी या वैश्व प्रकृति-मे आते है, उन सवको वह त्याग देता है। निस्सन्देह, आत्मसमर्पणका पूर्ण अर्थ तो

केवल उस समय प्रकट होता है जब वह तैयार हो जाता है।

*

मैं नहीं समझता कि जो पथ तुमने चुना है उसपर कोई मार्गदर्शन देना मेरे लिये संभव है — कम-से-कम जो ब्यौरा तुम्हारे पत्रमे है उससे अधिक सुनिश्चित ब्यौरा हुए बिना कोई भी निश्चित बात कहना मेरे लिये कठिन है।

जिस जीवनधारा और कर्मको तुमने चुना है उसको तबतक बदलनेकी कोई आवश्यकता नहीं जबतक कि तुम यह अनुभव करते हो कि वही तुम्हारे स्वभावका पथ है या तुम्हारी आंतर सत्ताद्वारा तुम्हे प्राप्त आज्ञा है अथवा, किसी कारणवश, वह तुम्हें अपना समुचित धर्म प्रतीत होता है। ये ही तीन कसौटिया है और इनमे भिन्न मैं नहीं जानता कि गीताके योगके लिये कोई बंधी-बधाई आचरणविधि या कर्म या जीवनकी पद्धति निर्धारित की जा सकती है। सच पूछा जाय तो जिस भावना या चेतनाके साथ कर्म किया जाता है वही सबमें अधिक महत्त्वपूर्ण है, बाहरी रूप विभिन्न स्वभाववाले लोगोंके लिये बहुत अधिक बदल सकता है। जबतक मनुष्य यह सुनिश्चित अनुभव नही प्राप्त कर लेता कि भागवती शक्तिने मेरे कार्योंको अपने हाथोंमें ले लिया है और वही उन्हें कर रही है तबतक ऐसी ही बात है; उसके बाद यह भागवती शक्ति ही यह निर्णय करती है कि क्या करना चाहिये या नहीं करना चाहिये।

सभी आसक्तियोंको जीतना अवश्य ही कठिन होगा और यह विजय एक दीर्घ साधनाके फलस्वरूप ही आ सकती है अन्यथा नहीं — जबतक कि आतरिक आध्यात्मिक अनुभवमें तेजीसे व्यापक वृद्धि न हो जो कि गीताकी शिक्षाका सारमर्म है। फलाकांक्षाका नाश, स्वयं कर्मके प्रति आसक्तिका अन्त, सभी प्राणियों, सभी घटनाओंके प्रति, यश या अपयश, प्रशंसा या निंदा, सौभाग्य या दुर्भाग्यके प्रति समभावकी वृद्धि, अहंभावका विनाश, जो कि समस्त आसक्तियोंके अभावके लिये आवश्यक है, केवल तभी पूर्ण रूपमे सिद्ध हो सकते हैं जब कि समस्त कर्म भगवान्के प्रति स्वाभाविक यज्ञ बन जाय, हृदय उनके प्रति समर्पित हो जाय और साधकको सभी वस्तुओ और सभी प्राणियोंमें भगवान्का निश्चित अनुभव हो। यह चैतन्य या अनुभव सत्ताके सभी भागों और गतिविधियोंमें, 'सर्वभावेन', अवश्य होना चाहिये, केवल मन या विचारमें ही नही होना चाहिये; उस समय सभी आसक्तियोंका झड जाना आसान हो जाता है। मैं यहां गीताके योगमार्गकी बात कह रहा हूँ, क्योंकि संन्यासी जीवनमें मनुष्य इसी उद्देश्यको अन्य रूपसे प्राप्त करता है, वह त्याग और अव्यवहारके द्वारा आसक्तिकी वस्तुओंसे विलग हो जाता है और उसके फलस्वरूप स्वय आसक्ति भी नष्ट हो जाती है।

*

मै उसे बम अधिक-से-अधिक यही सुझाव दे सकता हूँ कि उसे किसी प्रकारके कर्मयोगका अभ्यास करना चाहिये — अपने छोटे-से-छोटेसे लेकर बड़े-से-बड़े सभी कर्मोंमे परम प्रभुको स्मरण करे, उन्हे अचंचल मनसे तथा अहंभाव या आसक्तिसे रहित होकर करे तथा उन्हे यज्ञके रूपमें परम प्रभुको समर्पित करे। वह संसार और उसकी शक्तियोके पीछे विद्यमान भागवत शक्तिकी उपस्थितिको भी अनुभव करनेका प्रयास या अभीप्सा कर सकता है, अज्ञानकी निम्नतर प्रकृति तथा उच्चतर दिव्य प्रकृतिके बीच,—जिसका स्वभाव है पूर्ण स्थिरता, शांति, शक्ति, ज्योति और आनन्द —, विभेद कर सकता है एव निम्नतरसे उच्चतरमें धीरे-धीरे ऊपर उठा लिये जाने और पहुँचा दिये जानेकी अभीप्सा कर सकता है।

यदि वह इसे कर सके तो वह कभी-न-कभी अपनेको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर देने तथा पूर्णत· आध्यात्मिक जीवन यापन करनेके योग्य बन जायगा।

*

जो पथ उसके लिये स्वाभाविक प्रतीत होता है वह है कर्मयोग और इसलिये वह जो गीताकी शिक्षाके अनुसार जीवन यापन करनेकी चेष्टा कर रहा है वह ठीक ही कर रहा है, क्योंकि गीता ही इस पथकी महान् पथप्रदर्शिका है। अहंजन्य क्रियाओंसे तथा व्यक्तिगत कामनासे परिष्कृत होना और जो ज्योति प्राप्त है उसका ठीक-ठीक अनुसरण करना इस पथके लिये प्रारंभिक प्रशिक्षण है, और जहांतक उसने इन चीजोका अनुसरण किया है, वह ठीक पथपर ही रहा है, परन्तु अपने कर्मके लिये शक्ति और प्रकाश मांगनेको अहंकारजन्य क्रिया नही समझना चाहिये, क्योंकि वे व्यक्तिके आतरिक विकासके लिये आवश्यक हैं।

स्पष्ट ही, एक अधिक व्यवस्थित तथा अधिक तीव्र साधना अपेक्षित है अथवा, किसी भी हालतमे, अटूट अभीप्सा और अधिक सतत रूपसे केंद्रीय लक्ष्यके साथ संलग्न रहना बाहरी वस्तुओं और बाहरी क्रियाओके बीच भी पक्का अनासक्तिभाव तथा सतत पथप्रदर्शन ला सकता है। इस योगमार्गकी परिपूर्णता, सिद्धि — मैं पृथक् कर्ममार्गकी अथवा आध्यात्मिक कर्मकी बात कह रहा हूँ — उस समय आना आरंभ करती हैं जब मनुष्य सुस्पष्ट रूपमें दिव्य पथप्रदर्शक तथा पथप्रदर्शनके विषयमें सज्ञान होता है और जब वह यह अनुभव करता है कि दिव्य शक्ति उसे यंत्र बनाकर तथा दिव्य कर्मका भागीदार बनाकर कार्य कर रही है।

*

तुम्हें लिखे गये उसके पत्रसे यह पता चलता है कि वह अपनी साधनामें एक बहुत उपयुक्त पद्धतिका अनुसरण करता रहा है और उसने कुछ अच्छे परिणाम उपलब्ध किये हैं। इस प्रकारके कर्मयोगका पहला पग है कर्ममें अहंकेंद्रित स्थिति, निम्न-

तर प्राणिक प्रतिक्रियाओं तथा कामनाके तत्त्वका कम हो जाना और अन्तमें उनसे मुक्ति मिल जाना। उसे निश्चय ही इस पथपर चलते रहना चाहिये जबतक कि वह उसके अन्त जैसी किसी वस्तुपर नही पहुँच जाता। किसी हालतमें मै उसे उस पथसे विचलित करना नही पसन्द करूंगा।

जब मैंने व्यवस्थित साधनाकी बात कही थी तब मेरी दृष्टिमे जो बात थी वह यह थी कि एक ऐसी पद्धतिको स्वीकार किया जाय जो चेतनाके सपूर्ण भावको एक ऐसा सामान्य रूप देगी जिससे कि केवल ब्यौरोपर कार्य करनेके बदले एक ही साथ उसकी समस्त क्रियाओंको ग्रहण कर लिया जाय -- यद्यपि वह क्रिया भी बराबर आवश्यक होती है। मै यहां उदाहरणके रूपमें प्रकृति और पुरुपको पृथक् करनेकी साधनाका उल्लेख कर सकता हूँ; सचेतन पुरुप प्रकृतिकी समस्त क्रियाओसे पृथक् होकर पीछे अवस्थित हो जाता है, उन्हें साक्षी और ज्ञाताके रूपमे और अन्तमें अनुमति देनेवाले (अथवा न देनेवाले) के रूपमें तथा विकासकी उच्चतम अवस्थामें ईश्वर, विशुद्ध संकल्प और समस्त प्रकृतिके प्रभुके रूपमें निरीक्षण करता है।

तीव्र साधनासे मेरा मतलब था किसी ऐसी महान् निश्चित अनुभूतिपर पहुँचनेका प्रयास करना जो समूची क्रियाके लिये एक दृढ आधार हो सके। मैं देख रहा हूँ कि वह कभी-कभी किसी विशाल स्थिरताकी झांकी मिलनेकी बात कह रहा है... ...। चेतनामें इस विशाल स्थिरताका स्थायी रूपसे अवतरण होना एक ऐसी अनुभूति है जिसकी बात मैं सोच रहा था। ऐसे समयोंपर जो वह इसे अनुभव करता है वह यह बात सूचित करता प्रतीत होता है कि उसमें इसे ग्रहण करने और बनाये रखनेकी क्षमता हो सकती है। यदि ऐसा घटित हो या प्रकृति-पुरुपकी अनुभूति प्राप्त हो तो सारी साधना एक प्रबल और स्थायी आधारपर, एक विशुद्ध मानसिक प्रयासके बदले जो सर्वदा कठिन और धीमा होता है, एक नवीन और संपूर्णतः यौगिक चेतनाके साथ आगे बढेगी। परन्तु मैं इन चीजोंको उसपर लादना नही चाहता; वे अपने समयपर आती हैं और उनको असमय मत्थे मढ़ देनेसे उनका बराबर शीघ्र आना संभव नही होता। उसे आत्मशुद्धि और आत्म-प्रस्तुतिके अपने प्रारंभिक कार्यको ही जारी रखने दो।

*

यदि मैंने तुम्हें पत्र नही लिखा है तो इसका कारण यह है कि जो कुछ मैंने तुम्हें पहले लिखा था उसमें कोई चीज जोड़ने योग्य नहीं थी। मैं यह आश्वासन नही दे सकता कि एक निश्चित समयके भीतर तुम एक ऐसा परिणाम पा लोगे जो तुम्हें संसारमे एक अधिक प्रबल शक्तिके साथ जानेमें अथवा योगमें सफल होनेमें समर्थ बना देगा। योगके विषयमे तुम स्वयं कहते हो कि इसके लिये अभी तुम्हारा सारा मन तैयार नहीं है और समूचे मनके बिना साधनामें सफलता पाना मुश्किलसे संभव होता है। दूसरेके लिये,सच पूछा जाय तो साधनाका यह कार्य ही नही है कि वह संसारमें जाकर साधा-

रण जीवन बितानेके लिये मनुष्यको तैयार करे। केवल एक चीज है, जो ऐसी दिशामें कार्य कर सकती है जो ऐसी चीजमें तुम्हें सहायता देगी जो कि वह (साधारण जीवन) नहीं है, पर फिर भी संपूर्ण योग नहीं है जिसके लिये तुम कहते हो कि तुम पूरे रूपमें तैयार नहीं हो। वह है कर्मयोगका भाग ग्रहण करना जैसा कि गीता उसका वर्णन करती है — एक विशालतर चेतनाको प्राप्त करनेकी अभीप्सा करते हुए अपने-आपको और अपने दुःख-सन्तापको भूल जाओ, एक महत्तर शक्तिको जगत्‌में कार्य करते हुए अनुभव करो और किसी सर्वोच्च कार्यके लिये, चाहे वह कितना भी छोटा कर्म क्यों न हो, स्वयं उसका एक यंत्र बन जाओ। परन्तु चाहे जो भी मार्ग क्यों न हो, उसे तुम्हें पूर्ण रूपसे स्वीकार करना होगा और उसमें अपनी संपूर्ण संकल्पशक्ति नियुक्त कर देनी होगी — एक विभक्त और चंचल संकल्पशक्तिके द्वारा तुम किसी चीजमें, न तो जीवनमें और न योगमें, सफलताकी आशा नहीं कर सकते।

•

गीताकी भावनाके अनुसार साधना करनेके लिये किसी कर्मको उसका क्षेत्र बनाया जा सकता है।

•

तुमने कर्मके लिये शक्तिका उपयोग किया, और जबतक तुमने उस कर्ममें संलग्न रहना पसन्द किया तबतक उसने तुम्हें सहायता की। प्रथम महत्त्वकी बात किये गये कर्मका धार्मिक या अ-धार्मिक स्वरूप नहीं है बल्कि वह आन्तरिक मनोभाव है जिसके साथ उसे किया जाता है। यदि मनोभाव प्राणिक हो और चैत्य न हो तो मनुष्य अपनेको कर्ममें झोंक देता है और आन्तरिक संपर्क खो देता है। यदि वह चैत्य होता है तो आंतरिक संपर्क बना रहता है, मनुष्य शक्तिको सहारा देते हुए या कर्म करते हुए अनुभव करता है और साधनामें प्रगति होती रहती है।

•

ऐसे लोग है जिन्होंने श्रीमाँकी शक्तिको अपने अन्दर क्रियाशील अनुभव करते हुए वकीलका कार्य किया है और उसके द्वारा वे आंतरिक चेतनामें विकसित हुए है। दूसरी ओर, धार्मिक कार्य अपने स्वभाव या प्रभावमें एकदम बाह्य और प्राणिक हो सकता है।

•

परन्तु मैं कह सकता हूँ कि प्राचीन आध्यात्मिक भारतमें व्यापारको जितनी बुरी या दूषित वस्तु माना जाता था उससे जरा भी अधिक बुरी या दूषित वस्तु मैं नहीं समझता। यदि मैं समझता तो मुझे 'अ' से अथवा बवईमें पूर्वअफ्रिकाके साथ व्यापार करनेवाले अपने शिष्योंसे धन न मिल पाता; और न तब मैं उन्हें अपना धंधा करते रहनेके लिये प्रोत्साहित ही कर पाता बल्कि तब मुझे उनसे यह कहना होता कि इसे छोड़ो और केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ध्यान दो। हम कैसे 'अ' की आध्यात्मिक ज्योतिकी खोज और उनके मिलमें सामंजस्य बैठाऊं? क्या मुझे उनसे यह नहीं कह देना चाहिये कि अपने मिलको स्वयं उसीके भरोसे और शैतानके हाथ-में छोड़ दो और किसी आश्रममें जाकर ध्यान करो? यदि स्वयं मुझे भी व्यापार करनेका आदेश मिला होता जैसा कि मुझे राजनीति करनेका आदेश मिला था, तो मैं जरा भी आध्यात्मिक या नैतिक मनस्तापके बिना उसे किया होता। सब कुछ निर्भर करता है उस भावपर जिसके साथ कोई कार्य किया जाता है, उन सिद्धान्तोंपर जिनपर वह कार्य आधारित होता है और उस व्यवहारपर जिसकी ओर वह कार्य प्रयुक्त होता है। मैंने राजनीतिक कार्य किया है और अत्यन्त उग्र प्रकारका क्रांतिकारी राजनीति, 'घोरं कर्म', किया है, और मैंने युद्धका समर्थन किया है और उसमें लोगोंको भेजा है, यद्यपि राजनीति सर्वदा या बहुधा कोई बहुत निर्दोष कार्य नहीं होती और न युद्धको ही कोई आध्यात्मिक कर्म कहा जा सकता है। परन्तु कृष्ण अर्जुनको अत्यन्त भयंकर प्रकारका युद्ध करनेके लिये पुकारते हैं और उसके उदाहरणके द्वारा मनुष्योंको प्रत्येक प्रकारका मानवीय कर्म, 'सर्वकर्माणि', करनेके लिये प्रोत्साहित करते हैं। क्या तुम दृढ़तापूर्वक यह कहते हो कि कृष्ण कोई आध्यात्मिक पुरुष नहीं थे और अर्जुनको दी हुई उनकी सलाह गलत थी या सिद्धांततः गलत थी? कृष्ण तो और आगे जाते और यह घोषित करते हैं कि यदि कोई मनुष्य अपनी मूल प्रकृति, स्वभाव और क्षमताद्वारा अभिप्रेरित कर्मको समुचित ढंगसे और समुचित मनोभावके साथ तथा अपने और उस कर्मके धर्मके अनुसार करे तो वह भगवान्की ओर अग्रसर हो सकता है। वह ब्राह्मण और क्षत्रियकी तरह ही वैश्यके कर्म और धर्मका समर्थन करते हैं। उनकी दृष्टिमें मनुष्यके लिये यह बिलकुल संभव है कि वह व्यापार करे, धन कमाये, लाभ अर्जन करे और फिर भी आध्यात्मिक पुरुष बना रहे, योगका अभ्यास करे, आंतरिक जीवन प्राप्त करे। गीता निरन्तर आध्यात्मिक मुक्तिके साधनके रूपमें कर्मोंका समर्थन करती और भक्ति तथा ज्ञानके साथ-साथ कर्मोंके योगका निर्देश देती है। परन्तु कृष्ण इस उच्चतर विधानको भी सबसे ऊपर स्थान देते हैं कि कर्म बिना कामनाके, किसी फल या पुरस्कारके प्रति आसक्ति रखे बिना, किसी अहंकारपूर्ण मनोभाव या उद्देश्य-के बिना, भगवान्की पूजाके रूपमें, उनको अर्पित यज्ञके रूपमें करना होगा। इन चीजोंके प्रति यही परंपरागत भारतीय मनोभाव है कि सभी कर्म किये जा सकते हैं यदि वे धर्मके अनुसार किये जायं और, यदि उन्हें समुचित ढंगसे किया जाय तो वे भग-वान्को प्राप्त करनेसे या आध्यात्मिक ज्ञान तथा आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करनेसे नहीं रोकते।

निस्सदेह, एक संन्यासी-भाव भी है जो बहुतोंके लिये आवश्यक है और आध्यात्मिक परपरामे जिसका अपना स्थान है। मैं स्वयं भी यह कहूँगा कि कोई व्यक्ति यदि त्यागभावके साथ जीवन नही बिता सकता अथवा निःस्व वैरागीके जीवनके जैसे दरिद्र जीवनका अनुसरण नही कर सकता तो वह आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्ण नही हो सकता। स्पष्ट ही, धन और धन कमानेकी लालसाका उसके स्वभावमें उसी तरह अभाव होना चाहिये जिस तरह भोजनके लोभ या दूसरे किसी लोभका अभाव होना चाहिये तथा इन चीजोकी समस्त आसक्तिका परित्याग उसकी चेतनासे हो जाना चाहिये। परन्तु मै जीवनकी सन्यासी-पद्धतिको आध्यात्मिक परिपूर्णताके लिये अनिवार्य अथवा उसके साथ अभिन्न नही मानता। एक आध्यात्मिक आत्मप्रभुत्वका मार्ग है और भगवान्‌के प्रति आध्यात्मिक आत्मदान तथा आत्मसमर्पणका मार्ग है जिसमें कर्मके बीच भी या किसी प्रकारके कर्मका या सभी प्रकारके कर्मका, जिसकी मांग भगवान् हमसे करते है, अहकार और कामनाका त्याग किया जा सकता है। यदि ऐसा न होता तो भारतमें जनक या विदुर जैसे महान् आध्यात्मिक पुरुष न हुए होते और फिर कोई कृष्ण भी न हुए होते अथवा कृष्ण वृदावन और मथुरा और द्वारकाके स्वामी अथवा राजा और योद्धा और कुरुक्षेत्रके सारथी न हुए होते। बल्कि एक अधिक महान् संन्यासी हुए होते। भारतीय शास्त्र और भारतीय परंपरा, महाभारत तथा अन्य ग्रंथोंमें भी, जीवनके त्याग रूप आध्यात्मिकता तथा कर्ममय आध्यात्मिक जीवन दोनोंको स्थान देती है। कोई यह नही कह सकता कि केवल एक ही भारतीय परंपरा है और जीवन तथा सव प्रकारके कर्मोंको, 'सर्वकर्माणि' को, स्वीकार करना अ-भारतीय, यूरोपियन या पाश्चात्य और अनाध्यात्मिक है।

*

कर्मके अन्दर सभी प्रकारके कार्य सम्मिलित है; कर्म है वह कार्य जो किसी निश्चित उद्देश्यकी ओर प्रयुक्त होता है और विधिवत् तथा नियमित रूपसे किया जाता है। सेवा है वह कार्य जो श्रीमाँकी उद्देश्यपूर्तिके लिये और उनके निर्देशके अनुसार किया जाता है।

II

'अ' को यह परामर्श देनेका कोई अर्थ नही कि वह तुम्हे ले न जाय और तुम्हें पहले भगवान्‌को प्राप्त करने दे। क्या मनुष्यको भगवान्‌की सेवा करनेसे पहले उन्हे प्राप्त कर लेना होगा अथवा क्या भगवान्‌की सेवा करना उनको प्राप्त करनेका एक उपाय नही है? जो हो, सेवा और भगवत्प्राप्ति दोनों ही पूर्णयोगके लिये आवश्यक है और हम इन दोनोके बीच किसी एककी प्राथमिकताका कोई कठोर नियम नही निर्धारित कर सकते।

*

तुम्हारा उद्देश्य केवल अपनी आंतरिक उन्नति और संरक्षणके लिये योगाभ्यास करना नही वल्कि भगवान्‌के लिये कुछ कर्म करना भी है।

*

जिस कर्मसे आध्यात्मिक शुद्धि होती है वह कर्म तो केवल वही कर्म है जो निर्हेतुक होकर किया जाता है, जिसमें प्रसिद्धि या मान्यता अथवा लोकप्रतिष्ठाकी कोई इच्छा नहीं होती, जिसमें अपने मनोरथों, प्राणगत लालसाओं और आवश्यकताओं या भौतिक अभिरुचियोंका कोई आग्रह नहीं होता, जिसमें कोई अतिमान या अहमन्यता या अपनी मानप्रतिष्ठाका कोई दावा नही होता, जो केवल भगवान्‌के लिये और भगवान्‌की ही आज्ञासे किया जाता है। अहंभावके साथ जो कोई भी काम किया जाता है वह अज्ञानी जगत्‌के लोगोंके लिये चाहे जितना भी अच्छा हो, योगके साधकके लिये किसी भी कामका नहीं है।

*

निस्संदेह, कर्मका आध्यात्मिक फल आंतरिक मनोभावपर निर्भर करता है। सच पूछा जाय तो महत्त्वपूर्ण बात है कर्ममें प्रयुक्त पूजाका भाव। यदि कोई इसके साथ-साथ कर्ममें श्रीमाँको स्मरण कर सके या किसी विशेष एकाग्रताके द्वारा श्रीमाँकी उपस्थितिको अथवा कर्मको सहारा देनेवाली या संपन्न करनेवाली शक्तिको अनुभव कर सके तो वह आध्यात्मिक परिणामको और भी अधिक बढ़ा देती है। परन्तु कोई यदि निराशा, अवसाद या संघर्षके क्षणोंमें ये चीजें न भी कर सके तो भी पीछेकी ओर प्रेम या भक्ति बनी रह सकती है जो कि कर्मकी मूल प्रेरक शक्ति थी और वह निराशाके पीछे बनी रह सकती और अन्धकारका काल बीतनेपर सूर्यकी तरह फिरसे प्रकट हो सकती है। सभी साधनाएं ऐसी ही हैं और इसी कारण किसीको अंधकारके क्षणोंके कारण निरुत्साहित नहीं होना चाहिये, बल्कि यह समझना चाहिये कि मूल प्रवेग वहां विद्यमान है और इसलिये अंधकारके मुहूर्त्त यात्राके बीचमें आनेवाली केवल एक अवांतर वस्तु है जो एक बार समाप्त हो जानेपर किसी महत्तर प्रगतिकी ओर ले जायगी।

*

निर्दोष सेवक बननेकी शर्त्त है — सभी अहंकारजन्य प्रयोजनोंसे मुक्त रहना, वाणी और कर्ममें सत्यताके लिये सावधान रहना, स्वैरता और स्वमताग्रहसे शून्य होना, और सभी बातोंमें जाग्रत् और सचेत रहना।

*

शक्ति पानेके लिये खींच-तान नही होनी चाहिये, कोई महत्त्वाकांक्षा, शक्तिका कोई अहकार नही होना चाहिये। जो शक्ति या शक्तियां आती है उन्हें अपनी नही, वल्कि भगवान्‌की उद्देश्यसिद्धिके लिये भगवान्‌की देन समझना चाहिये। इस विपय-मे सावधान रहना चाहिये कि कही उनका महत्त्वाकांक्षा या स्वार्थके लिये दुर्व्यवहार न हो, किसी प्रकारका अभिमान या मिथ्याभिमान न रहे, कोई बड़प्पनकी भावना, कोई यत्र बननेकी चाह या अहंकार न हो, वल्कि केवल यह भावना रहे कि किसी भी तरह प्रकृति एक सरल और शुद्ध चैत्य करण बन जाय जिसमें वह भगवान्‌की सेवाके योग्य हो।

*

जिस भाव और चेतनासे कोई कर्म किया जाता है वही उसे यौगिक कर्म बनाता है — कर्म अपने-आपमे वैसा नही होता।

*

आत्मसमर्पण किसी विशेष कर्मपर नही निर्भर करता जिसे तुम करते हो, वल्कि उस भावपर निर्भर करता है जिसके साथ सभी कर्म, चाहे जिस प्रकारके वे क्यों न हों, किये जाते है। कोई भी कार्य जो भगवान्‌के प्रति यज्ञके रूपमें, कामना या अहंकारसे रहित होकर, मनकी समता और सौभाग्य या दुर्भाग्यके प्रति स्थिर प्रशांतिके साथ, भगवान्‌के लिये न कि अपने किसी व्यक्तिगत लाभ, पुरस्कार या परिणामके लिये, और इस चेतनाके साथ कि सच पूछा जाय तो सभी कर्म भागवत शक्तिके हैं, अच्छी तरह और सावधानीके साथ किया जाता है वही कर्मके द्वारा आत्मसमर्पणका साधन होता है।

*

निस्सदेह, वड़पन और छोटेपनकी भावना आध्यात्मिक सत्यके लिये एकदम विजातीय है. . । आध्यात्मिक दृष्टिसे न तो कोई चीज वड़ी है और न छोटी। ऐसी भावनाए साहित्यिक लोगोकी भावनाओंकी जैसी है जो यह समझते है कि कविता लिखना एक उच्च कार्य है और जूता बनाना या भोजन पकाना छोटा और नीच कार्य। परन्तु सब कुछ परमात्माकी दृष्टिमे एक जैसा है — और वास्तवमे केवल उस आंतरिक भावनाका ही मूल्य है जिसके साथ कार्य किया जाता है। यही बात किसी विशेष कर्मके विपयमे भी लागू होती है; सच पूछा जाय तो कोई भी चीज वड़ी या छोटी नही है।

*

मैं इतना और जोड़ सकता हूँ कि विशालतर चेतनामें मनुष्य तुच्छ और उच्च वस्तुओंके साथ व्यवहार कर सकता है, पर वह उनके साथ एक विशालतर तथा गभीर-तर, सूक्ष्मतर और यथार्थतर दृष्टिके द्वारा व्यवहार करता है जो दृष्टि अधिकाधिक विचक्षण और ज्योतिर्मय चेतनासे आती है जिससे कि तुच्छ वस्तुओंसे संबंधित विचार भी अपने-आपमें तुच्छ या नगण्य नही रह जाते बल्कि अधिकाधिक उच्चतर ज्ञानका अंग बन जाते हैं।

*

लगभग प्रत्येक कलाकारके (बहुत विरल ही अपवाद हो सकते है) प्राणिक-भौतिक भागमें सार्वजनिक पुरुषका कुछ अंश होता है जिसके कारण वह श्रोताओंसे प्राप्त प्रोत्साहन, सामाजिक अनुमोदन, संतुष्ट मिथ्याभिमान, प्रशसा और प्रसिद्धिके लिये लालायित होता है। यदि तुम योगी होना चाहते हो तो यह सब पूर्ण रूपसे चला जाना चाहिये,—तुम्हारी कला तुम्हारे अपने अहंकी नही, और किसी व्यक्ति या वस्तुकी नहीं, बल्कि एकमात्र भगवान्‌की सेवा होनी चाहिये।

*

यदि तुम लोगोंकी प्रत्याशा और आभार-बोधसे मुक्त रहना चाहते हो तो निःसंदेह किसीसे कुछ न लेना ही सर्वोत्तम है; क्योंकि लेनेपर मांगकी भावना अवश्य रहेगी। यह बात नहीं कि यदि तुम कुछ भी नहीं लोगे तो यह सब चीजें बिलकुल नही रहेंगी, पर तुम अब उनसे बंधे नहीं रहोगे।

गानेके विषयमें तुमने जो लिखा है वह पूर्णतः सही है। तुम केवल तभी उत्तम रूपमें गाते हो जब तुम अपनेको भूल जाते हो और उसकी उत्तमताकी आवश्यकता या उससे पड़नेवाली छापकी बात सोचे बिना उसे भीतरसे प्रकट होने देते हो। बाहरी गायकको अवश्य ही भूतकालमें विलीन हो जाना चाहिये — केवल तभी भीतरी गायक उसका स्थान ले सकता है।

*

अब तुम्हारे गानेकी बातपर आवें; मैं सौंदर्यबोधात्मक दृष्टिकोणसे किसी नयी सृष्टिकी बात नहीं कह रहा था, बल्कि आध्यात्मिक परिवर्तनकी दृष्टिसे कह रहा था — वह क्या रूप लेगा यह उस चीजपर निर्भर करना चाहिये जिसे तुम अपने अन्दर गभीरतर आधारके स्थापित होनेपर प्राप्त करोगे।

मैं गानेको एकदम बन्द कर देनेकी कोई आवश्यकता नही देखता; मेरा केवल यह मतलब था,—मैंने जो कुछ तुम्हें लिखा है, केवल अभी नहीं बल्कि पहले भी, उसका

यह युक्तिसगत निष्कर्ष है,—कि आंतरिक परिवर्तनपर सबसे पहले ध्यान देना चाहिये और बाकी चीजे उसीसे उत्पन्न होनी चाहियें। यदि श्रोताओंके सम्मुख गाना तुम्हें आतरिक स्थितिसे बाहर खीच लाता है तो तुम उसे बन्द कर सकते हो और अपने लिये तथा भगवान्‌के लिये गा सकते हो जबतक कि तुम, श्रोताओंके सम्मुख रहते हुए भी, उन्हे भूल जानेके योग्य नही बन जाते। यदि तुम असफलतासे दुःखी और सफलतासे उत्तेजित होते हो तो उसे भी तुम्हे जीतना होगा।

*

यह बात नही कि जो कुछ तुम नापसन्द करते हो उसे ही तुम्हें करना होगा, बल्कि तुम्हे नापसन्द करना बद कर देना होगा। जो कुछ तुम पसन्द करते हो केवल उसे ही करना अपने प्राणको प्रश्रय देना तथा प्रकृतिके ऊपर उसीका शासन बनाये रखना है — क्योंकि वही चीज, अपनी पसन्दगी और नापसन्दगीसे शासित होना अरूपांतरित स्वभावका यथार्थ तत्त्व है। किसी भी चीजको समताके साथ करनेमें सक्षम होना कर्मयोगका सिद्धांत है और उसे प्रसन्नताके साथ करना क्योंकि वह श्रीमांके लिये किया जाता है, इस योगका यथार्थ चैत्य और प्राणिक अवस्था है।

*

एक ही कार्यको सर्वदा उत्साहके साथ करते रहनेमें सक्षम होना चाहिये और उसके साथ-ही-साथ एक क्षणकी नोटिसपर अन्य कोई चीज करने या अपने क्षेत्रको बढ़ानेके लिये तैयार रहना चाहिये।

*

हाँ! यह चेतनाके एक प्रकारके प्रसारण और तीव्रीकरणपर निर्भर करता है जिससे सभी कार्यकलाप, केवल अपने-आपमें नही बल्कि उनमें नियुक्त चेतनाके कारण, रोचक बन जाते है, और ऊर्जाकी तीव्रताके कारण, ऊर्जाके व्यवहारमें, तथा कर्मको, चाहे वह कोई भी कर्म क्यों न हो, पूर्ण रूपसे करनेमें आनन्द मिलता है।

*

साधारणतया, मेरा मतलब है उनकी अपरिवर्तित स्थितिमें, निम्नतर अंग उस समय अनुरक्त और उत्साहित हो जाते है जब अहं स्वार्थके साथ मिल जाता है। परन्तु जब वे अधिकाधिक परिवर्तित और शुद्ध होंगे, उनके अन्दर विशुद्ध उत्साह भी आ सकता है और फिर वे योगसिद्धिके लिये अत्यन्त अनिवार्य शक्तियां बन सकते

है।

*

प्राणके लिये या मनके लिये भी किसी नयी वस्तुसे ऊर्जस्वी अनुभव करना स्वाभाविक है — परन्तु भौतिक स्तरके लिये निरन्तर दुहराया गया कार्य ही आधार है — अतएव साधकको कम-से-कम उसमें सर्वदा एक स्थायी स्थिर रुचि लेनेमें समर्थ होना होगा। परंतु इस प्रसंगमें मैं समझता हूँ कि जब उसने तुम्हें देखा था तब श्रीमाँने तुम्हारे पास एक विशिष्ट शक्ति भेजी थी।

*

शरीरका कुछ अंश कार्य किये विना नही रह सकता, दूसरा भाग (अधिक जड) इसे एक यातना समझता है। परन्तु जो चीज कर्मकी शक्ति और आनन्द प्रदान करती है वह शरीर नहीं वल्कि प्राण है।

*

कर्मसंवंधी दो मनोवृत्तियोंके बीच परिणामोंमें, भेद होनेका कारण यह है कि पहली वृत्ति तो है प्राणिक हर्षकी वृत्ति, जब कि दूसरी है चैत्य अचंचलताकी वृत्ति। प्राणिक हर्ष, यद्यपि साधारण मानवजीवनके लिये वहुत उपयोगी वस्तु है, एक उत्तेजित, उत्सुक, स्थिर आधारसे रहित चंचल वस्तु है — यही कारण है कि यह हर्ष वहुत जल्द थक जाता है और वना नही रह सकता। प्राणिक हर्षकी जगह अचंचल सुस्थिर चैत्य आनन्दको ला विठाना होगा और मन तथा प्राणको वहुत स्वच्छ और वहुत शांतिपूर्ण वनाये रखना होगा। जब कोई इस आधारपर कार्य करता है तो प्रत्येक चीज सुखपूर्ण और आसान वन जाती है, उस समय श्रीमाँकी शक्तिका स्पर्श वना रहता है और थकावट अथवा अवसाद नही आता।

III

चेतनामें चीजोंके पक्का हो जानेसे पहले, कर्म करनेपर चेतना अवश्य वाहरकी ओर खिंच जाती है जबतक कि कोई अपने द्वारा कार्य करनेवाली "अपनेसे महत्तर दिव्य शक्ति" को अनुभव करना अपनी साधना नही वना चुका हो। मैं समझता हूँ कि यही कारण है कि शंकरके अनुयायियोंने कर्मको अपने स्वभावमें ही अज्ञानका कार्य तथा सिद्धिकी अवस्थाके साथ असंगत समझा। परन्तु वास्तविक वात यह है कि इसकी तीन अवस्थाएं हैं: (1) जिसमें कर्म तुम्हें एक निम्नतर तथा वाह्य चेतनामें

ले आता है जिससे कि तुम्हें पीछे अपने अनुभवको पुनः प्राप्त करना होता है। (2) जिसमे कर्म तुम्हे बाहर ले आता है, पर अनुभूति पीछे (या ऊपर) विद्यमान रहती है, कर्म करते हुए अनुभूत नही होती, पर ज्योंही कर्म बन्द होता है तुम उसे ठीक वैसे ही अनुभव करते हो जैसे वह पहले थी। (3) जिसमें कर्मसे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योकि अनुभूति या आध्यात्मिक अवस्था स्वयं कर्मके अन्दर बनी रहती है। ऐसा लगता है कि इस बार तुमने न० (2) को अनुभव किया है।

*

यह एक विशेष स्थितिको सूचित करता है जब चेतना कभी कर्ममें होती है और जब कर्ममे नही होती तो अपने-आपमें समाहित होती है। पीछे एक ऐसी स्थिति आती है जब सच्चिदानन्द स्थिति कर्ममें भी बनी रहती है। फिर इससे भी आगेकी एक स्थिति है जब दोनों मानो एकरूप हो जाते है, पर वह अतिमानसिक स्थिति है। दो स्थितियां हैं नीरव ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्मकी और वे बारी-बारीसे आ सकती (पहली स्थिति), एक साथ रह सकती (दूसरी स्थिति) और एक साथ घुलमिल सकती है (तीसरी स्थिति) . . . ।

निस्सन्देह, यह (उच्चतम सच्चिदानन्दकी अनुभूति) कर्ममें अनुभूत हो सकती है। हाय राम! यदि यह न हो पाता तो भला पूर्णयोग कैसे संभव हो सकता है?

*

यह उद्धरण चेतनाकी उस स्थितिका वर्णन करता है जब मनुष्य सभी वस्तुओं-के मध्य रहता हुआ भी सबसे पृथक् होता है और सब कुछ असत्य, माया अनुभूत होता है। उस समय कोई पसन्दगी या कामना नही होती क्योंकि चीजें इतनी अधिक असत्य होती है कि उनकी कामना नही होती और न एकके बदले दूसरेको पसन्द करनेकी वृत्ति होती है। परन्तु, उसके साथ-ही-साथ, मनुष्य संसारसे भागनेकी या कोई कर्म न करने-की कोई आवश्यकता अनुभव नही करता, क्योंकि मायासे मुक्त होनेके कारण वह कर्म या सांसारिक जीवनसे भाराक्रांत नहीं होता, वह बद्ध या अंतर्ग्रस्त नहीं होता। जो लोग संसारसे भाग जाते हैं या कर्मका त्याग करते है (संन्यासीगण) वे इसलिये ऐसा करते है कि वे अंतर्ग्रस्त या बद्ध हो जायंगे; वे संसारको असत्य मानते हैं, पर वास्तवमें जबतक ये लोग इसमें रहते हैं यह उनको एक सद्वस्तुके रूपमें भाराक्रांत करता है। जब कोई वस्तुओंकी सत्यताके भ्रमसे मुक्त हो जाता है तब वे उसको भाराक्रांत नही कर सकती अथवा बिलकुल ही बांध नही सकती।

*

करता ? वह भला कोई चीज क्यों करना चाहता जब कि वह शाश्वत शांति या आनन्दमें या भगवान्के साथ एकत्वमें निवास करता था ? अगर कोई व्यक्ति आध्यात्मिक हो और प्राण तथा मनके परे चला गया हो तो उसे निरन्तर कोई चीज "करते रहने" की आवश्यकता नही होती। आत्माको स्वयं अपने अस्तित्वका ही आनन्द प्राप्त होता है। वह कुछ न करनेके लिये स्वतंत्र है और प्रत्येक चीज करनेके लिये स्वतंत्र है — पर इसलिये नही कि वह कर्मसे बद्ध है और उसके बिना अस्तित्व रखनेमें असमर्थ है।

*

परन्तु जीवन्मुक्त कोई बन्धन नही अनुभव करता। सभी कार्य-कर्मोमें वह अपनेको पूर्ण रूपसे स्वतंत्र अनुभव करता है, क्योंकि कर्म वह स्वय व्यक्तिगत रूपमे (उसमें सीमित अहंबोध नही होता) नहीं करता, बल्कि कर्म तो उसके द्वारा वैश्व शक्ति करती है। कर्मकी सीमाएं वे ही होती हैं जिन्हें स्वय वैश्व शक्ति अपने निजी कर्ममें निर्धारित करती है। वह स्वयं परात्परके साथ एकत्व-प्राप्तिकी स्थितिमें रहता है और वह परात्पर विश्वके परे है और कोई सीमा अनुभव नहीं करता । कम-से-कम इसी रूपमें यह अधिमानसमें अनुभूत होता है।

*

यदि अहंकार और कामना गुणोंसे भिन्न चीजें हैं तो फिर अहंकार और कामना-के बिना गुणोंका कार्य हो सकता है और इसलिये आसक्तिके बिना हो सकता है। अना-सक्त मुक्त योगीमें इन गुणोंके कर्मका यही स्वरूप है। यदि यह संभव न हो तो योगियोंके अनासक्त होनेकी चर्चा करना निरर्थक होगा, क्योंकि तब तो उनकी सत्ताके एक भागमें अभी भी आसक्ति बनी रहेगी। यह कहना कि वे पुरुष-भागमें अनासक्त होते हैं, पर प्रकृति-भागमें आसक्त होते हैं, इसलिये वे अनासक्त होते है, निरर्थक बकवास करना है। आसक्ति आसक्ति है, फिर वह सत्ताके किसी भी भागमें क्यों न हो। अनासक्त होनेके लिये मनुष्यको केवल कही अपने भीतर नीरव अन्तरात्मामें ही नही, बल्कि सर्वत्र, अपने मानसिक, प्राणिक और भौतिक कर्ममें अनासक्त होना होगा।

*

मुक्तावस्थामें केवल आंतर पुरुष ही अनासक्त नहीं बना रहता — आंतर पुरुष सर्वदा ही अनासक्त रहता है, केवल मनुष्य साधारण स्थितिमें उसके विषयमें सचेतन नही होता। प्रकृति भी गुणोंकी क्रियासे विक्षुब्ध नहीं होती या उससे आसक्त नहीं होती — मन, प्राण, शरीर (जो कुछ भी प्रकृति है वही) अचंचलता, अविक्षुब्ध शांति

और अनासक्ति पुरुषकी भांति अनुभव करना आरंभ करते हैं, पर यह अचंचलता होती है, सब कर्मोंका अवसान नहीं। यह स्वयं कर्मके अन्दर प्राप्त अचंचलता होती है। यदि बात ऐसी न होती तो 'आर्य'में छपा मेरा यह वक्तव्य मिथ्या हो जायगा कि कामना-रहित या मुक्त कर्म भी हो सकता है जिसपर मैंने मुक्त कर्मकी संभावनाको स्थापित किया था। समस्त सत्ता, पुरुष-प्रकृति, (कोई कामना या आसक्ति न होनेके कारण) गुणोके कर्मके अन्दर भी अनासक्त हो सकती है।

बाह्य सत्ता भी अनासक्त हो जाती है — सारी सत्ता कामना या आसक्तिसे रहित हो जाती है और फिर भी कर्म करना संभव होता है। कामनाके बिना कर्म करना सभव है, आसक्तिके बिना कर्म करना संभव है, अहंकारके बिना कर्म करना संभव है।

*

संभवत: तुम यह समझते हो कि कर्म और प्रकृति एक ही चीज हैं और जहां कोई कर्म नही है वहां कोई प्रकृति नही हो सकती ! पुरुष और प्रकृति सत्ताकी पृथक्-पृथक् शक्तियां है। यह बात नही है कि पुरुष = निष्क्रियता और प्रकृति = कर्म है, अतएव जब सब कुछ निश्चल है तब कोई प्रकृति नहीं है और जब सब कुछ सक्रिय है तब कोई पुरुष नहीं है। जब सब कुछ सक्रिय होता है तब भी पुरुष सक्रिय प्रकृतिके पीछे विद्यमान रहता है और जब सब कुछ निश्चल-निष्क्रिय होता है तब भी वहां प्रकृति होती है, पर प्रकृति निश्चेष्ट होती है।

*

प्रकृति वह शक्ति है जो कार्य करती है। शक्ति कार्यरत हो सकती या निष्क्रिय हो सकती है, पर जब वह निश्चल होती है तब वह उतनी ही अधिक एक शक्ति होती है जितनी वह कर्म करते समय होती है। त्रिगुण शक्तिका कार्य है, वे स्वयं शक्तिमें ही विद्यमान हैं। समुद्र है और उसकी लहरें है, पर लहरें समुद्र नही हैं और जब लहरें नहीं होती और समुद्र शांत-स्थिर होता है तब वह समुद्र होना बन्द नहीं कर देता।

*

सत्त्व प्रभुत्व रखता है, रजस् गतिकारक क्रियाके रूपमें सत्त्वके शासनके अधीन तबतक कार्य करता है जबतक कि तमस् विश्रामकी आवश्यकताको नहीं लादता। यही सामान्य बात है (मुक्तावस्थामें)। परन्तु यदि तमस् अधिकार जमा ले और कर्म दुर्बल हो जाय अथवा रजस् अधिकार जमा ले और कर्म अत्यधिक मात्रामें हो तो भी न तो पुरुष और न प्रकृति ही विक्षुब्ध होती है, सारी सत्तामें एक मौलिक स्थिरता

वनी रहती है और कर्म ऊपरी तहपर उठनेवाली एक तरंग या भंवरसे अधिक कोई चीज नहीं होता।

*

यह (उपरितलीय कर्मसे पृथक् होना पुरुषकी अपेक्षा) प्रकृतिके लिये अधिक कठिन है, क्योंकि इसकी साधारण क्रीड़ा है उपरितलीय सत्ताकी क्रीड़ा। इसे उससे पृथक् होनेके लिये अपनेको दो भागोंमें विभक्त करना होता है। इसके विपरीत, पुरुष अपने स्वभावमें ही नीरव और पृथक् होता है — अतएव उसे केवल अपने मूल स्व-रूपमें पीछे चले जाना होता है।

*

जव प्रकृति मुक्त होती है तो वह अपनेको दो भागोंमें विभक्त कर देती है — (1) आंतर शक्ति जो अपने कर्मसे मुक्त (रजस्, तमस आदिसे मुक्त) होती है; (2) वाह्य प्रकृति जिसे वह व्यवहृत करती और वदलती रहती है।

*

यदि चेतना और ऊर्जा एक ही चीज हैं तो फिर उनके लिये दो अलग-अलग शब्द प्रयुक्त करनेसे कोई लाभ नहीं होगा। उस अवस्थामें, यह कहनेके वदले कि "मैं अपने दोषोंके विषयमें सचेतन हूँ," हम कह सकते हैं कि "मैं अपने दोषोंके विषयमें ऊर्जस्वी हूँ।" यदि कोई मनुष्य तेज दौड़ रहा है तो उसके विषयमें तुम कह सकते हो कि "वह महान् स्फूर्ति (या ऊर्जा) के साथ दौड़ रहा है।" क्या तुम समझते हो कि जव तुम यह कहो कि "वह महान् चेतनाके साथ दौड़ रहा है," तो उसका अर्थ भी वही होगा ? चेतना वह चीज है जो वस्तुओंसे अवगत होती है — ऊर्जा कर्ममें प्रयुक्त एक शक्ति है जो कार्य करती है। चेतनामें ऊर्जा हो सकती है और वह उसे अपने अन्दर रख सकती या वाहर प्रयुक्त कर सकती है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ऊर्जाके लिये केवल एक दूसरा शब्द है, और जव ऊर्जा वाहर जाती है तो उसे भी वाहर चले जाना होगा और वह पीछे नही हट सकती और कर्मरत ऊर्जाका निरीक्षण नहीं कर सकती। तुम्हारे अन्दर पर्याप्त मात्रामें तमस् है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि तुम और तमस् एक ही चीज हो और जव तमस् उठता है और तुम्हें पछाड़ देता है तव स्वयं तुम्ही उठते और अपने-आपको पछाड़ देते हो।

*

निश्चय ही, मन और आतर सत्ता चेतना हैं। जो मनुष्य अपने अन्दर अधिक गहराईतक नही पैठे है उनके लिये मन और चेतना समानार्थक शब्द है। केवल जब मनुष्य चेतनाके वर्द्धित होनेपर अपने विपयमें अधिक सज्ञान होता है तो वह चेतनाके विभिन्न स्तरो, प्रकारों, शक्तियोंको, मानसिक, प्राणिक, भौतिक, चैत्य, आध्यात्मिक आदिको देख सकता है। भगवान्का वर्णन सत्, चित्, आनन्दके रूपमें, यहांतक कि एक चैतन्यके रूपमें किया गया है जो एक शक्ति या ऊर्जाको, दिव्य शक्तिको प्रकट करता है जो ससारका सृजन करती है। मन एक प्रकारकी परिवर्त्तित चेतना है जो एक मानसिक ऊर्जाको अपने अन्दरसे प्रकट करती है। परन्तु भगवान् अपनी ऊर्जासे पीछे हटकर अवस्थित हो सकते और उसे कार्य करते हुए निरीक्षण कर सकते हैं, वह साक्षी पुरुष हो सकते और प्रकृतिके कार्योंको देख सकते है। स्वयं मन भी ऐसा कर सकता है — मनुष्य अपनी मानस-चेतनामें पीछे हटकर अवस्थित हो सकता, मानसिक ऊर्जाको कार्य करते हुए, सोचते हुए, योजना बनाते हुए आदि-आदि देख सकता है; समस्त अंतर्निरीक्षण इसी तथ्यपर आधारित है कि मनुष्य अपने-आपको इस प्रकार एक चेतना (जो निरीक्षण करती है) और एक ऊर्जा (जो कार्य करती है) में विभक्त कर सकता है। ये बिलकुल प्रारंभिक बातें हैं और ऐसा माना जाता है कि इन्हें प्रत्येक व्यक्ति जानता है। कोई भी व्यक्ति महज थोड़ेसे अभ्याससे इसे कर सकता है; जो भी व्यक्ति अपने विचारो, भावनाओं, कार्योंका अवलोकन करता है उसने ऐसा करना बिलकुल प्रारभ कर दिया है। योगमें हम इस विभाजनको पूर्ण बना देते हैं, बस इतनी ही बात है।

*

यह (चेतना) अपने स्वभावसे ही मानसिक और अन्य क्रियावलियोंसे अनासक्त नही होती। यह अनासक्त हो सकती है, यह अंतर्ग्रस्त हो सकती है। मानव-चेतनामें सामान्यतया यह सर्वदा अंतर्ग्रस्त होती है, परन्तु इसने अपनेको अनासक्त करनेकी शक्ति विकसित कर ली है — यह एक ऐसी चीज है जिसे करनेमें निम्नतर सृष्टि अक्षम प्रतीत होती है। जैसे-जैसे चेतना विकसित होती है, यह अनासक्त होनेकी शक्ति भी विकसित होती है।

*

नही, साधनाके बिना योगका लक्ष्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। स्वयं कर्मको साधनाके अंगके रूपमें ग्रहण करना होगा। परन्तु स्वभावतः ही जब तुम कर्म कर रहे हो तब तुम्हें कर्मकी ही बात सोचनी होगी जिसे तुम एक यंत्ररूप यौगिक चेतनासे तथा भगवान्की स्मृतिके साथ करना सीखोगे।

*

इसका कारण यह है कि ऊर्जा कर्ममें प्रयुक्त की गयी है। परन्तु जैसे-जैसे शांति और संपर्क बढ़ते है वैसे-वैसे एक द्विविध चेतना विकसित हो सकती है — एक तो कर्ममे संलग्न होगी, दूसरी पीछेकी ओर, निश्चल-नीरव और साक्षी होगी अथवा भगवान्‌की ओर मुड़ी होगी — इस चेतनामें अभीप्सा बनी रह सकती है जब कि बाहरी चेतना कर्मकी ओर मुड़ी रहती है।

*

मनुष्य ठीक उसी समय अभीप्सा और कर्म दोनों कर सकता है तथा और भी बहुतसी चीजें कर सकता है जब कि चेतना योगके द्वारा विकसित होती रहती है।

*

नही — वास्तवमें यदि वह आंतरिक निमग्नता हो तो केवल तभी वह बाधा उपस्थित करेगी। परन्तु मेरा जो तात्पर्य है वह है एक प्रकारसे उस चीजमे पीछे हट आना जो नीरव और अंतरस्थ साक्षी है और जो कर्ममें लिप्त नही है, फिर भी निरीक्षण करती और उसपर अपना प्रकाश डालती है। इस तरह हम देखते हैं कि सत्ताके दो भाग हैं, एक आंतर भाग जो निरीक्षक और साक्षी और ज्ञाता है, दूसरा भाग जो कार्य-वाहक और यंत्र और कर्त्ता है। यह चीज केवल मुक्ति ही नहीं बल्कि शक्ति भी देती है — और इस आंतर सत्तामें मनुष्य मानसिक क्रियावलीके माध्यमसे नही बल्कि सत्ताके सारतत्त्वके माध्यमसे एक प्रकारके आंतरिक स्पर्श, बोध, ग्रहणशीलताके द्वारा भगवान्‌के संपर्कमें आ सकता है तथा कर्मकी यथार्थ अंत:प्रेरणा या अंतर्ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

*

यदि मनुष्य किसी ऐसी चेतनाको अनुभव करता है जो कर्ममे सीमित नही है, जो पीछे रहकर कर्म करनेवाली वस्तुको सहारा देती है तो यह अधिक आसान है। यह चीज सामान्यतया या तो सुस्थिर और विस्तारित होती हुई विशालता और नीरवताके द्वारा अथवा उस दिव्य शक्तिका अनुभव होनेपर आती है जो हम स्वयं नही है और जो कर्ताके द्वारा कार्य करती है।

*

श्रीमाताजी तुम्हारे पुस्तक लिखनेको नापसंद नही करती — चाहे वह कविता हो या छोटी कहानियां या उपन्यास। बस, हमने यह अनुभव किया कि इस प्रकार

उसमे सपूर्ण तल्लीन हो जाना और उससे अभिभूत हो जाना तुम्हारी आध्यात्मिक स्थितिके लिये अच्छा नही है और यह चेतनाको एक सुदृढ़ आध्यात्मिक सामंजस्यके अन्दर उसके समुचित स्थानमें रखनेके वदले अधिकांश समय उसके अग्रभागमें एक हीन-तर वस्तुको रखता है और यहांतक कि उसके संपूर्ण अग्रभागको अधिकृत कर लेता है।

*

यदि तुम चाहो तो (उपन्यास लिखनेकी) चेष्टा कर सकते हो। कठिनाई यह है कि उपन्यासकी विषय-वस्तु अधिकांशत: वाह्य चेतनासे संवंध रखती है जिससे कि चेतना आसानीसे नीचे गिर सकती या वहिर्मुखी हो सकती है। इसके अलावा, जव मनुष्य वाह्य कर्ममें मनको लगाता है तो आंतरिक स्थितिको वनाये रखना कठिन होता है। यदि तुम अपने अन्दर एक सुदृढ़ स्थिति प्राप्त कर सको तो फिर चेतनाको विक्षुव्ध किये विना या नीचे गिराये विना कोई भी कार्य करना संभव होगा।

*

यह चेतनाकी नमनीयतापर निर्भर है। कुछ लोग ऐसे ही होते हैं, वे इतने निमग्न हो जाते है कि उससे वाहर आना या अन्य कोई काम करना पसंद नही करते। एक प्रकारका संतुलन वनाये रखना आवश्यक है जिससे कि मौलिक चेतना एक एकाग्र-तासे दूसरीमें आसानीसे मुड़नेमें समर्थ वनी रहे।

*

कर्ममे तल्लीन होना अवांछनीय नही है—पर अंतर्मुखी होनेकी कठिनाई केवल अस्थायी हो सकती है। भौतिक चेतनाकी एक प्रकारकी नमनीयता, जो अवश्य आयेगी, एक एकाग्रतासे दूसरीमें मुड़ना आसान वनाती है।

*

कर्म करते समय जिस वाधाकी तुम चर्चा करते हो वह और अपर्याप्त ग्रहण-शीलता और संपर्कको वनाये रखनेकी अयोग्यता — ये सव वातें भौतिक चेतनाके किसी भागके कारण हो सकती हैं जो अभी भी दिव्य ज्योतिकी ओर खुला नही है — संभवत: कोई चीज प्राणिक-भौतिक और जड़-भौतिक अवचेतनामें होगी जो भौतिक मनके अपने संपूर्ण रूपमें मुक्त और संवेदनशील होनेमें वाधक होती है।

ऊपरसे आनेवाली शक्तिसे मिलनेके लिये नीचेसे अभीप्साको ऊपर उठानेमें कोई हर्ज नहीं है। वस, तुम्हें इस वातकी सावधानी रखनी होगी कि नीचेसे किसी

कठिनाईको पहले न उठाया जाय जिसे दूर करनेके लिये अवतरण करनेवाली शक्ति तैयार नहीं है।

जब तुम ध्यान करते हो तब अपनी चेतनाको खो देनेकी कोई आवश्यकता नही है। वास्तवमें मुख्य बात है चेतनाको विस्तारित करना और परिवर्त्तित करना। यदि तुम्हारा मतलब अन्दर पैठनेसे है तो तुम उसे चेतना खोये बिना कर सकते हो।

*

यह भौतिक चेतनाकी एक प्रकारकी जडता है जो इसे उस चीजकी लीकमें इसे बन्द कर देती है जिसे वह करती है और इस कारण यह उसके अन्दर आबद्ध हो जाती है और स्मरण करनेके लिये स्वतंत्र नही होती।

*

जिन सब कठिनाइयोंका तुम वर्णन करते हो वे बिलकुल स्वाभाविक चीजे है और अधिकांश लोगोंमें होती है। जब मनुष्य ध्यानमें शांत-अचंचल बैठता है तब याद करना और सचेतन रहना उसके लिये अपेक्षाकृत सहज होता है; परन्तु जब उसे कर्म-में व्यस्त रहना पड़ता है तो यह कठिन होता है। स्मरण होते रहना और कर्ममें सचेतन रहना यह धीरे-धीरे आनेकी चीज है, तुम्हें इसे एकदम तुरत-फुरत पानेकी आशा नही करनी चाहिये; कोई व्यक्ति इसे एकदम तुरत-फुरत नही पा सकता। यह दो तरीकों-से आता है,—पहले, यदि कोई व्यक्ति प्रत्येक बार कोई कार्य करते समय श्रीमाताजी-को स्मरण करते रहने और उन्हें कर्म अर्पित करनेका अभ्यास करता है (काम करते हुए सब समय नहीं, परन्तु प्रारम्भमें या जब कभी वह स्मरण कर सके), तो यह धीरे-धीरे आसान और प्रकृतिके लिये स्वाभाविक हो जाता है। दूसरे, ध्यान करनेसे एक आंतरिक चेतना विकसित होना आरंभ करती है जो, कुछ समय बाद, तुरत या एका-एक नहीं, अधिकाधिक अपने-आप स्थायी हो जाती है। मनुष्य इसे कार्य करनेवाली बाहरी चेतनासे पृथक् एक चेतना अनुभव करता है। प्रारंभमें जब मनुष्य कर्म करता रहता है तब इस पृथक् चेतनाको अनुभव नही करता परन्तु जैसे ही वह कर्म बन्द कर देता है वह अनुभव करता है कि वह सब समय वहां विद्यमान थी और पीछेसे निरीक्षण कर रही थी; कुछ दिन बाद स्वयं कर्मके समय भी अनुभूत होने लगती है, मानो व्यक्ति-की सत्ताके दो भाग हो — एक तो निरीक्षण करता और पीछेसे सहारा देता हो और श्रीमाताजीको स्मरण करता और उन्हें अर्पित करता हो तथा दूसरा कर्म कर रहा हो, जब ऐसा होता है तब यथार्थ चेतनासे कर्म करना अधिकाधिक आसान होता जाता है।

यही बात और सब बाकी चीजोंके विषयमें भी है। आंतर चेतनाका विकास होनेपर जिन सब चीजोंकी तुम चर्चा करते हो वे सब ठीक हो जायंगी। उदाहरणार्थ, सत्ताके एक भागमें तो कर्मके लिये उत्साह है, पर दूसरा स्थिरताका दबाव अनुभव

करता है और कर्मके लिये उतना इच्छुक नही है। तुम्हारा मनोभाव उस चीजपर निर्भर करता है जो उस समय ऊपर आ जाती है — यही बात सब लोगोंके साथ घटित होती है। दोनोंको सयुक्त करना कठिन है, पर एक समय आता है जब वे अवश्य समन्वित हो जाती है — एक चीज तो आंतरिक एकाग्रतामें संतुलित पड़ी रहती है जब कि दूसरीको उसके कर्म करनेके प्रयासमें वह सहारा देती है। स्वभावका रूपांतर करना, सत्ताकी इन सब विरोधी चीजोंको समन्वित करना साधनाका काम है। इसलिये इन चीजोको अपने अन्दर देखकर तुम्हें निरुत्साहित होनेकी आवश्यकता नही। मुश्किलन कोई आदमी ऐसा होगा जिसने अपने अन्दर इन चीजोंको न पाया हो। यह सब कुछ आंतरिक दिव्य शक्तिकी क्रियाके द्वारा व्यवस्थित हो सकता है, बस इसके लिये साधककी सतत अनुमति और पुकार बनी रहनी चाहिये। स्वयं अपने-आप शायद वह इस कार्यको न कर सके, परन्तु अन्दरमें भागवती शक्तिका कार्य होनेपर सब कुछ सपन्न हो सकता है।

*

आरंभमें आंतरिक स्थितिको बाह्य कर्मकी तल्लीनता और दूसरोंके साथ मिलने-जुलनेके कार्यके साथ संयुक्त करना थोड़ा कठिन होता है। परन्तु एक समय आता है जब आंतर सत्ताके लिये यह सभव हो जाता है कि वह श्रीमाताजीके साथ पूर्ण एकत्व बनाये रखे जब कि कर्म उस एकाग्रीभूत एकत्वसे निःसृत होता है और अपने ब्यौरेमें इतनी आसानीसे परिचालित होता है जिससे कि चेतनाका कुछ भाग बाहरी प्रत्येक चीजपर ध्यान दे सकता है, यहांतक कि उसपर एकाग्र हो सकता है और फिर भी श्रीमाताजीपर अपनी आंतरिक एकाग्रताको अनुभव कर सकता है।

*

यह बहुत अच्छा लक्षण है कि पूरे कार्यके बावजूद भी पीछेकी ओर आंतरिक क्रिया अनुभूत हुई और वह निश्चल-नीरवता स्थापित करनेमें सफल हुई। साधकके लिये अन्तमें एक समय ऐसा आता है जब चेतनता और गभीरतर अनुभव पूरे कर्मके बीच या नीदमें, बातचीत करते समय या किसी भी प्रकारकी क्रियाशीलतामें भी घटित होते रहते है।

*

प्रारंभमें कर्मके बीच (श्रीमाँकी) उपस्थितिकी स्मृति बनाये रखना आसान नही होता; परन्तु कोई यदि कर्मके समाप्त होनेके तुरत बाद उपस्थितिके बोधको पुनः जगा ले तो यह बिलकुल ठीक है। समय आनेपर कर्मके बीच भी उपस्थितिका

बोध होना स्वाभाविक बन जायगा।

*

साधनामें दुःखी होना आवश्यक या अनिवार्य नहीं है, पर ऐसा होता है क्योंकि तुम्हारी आंतरिक प्रकृति अपने लिये भागवत उपस्थितिका स्पर्श अपरिहार्य अनुभव करती है और जब वह उसे नहीं अनुभव करती तो दुःखी होती है' उसे सर्वदा अनुभव करनेके लिये अंतरमें एक प्रकारकी सतत अनासक्तिका होना आवश्यक है जो तुम्हें अपने भीतर बने रहने दे और प्रत्येक कार्य भीतरसे ही करने दे। यह चीज अधिक आसानीसे शांत-स्थिर कार्यों और शांत-स्थिर संपर्कोंके समय की जा सकती है। क्योंकि सच पूछा जाय तो अचंचलता और अंतर्मुखीनता ही भागवत उपस्थितिको अनुभव करनेकी क्षमता देती हैं।

*

तुम्हें सर्वदा भीतरसे कार्य करना सीखना चाहिये — अपनी आंतर सत्तासे कार्य करना सीखना चाहिये जो भगवान्‌के संपर्कमें रहती है। बाह्य सत्ता महज एक यंत्र होनी चाहिये और उसे बिलकुल ही अपनी वाणी, विचार या क्रियाको विवश या अभिप्रेरित नहीं करने देना चाहिये।

*

कार्य, बातचीत, पढ़ना, लिखना आदि सब कुछ शांतिके साथ, यथार्थ चेतनाके अंगके रूपमें भीतरसे किया जाना चाहिये — सामान्य चेतनाकी अस्तव्यस्त और चंचल क्रियाके द्वारा नहीं किया जाना चाहिये।

*

मनुष्य कर्म कर सकता और भीतर शांत-स्थिर बना रह सकता है। स्थिरताका अर्थ यह नहीं है कि मन शून्य हो जाय या कोई कार्य बिलकुल किया ही न जाय।

*

शक्तिका दबाव होना बिलकुल ठीक है, परन्तु वास्तवमें आंतरिक नीरवता और कर्मके बीच कुछ भी असंगत नहीं है। सच पूछा जाय तो उनके इस सम्मिलनकी ओर ही साधनाको अग्रसर होना चाहिये।

IV

भगवान्‌की इच्छाको जाननेके लिये अचंचल मनकी आवश्यकता होती है। भगवान्‌की ओर मुडे हुए अचचल मनमें भागवत इच्छाका और उसे कार्यान्वित करनेके यथार्थ पथका अंतर्बोध (उच्चतर मन) आता है।

*

जब मन शुद्ध और चैत्य पुरुष प्रमुख होता है तब मनुष्य यह अनुभव करता है कि कौनसी चीज भागवत इच्छाके अनुकूल है और कौन उसके विरुद्ध।

*

एक बार जब मानसिक नीरवता प्राप्त हो जाती है तो उसके अन्दर मानसिक विचारोंके स्थानमें कर्मसंबंधी कुछ दर्शन और अंतर्ज्ञान आ सकता है।

*

यह अच्छा है कि तुम सब समय अपने-आपको निरीक्षण करने, गतिविधियों-को देखने तथा यह माननेमें सक्षम थे कि नयी चेतनाका हस्तक्षेप निरंतर और स्वाभाविक रूपमे हो रहा था। एक बादकी स्थितिमें निस्संदेह मनमें भी यह पथ-प्रदर्शन पाने लगोगे कि जो कुछ तुम करना चाहते हो उसे कैसे कर सकते हो। स्पष्ट ही तुम्हारा मन अत्यधिक सक्रिय था — साथ-ही-साथ दूसरोंके मन भी — और इसलिये तुमने अपने उद्देश्यको, दर्शकोंकी अत्यधिक भीड़ होनेके कारण, खो दिया! जो भी हो —

*

कर्मोंके चैत्य होनेके लिये, चैत्य पुरुष सम्मुख भागमें होना चाहिये। साक्षी पुरुष अपनेको पृथक् कर सकता है, पर प्रकृतिको बदल नहीं सकता। परन्तु साक्षी पुरुष होना प्रथम पग है। उसके बाद पुरुषके संकल्पका कार्य श्रीमांकी शक्तिका यंत्र बन जाना चाहिये। यह संकल्प एक यथार्थ चेतनापर स्थापित होना चाहिये जो यह देखती है कि प्रकृतिके अन्दर क्या अशुद्ध, अज्ञानपूर्ण, स्वार्थपूर्ण, अहंकारपूर्ण तथा कामना-से परिचालित है और उसे ठीक कर देती है।

*

यदि सत्य-कर्मोंकी चेतनाको पाना बहुत अधिक चाहते हो और उसके लिये अभीप्सा करते हो तो वह इन कई तरीकोंमेंसे किसी एकके द्वारा प्राप्त हो सकती है :

1. तुम अपनी गतिविधियोंको इस ढंगसे देखनेकी आदत या क्षमता प्राप्त कर सकते हो कि तुम कर्मके प्रवेगको आते हुए देख लो और उसके स्वरूपको भी देख सको।

2. एक ऐसी चेतना आ सकती है जो कोई भूल विचार या कर्मकी प्रवृत्ति या अनुभव होते ही बेचैनी अनुभव करे।

3. जब तुम अनुचित कार्य करने जा रहे हो तब तुम्हारे अन्दरकी कोई चीज तुम्हें सावधान कर सकती और रोक सकती है।

*

(भगवान्‌द्वारा निरन्तर परिचालित होते रहना :) इसके लिये पहली चीज है सतत अभीप्सा करते रहना — दूसरी है अपने अन्दर एक प्रकारकी निस्तब्धता बनाये रखना और बाह्य कर्मसे पीछे हटकर निस्तब्धतामें आ जाना और एक प्रकारकी श्रवणक्षम प्रतीक्षाके भावमें रहना, शब्द सुननेके लिये नहीं बल्कि आध्यात्मिक बोध या चेतनाका निर्देश पानेके लिये प्रतीक्षा करना जो चैत्य पुरुषके भीतरसे आता है।

*

अन्दरसे अनुभव करनेका जहांतक प्रश्न है, यह अन्दर पैठनेकी योग्यतापर निर्भर करता है। कभी-कभी तो यह अनुभव भक्तिसे या अन्यथा चेतनाके अधिक गभीर होनेपर अपने-आप आता है, कभी-कभी यह अभ्याससे आता है — यह मानो अपनी बात कह देने और उत्तर सुननेकी जैसी बात है — निस्सन्देह, सुनना यहां एक रूपकालंकार है पर इसे अन्य प्रकारसे व्यक्त करना कठिन है — इसका मतलब यह नहीं है कि उत्तर आवश्यक रूपसे शब्दोंके रूपमें आता है, चाहे वे उच्चारित हों या अनुच्चारित, यद्यपि कभी-कभी या कुछ लोगोंके पास शब्दोंमें भी आता है; यह कोई भी आकार ले सकता है। बहुतोंकी प्रधान कठिनाई है यथार्थ उत्तरके विषयमें निस्संदिग्ध होनेकी। उसके लिये यह आवश्यक है कि अपने अन्दर गुरुकी चेतनाके साथ संपर्क स्थापित करनेकी क्षमता हो — वह भक्तिके-द्वारा सबसे उत्तम रूपमें आती है। अन्यथा, अभ्यासके द्वारा अन्दरसे अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न एक नाजुक और जटिल कार्य हो सकता है। बाधाएं हैं: (1) प्रत्येक चीजके लिये बाहरी साधनोंपर निर्भर करनेकी आम आदत; (2) अहं, जो यथार्थ उत्तरकी जगह अपने सुझाव देता है; (3) मानसिक क्रियाशीलता; (4) भीतर घुस आनेवाली अनिष्टकर वस्तुएं। मेरी रायमें तुम्हें इसके लिये उत्सुक नहीं होना चा

जो कुछ कहा

*

कर्ममे उद्‌घाटित होना वही वात है जो चैतन्यमें उद्‌घाटित होना है। जो शक्ति तुम्हारे ध्यानकी अवस्थामे चेतनामे कार्य करती है और उसकी ओर तुम्हारे उद्‌घाटित होनेपर सव प्रकारके वादल और अस्तव्यस्तताको दूर कर देती है, वही शक्ति तुम्हारे कर्मको भी हाथमे ले सकती है और न केवल उस कर्मके दोपोंसे तुम्हें सज्ञान कर सकती है, वल्कि तुम्हारे अन्दर यह उद्‌वोध करा सकती है कि आगे क्या करना होगा, और जो कुछ करना होगा उसके करनेमें तुम्हारी मन-वुद्धि और तुम्हारे हाथोंको निर्देश कर सकती है। यदि तुम अपने कर्ममें इस प्रकार उसकी ओर अपने-आपको खोल दो तो तुम उसके इस निर्देशको अधिकाधिक अनुभव करोगे, यहांतक कि, तुम अपने सव कर्मोंके पीछे माताजीकी कर्मशक्तिको अनुभव करोगे।

*

वाहरी जीवनके मामलोंमे भागवत शक्तिको ग्रहण करनेमें समर्थ होने तथा उस शक्तिको अपने द्वारा कार्य करने देनेके लिये तीन आवश्यक शर्त्ते हैं :

(1) प्रशांति, समता — जो कुछ भी घटित हो उससे विचलित न होना, मनको स्थिर और दृढ वनाये रखना, शक्तियोंकी क्रीडाको देखते रहना पर अपने-आप शांत-स्थिर वने रहना।

(2) पूर्ण श्रद्धा-विश्वास — यह श्रद्धा-विश्वास कि जो कुछ सर्वोत्तम है वही घटित होगा, पर यह श्रद्धा भी कि यदि कोई अपनेको सच्चा यत्र वना सके तो फल वही होगा जिसे भागवत ज्योतिद्वारा परिचालित उसकी इच्छा-शक्ति कर्तव्य कर्मके रूपमें देखती है।

(3) ग्रहणशीलता — भागवत शक्तिको ग्रहण करनेकी और उसकी तथा उसके अन्दर श्रीमाताजीकी उपस्थितिको अनुभव करनेकी शक्ति तथा उसे कर्म करने देना, अपनी दृष्टि, संकल्प और कर्मको परिचालित करने देना। यदि इस शक्ति और उपस्थितिको अनुभव किया जा सके तथा इस नमनीयताको कर्मरत चेतनाका अभ्यास वनाया जा सके,—पर एकमात्र भागवत शक्तिके प्रति नमनीयताको, और उसमें किसी विजातीय तत्त्वको मिलाये विना,—तो अन्तिम परिणाम सुनिश्चित है।

*

जो कुछ तुम्हारे अन्दर घटित हुआ वह यह सूचित करता है कि उस स्थितिको प्राप्त करनेकी क्या-क्या शर्त्ते हैं जिसमें भागवत शक्ति अहका स्थान ले लेती है और मन, प्राण तथा शरीरको यंत्र वनाकर कर्मका परिचालन करती है। भगवान्‌द्वारा चालित और एकमात्र उन्हीद्वारा चालित उनका यंत्र वननेके लिये अन्य कोई नहीं, वल्कि ये शर्त्ते हैं कि मनमें ग्रहणशील नीरवता हो, मानसिक अहंका विलोप हो जाय और मनोमय पुरुष अपनी स्थितिसे हटकर साक्षीकी स्थितिमें आ जाय, हमारी सत्ता

भागवत शक्तिके घनिष्ठ संपर्कमें आ जाय और एकमात्र उसी एक प्रभावके अधीन आ जाय तथा और किसी अन्य प्रभावको स्वीकार न करे।

मनकी निश्चल-नीरवता स्वयं अपने-आप अतिमानसिक चेतनाको नहीं ले आती; मानव मन और अतिमानसके बीच चेतनाकी बहुतसी अवस्थाएं या लोक या स्तर हैं। निश्चल-नीरवता मनको तथा सत्ताके बाकी भागोंको महत्तर वस्तुओंकी ओर, कभी तो वैश्व चेतनाकी ओर, कभी शांत आत्माकी अनुभूतिकी ओर, कभी भगवान्‌की उपस्थिति या शक्तिकी ओर, कभी मानव मनकी चेतनासे किसी उच्चतर चेतनाकी ओर खोल देती है; इनमेंसे किसी चीजके घटित होनेके लिये मनकी निश्चल-नीरवता अत्यंत अनुकूल अवस्था है। इस योगमें पहले व्यक्तिगत चेतनाके ऊपर और फिर उसके अन्दर भागवत शक्तिके अवतरित होने और वहां उस चेतनाको रूपांतरित करनेके लिये उसके कार्य करने, उसे आवश्यक अनुभूतियां देने, इसके समस्त दृष्टिकोण और गतिविधियोंको बदल देने, यह जबतक अंतिम (अतिमानसिक) रूपातरके लिये तैयार नहीं हो जाती तबतक इसे धीरे-धीरे एक-एक स्तर पार कराते हुए ले जानेके लिये यह अत्यंत अनुकूल अवस्था (एकमात्र अवस्था नहीं) है।

*

जो कुछ घटित हुआ है वह एक ऐसी चीज है जो बहुधा घटित होती है, और, उसके विषयमें जो तुम्हारा वर्णन है उसीके अनुसार, उसने तुम्हारे अन्दर सर्वदा घटित होनेवाली अवस्थाओंको उत्पन्न किया है। सबसे पहले, तुम प्रार्थना करने बैठ गये, — उसका अर्थ है ऊर्ध्वकी ओर एक पुकार, यदि मैं उसे इस प्रकार प्रकट कर सकूँ। उसके बाद आयी प्रार्थनाके प्रत्युत्तरके प्रभावशाली होनेके लिये आवश्यक अवस्था — "धीरे-धीरे एक प्रकारकी विश्रांतिकी स्थिति आयी," दूसरे शब्दोंमें, चेतनाकी प्रशांतावस्था आयी जिसका आना आवश्यक है, वास्तवमें उसके आनेके बाद ही जिस दिव्य शक्तिको कार्य करना होता है वह कार्य कर सकती है। उसके बाद फिर दिव्य ऊर्जा या शक्तिका प्रवाह आया, "ऊर्जाकी बाढ़ और शक्ति-सामर्थ्यका बोध तथा चमक-दमक" आदि आये, और अंत:प्रेरणा और अभिव्यंजनाके प्रति सत्ताकी स्वाभाविक एकाग्रता हो गयी, दिव्य शक्तिका कार्य हुआ।

प्राण भौतिक स्तरपर कार्यसिद्धिका साधन है, इसलिये सभी कर्मोंके लिये उसका कार्य और शक्ति आवश्यक है; उसके बिना, केवल मन यदि प्राणका सहयोग लिये बिना और उसे यंत्र बनाये बिना कार्यमें प्रेरित करे तो बहुत कठिन और विरक्तिजनक श्रम और प्रयत्न करना पड़ता है और ऐसे परिणाम निकलते हैं जो सामान्यतया बहुत उत्तम प्रकारके बिलकुल नहीं होते। कर्मके लिये आदर्श स्थिति वह है जब कि विशेष ऊर्जाके अन्दर चेतनाकी एक स्वाभाविक एकाग्रता हो और वह संपूर्ण चेतनाकी एक प्रकारकी आरामदायक विश्रांति तथा प्रशांतिपर आधारित हो। अन्य क्रियावलियों-द्वारा उत्पन्न मनका विक्षेप विश्रांति तथा एकाग्र ऊर्जाकी इस समतोलताको भंग कर

देता है,—थकावट भी इसे भग कर देती या नष्ट कर देती है। अतएव सबसे पहले करने योग्य कार्य यह है कि सहारा देनेवाली इस विश्रांतिकी अवस्थाको वापस ले आया जाय और इसे साधारण तौरपर कर्मको बन्द करके तथा विश्राम करके ले आया जाता है। जो अनुभव तुम्हे हुआ था उसके स्थानपर एक विश्रांतिकी अवस्था आयी जो तुम्हारी प्रार्थनाकी स्थितिके उत्तरमे ऊपरसे आयी तथा एक ऊर्जा आयी और वह भी ऊपरसे ही आयी। यह ठीक वही सिद्धात है जैसा कि साधनामें होता है,—यही कारण है कि हम चाहते है कि लोग अपनी चेतनाको अचंचल बनायें जिसमें कि उच्चतर शांति उसमे उतर सके और उस शांतिके आधारपर एक नवीन शक्ति ऊपरसे उतर सके।

वास्तवमे प्रयासके कारण अंत:प्रेरणा नही आयी। अंत:प्रेरणा ऊपरसे एकाग्रताकी एक स्थितिके उत्तरमे आती है जो एकाग्रता स्वयं उसके लिये एक पुकार होती है। उसके विपरीत, प्रयास चेतनाको थका देता है और इस कारण सर्वोत्तम कर्मके लिये उपयोगी नही है, बस,केवल इतनी बात है कि कभी-कभी—सर्वदा कदापि नही — प्रयास अन्तमे अंत:प्रेरणाको खीचनेकी स्थितिमें पहुँच जाता है और उस कारण कुछ उत्तर आता है, पर यह सामान्यतया उतनी अच्छी और फलदायी अंत:प्रेरणा नही होती जितनी कि वह अंत:प्रेरणा जो उस समय आती है जब ऊर्जाकी अपने कार्यमे सहज और तीव्र एकाग्रता होती है। प्रयास और ऊर्जाका व्यय आवश्यक रूपमें एक ही वस्तु नही है,—ऊर्जाका सर्वोत्तम व्यय वह है जब ऊर्जा तनिक भी प्रयासके बिना सहज रूपमें प्रवाहित होती है,—जब अंत:प्रेरणा या ऊर्जा (कोई भी ऊर्जा) अपने-आप कार्य करती है और मन, प्राण और यहांतक कि शरीर भी उज्ज्वल यंत्र होता है और ऊर्जा तीव्र एव सुखकर क्रियाके अंदर — लगभग श्रमहीन श्रमके अन्दर प्रवाहित होती है।

*

यह सच है कि तुम्हारी ओरसे कोई प्रयास हुए बिना दिव्य शक्ति फलदायी रूपमे कार्य कर सकती है। उसके कार्यके लिये प्रयासकी नही, बल्कि सत्ताकी अनुमतिकी आवश्यकता होती है।

*

हां, यही योगकी भावना है — कि समुचित निष्क्रिय भाव ग्रहण करनेपर मनुष्य अपने-आपको अपने सीमित आत्मभावसे किसी महत्तर वस्तुकी ओर खोलता है, और प्रयास केवल उस स्थितिको पानेके लिये उपयोगी होता है। सामान्य जीवनमें भी व्यक्ति वैश्व शक्तिके हाथका महज एक यंत्र होता है, यद्यपि वह जो कुछ करता है उस सबका श्रेय उसका अहंकार ले लेता है।

*

चूँकि तुमने अपनेको दिव्य शक्तिकी ओर खोला है और क्रियाशक्तिके लिये अपनेको एक प्रणाली बना दिया है, इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि जब तुम यह कार्य करना चाहते हो तो शक्ति प्रवाहित हो और उस ढंगसे कार्य करे जिसे चाहा जाता था अथवा उस ढंगसे कार्य करे जो आवश्यक है और उस परिणामके लिये करे जो आवश्यक हो। जब मनुष्य अपने-आपको एक प्रणाली बना देता है, शक्ति यत्रकी सीमाओं या अयोग्यताओंसे आवश्यक रूपमे बंधी नही होती, यह उनकी उपेक्षा कर सकती तथा स्वयं अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे कार्य कर सकती है। ऐसा करते समय यह महज एक माध्यमके रूपमें मानव-उपकरणका व्यवहार कर सकती है और काम पूरा होते ही उसे वह पहले जैसा था ठीक वैसा ही, अपने साधारण क्षणोंमे ऐसा अच्छा कर्म करनेमें अयोग्य, छोड़ सकती है; परन्तु यह अपनी क्रियाके द्वारा उपकरणको सुधार सकती है, उसे आवश्यक अंतर्बोधात्मक ज्ञान और क्रियाका अभ्यस्त बना सकती है जिसमें कि वह स्वेच्छापूर्वक शक्तिकी क्रियाको अपने अधिकारमे ले ले। क्रियाशैलीका जहांतक प्रश्न है, दो अलग-अलग चीजें हैं, एक तो बौद्धिक ज्ञान जिसका प्रयोग मनुष्य करता है और दूसरा अंतःप्रेरणात्मक संज्ञान जो स्वयं अपने अधिकारसे, जब वास्तवमें यह कर्मीद्वारा अधिकृत नहीं होता तो भी, कार्य करता है। उदाहरणार्थ, बहुतसे कवियोंको छन्दसंबंधी या भाषाविषयक शैलीका मामूलीसा ज्ञान ही होता है और वे यह नही बता सकते कि वे कैसे लिखते है या उनकी सफलतामें कौनसे गुण और तत्त्व है, परन्तु तो भी वे ऐसी चीजें लिखते है जो छंद और भाषाकी दृष्टिसे पूर्ण होते है। तकनीकका बौद्धिक ज्ञान, निश्चय ही, सहायता करता है बशर्ते कि कोई उसे महज एक उपाय या कोई कठोर बंधन ही न बना दे! कुछ कलाएं ऐसी है जो तकनीकी ज्ञानके बिना अच्छी तरह नही की जा सकतीं, उदाहरणार्थ, चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि।

जो कुछ तुम लिखते हो वह इस अर्थमें तुम्हारा अपना है कि तुम उसकी अभिव्यंजनाके यंत्र बने हो —यही बात प्रत्येक कलाकारके या कर्मीके विषयमें है, यद्यपि, इसमें संदेह नही कि, साधनाके लिये यह आवश्यक है कि यह स्वीकार किया जाय कि यथार्थ शक्ति तुम्हारी अपनी नहीं थी और तुम केवल एक यंत्र थे जिसपर उस (शक्ति) ने अपना स्वर बजाया।

सृजनका आनन्द अहंका सुख नही है जो उसे व्यक्तिगत रूपसे कार्य अच्छी तरह करनेसे या कोई व्यक्ति होनेसे प्राप्त होता है, वह तो कोई बाहरी वस्तु है जो कर्म और सृजनके उल्लासके साथ अपने-आपको संलग्न कर देती है। दिव्य आनन्द एक महत्तर शक्तिके फूट पड़नेसे आता है, उसके द्वारा अधिकृत और व्यवहृत होनेके पुलकसे आता है, आवेशसे, चेतनाको ऊपर उठानेके, उसे आलोकित कर देनेके उल्लाससे और उसके अधिक महान् और अधिक ऊंचे कर्मसे आता है और फिर उस सौन्दर्य, शक्ति या पूर्णत्वका भी आनन्द होता है जो सृष्ट होता है। कहांतक मनुष्य उसे अनुभव करता है यह निर्भर करता है उस समयकी उसकी चेतनाकी अवस्थापर, प्राणकी प्रकृति तथा उसकी क्रियापर; निश्चय ही, कोई योगी (अथवा प्रबल और स्थिर मनवाले कुछ लोग भी) उस आनन्दमें बह नहीं जाता, वह उसे धारण करता और निरीक्षण करता है और मन,

प्राण या शरीरके माध्यमसे महज कोई उत्तेजना उसके प्रवाहके साथ नहीं मिल जाती। स्वभावतः ही समर्पण या आध्यात्मिक उपलब्धि या दिव्य प्रेमका आनन्द उससे बहुत महान् वस्तु है, पर सृजनके आनन्दका भी अपना स्थान है।

*

यह देखना कि कर्म वास्तवमें अच्छी तरह किया गया है या नहीं और श्रीमाताजी-के लिये किये गये कर्मका आनन्द अनुभव करना। "मैं" से मुक्त हो जाओ। यदि कर्म अच्छी तरह किया गया है तो उसे वास्तवमें दिव्य शक्तिने किया है और तुम्हारा भाग बस इतना ही था कि तुम एक अच्छे या बुरे यंत्र थे।

*

वास्तवमें (कर्ममे) रस होना चाहिये, पर वह तब आता है जब दिव्य शक्तिका सक्रिय भावमें अवतरण होता है।

*

जो कुछ तुम घटित होते हुए देखते हो वह सभी कर्मोमें होनेवाला आम अनुभव है। श्रीमाताजी कहती है कि इसका कारण यह तथ्य है कि कर्म आरंभ करते समय यह अतर्ज्ञान उपलब्ध होता है कि क्या करना चाहिये और प्रारंभमें मन उसके लिये एक प्रणालिकाके रूपमें काम करता है और सब कुछ अच्छी तरह चलता है। बादमें चलकर मन अपने हिसाबसे काम करना आरंभ कर देता है,—साधारणतया साधक-का इस ओर ध्यान ही नही जाता जबतक कि वह बहुत सचेत और अपने-आपको सूक्ष्म रूपसे देखनेका अभ्यस्त न हो — और मूल अंत:प्रेरणाके बिना अपने मामूली साधनों-से कार्य करने लगता है। यह चीज कविता और संगीत जैसे कामोंमें बहुत स्पष्ट रूपमें अनुभूत होती है — क्योंकि वहां मनुष्य अंत.प्रेरणाको आते हुए अनुभव करता है और उसे न आते हुए तथा साधारण मनके साथ मिलजुल जाते हुए अनुभव करता है। जबतक वह आती रहती है तबतक तो प्रत्येक चीज आसानीसे और उत्तम रूपमें संपन्न होती है, पर ज्योंही मन हस्तक्षेप करना या उसके स्थानमें काम करना आरंभ करता है, कार्य कम अच्छे रूपमें संपन्न होता है। रसोई बनाने जैसे कार्यमें मनुष्य प्रत्यक्ष रूप-में और सुस्पष्ट रूपमें अंत:प्रेरणाको अनुभव नही करता, संभवतः एक प्रकारकी प्रसन्न-चित्तता, प्रत्यक्ष ज्ञानशक्ति और आत्मविश्वासको अनुभव करता है — उसी तरह जब भौतिक मन सक्रिय होता है तो मनुष्य उस ओर ध्यान नही देता। कविता जैसी चीजमें मनुष्य फिरसे अंत:प्रेरणा आनेतक लिखना छोड़ सकता है, पर रसोई बनानेमें वह वैसा नहीं कर सकता, कामको उसी समय तुरत समाप्त करना होगा। मै समझता

हूँ कि इस विषयमें केवल तभी सुधार किया जा सकता है जब मनुष्य अपने भीतर अधिक सचेतन हो, जैसा कि साधनामें मनुष्य करता है, जब कि मनुष्य निम्नतर मानसिक क्रियाशीलताकी गलत क्रियाको देखने लगे और अपने संकल्पके द्वारा पुनः यथार्थ अंतः-प्रेरणा और ज्ञानको नीचे उतारकर उसका प्रतीकार करने लगे।

*

श्रीमाताजी संकेत दे सकती हैं और संभावनाओंको उद्घाटित कर सकती हैं, परन्तु मन यदि हस्तक्षेप करे और यदि उनका अनुसरण न किया जाय तो फिर क्या किया जा सकता है ?

*

तुम्हें भला उन्हीं चीजोंके लिये क्यों प्रयास करना चाहिये जिनके लिये दूसरे करते हैं ? जिस कार्यको करनेके लिये मनुष्य अंतःप्रेरणा अनुभव करता है वही उसके लिये सर्वोत्तम है।

V

साधनाके कालमें मनुष्य वैश्व प्राण-शक्तिको आहरण करना सीख सकता है और उससे अपनी शक्तियोंको परिपूरित कर सकता है। परन्तु साधारणतया सर्वोत्तम पथ है अपने-आपको श्रीमाताजीकी शक्तिकी ओर उद्घाटित करना और उसके विषय-में यह जानना कि वह समस्त आधारको धारण कर रही और चला रही है अथवा उसमें प्रवाहित हो रही है तथा कर्मके लिये आवश्यक शक्ति दे रही है, वह कर्म चाहे मानसिक, प्राणिक या शारीरिक हो।

स्वभावतः ही वर्तमान वैश्व शक्तियोंके ऊपर एक उच्चतर शक्ति है और यह वह शक्ति है जो प्रकृतिका रूपांतर करेगी और मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक शक्तियोंको अपने हाथमें लेकर उन्हें स्वयं अपनी ही जैसी शक्तियोंमें परिवर्त्तित कर देगी।

*

यह एक दिव्य शक्ति है जो आती और कर्ममें प्रवृत्त करती है और उतने ही यथार्थ रूपमें आध्यात्मिक जीवनका एक अंग है जितने यथार्थ रूपमें दूसरी शक्तियां हैं। यह एक विशेष शक्ति है जो कर्मीकी सत्तापर अधिकार जमा लेती है और उसके द्वारा अपने-आपको चरितार्थ करती है। किसीके अन्दर इस प्रकार पूर्ण शक्तिके साथ कार्यका

होना पूर्णतया लाभदायक है। बस, एक ही बात है कि शक्तिमे अधिक कार्य नही होना चाहिये — अर्थात् किसी प्रकारकी थकावटसे अथवा भौतिक तमस्मे लौट पडनेसे बचना चाहिये।

आत्मनिवेदनका जहातक प्रश्न है, अपने-आपको अर्पित करनेके लिये सर्वदा सकल्प करो ओर जब तुम्हारे लिये सभव हो (मेरा मतलब है कर्मके प्रसंगमें), स्मरण करो और प्रार्थना करो। इसका अर्थ है एक विशेष प्रकारका मनोभाव स्थिर कर लेना। पीछे चलकर, दिव्य शक्ति अंतरके अधिक गहरे आत्मदानको खोल देनेके लिये इस चाभीका लाभ उठा सकती है।

*

ऊपरसे आनेवाली शक्ति उच्चतर चेतनाकी शक्ति है। पीछेसे आनेवाली शक्ति आवश्यकताके अनुसार मानसिक, प्राणिक या भौतिक शक्तिके रूपमे कार्य करती है। जब हमारी सत्ता उसकी ओर खुली होती हे और उसकी क्रियाके प्रति एक प्रकारकी निष्क्रियता होती है तो वह व्यक्तिगत क्रियाशीलताका स्थान ले लेती है ओर व्यक्ति उसके कार्यका एक साक्षीभर होता है।

*

मै उस शक्तिकी बात नही कह रहा था जो ऊपरसे नीचे आती है, बल्कि पीछे-से आनेवाली उस शक्तिकी बात कर रहा था जो मन और शरीरको यत्र बनाकर उनके द्वारा कार्य करती है। बहुत बार जब मन और शरीर जड-निष्क्रिय होते हैं, उनका कार्य फिर भी पीछेसे आनेवाले इस प्रवेगके द्वारा चलता रहता है।

*

योगके साधारण क्रममें उस भौतिक बलका स्थान एक यौगिक बल या यौगिक प्राण-शक्ति ले लेती है जो शरीरको बनाये रखती और उससे कार्य कराती है, परन्तु इस शक्तिके अभावमें शरीर बल-सामर्थ्यसे शून्य, जड और तामसिक हो जाता है। इस स्थितिको केवल तभी सुधारा जा सकता है जब कि समूची सत्ता अपने प्रत्येक स्तरमे योग-शक्तिकी ओर — यौगिक मन-शक्ति, यौगिक प्राण-शक्ति, यौगिक शरीर-शक्तिकी ओर — उद्घाटित हो जाय।

*

हा, यदि सर्वदा यथार्थ चेतना बनी रहे तो कोई थकावट नही आयेगी।

*

जब तुम यह कार्य करते थे तब तुम्हारे अन्दर शक्ति मौजूद थी और सत्य चेतना प्राण और शरीरमें भरी हुई थी — उसके बाद विश्राम करनेपर साधारण भौतिक चेतना ऊपर आ गयी और वह साधारण प्रतिक्रियाओंको — थकावट, कुल्हे और जांघके दर्द आदिको — वापस ले आयी।

*

जब तुम थक जाते हो तो अधिक परिश्रम करके अपनेको अत्यधिक मत थका दो बल्कि विश्राम करो — केवल अपना साधारणसा कार्य करो; अशांतिके साथ सब समय कुछ-न-कुछ करते रहना उसे दूर करनेका पथ नहीं है। वास्तवमें जब थकावटका ऐसा बोध हो तो आवश्यकता इस बातकी है कि बाहर और भीतर स्थिर-अचंचल रहा जाय। सदा ही एक बल तुम्हारे समीप विद्यमान रहता है जिसे तुम अपने अन्दर पुकार सकते हो और इन चीजोंको दूर कर सकते हो, परन्तु उसे ग्रहण करनेके लिये तुम्हें शांत-स्थिर बने रहना सीखना होगा।

*

हां, अत्यधिक परिश्रम करके थक जाना भूल है, क्योंकि बादमें उसकी एक प्रतिक्रिया होती है। यदि अपने अन्दर शक्ति है तो सबकी सब शक्तिको खर्च नहीं कर देना चाहिये, कुछ शक्तिको जमा करके रखना चाहिये जिससे कि शरीरके स्थायी बलकी वृद्धि हो।

*

अत्यधिक परिश्रम जड़ताको ऊपर ले आता है। प्रत्येक व्यक्तिकी प्रकृतिमें जड़ता विद्यमान है : बस, प्रश्न है उसकी अधिक या कम क्रियाका।

*

यदि बहुत अधिक कार्य किया जाता है तो कर्मीकी दिलचस्पीके होनेपर भी कर्मका स्तर गिर जाता है।

*

आलस्यको अवश्य दूर हो जाना चाहिये — परन्तु मेरी समझमें कभी-कभी तुमने दूसरी ओर बहुत अधिक खींचा है। पूरी शक्तिसे काम करनेमें समर्थ होना

आवश्यक है — पर कर्म न करनेमे सक्षम होना भी आवश्यक है।

सामान्य बातचीतके विपयमें तुम जो कुछ कहते हो वह बिलकुल सही है और जो तुम यह कहते हो कि वह सब बन्द हो जाना चाहिये, वह वास्तवमें सत्य चेतना प्राप्त करनेके लिये बहुत आवश्यक है।

*

यदि शरीर ऐसी स्थितिमें है और कार्य इस तरहकी प्रतिक्रियाएं इसमें उत्पन्न करता है तो इसे जबर्दस्ती मजबूर करने तथा इसपर अतिश्रमका बोझ डालनेसे कोई लाभ नही। यह कही अधिक अच्छा है कि स्नायु-संस्थान और शरीरके कोषोंमें निरन्तर स्थिरता, शाति, ज्योति और शक्ति उतारकर धीरे-धीरे बाहरी प्राकृत सत्ताको शिक्षित और प्रशिक्षित किया जाय। शरीरको बलपूर्वक विवश करनेपर उसका उद्देश्य पूर्ण रूपसे विफल हो सकता है। संभवत: तुम्हारी साधना अत्यंत एकांतिक रूपसे आंतरिक और आत्मनिष्ठ रही है; परन्तु बात यदि ऐसी है, तो इस स्थितिको एक क्षणमें नही सुधारा जा सकता। अतएव तुम्हारे लिये यह अधिक अच्छा है कि तुम अभी भारी शारीरिक कार्य मत करो।

*

यह (थकावटका कारण) शायद कोई कामना अथवा प्राणिक अभिरुचि है — प्राणकी पसन्दगी और नापसन्दगी है। जो कार्य तुम्हें दिये जायं उन सबको तुम्हें श्रीमाताजीके कार्यके रूपमें अनुभव करना चाहिये और हर्षके साथ करना चाहिये और अपनेको श्रीमाँकी शक्तिकी ओर खोलना चाहिये जिसमें वह तुम्हारे द्वारा कार्य करे।

VI

निस्सदेह, तुम प्रगति करते रहे हो, परन्तु श्रीमाताजीने तुमसे जो यह कहा था और प्रत्येक आदमीसे कहती है कि सच्चा कलाकार होनेके लिये वर्षों लगातार कठिन परिश्रम करनेकी आवश्यकता होती है, वह सही है। परन्तु तुम्हारी भूल यह है कि तुम इन चीजोंपर बड़ा बल देते हो और उनमें कोई रुकावट या कठिनाई आनेपर निरुत्साहित हो जाते हो। एकमात्र करणीय बात यह है कि जो कुछ नीचे उतर रहा है उसकी ओर चेतनाको खोला जाय, अन्दर परिवर्तनको घटित होने दिया जाय जिसमें कि चेतना भागवत उपस्थितिसे भरपूर शांति, ज्योति, शक्ति और आनन्दकी चेतना बन जाय। जब ऐसा हो जायगा तब भगवान् तुम्हारे द्वारा जो कार्य कराना चाहते हैं अथवा तुम्हारे अन्दर जो कुछ विकसित करना चाहते है वह एक ऐसी तीव्रता और पूर्णताके साथ संपन्न

या विकसित हो जायगा जैसा अभी होना असंभव है। सर्वप्रथम एकमात्र आवश्यक चीज होनी चाहिये, बाकी सब कुछ अभी एकमात्र आवश्यक वस्तुके विकासके लिये अभ्यासका क्षेत्र है।

*

फ्रेंच लिखनेके संबंधमें, तुम्हें अभिव्यक्त होनेवाली चीजोंके विषयमें इतना अधिक नही सोचना चाहिये — इससे कुछ आता-जाता नही कि आया दूसरोंने वही चीजें लिखी हैं और अधिक अच्छे रूपमें उन्हें लिखा है या नही। तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये महज पूर्ण रूपसे फ्रेंच लिखना सीख लेना, फ्रेंच भाषाका एक माध्यमके रूपमें पूरा व्यवहार कर सकना। आया शक्ति कोई चीज तुम्हारे द्वारा भविष्यमें अभिव्यक्त करना चाहती है या नहीं, यह एक ऐसी बात है जिसे तुम्हें भगवदिच्छापर छोड देना चाहिये; एक बार यदि सच्ची चेतनाके साथ अपनेको भगवान्‌के हाथोंमें दे दो तो वह यह जानेंगे कि तुम्हारे द्वारा क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये और चाहे जो उपकरणत्व तुम उनके हाथोंमें दे सकोगे उसका वह पूरा उपयोग करेंगे।

*

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, सभी विषयोंमें, कर्म और अध्ययन तथा योगद्वारा होनेवाली आंतरिक प्रगतिमें, वही चीजें आवश्यक होती हैं यदि तुम पूर्णता चाहो — मनकी अचंचलता, दिव्य शक्तिके विषयमें सचेतन होना, उसकी ओर उद्घाटित होना, अपने अन्दर उसे क्रिया करने देना। पूर्णताको लक्ष्य बनाना बहुत अच्छा है, पर मनकी चंचलता उसे प्राप्त करनेका पथ नही है। अपनी अपूर्णताओंपर ही जोर देते रहना और सर्वदा यह सोचते रहना कि कैसे किया जाय और क्या किया जाय — यह भी पथ नहीं है। अचंचल बने रहो, अपनेको खोलो, चेतनाको विकसित होने दो — दिव्य शक्तिको कार्य करनेके लिये पुकारो। जैसे-जैसे ये चीजें बढेंगी और जैसे-जैसे शक्ति कार्य करने लगेगी, वैसे-वैसे तुम केवल यही नहीं समझने लगोगे कि क्या अपूर्ण है, बल्कि उस क्रियाको भी जानने लगोगे जो तुम्हें (एक ही पगमें नही, बल्कि धीरे-धीरे) अपूर्णतासे बाहर निकाल ले जायगी और उस समय तुम्हें केवल उस क्रियाका अनुसरणभर करना होगा।

यदि अत्यंत देरतक काम करके या अशांतिके साथ कार्य करके अपनेको अत्यधिक थका दोगे तो उससे तुम्हारा स्नायुमंडल, प्राणिक-भौतिक भाग, अस्तव्यस्त या दुर्बल हो जायगा, और अवांछित शक्तियोंकी क्रियाकी ओर तुम उद्घाटित हो जाओगे। कार्य करना पर शांतिके साथ कार्य करना ही यथार्थ पथ है जिसमें कि सतत प्रगति होती रहे।

*

जो कठिनाई तुम अनुभव करते हो वह बहुत अधिक इस कारण आती है कि तुम सर्वदा अपने मनमें सभी बातोंके लिये दुश्चिता करते रहते हो, सोचते रहते हो कि "यह गलत है, यह मेरे अन्दर या मेरे कार्यमें दोप है" और, उसके परिणामस्वरूप, "मै अयोग्य हूँ, मै बुरा हूँ, मेरे द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता।" तुम्हारा कसीदेका कार्य, 'लैप-शेड' आदि बराबर ही बहुत अच्छे होते है, और फिर भी तुम सदा यह सोचते रहते हो कि "यह खराब काम है, वह दोपपूर्ण है" और इस प्रकार अपनेको विभ्रांत करते और उलझनमे जा फसते हो। स्वभावत. ही तुम कभी-कभी भूल कर देते हो, पर अधिक भूल उस समय करते हो जब इस तरह दुश्चिता करते हो; जब कार्य सरल ढंगसे और विश्वासके साथ करते हो तब उतनी भूलें नहीं होती।

चाहे काम हो या साधना, यह अधिक अच्छा है कि स्थिर-भावसे चला जाय, दिव्य शक्तिको कार्य करने दिया जाय और उसे ठीक-ठीक कार्य करने देनेके लिये यथाशक्ति प्रयास किया जाय, परन्तु इस प्रकार अपनेको पीड़ा पहुँचाये बिना और निरंतर हर प्रश्नपर अशातिपूर्वक संदेह करते हुए न किया जाय। चाहे जो भी दोष हों वे बहुत जल्द दूर हो जाते, यदि तुम बहुत अधिक उन्हीका स्वर न अलापा करते। क्योंकि इतना अधिक उन्हीपर ध्यान जमाये रहनेसे तुम अपने ऊपर तथा शक्तिकी ओर खुले रहनेकी अपनी क्षमतापर विश्वास खो देते हो — जो क्षमता कि सर्वदा विद्यमान है — और शक्तिके कार्यके पथमें अनावश्यक कठिनाइयां खड़ी कर देते हो।

*

काममें होनेवाली भूलोंके विपयमें दुश्चिता मत करो। बहुधा तुम कल्पना करते हो कि तुमने बुरे ढंगसे कार्य किया है जब कि तुमने उन्हें बहुत अच्छे ढंगसे किया होता है; परन्तु, यदि भूलें हों भी तो उनके लिये उदास होनेकी कोई बात नहीं। चेतनाको वर्द्धित होने दो — एकमात्र दिव्य चेतनामें ही नितांत परिपूर्णता है। जितना अधिक तुम भगवान्को समर्पण करोगे उतना ही अधिक तुम्हारे अन्दर पूर्णताके आनेकी सभावना होगी।

*

ऐसी भूलोंको बहुत अधिक महत्त्व मत दो अथवा उनके कारण परेशान मत होओ। ऐसी भूलें करना मनका स्वभाव ही है। एकमात्र उच्चतर चेतना ही इन सबको सुधार सकती है — मन प्रत्येक विशिष्ट कार्यमे बहुत दीर्घ प्रशिक्षणके बाद ही निस्संशय हो सकता है और उसके बाद भी उसे कोई अनपेक्षित बात न घटे इसके लिये केवल सावधान ही रहना होगा। तुम जितना अच्छा कर सको करो, बाकी चीजोंके लिये उच्चतर चेतनाको विकसित होने दो जबतक कि वह भौतिक मनकी सभी क्रियाओंको आलोकित न कर सके।

*

कर्मका कौशल तब आयेगा जब भौतिक मन और शरीर उद्घाटित हो जायंगे। अभी उसके लिये व्याकुल होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अपनी शक्ति और योग्यता-भर काम करो और उसके लिये व्याकुल मत होओ।

*

जब काम हो रहा हो तब केवल अपने कामकी बात सोचो, उससे पहले और उसके बाद नहीं।

अपने मनको उस कामपर वापस मत ले जाओ जो समाप्त हो चुका है। वह भूत-कालकी चीज है और दुबारा उसमें संलग्न होना शक्तिका अपव्यय है।

जो कार्य आगे करना है उसकी आशामें अपने मनको श्रम मत करने दो। जो शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है वह उसके अपने समयपर उसकी चिंता करेगी।

मनके ये दो अभ्यास भूतकालकी क्रियापद्धतिसे संबंध रखते हैं जिसे रूपांतर-कारी शक्ति दूर करनेके लिये दबाव डाल रही है और भौतिक मन जो उनमें बने रहनेका हठ करता है वही तुम्हारे अतिश्रम और थकानका कारण है। यदि तुम याद रख सको कि जब मनके कार्यकी आवश्यकता हो केवल तभी अपने मनको कार्य करने दोगे तो अतिश्रमका भाव कम हो जायगा और विलीन हो जायगा, निस्संदेह, यह उस स्थिति-से पहलेकी मध्यवर्त्ती क्रिया है जब कि अतिमानसिक क्रिया भौतिक मनको अधिकृत कर लेगी और इसके अन्दर ज्योतिकी स्वाभाविक क्रिया ले आयेगी।

VII

हाँ, स्पष्ट ही, यह कर्मका एक महान् उपयोग है कि यह स्वभावकी परीक्षा करता है और साधकको उसकी बाहरी सत्ताके दोषोंके सामने ला खड़ा करता है जो अन्यथा उसकी दृष्टिसे बच जाते।

*

कर्म केवल तभी महत्त्वपूर्ण होते है जब वे प्रकृतिके अंदर विद्यमान वस्तुओंको व्यक्त करते है। तुम्हारे कर्मोंके अन्दरकी जो सब चीजें योगके साथ समस्वर नहीं है उनके विषयमें तुम्हें सचेत रहना होगा और उनसे मुक्त होना होगा। परन्तु उसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि तुम्हारी अपनी ही चेतना, चैत्य चेतना भीतरसे निरीक्षण करे और जो कुछ अवांछनीय दिखायी दे उसे दूर फेंक दे।

*

यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि दोषोंसे छुटकारा पानेके लिये साधनाके रूपमें

कर्म किया जाय, वजाय इसके कि कर्म न करनेके कारणके रूपमें दोषोंको स्वीकार किया जाय। इन प्रतिक्रियाओंको स्वीकार करनेके वदले,—मानो वे तुम्हारी प्रकृति-के अपरिवर्तनीय विधान हो,—तुम्हें अपने मनमें यह संकल्प करना चाहिये कि अव उन्हे नही आना चाहिये — श्रीमाताजीकी शक्तिकी सहायताका आवाहन करना चाहिये जिसमे वह प्राणको शुद्ध कर दे और उन दोषोंको एकदम निर्मूल कर दे। यदि तुम विश्वास करो कि शरीरमें कठिनाई अवश्य आयेगी तो स्वभावत: ही वह अवश्य आयेगी, वल्कि अपने मनमे इस भावना और संकल्पको जमा दो कि उसे नही आना चाहिये और वह नही आयेगी। यदि वह आनेकी चेष्टा करे तो उसका त्याग कर दो और अपने पाससे उसे दूर फेंक दो।

*

यह मानव-प्राणकी एक वहुत वड़ी भूल है — प्रशंसाओंको उनके अपने लिये चाहना और उनके अभावमें हतोत्साह हो जाना और यह समझना कि इसका मतलव है कि कोई क्षमता है ही नही। इस संसारमें मनुष्य जो कुछ करता है उसे अज्ञान और अपूर्णताके साथ आरम्भ करता है — मनुष्यको अपनी भूलें जाननी है और पाठ सीखना है, मनुष्यको भूले करनी है और उन्हे सुधारकर कार्य करनेका सही रास्ता ढूँढ़ निकालना है। इस संसारमे कोई मनुष्य कभी इस विधानसे वच नहीं सका है। अतएव मनुष्य-को दूसरोंसे सव समय प्रशसाकी आशा नहीं करनी है, वल्कि जो चीज सही और सुसंपा-दित है उसके लिये प्रशंसा और भूल-भ्रांतियों तथा गलतियोंके लिये टीका-टिप्पणीकी आशा करनी है। जितना ही अधिक मनुष्य आलोचनाको सह सकता और अपनी भूलें देख सकता है, उतनी ही अधिक उसके अपनी क्षमताकी पूर्णतातक पहुँचनेकी सभावना है। विशेषकर जव मनुष्य वहुत छोटा होता है — वालिग होनेसे पहले — वह आसानीसे पूर्ण कर्म नहीं कर सकता। कवियों और चित्रकारोंके जिस कार्य-को वाल-कृति कहते है — जो कार्य वे अपने प्रारंभिक वर्षोंमें करते हैं वह वरावर अपूर्ण होता है, वह एक आशा होता है और उसमें कई गुण होते हैं — पर वास्तविक पूर्णता और उनकी शक्तियोंका पूरा प्रयोग पीछे आता है। वे स्वयं इस वातको अच्छी तरह जानते है, पर वे लिखते जाते या चित्र वनाते जाते है, क्योंकि वे यह भी जानते है कि ऐसा करनेसे वे अपनी शक्तियोंको विकसित कर लेंगे।

दूसरोंके साथ तुलनाका जहांतक प्रश्न है, उसे नही करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिको अपना निजी पाठ सीखना है, अपना निजी कार्य करना है और उसे स्वयं उसीसे मतलव रखना चाहिये, न कि अपनी तुलनामें दूसरोंकी अधिक या कम प्रगतिसे। यदि वह आज पीछे है तो भविष्यमें अपनी पूरी योग्यता पा सकता है और वास्तवमें अपनी शक्तियोंकी उस भावी पूर्णताके लिये ही उसे परिश्रम करना चाहिये। तुम अभी वालक हो और अभी तुम्हे प्रत्येक चीज सीखनी है — तुम्हारी क्षमताएं अभी केवल कलीकी स्थितिमें है, तुम्हे प्रतीक्षा करनी होगी और उनके पूरी तरह खिल जानेके लिये कार्य

करना होगा — और यदि इसमें किसी संतोषजनक और पूर्ण वस्तुतक पहुँचनेमें कई महीने या वर्ष भी लग जायं तो तुम्हें चिंता नही करनी चाहिये। वह अपने उचित समयपर आयेगी और जो कार्य तुम अभी करते हो वह वरावर ही उस ओर जानेका एक पग है।

परन्तु आलोचनाका तथा दोषोंको दिखानेका स्वागत करना सीखो — जितना ही अधिक तुम ऐसा करोगे उतनी ही तेजीसे तुम आगे वढोगे।

*

जो व्यक्ति चित्र वनाना या वाजा वजाना या लिखना सीख रहा है और जो लोग पहलेसे ये चीजें जानते हैं उनके द्वारा अपनी भूलोंको सुझाया जाना पसन्द नही करता — वह भला विलकुल ही कैसे सीख सकता या तकनीककी किसी पूर्णतातक कैसे पहुँच सकता है ?

*

हम तुम्हारे विचारका समर्थन नही कर सकते — आश्रममें पहलेसे ही काफी वुद्धिजीवी लोग हैं और कमरा-वंद वुद्धिजीवी ही वह जाति नही है जिसके अनुचित प्रचारको प्रोत्साहित करनेके लिये हम प्रवृत्त हैं। वाहरी कर्म ठीक वह चीज है जो प्रकृतिमें साम्यभाव वनाये रखनेके लिये आवश्यक है और इस उद्देश्यसे तुम्हें निश्चय ही इसकी आवश्यकता है। फिर तुम्हारा भोजन-गृहमें उपस्थित रहना भी अनिवार्य है। अन्य वातोंका जहांतक प्रश्न है, 'अ' या 'व' से क्रुद्ध होनेकी जगह तुम्हें अपने अन्दर इन चीजोंका कारण ढूंढ़ना चाहिये — यही साधकके लिये सदा सच्चा नियम रहा है। कभी-कभी तुम उच्च स्थितिमें रहते हो और तव सारी वातें वहुत अच्छे ढंगसे चलती हैं; परन्तु कभी-कभी तुम विलकुल ही ऊंची स्थितिमें नहीं रहते और तव ये सव गलतफहमियां उठती है। अतएव इसका उपाय है सर्वदा अपनी उच्चतम स्थितिमें रहना — सदा अपने कमरेमें न रहना, वल्कि अपनी सर्वोत्तम स्थितिमें रहना और इसलिये निरंतर अपने सच्चे स्वरूपमें रहना।

*

तुम्हारी कठिनाई उठती है उस प्राण-प्रकृतिकी एक प्रकारकी अत्यधिक असहिष्णुतासे जो वड़े प्रवल रूपमें कर्ममें सामंजस्यका कोई अभाव या विरोध अथवा कोई अवांछित घटना अनुभव करती है और, जव वह चीज आती है, वह उसे मानो व्यक्तिगत विरोध मान वैठती है और दूसरी ओर भी ठीक वैसी ही भावना उठती है और इस कारण कठिनाई स्थायी हो जाती है तथा संघर्ष उत्पन्न करती है। सच पूछा

जाय तो कठिनाई बहुधा परिस्थितियोंसे उत्पन्न होती है, जैसे, गृहनिर्माण-विभाग बहुत कम कार्यकर्त्ता होने और कामकी भीड़के कारण अपने सभी आदमियोंको काममे लगा देनेसे तुम्हारे साथ व्यवस्था करनेमें पहलेकी अपेक्षा अधिक कठिनाई अनुभव कर सकता है। अथवा वह लोगोंके किसी प्रसंगमें अपने दृष्टिकोणसे, जो तुम्हारे दृष्टिकोणसे मेल नही खाता, कार्य करनेके कारण उत्पन्न हो सकती है। अथवा, वह उस व्यक्तिके कारण उठ सकती है जो अपने विचारोंका अनुसरण करता है, जो कुछ सुविधाजनक और लाभदायी होता है उसकी दृष्टिसे चलता है और इस तरह तुम्हारे विरुद्ध पडता है। इन सब चीजोंमे कोई व्यक्तिगत भावना नही रखनी चाहिये और यह सबसे उत्तम है कि किसी व्यक्तिगत भावनाकी ओर दृष्टि न दी जाय और उस दृष्टिकोणसे उन्हे न देखा जाय। आवश्यक बात यह है कि सर्वदा सभी बातोंमें शांत दृष्टि और सुस्पष्ट दर्शन-शक्ति अपनायी जाय —— स्वयं अपने ही दृष्टिकोणसे नहीं देखना चाहिये जो अतमे सही हो सकती है और फिर भी ब्यौरेमें जिसमें सुधार करनेकी आवश्यकता हो सकती है, बल्कि उस दर्शन-शक्तिसे देखना चाहिये जो दूसरोंके दृष्टिकोणको भी देखती है, यह उदारभावसे, शांत और निर्व्यक्तिक भावसे देखनेकी शक्ति पूर्ण यौगिक चेतनाके लिये आवश्यक है। इसे प्राप्त कर लेनेपर मनुष्य उस बातपर दृढताके साथ आग्रह कर सकला है जिसपर आग्रह करना आवश्यक है, पर उसके साथ-ही-साथ दूसरेकी बातका विचार करते हुए और उसे समझते हुए आग्रह करेगा जिससे व्यक्तिगत भावनाके एक प्रकारके सघर्पका अवसर दूर हो जाता है। स्वभावतः ही, यदि दूसरा अविवेकी हो तो वह फिर भी क्रोध कर सकता है, पर तब वह पूर्णतः उसका अपना दोप होगा और वह केवल उसीपर वापस जा पड़ेगा। बस, यहींपर हम कुछ परिवर्तनकी आवश्यकता अनुभव करते है। कर्मके लिये निष्ठा, विश्वस्तता, क्षमता, संकल्पशक्ति तथा अन्यान्य गुण तुममे पर्याप्त मात्रामें है —— पूर्ण शांति और समता एक ऐसी चीज है जिसे तुम्हे केवल अपनी आंतर सत्तामे ही नही जहां वह पहलेसे ही हो सकती है, बल्कि अपने बाहरी स्नायविक भागोंमें भी पूर्ण रूपसे प्राप्त करना होगा।

*

सर्वदा दोनों पक्षोंमें दोप होते हैं जो इस असामंजस्यको उत्पन्न करते हैं। तुम्हारी ओर, तुममे......दूसरोंके विपयमें अत्यंत कठोर निर्णय देनेकी प्रवृत्ति है, तुम सदा दूसरोंकी भूलों, दोपों, कमजोरियोंको देखने और उनपर बल देनेके लिये तैयार रहते हो और उनकी अच्छाइयोंको पूरी तरह नही देखना चाहते। इसके कारण तुम्हारे दृष्टिकोणमे उदारता नही आती जो कि होनी चाहिये और फिर ऐसी छाप पड़ती है कि तुम्हारे अन्दर कठोरता तथा उग्र आलोचनाकी वृत्ति है और दूसरी ओर विरोध और विद्रोहकी प्रवृत्ति पैदा करती है, जो, दूसरोंके मनमें जब यह नहीं होती तो भी, उनकी अवचेतनाके माध्यमसे कार्य करती है और इन सब प्रतिकूल क्रियाओंको उत्पन्न करती हैं। सबसे अच्छा तरीका यह है कि दूसरोंके अंदर जो कुछ अच्छा है उसका

लाभ उठाया जाय, अपनी दृष्टि सर्वदा उसीपर रखी जाय और उनकी भूलों और दोष-त्रुटियोंके साथ चतुराईसे व्यवहार किया जाय। यह पद्धति दृढ़ता और अनुशासन-की रक्षाका वहिष्कार नहीं करती, यहांतक कि जब कठोरता संगत हो तो कठोरता भी वरत सकती है; परन्तु कठोरताका व्यवहार विरल होना चाहिये और दूसरे यह न अनुभव करें कि यह मानो तुम्हारा स्थायी स्वभाव हो।

*

अपने आंतरिक अनुभवों और उपरितलीय प्रतिक्रियाओंके बीचके विभेदका जो तुम्हारा अनुभव है वह यह सूचित करता है कि तुम अपनी प्रकृतिके विभिन्न भागोंके विषयमें सचेतन हो रहे हो, जिनमेंसे प्रत्येकका अपना निजी स्वभाव है। वास्तवमें प्रत्येक मनुष्य विभिन्न व्यक्तित्वोंसे बना है जो विभिन्न ढंगसे अनुभव करते और व्यव-हार करते है और उसका कार्य उनमेंसे किसी एकके द्वारा निर्धारित होता है जो उस समय प्रमुख होता है। जो भाग किसीके प्रति कोई विरुद्ध भावना नहीं रखता वह या तो चैत्य पुरुष होता है अथवा हृदयस्थ भावमय सत्ता; जो भाग क्रोधी और कठोर होता है वह उपरितलीय बाह्य प्राण-प्रकृतिका भाग होता है। यह क्रोध और कठोर-ता किसी ऐसी चीजके गलत रूप हैं जो अपने-आपमें मूल्यवान् है, प्राण-सत्तामें विद्य-मान संकल्प और कर्मशक्ति और संयमका एक प्रकारका बल है जिसके बिना कर्म नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बातकी है कि क्रोधसे मुक्ति पायी जाय और किस परिस्थितिमें कौनसा कार्य करना उचित है इसका निर्णय करनेकी विकसित शक्तिके साथ-साथ क्रिया शक्ति और अटल संकल्पको बनाये रखा जाय। उदाहरणार्थ, लोगों-को उस समय अपने निजी ढंगसे कार्य करने दिया जा सकता है जब उससे कार्य नष्ट न होता हो, जब वह उस चीजको करनेका उनका एकमात्र तरीका हो जिसको करना आवश्यक है;, जब उनका तरीका कर्मके अनुशासनके विरुद्ध हो तो उन्हें संयमित करना ही होगा, पर यह कार्य शांति और दयाभावके साथ करना चाहिये, न कि क्रोधके साथ। बहुत बार, यदि किसी व्यक्तिने अपनी संकल्पशक्तिको यंत्र बनाकर श्रीमांकी शक्तिको कर्मपर प्रयुक्त करनेकी नीरव शक्तिका विकास किया हो तो वह शक्ति अपने-आप पर्याप्त हो सकती है और कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह व्यक्ति अपने-आप ही, मानो स्वयं अपनी ओरसे, अपने ढंगको बदल देता है।

भोजन न कर सकने और भोजनको अनावश्यक समझनेकी यह भावना एक प्रकारका सुझाव है जो कई लोगोंके पास आ रहा है। इसका परित्याग करना चाहिये और आधारसे निकाल बाहर करना चाहिये, क्योंकि अपर्याप्त भोजन करनेके कारण शरीर दुर्वल हो सकता है। बहुधा प्रारंभमें मनुष्य दुर्बलता अनुभव नहीं करता, एक प्रकारकी प्राणिक शक्ति आती है और शरीरको बल प्रदान करती है, पर पीछे चलकर शरीर दुर्वल होता है। यह भावना कभी-कभी मनुष्यके बहुत भीतर पैठ जाने-पर भी आ सकती है और तब शारीरिक आवश्यकताओंके लिये कोई आग्रह नहीं रहता;

पर इसे स्वीकार नही करना चाहिये। यदि इसका त्याग किया जाय तो यह विलीन हो सकती है।

*

किसी व्यक्तिको निरुत्साहित करना अनुचित है, परन्तु मिथ्या उत्साह देना अथवा किसी अनुचित वस्तुके लिये उत्साहित करना ठीक नहीं है। कठोरताका कभी-कभी उपयोग करना पड़ता है (यद्यपि उसका अत्यधिक उपयोग नही होना चाहिये) जब कि इसके विना अनुचित बातपर होनेवाले हठीले आग्रहको सुधारा नही जा सकता। वहुत बार, यदि आतरिक संपर्क स्थापित हो जाता है तो, और किसी चीजकी अपेक्षा नीरव दबाव अधिक फलदायी होता है। कोई अटल नियम नही स्थापित किया जा सकता, मनुष्यको हर प्रसंगमें निर्णय करना होगा और अच्छेसे अच्छेके लिये कार्य करना होगा।

*

यह कामके लिये बिलकुल जरूरी है; योग्यता और अनुशासन अपरिहार्य हैं। परंतु बाहरी साधनोंसे इन्हें केवल अंशत: ही बनाये रखा जा सकता है — वास्तवमें साधारण जीवनमें यह उच्चाधिकारीके व्यक्तित्वपर, सहायकोंके ऊपर उसके प्रभावपर, उसकी दृढता, कौशल, उनके प्रति व्यवहारमे उसके सौजन्यपर निर्भर करता है। परंतु साधक एक गभीरतर शक्तिपर, अपनी चेतनाकी शक्तिपर और उसके द्वारा कार्यकरने-वाली शक्तिपर निर्भर करता है।

*

इसे (सहयोगियोंको अनुशासनके अधीन रखना) समुचित भावके साथ करना होता है और सहयोगियोंको यह अनुभव होना चाहिये कि यह बात ऐसी है — उनके साथ पूरी ईमानदारीके साथ व्यवहार किया जा रहा है और एक ऐसे व्यक्तिके द्वारा किया जा रहा है जिसमें सहानुभूति और अंतर्दृष्टि है और केवल कठोरता और कर्म-ठता ही नही है। यह एक प्राणिक कौशल और प्रबल और विशाल प्राणका प्रश्न है जो सर्वदा यह जान लेता है कि दूसरोंके साथ व्यवहार करनेका समुचित ढंग क्या है।

*

पूरे ब्यौरोंके साथ तुम्हारे पत्र पाकर हम बहुत प्रसन्न हुए हैं जो यह प्रतिपादित करते हैं कि तुमने साधनामें कितनी अधिक और तीव्र प्रगति की है। जो कुछ तुम लिखते हो

वह एक सुस्पष्ट चेतनाको तथा निम्नतर प्राणमें एक नवीन कार्यारभको सूचित करता है। वहां अधिकार जमानेकी वृत्ति तथा यंत्र होनेके गर्वको स्पष्ट रूपमे देख लेनेका तात्पर्य है कि सत्ताका वह भाग समुचित रूपमें परिवर्तित होने जा रहा है; इन दोषो-के स्थानमें अब उनके सच्चे प्रतिरूपोंको — सत्य और ऋतके लिये दूसरोंपर नि-ष्कामभावसे कार्य करनेकी शक्ति तथा भगवान्का प्रबल और विश्वस्त पर अहं-भावरहित यंत्र बननेकी क्षमताको ला बिठाना होगा। यह भी स्पष्ट है कि भौतिक स्तर प्रभावशाली रूपमें उद्घाटित हो रहा है, परन्तु उसमे जो सहजात भौतिक तथा प्राणिक-भौतिक गतियां है, शरीरमें भय, दुर्बलता, अस्वस्थ रहनेकी प्रवृत्ति आदि है उन्हें भी अवश्य चले जाना चाहिये। आहारकी जहांतक बात है, हलके प्रकारका भोजन जो शक्ति और भरण-पोषणके लिये पर्याप्त हो, तुम्हारे लिये सर्वोत्तम है — मांसाहार उपयुक्त नही है।

जो विशाल उद्घाटन तुम्हारे अन्दर आया है उसे विकसित होने दो और अपनी समूची सत्ताको जड़-भौतिक स्तरतक सच्ची चेतना और सच्ची शक्तिसे भर जाने दो।

*

तुम जानते हो कि कौनसी यथार्थ वस्तु करनेकी है — आवश्यक आतरिक मनोभावको ग्रहण करना और बनाये रखना — जब दिव्य शक्तिके प्रति उद्घाटन हो जाता है और उससे कर्ममें सामर्थ्य, साहस और क्षमता आने लगती हैं तो बाहरी परिस्थितिका मुकाबला किया जा सकता तथा उन्हे सही दिशामें मोड़ा जा सकता है।

*

जब कभी कोई अवांछित चीज घटित होती है तो यह आवश्यक है कि...... भौतिक मन या स्नायुओंमें अस्तव्यस्तता या अशांतिका कोई प्रकंपन न आने दिया जाय। साधकको शांत-स्थिर बने रहना चाहिये तथा दिव्य ज्योति और शक्तिकी ओर खुले रहना चाहिये, तभी वह समुचित ढंगसे कार्य करनेमें समर्थ होगा।

*

साधनाकी दृष्टिसे — तुम्हें इन चीजोंके कारण तनिक भी अपनेको विक्षुब्ध नही होने देना चाहिये। जो कुछ तुम्हें करना है, जो कुछ करना उचित है, वह भागवत शक्तिकी सहायतासे पूर्ण शांतिके साथ किया जाना चाहिये। सफलतापूर्ण परिणाम पानेके लिये जो सब चीजें आवश्यक हैं वे की जा सकती हैं — जिनमें उन सब लोगोंकी

सहायता उपलब्ध करना भी सम्मिलित है जो तुम्हें सहायता देनेमें समर्थ है। परन्तु यह बाहरी सहायता यदि न आनेवाली हो तो तुम्हें विक्षुब्ध नहीं होना चाहिये, बल्कि अपने रास्तेपर शांतिपूर्वक अग्रसर होना चाहिये। यदि कहीं कोई कठिनाई या असफलता हो जो तुम्हारी अपनी भूलके कारण न हो तो तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिये। शक्ति, अचल स्थिरता, जिन सब चीजोंके साथ तुम्हें व्यवहार करना है उनके साथ एकदम सीधा और समुचित व्यवहार — बस, यही तुम्हारे कर्मका नियम होना चाहिये।

*

इस समता तथा प्रतिक्रियाओंके अभावकी अवस्थाको बनाये रखना तथा उस स्थिर भूमिसे योगशक्तिको वस्तुओं और मनुष्योंपर (अहंजन्य उद्देश्योंसे नहीं बल्कि कर्तव्य कर्मके लिये) प्रयुक्त करना योगीकी यथार्थ स्थिति है।

*

अचल-अटल, अक्षुब्ध बने रहो, निरुत्साहित हुए बिना अपना कार्य करो, दिव्य शक्तिको अपने लिये कार्य करनेके लिये पुकारो। तुम्हारे लिये यह परीक्षाका क्षेत्र है — बाह्यकी अपेक्षा आंतरिक परिणाम अधिक महत्त्वपूर्ण है।

*

द्विविध कार्य करनेकी आवश्यकता है, अधीनस्थोंकी अशुभ इच्छाको नष्ट करना और उच्चाधिकारियोंके मनको परिवर्तित करना — एक अदृश्य कार्य करना है, क्योंकि ऐसा लगता है कि दृश्य क्षेत्रमें वे बहुत अधिक अज्ञानकी शक्तियोंके अधिकारमें हैं।

*

तुम्हें अपने-आपको अदृश्य दिव्य शक्तिका यंत्र बनाना होगा — एक प्रकारसे उसे आवश्यक बिंदु और आवश्यक लक्ष्यपर प्रयुक्त करनेमें समर्थ होना होगा। परंतु इसके लिये समता पूर्ण होनी चाहिये — क्योंकि दिव्य शक्तिका स्थिर और दीप्त उपयोग आवश्यक है। अन्यथा शक्तिका उपयोग, यदि अहंजन्य प्रतिक्रियाओंसे मुक्त हो तो, तदनुरूप अहंजन्य विरोध और संघर्ष खड़ा कर सकता है।

*

समताकी वृद्धि केवल पहली शर्त्त है। जब समताके आधारपर ज्ञानपूर्ण शक्तिका उपयोग उनके आक्रमणको निष्फल करनेके लिये किया जा सकेगा तभी आक्रमणोंका आना असंभव होगा।

*

[विरोधी शक्तियोंका उन लोगोंपर बाहरी आक्रमण जो सहयोग देते है:] सर्वदा यही भौतिक स्तरपर उनकी चातुरीका एक अंग होता है। जब कोई उच्चतर शक्ति उनके विरुद्ध व्यवहृत की जायगी केवल तभी उन्हें हटाया जा सकेगा।

*

यही समताका यथार्थ आंतरिक मनोभाव है — बाहरमें चाहे जो भी घटित हो फिर भी अचल-अटल बने रहना। परंतु बाहरी क्षेत्रमें सफलता पानेके लिये (यदि तुम मानवीय साधनोंका, कूटनीति या दांव-पेचका उपयोग न करो) आवश्यकता है उस दिव्य शक्तिको चुपचाप संचारित कर देनेकी क्षमताकी जो मनुष्योंके मनोभाव और परिस्थितियोंको बदल सके और किसी बाहरी कार्यको तुरत करणीय और प्रभावशाली यथार्थ कार्य बना सके।

*

साधकके लिये बाहरी संघर्ष, कठिनाइयां, विपत्तियां आदि अहं और राजसिक कामनाको जीतने तथा पूर्ण समर्पणभाव प्राप्त करनेका केवल एक साधन हैं। जबतक मनुष्य सफलता प्राप्त करनेका आग्रह करता है तबतक वह कम-से-कम अंशत: अहंके लिये कार्य कर रहा है; कठिनाइयां और बाहरी असफलताएं यह चेतावनी देनेके लिये आती हैं कि बात ऐसी है और पूर्ण समता ले आनेके लिये आती हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि विजय पानेका सामर्थ्य प्राप्त करनेकी चीज नहीं है, बल्कि सच पूछा जाय तो तात्कालिक कर्ममें सफलता पाना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात नहीं है; सबसे महत्त्वपूर्ण बात है महत्तर और महत्तर शुद्ध दृष्टि और आन्तरिक शक्ति ग्रहण करने तथा संचारित करनेकी योग्यता और इसे ही विकसित करना होगा। परन्तु इसे करना होगा बिलकुल ठंडे दिलसे और धैर्यपूर्वक, तत्काल विजय या असफलतासे न तो फूल उठना और न विक्षुब्ध होना होगा।

*

तुम्हें जो अनुभव करना है वह यह है कि तुम्हारी सफलता या विफलता, सबसे

पहले और सर्वदा, तुम्हारे यथार्थ मनोभाव बनाये रखनेपर, तुम्हारे सच्चे चैत्य तथा आध्यात्मिक वातावरणमे बने रहनेपर तथा अपने द्वारा श्रीमाताजीकी शक्तिको कार्य करने देनेपर निर्भर करता है... ...।

यदि तुम्हारे पत्रोके आधारपर विचार कर सकूँ तो कह सकता हूँ कि तुम उसकी सहायताको बहुत अधिक सत्य मान लेते हो और कार्यके संबंधमें अपने निजी विचारों और योजनाओ और शब्दोंपर सबसे प्रथम बल देते हो; परन्तु ये चीजें, चाहे अच्छी हों या बुरी, ठीक हों या गलत, यदि वे सच्ची दिव्य शक्तिके यंत्र नही है तो असफल होने-के लिये बाध्य है ..। तुम्हें बराबर एकाग्रचित्त बने रहना होगा, सर्वदा प्रत्येक कठि-नाईको समाधानके लिये उस शक्तिके सम्मुख पेश करना होगा जो यहांसे भेजी जा रही है, सर्वदा उसे ही कार्य करने देना होगा तथा उसके स्थानपर अपनी निजी मन-बुद्धि और पृथक् प्राणिक इच्छा या आवेगको नही ले आना होगा.........।

अपने कार्यको जारी रखो, सफलताकी शर्त्तको कभी न भूलो। कर्ममें या अपनी भावनाओंमे या योजनाओंमें अपने-आपको खो मत दो अथवा सच्चे मूलस्रोतके साथ सतत संस्पर्श बनाये रखना मत भूलो। अपने तथा शक्ति तथा श्रीमाँकी उपस्थितिके बीच किसी व्यक्तिके मन या प्राणिक प्रभाव या इर्दगिर्दके वातावरणके प्रभावको अथवा साधारण मानवीय मनोवृत्तिको मत आने दो।

*

जो कार्य तुमने श्रीमाताजीके लिये अपने हाथमें लिया था उसे इतनी अच्छी तरह पूरा कर डालना — सभी कठिनाइयोंको पार कर ऐसे सुन्दर परिणामपर समाप्त करना बड़ा संतोपजनक है......। परन्तु श्रीमाताजीके लिये किया गया तुम्हारा कर्म सर्वदा वैसा ही होना — पूर्ण, विवेकपूर्ण और कौशलपूर्ण, अटल विश्वाससे अंतः-प्रेरित तथा श्रीमाँकी शक्तिके प्रति उद्घाटित होना – सुनिश्चित है। जहां ये चीजें होती है वहां सफलताका आना सदा सुनिश्चित होता है।

VIII

भौतिक वस्तुओंमें व्यवस्थित सामंजस्य और संगठन निपुणता और पूर्णताका आवश्यक अंग है और यंत्रको जो भी कार्य दिया जाता है उसके लिये उसे सुयोग्य बनाते है।

*

कोई भौतिक जीवन सुव्यवस्था और ताल-छंदके विना नही रह सकता। जब यह व्यवस्था बदलती है तब उसे किसी आंतरिक विकासके अनुसार बदलना चाहिये,

न कि किसी बाहरी नवीनताके लिये। सच पूछो तो ऊपरी निम्न-प्राण-प्रकृतिका ही एक विशेष भाग ऐसा होता है जो बराबर स्वयं अपने लिये बाहरी परिवर्त्तन तथा नवीनता खोजता रहता है।

जब मनुष्यके अन्दर निरंतर विकास होता रहता है केवल तभी वह निरन्तर नवीनता भी पाता रह सकता है और जीवनमे स्थायी रस पा सकता है। इससे भिन्न दूसरा कोई संतोषजनक मार्ग नहीं है।

*

बातें बिगड़ जानेपर अधीर हो उठना एक गुणका — यथार्थता और व्यवस्थापर आग्रह करनेके गुणका — विकार है। असल बात है गुणको बनाये रखना और विकारसे छुटकारा पाना।

*

अत्यन्त भौतिक वस्तुओंमें तुम्हें उनसे व्यवहार करनेके लिये एक कार्यक्रम तै कर लेना होगा, अन्यथा सब कुछ अस्तव्यस्तता और क्रमहीनताका एक समुद्र बन जायगा। जबतक लोग बिना नियम उनके साथ समुचित रूपमें व्यवहार करनेके लिये पर्याप्त विकसित नहीं हैं तबतक स्थूल वस्तुओंकी व्यवस्थाके लिये सुनिश्चित नियम बनाना भी जरूरी है। परन्तु आंतरिक विकास और साधनाके मामलेमें प्रत्येक ब्यौरेमें निश्चित कोई योजना बना डालना और यह कहना असंभव है कि "प्रत्येक बार तुम्हें यहां, वहां, इस ढंगसे, इस पथपर, और किसी पथपर नहीं, ठहरना होगा।" चीजें इतनी बंधी-बंधाई और कठोर हो जायंगी कि कुछ भी नहीं किया जा सकेगा; कोई भी यथार्थ और फलदायी क्रिया नहीं हो सकेगी।

*

कर्ममें अवश्य ही कोई नियम और अनुशासन होना चाहिये और जहांतक संभव हो समयके विषयमें नियमितता बरतनी चाहिये।

कौनसा अच्छा कार्य है और कौनसा बुरा या कम अच्छा कार्य? सब श्रीमांके काम हैं और श्रीमाताजीकी दृष्टिमें एक समान हैं।

*

नियमित होनेकी योग्यता एक महान् शक्ति है, मनुष्य अपने समय और अपनी गतिविधियोंका स्वामी बन जाता है।

*

दृढ निश्चयका अर्थ है निश्चित समयमें किसी कार्यको पूरा कर देनेका प्रयास। वह कोई बधनकारी "प्रतिज्ञा" नही है कि कार्य उस समयतक पूरा हो जायगा। यदि वह पूरा न भी हो तो भी प्रयास जारी रखना होगा, ठीक उसी तरह मानो तिथि निश्चित हो चुकी हो।

IX

अत्यत थोडे समयमें भौतिक वस्तुओंको खुले तौरपर बरबाद करना और असावधानीके साथ नष्ट करना, शिथिलतावश अव्यवस्थित रखना, चाहे प्राणिक लोभ या तामसिक जडताके वश सेवा और सामग्रीका दुर्व्यवहार करना समृद्धिके लिये घातक है और धन-शक्तिको दूर भगा देता या निरुत्साहित करता है। ये चीजें दीर्घकालसे समाजमें प्रचलित है और, यदि वे बनी रहें तो, हमारे साधनोंमें वृद्धि होनेका भलीभाति अर्थ होगा उसी अनुपातमें वस्तुओंकी बरबादी, और कुव्यवस्थामें भी वृद्धि और उससे स्थूल-भौतिक सुयोग-सुविधा व्यर्थ हो जायगी। यदि कोई ठोस प्रगति करनी हो तो इसका इलाज अवश्य होना चाहिये।

स्वयं वैराग्यके ही लिये वैराग्य इस योगका आदर्श नही है, परंतु प्राणस्तरमें आत्मसयम तथा भौतिक स्तरमें समुचित व्यवस्था उसके बड़े महत्त्वपूर्ण अंग हैं — और यहातक कि हमारे उद्देश्यके लिये सच्चे संयमके बेरोक अभावकी अपेक्षा वैराग्यपूर्ण अनुशासन कही अधिक अच्छा है। भौतिक वस्तुओंपर प्रभुत्व पानेका अर्थ यह नही है कि प्रचुर मात्रामे उन्हें पाया जाय और उन्हें अधिक-से-अधिक बाहर फेंक दिया जाय अथवा जितनी तेजीसे वे आवें उतनी ही तेजीसे अथवा उससे भी अधिक तेजीसे उन्हें नष्ट कर दिया जाय। प्रभुत्वके अन्दर यह भी शामिल है कि वस्तुओंका समुचित और सावधानतापूर्वक व्यवहार किया जाय और उनके व्यवहारमें भी आत्मसंयम बनाये रखा जाय।

*

स्थूल वस्तुए घृणा करनेके लिये नही हैं —— उनके बिना इस स्थूल जगत्में कोई भगवदभिव्यक्ति नही हो सकती।

*

प्रत्येक भौतिक वस्तुमे एक चेतना है जिसके साथ मनुष्य संपर्क कर सकता है। प्रत्येक वस्तुकी, मकान, मोटरगाड़ी, साज-सामान आदिकी एक प्रकारकी व्यष्टि-सत्ता है। प्राचीन युगके लोग इसे जानते थे और इसलिये वे प्रत्येक भौतिक वस्तुमें एक आत्मा या "अधिदेवता" देखते थे।

*

तुम भौतिक वस्तुओंके विषयमें जो अनुभव करते हो वह ठीक है — उनमें भी एक चेतना है, एक प्राण है जो मनुष्य और पशुका प्राण और चेतना नही है जिन्हें हम जानते हैं, पर और भी गुह्य और यथार्थ। यही कारण है कि हमें भौतिक वस्तुओं-के प्रति भी आदरभाव रखना चाहिये और समुचित रूपमें उनका व्यवहार करना चाहिये, कुव्यवहार और अपचय नहीं करना चाहिये, उनके साथ बुरा वर्ताव अथवा अचेतन कठोरताके साथ उनका उपयोग नही करना चाहिये। सभी चीजोंके चेतन या जीवंत होनेकी भावना तब आती है जब हमारी अपनी भौतिक चेतना — और केवल मन ही नही — अपनी अंधतासे जागती है और सभी वस्तुओंमें एकमेवके विषय-में, सर्वत्र भगवान्‌के विषयमें सचेतन होती है।

*

यह बहुत सही है कि भौतिक वस्तुओंके अन्दर एक चेतना होती है जो प्यारको अनुभव करती और प्रत्युत्तर देती है तथा असावधानीपूर्ण स्पर्श और कठोर व्यवहारके प्रति संवेदनशील होती है। इसे जानना या अनुभव करना और उनके विषयमें साव-धान होना चेतनाकी एक महान् प्रगति है।

*

भौतिक वस्तुओंको बुरी तरह इस्तेमाल करना और असावधानीवश तोड़-फोड़ देना या नष्ट करना और कुव्यवहार करना यौगिक चेतनाको अस्वीकार करना है तथा जड़-भौतिक स्तरपर भागवत सत्यको उतार लानेमें एक महान् बाधा है।

*

मैं समझता हूँ कि यह एक ऐसी भावना थी जो भौतिक मनके द्वारा आयी थी, जो भौतिक उपयोगका अनुसरण करने तथा अन्य सभी बोधों और उद्देश्योंकी उपेक्षा करनेका सुझाव थी। तुम्हें भौतिक मनकी इन भावनाओं और सुझावोंसे सावधान रहना चाहिये तथा इनमेंसे किसीको विवेक तथा उच्चतर ज्योतिकी अधीनताके बिना स्वीकार नहीं करना चाहिये।

विभाग छः

ध्यानके द्वारा साधना

ध्यानके द्वारा साधना

तुम्हारे प्रश्न एक बहुत विशाल क्षेत्रको पूराका पूरा समाविष्ट कर लेते है। अतएव यह आवश्यक है कि कुछ संक्षेपमें, किन्ही प्रधान बातोंका स्पर्शमात्र करते हुए उनका उत्तर दिया जाय।

1. ध्यानका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

भारतीय शब्द 'ध्यान' की भावनाको अभिव्यक्त करनेके लिये अगरेजीमें दो शब्दोंका व्यवहार किया जाता है: मेडिटेशन (Meditation) और कण्टेम्प्लेशन (Contemplation)। जब मनुष्य अपने मनको किसी एक ही विषयको स्पष्ट करनेवाली किसी एक ही विचार-धारापर एकाग्र करता है तो उसे ही वास्तवमे 'मेडि-टेशन' कहते है। परंतु जब मनुष्य किसी एक ही विषय, मूर्त्ति, भावना आदिपर मनकी दृष्टि लगा देता है जिससे एकाग्रताकी शक्तिकी सहायतासे उसके मनमें स्वभावत. ही उस विषय, मूर्त्ति या भावनाका ज्ञान उदित हो जाता है तो वही कहलाता है 'कण्टे-म्प्लेशन'। ये दोनों ही चीजें ध्यानके दो रूप हैं, क्योंकि ध्यानका मूल स्वरूप ही है मानसिक एकाग्रता, फिर वह एकाग्रता चाहे विचारपर की जाय या किसी दृश्यपर या ज्ञानपर।

इनके अलावा ध्यानके अन्य रूप भी हैं। अपने एक लेखमें विवेकानन्दने यह सलाह दी है कि अपने विचारोंसे पीछे खड़े हो जाओ, उन्हें अपने मनमें, जैसे वे आवें, आने दो और महज उनका निरीक्षण करो तथा देखो कि वे क्या हैं। इस क्रियाको आत्म-निरीक्षणात्मक एकाग्रता कह सकते हैं।

यह क्रिया एक दूसरी क्रियाकी ओर ले जाती है; हम अपने सभी विचारोंको अपने मनसे बाहर निकाल देते हैं और इस तरह उसे एक प्रकारसे शुद्ध, सजग और खाली बनाकर छोड़ देते हैं जिसमें कि उसपर दिव्य ज्ञान प्रकट हो और अपनी छाप डाल दे; साधारण मानव-मनके निम्नतर विचार उसे क्षुब्ध न करें और उसकी छाप वैसी ही स्पष्ट हो जैसी कि काले तख्तेपर सफेद खरिया मिट्टीकी लिखावट होती है। तुम देखोगे कि गीता इस प्रकार सभी मानसिक विचारोंके त्यागको योगकी एक पद्धति कहती है और इसी पद्धतिको पसंद करती हुई प्रतीत होती है। इसे हम मुक्तिदायक ध्यान कह सकते हैं, क्योंकि इस ध्यानसे चिंतनकी यांत्रिक क्रियाकी दासतासे मन मुक्त हो जाता है। मनको यह छूट मिल जाती है कि वह चाहे सोचे या न सोचे, यदि चाहे और जब चाहे तो ही सोचे, अथवा अपने विचारोंका चुनाव कर सके अथवा चिंतनके परे जाकर सत्यका शुद्ध दर्शन प्राप्त करे जिसे हमारे दर्शनमें 'विज्ञान' कहा गया है।

इन सब ध्यानोंमेंसे पहला (मेडिटेशन) मानव-मनके लिये सबसे अधिक सुगम तरीका है, पर अपने परिणामोंमें यह अत्यन्त परिमित है। दूसरे प्रकारका ध्यान

(कण्टेम्प्लेशन) अधिक कठिन है, पर पहलेसे अधिक शक्तिशाली है। आत्मनिरीक्षण-की पद्धति तथा विचार-शृंखलासे मुक्ति — ये दोनों सबसे अधिक कठिन हैं, परंतु अपने परिणामकी दृष्टिसे सबसे अधिक विशाल और महान् हैं। मनुष्य अपनी रुझान और सामर्थ्यके अनुसार इनमेंसे किसी एक पद्धतिको चुन सकता है। पूर्ण पद्धति है इन सबका उपयोग करना, प्रत्येकको उसके निजी स्थानमें और उसके निजी उद्देश्यसे व्यव-हृत करना। परंतु इसके लिये आवश्यकता है सुदृढ़ विश्वास और अटूट धैर्यकी तथा योगमें अपने-आपको नियुक्त करनेके संकल्पकी महान् शक्तिकी।

2. ध्यानके लिये कौनसा विषय या कौनसे विचार होने चाहियें ?

जो कुछ तुम्हारे स्वभाव और उच्चतम अभीप्साके साथ सबसे अधिक मेल खाता हो वही ध्यानका विषय है। परंतु तुम यदि मुझसे कोई निरपेक्ष उत्तर पूछो तो मैं यही कहूँगा कि ध्यानके लिये सबसे उत्तम विषय सदा ही ब्रह्म है और जिस भावनापर मनको जमाना चाहिये वह भावना यह है कि भगवान् सबमें हैं, सब भगवान्में हैं और सब कुछ भगवान् ही है। मूलतः इस बातसे कुछ भी नही आता-जाता कि वह भगवान् निराकार है या साकार, अथवा प्रत्येकदृष्टिसे, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। परंतु जिसे मैने सर्वोत्तम भावना पाया है वह है — सर्वं खल्विदं ब्रह्म — यह सब कुछ ब्रह्म ही है; क्योंकि यह उच्चतम भावना है और इसमें अन्य सभी सत्य निहित है, चाहे वे सत्य इस जगत्के हों या अन्य जगतोंके अथवा समस्त इंद्रियग्राह्य सत्ताके परेके।

'आर्य' पत्रिकाके तीसरे अंकमें, ईशोपनिषद्की व्याख्याकी दूसरी किश्तके अंत-में, 'सर्व' विषयक इस दर्शनका विवरण तुम्हें मिलेगा और उससे तुम्हें इस विचारको समझनेमें सहायता मिल सकती है।*

3. आंतरिक और बाह्य अवस्थाएं जो ध्यानके लिये अत्यंत आवश्यक हैं।

वास्तवमें कोई भी अनिवार्य बाहरी अवस्थाएं नही हैं, पर ध्यानके समय एकांत और निर्जन स्थानमे रहना तथा शरीरका शांतस्थिर रहना सहायक होता है, कभी-कभी नये साधकके लिये प्रायः आवश्यक होता है। परन्तु साधकको बाहरी अवस्था-ओंसे बंधा हुआ नहीं रहना चाहिये। एक बार जब ध्यान करनेकी आदत पड़ जाय तब फिर ऐसी अवस्था बना लेनी चाहिये जब सभी परिस्थितियोंमें, लेटकर, बैठकर, घूमकर, अकेलेमें, दुकेलेमें, नीरवतामें या शोरगुलके बीच आदि-आदि सभी अवस्था-ओंमें ध्यान करना संभव हो जाय।

सबसे पहली आवश्यक आंतरिक अवस्था है ध्यानके विघ्नोंके विरुद्ध अर्थात् मनकी भाग-दौड़, विस्मृति, नीद, शारीरिक और स्नायविक अधीरता और चंचलता आदि-आदिके विरुद्ध साधकके संकल्पकी एकाग्रता।

दूसरी आवश्यक अवस्था यह है कि जिस आंतरिक चेतना (चित्त) से विचार और भावावेग उठते है उसकी पवित्रता और शांति निरन्तर बढ़ती रहे अर्थात्

*श्रीअरविन्दकी अंगरेजी पुस्तक 'ईश उपनिषद्' (सन् १९६५ संस्करण), पृष्ठ ३५ देखिये।

वह विक्षुब्धकारी सभी प्रतिक्रियाओं, जैसे, क्रोध, दुःख, अवसाद, सांसारिक घटनाओं-के विषयमें दुश्चिता आदि, से एकदम मुक्त हो। मानसिक परिपूर्णता और नैतिक तत्त्व सदा एक-दूसरेसे घनिष्ठ रूपमें जुड़े होते है।

*

एकाग्रताका मतलब है चेतनाको एक साथ एकत्र कर लेना और उसे चाहे एक बिंदुपर केंद्रित कर लेना अथवा किसी एक वस्तुकी ओर, जैसे, भगवान्‌की ओर मोड़ देना। उस समय किसी एक ही बिंदुपर नही, बल्कि पूरी सत्ताभरमें एकत्रित अवस्था-का बोध हो सकता है। ध्यानमें इस प्रकार एकत्रित होना आवश्यक नही है, मनुष्य महज एक विषयका चिंतन करते हुए शांत-स्थिर बना रह सकता है और यह निरीक्षण कर सकता है कि चेतनाके अन्दर कौनसी चीज आती है और फिर उसके साथ समुचित व्यवहार कर सकता है।

*

एकाग्रताका तात्पर्य है एक स्थान या एक वस्तुपर और महज एक अवस्थामें चेतनाको जमा देना। ध्यान प्रसारित हो सकता है, उदाहरणार्थ, उस समय मनुष्य भगवान्‌के विषयमें विचार कर सकता है, प्रभाव ग्रहण कर सकता है और विवेक कर सकता है, यह देख सकता है कि प्रकृतिमें क्या हो रहा है और उसपर क्रिया कर सकता है इत्यादि-इत्यादि।

*

हमारे योगमें एकाग्रता उसे कहते हैं जब चेतना किसी विशेष स्थितिमें (जैसे, शांतिमें) अथवा क्रियामें (जैसे, अभीप्सा, संकल्प, श्रीमाताजीके साथ संपर्क, श्रीमाताजी-का नाम-स्मरण) आदिमें लवलीन होती है। ध्यान उसे कहते हैं जब आंतर मन वस्तु-ओंको उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये देखता रहता है।

*

अब एकाग्रताकी बात लें। साधारणतया चेतना चारों ओर फैली हुई, छितरी हुई होती है और इस या उस दिशामें, इस विषय या उस वस्तुकी ओर, जो असंख्य होते है, दौड़ा करती है। जब कोई ऐसा काम करना होता है जो स्थायी स्वभावका होता है तो सबसे पहले मनुष्यको इस पूरी छितरी चेतनाको पीछे खींचकर एकाग्र करना होता है। तब, कोई यदि ध्यानसे देखे तो उसे पता चलेगा कि वह चेतना किसी एक

स्थान और किसी एक कार्य, विषय या वस्तुपर एकाग्र होनेके लिये वाध्य हो जाती है — जैसे उस समय होती है जब तुम कविता लिखते होते हो या कोई वनस्पति-शास्त्री किसी पुष्पका अध्ययन करता होता है। एकाग्रताका स्थान सामान्यतया कहीं मस्तिष्कमे होता है यदि उसका विषय कोई विचार हो, हृदयमें होता है यदि उसका विषय कोई भावना हो। यौगिक एकाग्रता महज इसी चीजका एक विस्तारित और घनीभूत रूप होती है। यह एकाग्रता किसी वस्तुपर की जा सकती है जैसे कोई मनुष्य एक चमकते विंदुपर त्राटक करता है — उस समय मनुष्यको इस प्रकार एकाग्र होना होता है ताकि वह केवल उस विंदुको ही देखे और उसके अतिरिक्त उसमें दूसरा कोई विचार न हो। फिर यह एकाग्रता एक विचार या एक शब्द या एक नामपर, भगवान्-विषयक एक विचारपर, ॐ शब्दपर, कृष्ण नामपर अथवा एक संग विचार और शब्द-पर या विचार और नामपर की जा सकती है। परंतु इसके अतिरिक्त योगमें मनुष्य एक विशिष्ट स्थानमे भी एकाग्रताका अभ्यास करता है। योगका एक प्रसिद्ध नियम है दोनों भौहोंके बीच एकाग्र होना; आंतर मन, गुह्य दर्शन और संकल्पका केंद्र इसी स्थानपर है। इस एकाग्रताके लिये जिस विषयको तुम चुनते हो उसीका तुम उस स्थानमें चिंतन करते हो अथवा वहांसे उसकी प्रतिमूर्त्ति देखनेकी चेष्टा करते हो। यदि तुम ऐसा करनेमें सफल हो जाते हो तो कुछ दिन बाद तुम यह अनुभव करने लगते हो कि तुम्हारी सारी चेतना उस स्थानमें केंद्रित हो गयी है — अवश्य ही उस समयके लिये। कुछ दिन इसका अभ्यास करनेके वाद और बहुधा, ऐसा अनुभव करना आसान और स्वाभाविक हो जाता है।

मै समझता हूँ कि यह बात स्पष्ट हो गयी है। अव, इस योगमें, यही चीज तुम्हें करनी होती है, पर आवश्यक रूपसे भौहोंके बीचके उसी विशिष्ट स्थानपर नही, वल्कि मस्तकके किसी भी स्थानमे अथवा छातीके केंद्रमें जहां शरीरशास्त्री हृदयका स्थान वतलाते हैं। यहां किसी वस्तुपर एकाग्र होनेके वदले तुम मस्तकमें एक संकल्पपर एकाग्र होते हो, ऊपरसे शक्तिके अवतरणके लिये एक पुकारपर एकाग्र होते हो, अथवा जैसे कि कुछ लोग करते हैं, एक अदृश्य ढक्कनके खुल जाने और ऊपरसे चेतनाके अव-तरित होनेपर एकाग्र होते हो। हृदय-केंद्रमें साधक किसी अभीप्सापर, किसी उद्-घाटनके लिये, वहां भगवान्‌की सजीव मूर्त्तिकी उपस्थितिके लिये अथवा और जो भी उसका उद्देश्य होता है उसके लिये एकाग्रताका अभ्यास करता है। वहां, हृदय-केंद्रमें किसी नामका जप भी किया जा सकता है, पर, यदि ऐसा करना हो तो, उसके साथ-साथ उस नामपर एकाग्र भी होना चाहिये और नामका जप स्वयं हृदय-केंद्रमें ही होता रहना चाहिये।

यहांपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब इस तरह किसी एक स्थानमें एका-ग्रता की जाती है तो चेतनाके वाकी हिस्सेका क्या होता है? हां, वाकी हिस्सा या तो शांत-नीरव हो जाता है जैसा कि किसी भी एकाग्रतामें होता है, अथवा, यदि शांत-नीरव नही होता तो उस हालतमें विचार या अन्य चीजें इस तरह घूम-फिर सकती है मानो वाहरकी ओर हो, पर एकाग्र भाग उनकी ओर ध्यान नहीं देता या उनकी ओर

नहीं देखता। ऐसा तब होता है जब एकाग्रता पर्याप्त रूपमें सफल होती है।

जबतक मनुष्य अभ्यस्त न हो जाय तबतक उसे आरंभमें लंबे समयतक एकाग्रताका अभ्यास करके अपनेको थका नहीं देना चाहिये, क्योंकि उस अवस्थामें मनके क्लांत हो जानेके कारण एकाग्रता अपना मूल्य-महत्त्व और शक्ति खो बैठती है। उस समय एकाग्रताका अभ्यास करनेके बदले मनुष्यको विश्रांतिके लिये अपनेको शिथिल अवस्थामें छोड़ देना चाहिये और ध्यान करना चाहिये। जब एकाग्रताकी अवस्था सहज-स्वाभाविक बन जाय केवल तभी मनुष्य धीरे-धीरे लंबे समयतक एकाग्रताका अभ्यास कर सकता है।

साधक तीन केंद्रोंमेंसे किसी एकमें एकाग्र हो सकता है जहां एकाग्र होना उसके लिये सबसे आसान हो और जो सबसे अधिक परिणाम देता हो। हृदय-केंद्रमें होनेवाली एकाग्रताकी क्षमता यह है कि वह उस केंद्रको खोल देती है और अभीप्सा, प्रेम, भक्ति और समर्पणकी शक्तिके द्वारा उस पर्देको हटा देती है जो अंतरात्माको ढकता और छिपाता है तथा अंतरात्मा या चैत्य पुरुषको सम्मुख भागमें ले आती है जिसमें कि वह मन, प्राण और शरीरपर शासन करे और उन सबको भगवान्‌की ओर पूर्णतः मोड़ दे और उद्‌घाटित कर दे और जो कुछ उस मोड़ और उद्‌घाटनका विरोध करता है उस सबको दूर हटा दे।

यही वह चीज है जिसे इस योगमें चैत्य रूपांतर कहा जाता है, सिरके ऊपर किये जानेवाली एकाग्रताकी सामर्थ्य यह है कि वह शांति, निश्चल-नीरवता, शरीर-बोधसे मुक्ति, मन और प्राणके साथ तादात्म्य प्रदान करती है और निम्नतर (मानसिक, प्राणिक, भौतिक) चेतनाके लिये ऊर्ध्वस्थ उच्चतर चेतनासे मिलनेके लिये ऊपर उठनेका रास्ता खोल देती है और उच्चतर (आध्यात्मिक प्रकृतिकी) चेतनाकी शक्तियोंके लिये मन, प्राण और शरीरमें उतर आनेका मार्ग खोल देती है। यही वह चीज है जिसे इस योगमें आध्यात्मिक रूपांतरका नाम दिया गया है। यदि कोई इस क्रियासे आरंभ करता है तो ऊपरसे आनेवाली दिव्य शक्तिका अवतरण सभी केंद्रोंको (निम्नतम केंद्रतकको) खोलनेके लिये तथा चैत्य पुरुषको बाहर ले आनेके लिये होता है; क्योंकि जबतक यह कार्य नहीं संपन्न हो जाता तबतक यह संभावना है कि निम्नतर चेतनाकी ओरसे बहुत अधिक कठिनाइयां और संघर्ष आयें और ऊपरसे होनेवाली भागवत क्रियाको वह चेतना बाधा दे, उसके साथ मिल-जुल जाय या यहांतक कि उसे अस्वीकार कर दे। यदि चैत्य पुरुष एक बार सक्रिय हो जाय तो यह संघर्ष और ये कठिनाइयां बहुत अधिक कम की जा सकती हैं।

दोनों भृकुटियोंके मध्यमें किये जानेवाली एकाग्रताकी शक्ति यह है कि वह वहांके केंद्रको खोल देती है और आंतर मन और दृष्टिको तथा आंतर या यौगिक चेतनाको एवं उसकी अनुभूतियों और शक्तियोंको मुक्त कर देती है। यहांसे भी साधक ऊपरकी ओर उद्‌घाटित हो सकता है और निम्नतर केंद्रोंमें भी कार्य कर सकता है; परंतु इस प्रक्रियाका खतरा यह है कि साधक अपनी मानसिक-आध्यात्मिक रचनाओंमें आबद्ध हो सकता है और उनमेंसे बाहर निकलकर मुक्त और सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक अनुभव

और ज्ञान तथा सत्ता और प्रकृतिके सर्वांगपूर्ण परिवर्तनकी स्थितिमें नही पहुँच सकता।

*

जब कोई किसी विचार या शब्दपर एकाग्र होता है तब उसे उस शब्दमें निहित मूल भावनापर ध्यान जमाना होता है और यह अभीप्सा रखनी होती है कि जिस चीज-को वह शब्द व्यक्त करता है वह अनुभूत हो।

*

इस समय वह मूल अध्याय मेरे सामने नही है; परंतु जिन वाक्योंको तुमने उद्-धृत किया है,* उससे मालूम होता है कि वह भावना मूल मानसिक भावना है। उदा-हरणार्थ, वैदांतिक ज्ञानमार्गमें मनुष्य सर्वव्यापी ब्रह्मकी भावनापर एकाग्र होता है — वह एक वृक्षकी ओर या दूसरी आसपासकी वस्तुकी ओर इस भावनाके साथ ताकता है कि ब्रह्म वहां विद्यमान है और वृक्ष या दूसरी वस्तु महज उसका एक रूप है। कुछ समय बाद जब एकाग्रता समुचित प्रकारकी हो जाती है तब मनुष्य एक उपस्थिति, एक सत्ताका अनुभव करना आरभ करता है और स्थूल वृक्षका रूप एक बाहरी खोल बन जाता है और वह उपस्थिति, या सत्ता ही एकमात्र सद्वस्तुके रूपमें अनुभव होने लगती है। भावना तब विलीन हो जाती है, वह उस वस्तुका साक्षात् दर्शन बन जाता है जो भावनाके स्थानमें आ जाती है — उस समय अब भावनाके ऊपर एकाग्र होनेकी कोई आवश्यकता नही रह जाती, मनुष्य एक गभीरतर चेतनाके द्वारा देखने लगता है — "स पश्यति।" यहांपर यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भावनाके ऊपर की गयी यह एकाग्रता महज चिंतनकी, मननकी क्रिया नही है — यह भावनाके मूल स्वरूप-पर एक प्रकारसे आंतरिक रूपसे ध्यानस्थ होना है।

*

अगर तुम कभी तो हृदयमें और कभी मस्तकके ऊपर ध्यान एकाग्र करो तो इसमें कोई हर्ज नहीं। परंतु इन दोनों स्थानोंपर एकाग्र होनेका अर्थ यह नही है कि किसी

*"यह एकाग्रता भावनासे आरंभ होती है......, क्योंकि भावनाके द्वारा ही मनोमय सत्ता समस्त अभिव्यक्तिके परे उस चीजतक चली जाती है जो अभिव्यक्त की गयी होती है, उस चीज-तक जाती है जिसका महज एक यंत्र वह भावना होती है। भावनापर एकाग्र होकर मनोमय सत्ता, जो कि हम अभी हैं, हमारी मानसिक सीमाको तोड़ देती है और चेतनाकी उस स्थितिपर, सत्ताकी उस स्थितिपर, चेतन सत्ताकी शक्तिकी और चेतन-सत्ताके आनन्दकी उस स्थितिपर पहुँच जाती है जिसके अनुरूप वह भावना होती है और जिसका वह एक रूपक, क्रिया और छद होती है।"

("योग-समन्वय") आर्य, वर्ष,२, पृष्ठ ४६५)

एक विशिष्ट स्थानपर अपने ध्यानको जमाये रखा जाय। तुम दोनोंमेंसे किसी एक स्थानपर अपनी चेतनाको ले जाकर वहां जम जाओ और फिर वहां किसी स्थानपर नहीं वरन् भगवान्पर एकाग्र होओ। इसे, चाहे आंखें बंद करके या खोल करके, जैसा कि सबसे अधिक तुम्हारे अनुकूल हो उसके अनुसार, किया जा सकता है।

तुम सूर्यपर ध्यान जमा सकते हो, पर भगवान्पर ध्यान एकाग्र करना सूर्यपर एकाग्र होनेसे कही अधिक अच्छा है।

*

अधिकांश लोग चेतनाका मतलब मस्तिष्क या मन समझते हैं, क्योंकि बौद्धिक चिंतन और मानसिक दर्शनका वही केंद्र है। परंतु चेतना केवल उस तरहके चिंतन या दर्शनसे सीमित नही है। चेतना तो हमारी सत्तामें सर्वत्र विद्यमान है और उसके कई केंद्र हैं, जैसे, आंतरिक एकाग्रताका केंद्र मस्तिष्कमें नही वरन् हृदयमें है,—प्राणिक वासनाओंका उद्भव-केंद्र उससे भी और नीचे है।

योगके लिये चेतनाको एकाग्र करनेके दो प्रमुख स्थान है जो मस्तकमें और हृदय-में हैं — इन्हें मानस-केंद्र और चैत्य-केंद्र कह सकते हैं।

*

मस्तिष्कको एकाग्र करना बराबर ही एक प्रकारकी तपस्या है और आवश्यक रूपसे थकावट ले आता है। जब मनुष्य मस्तिष्क-मनसे पूर्णतया ऊपर उठ जाता है केवल तभी मानसिक एकाग्रताकी थकावट दूर होती है।

*

पढ़ने या चिंतन करते समय यौगिक एकाग्रता करनेका उत्तम स्थान है मस्तक-का शीर्ष-स्थान या उससे भी और ऊपर।

*

एकाग्रतापूर्ण ध्यानके लिये स्वाभाविक मुद्रा है निश्चल होकर बैठ जाना — खड़ा होना और घूमते रहना सक्रिय अवस्थाएं हैं। जब मनुष्य अपनी चेतनामें स्थायी स्थिरता और निश्चेष्टता प्राप्त कर लेता है केवल तभी घूमते-फिरते या कोई काम करते हुए एकाग्र होना और ग्रहणशील होना आसान होता है। जब चेतना अपने अंदर सिमटकर अपने सार-तत्त्वमें निष्क्रिय हो जाती है तो वही अवस्था एकाग्रताकी समु-चित स्थिति होती है और उसके लिये सबसे उत्तम मुद्रा है शरीरकी बैठी हुई स्थितिमें

समाहित निश्चलता। ऐसा लेटकर भी किया जा सकता है पर वह आसन अत्यधिक निष्क्रिय है और उसमे अंतरमें समाहित होनेकी अपेक्षा जड़ बन जानेकी प्रवृत्ति पैदा होती है। यही कारण है कि योगी लोग सर्वदा बैठकर आसन लगाते हैं। मनुष्य घूमते हुए, खडे होकर, सोकर ध्यान करनेका अभ्यास डाल सकता है, परंतु बैठकर ध्यान करना सबसे पहली स्वाभाविक स्थिति है।

*

जब तुम अकेले होओ या शांत-स्थिर होओ केवल तभी गभीर रूपमें एकाग्र होना अच्छा है। उस समय तुम्हें बाधा देनेवाला कोई बाहरी शब्द नही होना चाहिये।

*

ध्यानके बाद कुछ समयतक नीरव और एकाग्र बने रहना निस्संदेह बहुत अच्छा है। ध्यानको हलके रूपमें लेना भूल है — वैसा करनेसे मनुष्य जो कुछ ग्रहण कर चुका है उसे या उसके अधिकांश भागको धारण करनेमें असमर्थ होता अथवा बिखेर देता है।

*

तुम गहरी अंतर्मुखीनता और स्थिरताकी अवस्थामें प्रवेश कर जाते हो। परंतु कोई यदि हठात् इस अवस्थासे बाहर निकलकर साधारण चेतनामें वापस आ जाय तो उसे थोड़ा स्नायविक धक्का लग सकता है अथवा कुछ समयके लिये हृदयकी धड़-कन आरंभ हो सकती है जैसा कि तुमने वर्णन किया है। इस अंतर्मुखीनतासे बाहर आने और आंखें खोलनेसे पहले कुछ क्षणोंतक शांत-स्थिर बने रहना सदा ही अत्युत्तम होता है।

कर्मके विषयमें तुम्हारी नवीन भावना बिलकुल सही है, यह नवीन शांतिका ही अंश है और यह सूचित करती है कि तुम्हारी चेतना अधिक संतुलित और मुक्त हो रही है। आलस्यके आनेकी संभावना नही है।

जो खुला मैदान तुमने देखा वह निश्चल-नीरव आंतरिक चेतनाका, मुक्त, उज्ज्वल, सुस्पष्ट और स्थिर चेतनाका प्रतीक है।

जो चीजें तुम देखते हो वे अधिकांशत: उस क्रियाके चिह्न हैं जो तुम्हारे अन्दर चल रही है। इस बातका कोई भय नही कि वे चेतनापर कोई प्रभाव न डालनेवाले केवल सूक्ष्मदर्शन ही रहेगी। तुम्हारी चेतना अबतक बहुत परिवर्त्तित हो चुकी है और फिर भी आगे आनेवाले और भी महत्तर परिवर्तनका यह केवल प्रारंभ ही है।

*

वहिर्मुखी क्रियाओंके विषयमें तुमने जो कुछ देखा वह निश्चय ही कल्पना नहीं था। यह उनकी क्रियाका एक सच्चा और सही अनुभव और दर्शन था। उनसे अपने-को पृथक् अनुभव करना और उन्हें देखना यथार्थ आंतरिक अवस्था है जो अन्तमें उनसे एकदम मुक्त हो जानेके लिये आवश्यक है।

एकाग्रता बहुत उपयोगी और आवश्यक है — मनुष्य जितना ही अधिक (निस्संदेह, शरीरको थकाये विना उसकी क्षमताकी सीमाओंके भीतर) एकाग्र होता है उतनी ही अधिक योगकी शक्ति बढ़ती है। परंतु तुम्हें कभी-कभी ध्यानके असफल होने-के लिये भी तैयार रहना चाहिये और उससे घबड़ा नहीं जाना चाहिये — क्योंकि ध्यानकी यह अस्थिरता प्रत्येक व्यक्तिके साथ घटित होती है। इसके कई कारण होते हैं। परंतु अधिकतर कोई भौतिक वस्तु होती है जो हस्तक्षेप करती है, अथवा जो कुछ आया है या किया गया है उसे आत्मसात् करनेके लिये समय लेनेकी शरीरकी आवश्यक-ता होती है। कभी-कभी तामसिकता या जड़ता होती है जो ऐसे कारणोंसे, जिनका तुमने वर्णन किया है अथवा दूसरे कारणोंसे आती है। सबसे उत्तम बात यह है कि जबतक शक्ति फिरसे कार्य नहीं करने लग जाती तबतक शांत-स्थिर बना रहा जाय और अधीर या उदास न हुआ जाय।

*

संभव है कि किसी साधकके ध्यानका कोई निश्चित समय न हो और फिर भी वह साधना कर सकता है

*

अनुभूति और उसके बादकी भावना दोनोंका अपना सत्य है। आरंभमें बहुत दीर्घ कालतक प्रयास करके भी एकाग्र होना आवश्यक है, क्योंकि अभी प्रकृति, चेतना तैयार नहीं होती। पर उस अवस्थामें भी एकाग्र होनेकी क्रिया जितनी अधिक अचंचल और स्वाभाविक हो उतना ही अच्छा है। परंतु चेतना और प्रकृति जब तैयार हो जाती है तब एकाग्रताका अभ्यास सहज-स्वाभाविक बन जाना चाहिये और सब समय बिना प्रयासके आसानीसे करना संभव होना चाहिये। अंतमें जाकर तो यह सत्ताकी स्वाभाविक और स्थायी अवस्था बन जाती है — उस समय यह अब एकाग्रता नहीं रह जाती, बल्कि भगवान्‌में जीवकी संसिद्ध स्थिति बन जाती है।

यह सही है कि एकाग्र होना और उसके साथ-ही-साथ कोई बाहरी कार्य करना आरंभमें संभव नहीं होता। पर वह भी संभव हो जाता है। चाहे तो चेतना दो भागों-में विभक्त हो जाती है, एक, आंतरिक भाग तो भगवान्‌में स्थित होता है और दूसरा, बाहरी भाग बाहरी कार्य करता है,—अथवा संपूर्ण चेतना ही उस प्रकार भगवान्‌में स्थित होती है और शक्ति निष्क्रिय यंत्रके द्वारा कार्य करती है।

*

स्वभावतः ही यदि ध्यान स्वाभाविक हो जाय तो थकावट नहीं आती। परन्तु अभीतक यदि उसकी क्षमता न हो तो बहुतसे लोग विना तनावके उसे जारी नही रख सकते जो कि थकावट ले आता है।

*

यदि मन थक जाय तो स्वभावतः ही एकाग्र होना कठिन हो जाता है — जबतक कि तुम मनसे पृथक् नही हो जाते।

*

तुम्हें मनसे भी अपनेको पृथक् करना होगा। तुम्हें मानसिक, प्राणिक और भौतिक स्तरोंमें भी (केवल ऊर्ध्वमें ही नहीं) एक चेतनाको अनुभव करना होगा जो न तो मन, प्राण है और न शरीर।

*

प्रयासका मतलब है खिचाव उत्पन्न करनेवाला प्रयत्न। ऐसा कर्म भी हो सकता है जिसमें एक संकल्प हो पर जिसमें कोई खिचाव या प्रयास न हो।

खीच-तान (एकाग्रताके लिये संघर्ष) और एकाग्रता एक ही चीज नही हैं। खीच-तानका तात्पर्य है एक प्रकारकी अति-उत्सुकता और प्रयासमें जोर-जबर्दस्ती; परंतु एकाग्रता अपने स्वभावमें शांत-स्थिर और अविचल होती है। यदि मनुष्यमें चंचलता या अति-उत्सुकता हो तो यह कहना होगा कि उसमें एकाग्रता नहीं है।

*

सच पूछो तो तुमने विना पथप्रदर्शनके जो व्यक्तिगत रूपसे प्रयास किया उसीके कारण तुम कठिनाइयोंमें जा पड़े तथा ऐसी उत्तप्त स्थितिमें पहुँच गये जहां तुम ध्यान वगैरह कर ही नहीं सके। मैने तुमसे कहा कि प्रयास बंद कर दो और शांत बने रहो और तुमने वैसा किया भी। मेरा आशय यह था कि जब तुम शांत रहोगे तो श्रीमाँकी शक्तिके लिये तुम्हारे अंदर कार्य करना, एक अच्छी आरंभिक अवस्थाको स्थापित करना और प्राथमिक अनुभूतियोंकी एक धारा खोल देना संभव होगा। इस चीज़का होना आरंभ भी हो गया था; पर तुम्हारा मन यदि फिरसे सक्रिय हो जाय और अपने लिये साधनाकी व्यवस्था करनेका प्रयत्न करे तो विघ्न-बाधाओंके आनेकी संभावना है। भागवत पथप्रदर्शन तभी उत्तम रूपमें काम करता है जब चैत्य पुरुष खुला हुआ और सामने होता है (तुम्हारा चैत्य पुरुष खुल रहा था), पर वह उस समय भी कार्य

कर सकता है जब साधक उस विषयमें सचेतन न हो अथवा जब उसके परिणामोंके कारण ही वह उसे जानता हो। निर्विकल्प समाधिका जहांतक प्रश्न है, यदि उसे कोई चाहे भी तो उसे केवल उसके लिये तैयार की हुई चेतनामें एक लंबी साधना करनेपर ही पा सकता है — अभी उसकी चर्चा करनेसे कोई लाभ नहीं जब कि आंतरिक चेतनाने यौगिक अनुभूतिकी ओर केवल उद्घाटित होना अभी-अभी आरंभ किया है।

*

यदि ध्यानमें यह कठिनाई आती है कि सब प्रकारके विचार भीतर घुस आते है तो यह विरोधी शक्तियोंके कारण नही बल्कि मानव-मनकी सामान्य प्रकृतिके कारण होता है। सभी साधकोंको यह कठिनाई होती है और बहुतोंके साथ तो यह बहुत लंबे अर्सेतक लगी रहती है। इससे छुटकारा पानेके कई रास्ते है। उनमेंसे एक रास्ता है विचारोंका निरीक्षण करना और यह देखना कि मानव-मनका स्वभाव क्या है जिसे ये विचार हमें दिखाते हैं; पर इन विचारोंको कोई अनुमति न देना और इन्हे तबतक दौड़ते रहने देना जबतक कि ये निस्तत्त्व नहीं हो जाते — यही वह पथ है जिसे विवेकानंदने अपने राजयोगमें बताया है। दूसरा है विचारोंकी ओर इस प्रकार देखना मानो वे अपने न हों, उनसे पीछे साक्षी पुरुषकी तरह खड़ा हो जाना और अनुमति देना अस्वीकार कर देना — उस समय विचारोंको इस प्रकार देखा जाता है मानों वे बाहरसे, प्रकृतिसे आते हों, और फिर उनके विषयमें यह समझना चाहिये कि वे मनोमय देशमेंसे गुजरनेवाले यात्री हैं जिनके साथ हमारा कोई संबन्ध नहीं और जिनमें हम कोई रुचि नहीं रखते। ऐसा करनेपर साधारणतया यह होता है कि कुछ समय बाद मन दो भागोंमें बंट जाता है, एक भाग वह होता है जो मनोमय साक्षी होता है, जो देखता है और पूर्णतः अनुद्विग्न और शांत होता है। दूसरा भाग वह होता है जो निरीक्षणका विषय होता है, प्रकृति-भाग होता है जिसमें विचार घूमते-फिरते या जिसमेंसे होकर गुजर जाते हैं। कुछ दिन बाद हम प्रकृति-भागको भी नीरव या शांत-स्थिर करनेका प्रयास कर सकते हैं। एक तीसरा पथ भी है; एक सक्रिय पद्धति है जिसमें मनुष्य यह देखनेकी चेष्टा करता है कि विचार कहांसे आते है और उसे पता चलता है कि स्वयं अपने अंदरसे वे नहीं आते बल्कि मानो मस्तकके बाहरसे आते है। यदि कोई उन्हें बाहरसे आते हुए देख सके तो, उनके भीतर प्रवेश करनेसे पहले ही, उन्हें एकदम दूर फेंक देना होता है। यह शायद सबसे अधिक कठिन पद्धति है और सब इसे नहीं कर सकते। पर यदि इसे किया जा सके तो यह नीरवता प्राप्त करनेका सबसे छोटा और सबसे अधिक शक्तिशाली पथ है।

*

मन सर्वदा क्रियाशील रहता है, पर हम पूरी तरह यह नहीं देखते कि वह क्या

कर रहा है, वल्कि हम अपनेको सतत चिंतनकी धारामें वहा ले जाने देते है। जव हम एकाग्र होनेका प्रयास करते है, यह स्वनिर्मित यांत्रिक चिंतनकी धारा हमारी निरीक्षण-क्रियाके लिये स्थायी वन जाती है। योगके प्रयासके लिये यह प्रथम सामान्य वाधा है (दूसरी है ध्यानके समय नीदका आना)।

ऐसे समय करने योग्य सबसे उत्तम वात यह अनुभव करना है कि यह विचार-धारा हम स्वय नही है, सचमुचमें हम स्वयं विचार नही कर रहे है, वल्कि विचार ही मनमे चल रहे है। वास्तवमे प्रकृति ही अपनी विचार-शक्तिके द्वारा हमारे अन्दर विचारोका यह सब भवर उठा रही है। हमें पुरुष-रूपसे उससे पीछे साक्षीभावके साथ खडा होना चाहिये, उस कार्यको देखना चाहिये, पर उसके साथ अपनेको एकात्म करना अस्वीकार कर देना चाहिये। दूसरी वात है एक प्रकारके नियंत्रणका प्रयोग करना और विचारोका त्याग कर देना — यद्यपि कभी-कभी एकदम अनासक्तिकी क्रियासे ही चिंतनाभ्यास वद हो जाता है या ध्यानके समय कम हो जाता है और पर्याप्त नीरवता आ जाती है या कम-से-कम अचंचलता आ जाती है जिसके कारण आनेवाले विचारोका त्याग करना, और अपने-आपको ध्यानके विपयपर एकाग्र करना आसान हो जाता है। यदि कोई इतना सचेत हो जाय कि विचारोंको वाहरसे, विश्व-प्रकृतिसे आते हुए देख सके तो वह उनके मनमें आनेसे पहले ही उन्हे वाहर फेंक सकता है; इस प्रकार मन अतमे निश्चल-नीरव हो जाता है। यदि इनमेंसे कोई भी वात न हो सके तो परित्यागका सतत अभ्यास करना आवश्यक हो जाता है — विचारके साथ कोई सघर्ष या कुश्ती नही होनी चाहिये, वल्कि केवल शांत रूपसे अपने-आपको पृथक् करना चाहिये और उन्हे अस्वीकार करना चाहिये। प्रारंभमें ही सफलता नही आती, परंतु अनुमति जव निरतर हटा ली जाती है तो यंत्रकी तरह चलनेवाला भवर अंतमें वंद हो जाता है और मरना आरंभ कर देता है और तव साधक इच्छापूर्वक आतरिक स्थिरता या नीरवता प्राप्त कर सकता है।

यह वात ध्यानमें रखनी चाहिये कि, कुछ विरल लोगोंके प्रसंगको छोडकर, यौगिक प्रक्रियाओका फल तुरत नही प्राप्त होता और साधकको तवतक अपने संकल्प-धैर्यको प्रयुक्त करना चाहिये जवतक कि वे फल नही देने लगती, जिसके आनेमें कभी-कभी, यदि वाहरी प्रकृतिमे वहुत अधिक वाधा-विरोध हो तो, लंवा समय लग जाता है।

जवतक तुम्हे उच्चतर आत्माका वोध या अनुभव नही प्राप्त हुआ है तवतक तुम उसपर अपने मनको कैसे जमा सकते हो? तुम केवल उस आत्माकी भावनापर एकाग्र हो सकते हो अथवा कोई भगवान्के या भगवती माताके विचारपर या किसी मूर्त्तिपर या उस भक्तिभावनापर एकाग्र हो सकता है जो हृदयमें भागवत उपस्थिति-को पुकारती है अथवा शक्तिको मन, प्राण और शरीरमें कार्य करने, चेतनाको मुक्त करने तथा आत्मसाक्षात्कार प्रदान करनेके लिये पुकारती है। यदि तुम आत्माकी भावनापर एकाग्र होओ तो इसे तुम्हे इस कल्पनाके साथ करना चाहिये कि आत्मा मनसे और उसके विचारोंसे, प्राण और उसके अनुभवोंसे तथा शरीर और उसकी

क्रियाओंसे भिन्न कोई वस्तु है — कोई ऐसी चीज है जो इन सब चीजोंके पीछे अवस्थित है, ऐसी चीज है जिसे तुम ठोस तौरपर सत्-चित्के रूपमें, इस सबसे पृथक् फिर भी इन चीजोंमें अंतर्ग्रस्त हुए बिना मुक्त रूपमें इन सबमें परिव्याप्त अनुभव करोगे।

*

जो कुछ तुम पढ़ो उस सबको यदि प्रयोगमें लानेका प्रयास करोगे तो तुम्हारे नये-नये प्रारंभोंका कोई अंत नहीं होगा। विचारोंका त्याग करके विचारोंको बद किया जा सकता है और नीरवताके अन्दर अपने-आपको पाया जा सकता है। कोई विचारोंको अबाध दौड़नेके लिये छोड़ सकता और उनसे अपनेको पृथक् कर सकता तथा इस प्रकार इस कार्यको कर सकता है। दूसरे और भी कई रास्ते है। 'अ' की पुस्तकमें वर्णित पथ मुझे अद्वैत-ज्ञानीकी पद्धति प्रतीत होता है जिसमें शरीर, प्राण और मनसे अपनेको, "मैं शरीर नहीं हूँ, मैं प्राण नही हूँ, मैं मन नहीं हूँ" आदि विवेकके द्वारा तबतक पृथक् किया जाता है जबतक मनुष्य मन, प्राण और शरीरसे पृथक् आत्माको नहीं प्राप्त कर लेता। यह भी इसे करनेका एक पथ है। फिर प्रकृति और पुरुपका पृथक्करण भी तबतक किया जा सकता है जबतक कि साधक केवल साक्षी नही बन जाता और साक्षी-चैतन्यके रूपमें अपनेको सभी क्रियाकलापोंसे पृथक् नहीं अनुभव करने लगता। इनके अतिरिक्त और भी पद्धतियां हैं।

*

मनको एकत्र करनेकी पद्धति आसान पद्धति नही है। यह कही अधिक अच्छा है कि विचारोंका निरीक्षण किया जाय और अपनेको उनसे पृथक् किया जाय जबतक कि अपने अन्दर विद्यमान एक शांत-स्थिर प्रदेशका बोध न प्राप्त हो जाय जिसमें कि वे विचार बाहरसे आते है।

*

भौतिक मनकी भिनभिनाहटके लिये उपाय यह है कि जरा भी उद्विग्न हुए बिना उसका चुपचाप परित्याग करते रहो; अंतमें हताश होकर वह पीछे हट जायगा और सिर हिलाते हुए कहेगा, "यह पट्ठा मेरे लिये अत्यंत शांत-अचल और बलवान् है।" बराबर दो चीजें ऐसी होती हैं जो उठ सकती और नीरवताको भंग कर सकती हैं — प्राणिक सुझाव तथा भौतिक मनकी यंत्रवत् बार-बार होनेवाली क्रियाएं। दोनोंको दूर करनेका उपाय है शांतिपूर्वक परिवर्जन करना। हमारे अंदर एक पुरुष है जो प्रकृतिको यह आदेश दे सकता है कि उसे क्या आने देना चाहिये और क्या बाहर छोड़ देना चाहिये, परंतु उसका संकल्प एक प्रबल, शांत संकल्प है; यदि साधक कठिनाइ-

योंके, कारण घवडा जाय या चचल हो जाय तो फिर पुरुपका सकल्प वैसे ही सफलता-पूर्वक कार्य नही कर सकता जैसे कि वह अन्य स्थितिमें करता ।

सक्रिय उपलब्धि सभवत: तव प्राप्त होगी जब कि उच्चतर चेतना पूर्ण रूपसे प्राणके अन्दर उतर आयेगी। जव वह मनमे आती है तव वह पुरुपकी शांति और मुक्ति ले आती है तथा वह ज्ञान भी ले आ सकती है। परन्तु जव वह प्राणमें आती है तभी सक्रिय उपलब्धि उपस्थित होती और सजीव होती है।

*

यांत्रिक मनकी क्रियासे अपने-आपको पृथक् करनेकी क्षमता प्राप्त करना सवसे पहली आवश्यकता है; ऐसा कर लेनेपर, जव वह क्रिया होती है तव भी, मनकी स्थिरता और शांतिको उससे अविचलित वनाये रखना वहुत आसान होता है।

यदि शांति और निश्चल-नीरवताका नीचे उतरना जारी रहता है तो सामान्य-तया वे इतनी तीव्र हो जाती हैं कि कुछ समय वाद भौतिक मनको भी अभिभूत कर लेती हैं।

*

वास्तवमें हुआ यह कि सक्रिय मन अधिक स्थिर हो गया जिससे भौतिक मनकी क्रियाएं अधिक स्पष्ट हो गयी — ऐसा ही वहुधा घटित होता है। ऐसी अवस्थामें हमारा कर्तव्य है इन क्रियाओंसे अपने-आपको पृथक् कर लेना और उनकी ओर अव और ध्यान दिये विना एकाग्र होना। फिर उन क्रियाओंका स्थिरतामें डूव जाना या विलीन हो जाना संभव हो जाता है।

*

यही यांत्रिक मनका स्वभाव है — उसकी किसी संवेदनशीलताके कारण ऐसा नही हुआ है। चूंकि मनके अन्य भाग अधिक नीरव और संयमके अधीन हैं, केवल इसी कारण यह क्रिया अधिक प्रमुख दिखायी देती है और अधिक स्थान ले रही है। यदि कोई इसका लगातार परित्याग करता रहे तो यह सामान्यतया क्षीण हो जाती है।

*

तुम संभवतः उनकी (यांत्रिक मनके विचारोंकी) ओर वहुत अधिक ध्यान दे रहे हो। यह विलकुल संभव है कि मनुष्य एकाग्र होवे और यांत्रिक क्रियाकी ओर

देखे विना उसे जारी रहने दे।

*

जो कुछ तुम प्रस्ताव करते हो उसके विषयमे मैं विलकुल निस्संदिग्ध नही हूँ। इसमें संदेह नही कि मानसिक चेतना थकी होनेपर भी अपने पुराने अभ्यासवश वाहरसे विचारोंको ग्रहण करती जाती है — वह उन्हें चाहती हो ऐसी वात नही, पर विचारोंको आनेका अभ्यास है और मन उन्हें यंत्रवत् भीतर आने देता है तथा अभ्यासवश उनकी ओर ध्यान देता है। योगमे जव अनुभूतिया आना आरंभ करती हैं और मन या तो सर्वदा एकाग्र रहना या शात-स्थिर रहना चाहता है तो उस समय वरावर ही यह एक प्रधान कठिनाई होती है। कुछ लोग तो वही करते हैं जो तुमने प्रस्ताव किया है और कुछ समय वाद या तो मनको एकदम शांत कर देनेमें सफल होते हैं या ऊपरसे निश्चल-नीरवता नीचे उतरती है और मनको शांत कर देती है। परंतु साधक जव इसे करनेका प्रयास करता है तव अक्सर विचार वहुत अधिक सक्रिय हो उठते है और नीरवता ले आनेकी प्रक्रियाका विरोध करते है और यह सव वडा कष्टदायी होता है। अतएव वहुतसे लोग धीरे-धीरे चलना पसंद करते है; वे मनको थोड़ा-थोड़ा करके स्थिर होने देते है, स्थिरताको फैलने तथा अधिक समयतक वने रहने देते है जव कि अंतमें जाकर अवांछित विचार झड़ जाते है अथवा पीछे हट जाते हैं और मन भीतरसे या ऊपरसे आनेवाले ज्ञानके लिये खाली छोड़ दिया जाता है।

तुम्हें संभवतः इसे करनेकी कोशिश करनी चाहिये और देखना चाहिये कि क्या परिणाम होता है — यदि विचार वहुत अधिक आक्रमण करें और परेशान करें तो तुम वंद कर सकते हो — यदि मन शीघ्र या अधिकाधिक शांत होता हो तो जारी रख सकते हो।

*

जितना ही अधिक चैत्य वाहरी सत्तामें फैलता है उतनी ही अधिक ये सव चीजें (अवचेतन मनकी यांत्रिक क्रियाएं) शांत होती हैं। यही सवसे उत्तम तरीका है। मनको शांत करनेके जो सीधे प्रयास होते है वे कठिन तरीके होते है।

*

एकाग्रता करनेमें सवसे अधिक सहायक चीज है अपने मनमें श्रीमाताजीकी स्थिरता और शांतिको ग्रहण करना। यह तुम्हारे ऊपर विद्यमान है — केवल मन और उसके केंद्रोंको उसकी ओर खुलनेकी आवश्यकता है। यही चीज है जिसे श्रीमाताजी शामके ध्यानके समय तुम्हारे ऊपर ठेलती है।

*

चित् है विशुद्ध चेतना, जैसे, सत्-चित्-आनन्दमें।

चित्त है मानसिक-प्राणिक-शारीरिक चेतनाओंका मिश्रित रूप और इसीमेंसे विचार, भावावेग, सवेदन, प्रवेग आदिकी क्रियाएं उत्पन्न होती है। पांतजलि योग-पद्धतिमे इन्ही सवको एकदम शांत कर दिया जाता है जिसमें कि चेतना निश्चल हो जाय और समाधिमें चली जाय।

हमारे योगमे दूसरी तरहकी क्रिया होती है। साधारण चेतनाकी क्रियाओंको निश्चल वना देना होता है और उस निश्चलताके अंदर उच्चतर चेतना और उसकी शक्तियोको उतार लाना होता है जो कि प्रकृतिका रूपांतर कर देंगी।

*

यदि तुम चित्तवृत्तियोंका दमन कर दो तो फिर तुम्हारे अंदर चित्तकी एकदम कोई क्रिया ही नहीं होगी। सव कुछ तवतक निश्चल वना रहेगा जवतक तुम दमनको दूर नही कर दोगे अथवा सव कुछ इतना शांत-निश्चल वना रहेगा कि निश्चलताके सिवा वहां और कोई चीज ही नही रह सकेगी।

यदि तुम उन्हे स्थिर कर दो तो चित्त भी स्थिर हो जायगा; वहा चाहे जो भी क्रिया या गतिशीलता हो वह उस स्थिरताको विचलित नही करेगी।

यदि तुम उन्हें संयमित कर लो या उनपर प्रभुत्व स्थापित कर लो तो जव तुम चाहोगे तव चित्त निश्चल-निष्क्रिय हो जायगा और जव तुम चाहोगे तव सक्रिय हो जायगा, और उसकी क्रिया ऐसी हो जायगी कि जिस चीजसे तुम छुटकारा पाना चाहोगे वह चली जायगी, जिस चीजको तुम यथार्थ और उपयोगी समझोगे वस वही आयगी।

*

नीरवताकी स्थितिमे चला जाना आसान नही है। ऐसा करना केवल तभी संभव होता है जव समस्त मानसिक-प्राणिक क्रियाओंको वाहर निकाल दिया जाता है। इससे अधिक आसान है अपने अंदर निश्चल-नीरवताको अवतरित होने देना, अर्थात् अपनेको उसकी ओर उद्घाटित करना और उसे उतरने देना। ऐसा करनेका तरीका और उच्चतर शक्तियोंका अपने अंदर आवाहन करनेका तरीका एक ही है। यह तरीका है ध्यानके समय अचंचल वने रहना। उस समय मनके साथ संघर्ष नहीं करना चाहिये अथवा शक्तिको या निश्चल-नीरवताको नीचे खींच लानेका मानसिक प्रयास नही करना चाहिये वल्कि उसके लिये केवल नीरव संकल्प और अभीप्सा वनाये रखना चाहिये। अगर मन सक्रिय हो तो हमें पीछेकी ओर हटकर और अंदरसे उसके लिये कोई अनुमति दिये विना उसका तवतक अवलोकन करना सीखना चाहिये जवतक कि उसकी अभ्यासगत या यंत्रवत् क्रियाएं भीतरसे प्राप्त सहारेके अभावमें नीरव हो जाना न आरंभ कर दें। यदि मन अत्यंत हठी हो तो अधिक जोर लगाये या सघर्ष किये

विना दृढतापूर्वक परित्याग करते रहना ही एकमात्र करणीय कार्य है।

*

किसी चीजको अतिरंजित न करना ही अच्छा है। सच पूछा जाय तो मानसिक क्रियावलीसे छुटकारा पाना उतना अधिक आवश्यक नही है जितना कि उसे समुचित रूपमें वदल देना...। जिस चीजको हमें अतिक्रम करना और परिवर्त्तित करना है वह है वौद्धिक तर्क-युक्ति जो चीजोंको केवल वाहरसे, विश्लेपण और अनुमानके द्वारा देखती है — जव वह ऐसा नही करती तव प्राय. शीघ्रतासे दृष्टिपात करती और कहती है, "यह वात ऐसी है" अथवा "यह वात ऐसी नही है।" किंतु तुम तवतक इसका अतिक्रमण और परिवर्तन नहीं कर सकते जवतक कि पुरानी मानसिक क्रिया थोडी स्थिर नही हो जाती। स्थिर मन अपने विचारोंमे नही उलझता अथवा उनसे दूर नही भागता; वह पीछे खड़ा हो जाता है, अपनेको पृथक् कर लेता है और उनके साथ अपना तादात्म्य किये विना तथा उन्हे अपना वनाये विना गुजर जाने देता है। वह साक्षी मन वन जाता है और आवश्यक होनेपर विचारोंका निरीक्षण करता है, परतु साथ ही उनसे मुँह मोड़ लेने और अंदरसे तथा ऊपरसे ग्रहण करनेमे समर्थ होता है। निश्चल-नीरवता अच्छी चीज है, पर पूर्ण निश्चल-नीरवता अपरिहार्य नही है, कम-से-कम इस स्थितिमें। मैं नही समझता कि मनको शांत-स्थिर करनेके लिये उसके साथ कुश्ती करनेसे कोई विशेष लाभ है, साधारणतया उस खेलमें मनकी ही जीत होती है। वास्तवमें पीछे हटना, अपनेको पृथक् कर लेना, किसी अन्य चीजकी, वाहरी मनके विचारोंसे भिन्न दूसरी चीजकी वात सुननेकी शक्ति पा लेना ही अधिक आसान पथ है। इसके साथ-ही-साथ मनुष्य मानो ऊपरकी ओर अपनी दृष्टि उठा सकता है, अपनेसे ठीक ऊपर स्थित एक शक्तिकी कल्पना कर सकता और उसे नीचे पुकार सकता है अथवा चुपचाप उसकी सहायताकी प्रतीक्षा कर सकता है। इसी ढंगसे वहुतसे लोग इसे करते है जवतक कि मन धीरे-धीरे स्थिर नही हो जाता या अपने-आप नीरव नही हो जाता अथवा ऊपरसे निश्चल-नीरवता उतरना आरंभ नही कर देती। परंतु यह वहुत महत्त्वपूर्ण है कि अवसाद या निराशाको वीचमें न आने दिया जाय क्योंकि तुरत-फुरत सफलता नही मिली; ऐसा करनेसे तो वस कार्य कठिन ही हो सकता है और जिस किसी प्रगतिके लिये तैयारी हो रही है वह रुक सकती है।

*

नीरव मन योगसाधनाका एक परिणाम है; साधारण मन कभी नीरव नही होता......। मनीषियों और दार्शनिकोंका मन नीरव नही होता। उनका मन सक्रिय होता है; अवश्य ही वे अपने मनको एकाग्र करते है और इसलिये सामान्य असंबद्ध मानसिक क्रिया वंद हो जाती है और जो विचार उठते है या प्रवेश करते और रूप ग्रहण

करते हैं वे उनके विषय या कार्यसे सामंजस्य रखते हुए बंधे रहते है। परंतु यह बात समूचे मनके नीरव हो जानेसे एकदम भिन्न है।

*

जब मन ध्यानमें या पूर्ण निश्चल-नीरवतामे नही होता, किसी-न-किसी वस्तु-के साथ — चाहे अपनी निजी भावनाओं या कामनाओं या अन्य लोगों या वस्तुओं या बातचीत आदिके साथ — सर्वदा सक्रिय रहता है।

*

इसे ध्यान नही कहा जाता — यह तो चेतनाकी एक विभक्त अवस्था है। जब-तक चेतना वास्तवमें तल्लीन नहीं हो जाती और ऊपरी विचार बस ऐसी चीजें नहीं बन जाते जो मनमें आती, स्पर्श करतीं और निकल जाती हैं, तबतक इसे मुश्किलसे ध्यान कहा जा सकता है। मै नही समझता कि किस तरह आंतरिक सत्ता तल्लीन हो सकती है और साथ ही अन्य प्रकारके सारे विचार और सारी कल्पनाएं उपरितलीय चेतनामें घूमती-फिरती रह सकती है। मनुष्य पृथक् रह सकता और विचारों तथा कल्पनाओंको, उनसे प्रभावित हुए बिना, गुजरते हुए देख सकता है, पर उसे ध्यानमें डूब जाना या तल्लीन हो जाना नही कहा जा सकता।

*

यह बिलकुल स्वाभाविक है कि आरभमें जब तुम एकाग्र होनेके लिये बैठो तब केवल स्थिरता और शांतिकी अवस्था बनी रहे। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब कभी तुम बैठो यह अवस्था बनी रहे और उसके लिये बराबर ही दबाव बना रहे। पर दूसरे समय इसके परिणामस्वरूप प्रारंभमें केवल एक प्रकारकी मानसिक अचंचलता और विचारोंसे मुक्तिकी अवस्था विद्यमान रहती हैं। बादमें जब शांतिकी अवस्था आंतरिक सत्तामें एकदम जम जाती है — क्योंकि जब कभी तुम एकाग्र होते हो तब आंतरिक सत्तामें ही प्रवेश करते हो — तब वह बाहर आना और बाहरी सत्तापर भी शासन करना आरंभ करती है जिससे कि स्थिरता और शांति उस समय भी बनी रहती है जब मनुष्य कार्य करता है, दूसरोंसे मिलता-जुलता है, बात-चीत करता या अन्य कार्य करता है। क्योंकि, उस समय बाहरी चेतना चाहे कुछ भी क्यों न करे, आंतरिक सत्ता भीतर शांत अनुभूत होती है — अवश्य ही मनुष्य अपनी आंतरिक सत्ताको ही अपना सच्चा स्वरूप समझता है और बाहरी सत्ताको एक ऐसी ऊपरी चीज समझता है जिसके द्वारा आंतरिक सत्ता जीवनके ऊपर क्रिया करती है।

*

सुख-शातिका अनुभव अंदर बहुत गहराईमें और बहुत दूर होता है क्योंकि वे चीजें चैत्य सत्तामें होती हैं और चैत्य सत्ता हमारे अदर बहुत गहराईमें है और मन तथा प्राणके द्वारा आच्छादित है। जब तुम ध्यान करते हो तो चैत्यकी ओर उद्घाटित होते हो, अपने भीतर गहराईमें विद्यमान अपनी चैत्य चेतनाके विषयमे सचेतन होते हो और इन चीजोंको अनुभव करते हो। यदि तुम चाहो कि ये सुख, शांति और प्रसन्नता तीव्र और स्थायी हो जायं तथा सारी सत्तामें और शरीरमें भी अनुभूत हों तो तुम्हें अपने अंदर और अधिक गहराईमें पैठना होगा और चैत्य चेतनाकी संपूर्ण शक्तिको शरीरमें ले आना होगा। यह कार्य अधिक आसानीसे तभी किया जा सकता है जब कि इस सच्ची चेतनाको पानेकी अभीप्सा रखकर नियमित रूपसे एकाग्रता और ध्यानका अभ्यास किया जाय। यह कार्य कर्मके द्वारा भी किया जा सकता है, आत्मोत्सर्गके द्वारा, अपने विषयमें कुछ सोचे बिना और हृदयमें सर्वदा श्रीमाँके प्रति आत्मार्पणका भाव बनाये रखकर एकमात्र भगवान्‌के लिये कर्म करके भी इसे किया जा सकता है। परंतु पूर्ण रूपसे ऐसा करना आसान नही है।

*

यदि उच्चतर ध्यान या ऊपर बने रहना मनुष्यको उदास बना देता है, साधनामें उसे किसी प्रकारका संतोष या शांति नही मिलती तो, मैं जहाँतक समझ सकता हूँ, इसके केवल दो ही कारण हैं — अहंभाव या तामसिकता।

*

यह बिलकुल स्वाभाविक है कि यौगिक साहित्य पढ़ते समय मनुष्य ध्यान करना चाहे — यह आलस्य नहीं है।

मनका आलस्य तो है ध्यान न करना, जब कि चेतना उसे करना चाहती हो।

*

यह यथार्थ बात नही है कि जब मनुष्यमें धूमिलपन या तामसिकता होती है तो वह एकाग्रता या ध्यान नही कर सकता। यदि किसीकी आंतरिक सत्तामें इसे करनेका दृढ़ संकल्प हो तो वह इसे कर सकता है।

*

जब कोई ध्यान करनेकी कोशिश करता है तब भीतर पैठनेके लिये, जाग्रत् (बाह्य) चेतना खो देनेके लिये तथा अंदरमें, आंतरिक चेतनाकी गहराईमें जागृत

होनेका दबाव पडता है। परंतु आरंभमें मन ऐसा समझता है कि यह दबाव निद्रामें डूबनेके लिये है, क्योंकि निद्रा ही एकमात्र आंतरिक चेतनांकी वह स्थिति है जिसका उसे अभीतक अभ्यास रहा है। इसलिये योगमें ध्यान करनेपर आरंभमें जो बहुधा कठिनाई होती है वह है नीद। परंतु कोई यदि लगातार प्रयास करता रहे तो धीरे-धीरे नीद एक आतरिक सचेतन स्थितिमें बदल जाती है।

*

जब कोई ध्यान करनेका प्रयत्न करता है तब उस तरह नीद नही आती। जहां वैसा करना सभव हो, इसे एक सज्ञान आंतरिक तथा अंतर्मुखी स्थितिमें बदलकर और, जहा सभव न हो, ग्रहण करनेके लिये उद्घाटित एक अचंचल एकाग्रीभूत जाग्रतावस्था-मे (बिना प्रयास) बने रहकर, इस नीदकी स्थितिमें सुधार करना चाहिये।

*

नही, यह नीद नही है। बल्कि जब दबाव अंतर्मुखी होने (समाधिमें जाने) की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है तो भौतिक सत्ता इसे निद्राके भावमें बदल देती है, क्योंकि उसे निद्राके द्वारा अंदर पैठनेके सिवा और किसी चीजका अभ्यास नही होता।

*

ऐसा लगता है कि तुम एक प्रकारकी समाधिमें भीतर चले जाते हो पर अभी सचेतन नही रहते (इसी कारण निद्राका भाव आता है)। 'अ' सोया नही होता, बल्कि जब वह अन्दर पैठता है तो अपने शरीरपर उसका नियत्रण नही रहता। बहुतसे योगियोंको यह कठिनाई होती है। ऐसी हालतमें वे एक ऐसी चीजका उद्भावन करते है जिसे वे अपनी ठोड़ीके नीचे डाल देते है ताकि वह ध्यानमें इस प्रकार अंदर घुसनेपर उनके मस्तक और उसके साथ-साथ उनके शरीरको पकड़े रखे।

II

समाधिके समय आंतर मन, प्राण और शरीर ही बाह्य सत्तासे पृथक् होते हैं और अब उससे आच्छादित नही रहते — इसलिये वे पूर्ण रूपसे आतरिक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। उस समय बाह्य मन या तो निष्क्रिय हो जाता है या किसी रूपमें अनुभवको प्रतिबिंबित करता या उसमें भाग लेता है। समस्त मनोमयी सत्तासे केंद्रीय चेतनाके पृथक् हो जानेका मतलब है पूर्ण समाधिकी अवस्था जिसमें अनुभवोंकी कोई स्मृति नही रहती।

*

परंपराके अनुसार निर्विकल्प समाधि महज वह समाधि है जहांसे मनुष्य गर्म लोहेसे दागने या आगसे जलानेपर भी नही जग सकता — अर्थात् ऐसी समाधि जिसमें मनुष्य पूर्ण रूपसे शरीरसे वाहर चला गया होता है। अधिक वैज्ञानिक भाषामें कहा जा सकता है कि यह वह समाधि है जिसमें चेतनाके अदर कोई रचना या गति नहीं होती और योगी एक ऐसी स्थितिमे खो जाता है जहांसे वह अनुभवका कोई विवरण नही ले आ सकता, महज यही कह सकता है कि वह आनन्दमें था। ऐसा माना जाता है कि यह स्थिति सुषुप्ति या तुरीयमें पूर्णतः लीन हो जाना है।

*

निर्विकल्प समाधिका ठीक-ठीक अर्थ है पूर्ण समाधि जिसमे कोई विचार नही होता या चेतनाकी कोई गति नही होती अथवा न तो वाहरी न भीतरी वस्तुओंका कोई ज्ञान रहता है — सब कुछ खिचकर विश्वातीत परात्परमे चला जाता है। पर यहा-पर इसका अर्थ ऐसा नही हो सकता — यहा सभवत. अर्थ है मनसे परेकी चेतनामें समाधि।

तोड़ना और फिर गढ़ना प्राय· ही परिवर्तनके लिये आवश्यक होता है; परंतु जव एक वार मौलिक चेतना प्राप्त हो चुकती है तव कोई कारण नहीं कि यह सव कष्ट और उथल-पुथलके साथ किया जाय — इसे शांतिके साथ किया जा सकता है। सच पूछो तो निम्नतर अंगोंका विरोध ही कष्ट और उथल-पुथल उत्पन्न करता है।

*

सच्चिदानन्दमें डूब जाना एक ऐसी स्थिति है जिसे मनुष्य समाधिके विना जाग्रत् अवस्थामें प्राप्त कर सकता है — विलयन केवल शरीरके नाशके वाद ही हो सकता है, वशर्त्ते कि मनुष्य उच्चतम स्थितिको प्राप्त कर चुका हो और संसारकी सहायता करनेके लिये यहां वापस आनेकी इच्छा नहीं करता।

*

यह तुम्हारी भौतिक चेतनाके स्वभावपर निर्भर करता है। जव शरीरमें चेतना-का अवतरण होता है तो मनुष्य सूक्ष्म-भौतिक चेतनाके विषयमें सज्ञान हो उठता है और वह ज्ञान समाधिमें वना रह सकता है — ऐसा लगता है कि मनुष्यको शरीरका ज्ञान है पर वास्तवमें वह सूक्ष्म शरीर होता है न कि वाहरी स्थूल शरीर। परंतु मनुष्य और अधिक गहराईमें भी जा सकता है और फिर भी भौतिक शरीरके वारेमें और उसपर क्रिया करनेके वारेमें भी सचेतन रह सकता है, पर वाहरी वस्तुओंके वारेमें नहीं रह सकता। अंतमें जाकर मनुष्य एक गभीर एकाग्रतामें निमग्न हो जा सकता

है पर प्रबल रूपमे शरीरके विषयमें तथा उसमें शक्तिके अवतरणके विषयमें सचेतन रह सकता है। इस अंतिम स्थितिमें बाहरी वस्तुओंका ज्ञान भी बना रहता है यद्यपि उनकी ओर ध्यान नही भी दिया जा सकता। इस अंतिम स्थितिको सामान्यतया समाधि नही कहा जाता, पर यह एक प्रकारकी जाग्रत् समाधि है। पूर्ण समाधिकी गभीर स्थितिसे लेकर पूर्ण जागृत चेतनामें होनेवाली शक्तिकी क्रियातककी सभी अवस्थाओंका उपयोग इस योगमें किया जाता है। साधकको सर्वदा पूर्ण समाधिपर ही जोर नही देना चाहिये, क्योंकि अन्य समाधियां भी आवश्यक है और उनके बिना पूर्ण परिवर्तन नही साधित हो सकता।

यह बड़ा अच्छा है कि उच्चतर चेतना और उसकी शक्तियां मस्तक और हृदयके नीचेके भागोंमें अवतरित हो रही है। यह रूपातरके लिये अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि निम्नतर प्राण और शरीर भी उच्चतर चेतनाके उपादानमें अवश्य परिवर्तित हो जाने चाहियें।

*

तुम जो अपने ध्यानसे बाहर आनेपर कुछ याद नही रख पाते इसका कारण यह है कि अनुभव आंतर सत्तामें घटित होता है और बाह्य सत्ता उसे ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत नही है। इससे पहले तुम्हारी साधना मुख्यतया प्राणिक लोकमें चल रही थी जो बहुधा सबसे पहले खुलता है और उस लोकके साथ शारीर चेतनाका संपर्क स्थापित करना आसान होता है क्योंकि वे दोनों स्तर एक-दूसरेके अधिक समीप हैं। अब ऐसा लगता है कि साधना भीतर चैत्य सत्तामें चली गयी है। यह एक महान् प्रगति है और तुम्हें अभी अत्यत बाह्य चेतनाके साथ संपर्क न होनेके कारण कोई चिंता करनेकी आवश्यकता नही। कार्य फिर भी चल रहा है और संभवत: यह आवश्यक है कि ठीक अभी यह इसी भांति हो। पीछे चलकर यदि तुम समुचित मनोभाव सतत बनाये रखोगे तो वह बाहरी चेतनामें भी अवतरित होगी।

*

एक मध्यवर्ती समाधि होती है जो भिन्न प्रकारकी होती है — उसमें योगीको सच्चिदानन्दका संपर्क नही प्राप्त होता बल्कि निम्न प्राणिक लोककी सत्ताओंके साथ सपर्क प्राप्त होता है। उच्चतर प्रकारकी समाधिमें जानेकी शक्तिको विकसित करनेके लिये कुछ साधना करनेकी आवश्यकता होती है। पवित्रीकरणका जहातक प्रश्न है, सपूर्ण पवित्रीकरण आवश्यक नहीं है, पर सत्ताके कुछ भागोंको उच्चतर वस्तुओंकी ओर अवश्य मुड़ जाना चाहिये।

*

अंगरेजीमें 'ट्रांस' (Trance) शब्दका प्रयोग सामान्यतया केवल गभीरतर प्रकारकी समाधिके लिये होता है, परंतु, अन्य कोई शब्द न होनेके कारण, हमें इसका प्रयोग सब प्रकारकी समाधियोंके लिये करना होगा।

*

समाधि कोई ऐसी चीज नही है जिसका त्याग कर दिया जाय — बस, आवश्यकता है इसे अधिकाधिक सचेतन बनानेकी।

*

भगवान्‌के साथ सपर्क प्राप्त करनेके लिये समाधिमें रहना आवश्यक नही है।

*

इसके विपरीत, सच पूछो तो जाग्रत् अवस्थामें इस अनुभूतिको आना चाहिये और बने रहना चाहिये जिसमें कि यह जीवनका एक सत्य बन सके। यदि समाधिमे इसका अनुभव हो तो यह एक ऐसी अतिचेतन अवस्था होगी जो आंतरिक सत्ताके किसी भागके लिये ही सत्य होगी, समस्त चेतनाके लिये सत्य नहीं होगी। सत्ताके उद्‌घाटन और उसकी तैयारीके लिये समाधिमें होनेवाली अनुभूतियोंका उपयोग तो है पर जब उपलब्धि जाग्रत् अवस्थामें निरंतर होती रहती है केवल तभी वह वास्तवमें अपने अधिकारमें होती है। अतएव इस योगमें जाग्रत् उपलब्धि और अनुभूतिको ही सबसे अधिक मूल्य प्रदान किया जाता है।

स्थिर चिर-विस्तरणशील चेतनामें रहकर कार्य करना एक साथ ही एक साधना और एक सिद्धि भी है।

*

जो अनुभव तुम्हें हुआ वह निस्सदेह चेतनाका अंदर प्रवेश करना था जिसे साधारणतया समाधि कहा जाता है। परंतु इसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है मन और प्राणकी निश्चल-नीरवता जो पूर्णतः शरीरतक भी विस्तारित है। इस नीरवता और शांतिकी क्षमताको प्राप्त करना साधनाकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था है। यह सर्वप्रथम ध्यानमें आती है और चेतनाको भीतरकी ओर समाधिमें फेंक दे सकती है, पर पीछे इसे जागृत अवस्थामें भी आना होगा और समस्त जीवन तथा कर्मके स्थायी आधारके रूपमें अपनेको स्थापित करना होगा। यही वह अवस्था है जिसमें आत्माका साक्षात्कार और प्रकृतिका आध्यात्मिक रूपांतर साधित होता है।

*

हा, उन्हें (उच्चतर सिद्धिकी सभी स्थितियोंको) पूरी क्रियाशीलताके अदर प्राप्त किया जा सकता है। समाधि आवश्यक नही है — उसका व्यवहार किया जा सकता है पर वह स्वय अपने-आपमें चेतनाका परिवर्तन नही ले आ सकती जो कि हमारा उद्देश्य है, क्योकि समाधि केवल आतरिक आत्मनिष्ठ अनुभव ही प्रदान करती है जो बाहरी चेतनामे कोई अतर पैदा करे ही यह आवश्यक नही है। ऐसे बहुतसे साधकोंके उदाहरण मौजूद है जिन्होंने समाधिमें बड़ी अच्छी-अच्छी अनुभूतियां पायी हैं पर उनकी बाहरी सत्ता पहलेकी जैसी ही बनी हुई है। जो कुछ अनुभूत होता है उसे बाहर ले आना और उसे आतरिक तथा बाह्य सत्ता दोनोंके रूपांतरके लिये एक शक्तिमें परिणत करना आवश्यक है। परंतु यह कार्य समाधिमें गये बिना स्वयं जाग्रत् चेतनामें किया जा सकता है। अवश्य ही एकाग्रताका अभ्यास करना अनिवार्य है।

*

दो अलग-अलग स्थितियां है — एक तो वह है जिसे चेतना एकाग्रताकी अवस्थामें लेती है और दूसरी वह है जिसे वह विश्रामकी अवस्थामे लेती है। इनमेंसे दूसरी विश्रामकी स्थिति सामान्य चेतना है (सामान्य साधककी दृष्टिसे, पर शायद सामान्य जनकी सामान्य चेतना नही) और पहली एकाग्रताकी स्थिति वह है जो साधनामें चेतनाकी तपस्याके द्वारा प्राप्त होती है। जो साधक इतनी दूर जा चुका है उसके लिये अक्षरकी स्थितिमें प्रवेश करना और वहांसे अनुभवोंको देखना आसान है। वह एकाग्र हो सकता और अपनी सत्ताके प्रमुख पक्षोंमे एकत्व भी बनाये रख सकता है, यद्यपि इसमे उसे अधिक कठिनाई हो सकती है — पर शिथिलीकरणकी अवस्थामें वह शिथिल सामान्य चेतनामें आ गिरता है। वास्तवमें साधनाके द्वारा जो कुछ प्राप्त हुआ है वह जब साधारण चेतनाके लिये स्वाभाविक बन जाता है केवल तभी इससे बचा जा सकता है। जितने अंशमें इसे किया जाता है उतने अंशमें सत्यको केवल आतरिक रूपमे अनुभव करना ही नही बल्कि उसे कार्यमें भी अभिव्यक्त करना संभव होता है।

*

उच्चतर चेतना संकेंद्रित चेतना है — भागवत एकत्वमें, और भागवत सकल्पको कार्यान्वित करनेमें संकेंद्रित है, वह बिखरी हुई नही है और न वह किसी-न-किसी मानसिक विचार या प्राणिक कामना या भौतिक आवश्यकताके पीछे ही दौड़ती है जैसा कि सामान्य मानवीय चेतना करती है — फिर वह सैकड़ो ऊलजलूल विचारों, भावनाओं और आवेगोके द्वारा आक्रांत नही होती, बल्कि उसका अपने ऊपर प्रभुत्व होता है, वह केंद्रित और सुसमंजस होती है।

III

साधारणतया दो अवस्थाओंमेंसे किसी एकमें ही जप फल प्रदान करता है: (1) यदि जप अर्थपर ध्यान रखकर किया जाता है; साधकके मनमे कोई ऐसी चीज होती है जो उस देवताके स्वभाव, शक्ति, सौंदर्य, मोहिनी शक्तिपर एकाग्र होती है जिसे जपका मंत्र व्यक्त करता है और जिसे चेतनाके अन्दर ले आना अभिप्रेत होता है। यह मानसिक पद्धति है; अथवा (2) यदि जप हृदयसे उठता है या इसे सजीव बनानेवाली एक प्रकारकी भक्तिका भाव या बोध मंत्रको हृदयमें झंकृत करता है। यह हृदयकी भावप्रधान पद्धति है। इस तरह जपको या तो मनका या प्राणका सहारा या पोषण मिलना ही चाहिये। पर जपसे मन यदि शुष्क हो जाय और प्राण चंचल हो उठे तो इसका अर्थ है कि उसे यह सहारा और पोषण नही मिल रहा है। अवश्य ही एक तीसरी पद्धति भी है, वह है स्वयं मंत्र या नामकी शक्तिपर निर्भरता। उस अवस्थामें साधकको तबतक जप करते रहना होता है जबतक कि वह शक्ति पर्याप्त रूपमें आंतरिक सत्तापर अपने प्रकंपनोंको जमा न दे जिसमें कि एक सुनिश्चित क्षणमें वह एकाएक दिव्य उपस्थिति या दिव्य स्पर्शकी ओर उद्घाटित हो जाय। परंतु इस फलके लिये यदि संघर्ष किया जाय या आग्रह किया जाय तो फिर इस फलके आनेमें बाधा पडती है, क्योंकि इसके आनेके लिये यह आवश्यक है कि मनके भीतर एक प्रकारकी अचंचल ग्रहणशीलता हो। यही कारण है कि मैंने बार-बार मनकी अचंचलतापर इतना अधिक जोर दिया था, इस बातपर जोर नही दिया था कि इसके लिये अत्यधिक श्रम या प्रयास किया जाय। मेरा उद्देश्य यह था कि चैत्य पुरुष और मनको समय दिया जाय कि वे ग्रहणशीलताकी आवश्यक स्थितिको विकसित करें — यह ग्रहणशीलता उतनी ही स्वाभाविक होनी चाहिये जितनी कि वह उस समय होती है जब मनुष्य कविता या संगीतकी अंतःप्रेरणाको ग्रहण करता है। फिर यही कारण है कि मैं नही चाहता कि तुम कविता लिखना बंद कर दो — यह सहायता करता है और तैयारीके कार्यमें बाधा नहीं पहुँचाता, क्योंकि यह ग्रहणशीलताकी और अंतःसत्तामें विद्यमान भक्तिको बाहर निकालनेकी समुचित अवस्थाको विकसित करनेका साधन है। अपनी सारी शक्तिको जप या ध्यानमें खर्च कर देना एक प्रकारका कठिन श्रम है जिसे जारी रखना सफल ध्यान करनेके अभ्यस्त व्यक्तिके लिये भी कठिन होता है — जिसे केवल उन समयोंमें ही जारी रखना संभव होता है जब कि ऊपरसे अनुभूतियोंकी अबाध धारा प्रवाहित होती रहती है।

*

ॐ मंत्र है, यह ब्रह्म-चैतन्यके तुरीयसे लेकर बाह्य या भौतिक स्तरतकके चारों लोकोंको अभिव्यक्त करनेवाला शब्द-प्रतीक है। मंत्रका कार्य है आंतर चेतनामें ऐसे प्रकंपनोंको पैदा करना जो उसे (चेतनाको) उस वस्तुकी सिद्धिके लिये तैयार करते

है जिसका प्रतीक वह मंत्र होता है और जिसके विषयमें यह वास्तवमें माना जाता है कि स्वयं वह मंत्र उसे अपने अन्दर वहन करता है। अतएव मंत्र ॐ को चेतनाका इस प्रकार उद्घाटन करा देना चाहिये कि वह सभी स्थूल-भौतिक वस्तुओंमें, आंतरिक सत्ता और अतिभौतिक जगतोंमें, हमारे लिये अभी अतिचेतन ऊपरके कारण-लोकमेंऔर अंतमे समस्त विश्व-सत्तासे ऊपर स्थित चरम मुक्त परात्परतामें एकमेव चैतन्यको देख और अनुभव कर सके। जो लोग इस मत्रका उपयोग करते है उनका मुख्य लक्ष्य साधारणतया अतिम अनुभूति ही होती है।

इस योगमें कोई निश्चित मंत्र नही है, मंत्रोंपर कोई विशेप जोर नहीं दिया जाता, यद्यपि साधकको यदि कोई मत्र सहायक प्रतीत हो या जवतक सहायक मालूम हो तवतक वह उसका उपयोग कर सकता है। यहांपर वल्कि जोर दिया जाता है चेतनामें अभीप्सा रखनेपर और मन, हृदय, सकल्प-शक्ति, समस्त सत्ताकी एकाग्रतापर। यदि कोई मंत्र इस कार्यके लिये उपयोगी प्रतीत होता है तो साधक उसका उपयोग करता है। ॐ मंत्रका यदि ठीक-ठीक (यंत्रवत् नही) उपयोग किया जाय तो यह अवश्य ही ऊपर-की ओर और वाहर (विश्व-चेतना) की ओर उद्घाटित होने तथा साथ ही ऊपरकी चेतनाके अवतरित होनेमे सहायता कर सकता है।

*

साधारणतया इस साधनामें व्यवहृत होनेवाला एकमात्र मंत्र है श्रीमांका मंत्र या मेरे और माताजीके नामका मंत्र। हृदयमें और मस्तकमें दोनों जगह एकाग्रता की जा सकती है–दोनोंका अपना अलग-अलग फल है। पहली चैत्य पुरुषको उद्घाटित करती है और भक्ति, प्रेम तथा श्रीमाताजीके साथ एकत्व, हृदयमें उनकी उपस्थिति तथा प्रकृतिके अंदर उनकी शक्तिकी क्रियाको ले आती है। दूसरी आत्मोपलब्धिके लिये, जो कुछ मनसे ऊपर है उसका ज्ञान पानेके लिये, चेतनाके शरीरसे ऊपर उठनेके लिये और उच्चतर चेतनाके शरीरके अंदर उतारनेके लिये मनको उद्घाटित करती है।

*

भगवान्के नामका जप सामान्यतया सरक्षण पानेके लिये, पूजा करनेके लिये, भक्ति वढ़ानेके लिये, आतरिक चेतनाको उद्घाटित करनेके लिये, भगवान्के उसी स्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये किया जाता है। इस कार्यके लिये अवचेतनके अंदर कार्य करना जितना आवश्यक है उसके लिये नाम अवश्य ही फलदायी हो सकता है।

*

नाम जपमें एक महान् शक्ति है।

*

चाहे जिस किसी नामको क्यों न पुकारा जाय, जो शक्ति प्रत्युत्तर देती है वह स्वयं श्रीमाँ है। प्रत्येक नाम भगवान्‌के एक विशेष पक्षको सूचित करता है और उस भाव-पक्षसे सीमित होता है; परंतु श्रीमाताजीकी शक्ति सर्वव्यापक है।

*

मैंने श्वासके साथ नाम-जप करनेके लिये प्रोत्साहित नहीं किया, क्योंकि वह मुझे प्राणायाम जैसा लगा। प्राणायाम बहुत शक्तिशाली चीज है, पर वह यदि अव्यवस्थित रूपमें किया जाय तो उससे बाधाएं खडी हो सकती है और यहातक कि अत्यधिक लोगोंके शरीरमें रोग भी हो सकते है।

*

गायत्रीकी शक्ति है भागवत सत्यकी ज्योति। यह ज्ञानका मंत्र है।

*

गायत्री मंत्र सत्ताके सभी लोकोंमें सत्यकी ज्योतिको ले आनेका मंत्र है।

*

गायत्री-जपको या जिस पद्धतिका अभी तुम अनुसरण कर रहे हो उसको छोड़नेकी आवश्यकता नही। हृदयमें एकाग्र होना एक पद्धति है, सिरमें (या ऊपर) एकाग्र होना दूसरी पद्धति है; दोनोंको इसं योगमें शामिल किया गया है और जिस व्यक्तिको जो पद्धति सबसे अधिक आसान या स्वाभाविक प्रतीत हो उसे उसीका अभ्यास करना चाहिये। हृदयमें एकाग्र होनेका उद्देश्य है वहांके केंद्र (हृत्पद्म) को उद्घाटित करना, हृदयमें भगवती माताकी उपस्थितिको अनुभव करना और अपने अंतरात्मा या चैत्य पुरुषके विषयमें जो कि भगवान्‌का अंश है, सचेतन होना। मस्तकमें एकाग्र होनेका उद्देश्य है भागवत चेतनामें ऊपर उठ जाना और सभी चक्रोंमें श्रीमाताजीकी ज्योति या उनकी शक्ति या आनन्दको उतार लाना। यह आरोहण और अवरोहणकी क्रिया तुम्हारे जपकी प्रक्रियामें अंतर्निहित है और इसलिये उसे छोड़नेकी आवश्यकता नहीं।

मस्तकमें सत्यलोकके अनुरूप एक स्तर है पर एक विशेष अवस्थामें चेतनाको

ऊपर वैश्व चेतनाके उसी स्तरमें जानेके लिये मुक्तभावसे मस्तकसे ऊपर उठना होता है।

*

ऐसा माना जाता है कि इस (प्रणव जप) में एक अपनी शक्ति है यद्यपि वह शक्ति उसके अर्थपर ध्यान किये विना पूरी तरह कार्य नही कर सकती। परंतु मेरा अनुभव यह है कि इन बातोंका कोई अकाट्य नियम नही है और सबसे अधिक निर्भर करता है चेतनाके ऊपर या साधककी प्रत्युत्तर देनेकी शक्तिके ऊपर। कुछ लोगोंके प्रसंगमें इसका कोई फल नही होता, कुछ लोगोंके प्रसंगमें ध्यान किये विना भी इसका बहुत शीघ्र और शक्तिशाली फल होता है — दूसरोंके लिये कोई फल पानेके लिये ध्यान आवश्यक होता है।

*

गीताके श्लोकोंका उपयोग जपकी तरह किया जा सकता है, यदि उस सत्यको उपलब्ध करना लक्ष्य है जिसे वे श्लोक धारण करते है। यदि 'अ' के पिताने उस उद्देश्य-सिद्धिके लिये गीता-शिक्षाके सारको वहन करनेवाले मुख्य-मुख्य श्लोकोंको एकत्रित किया है तो यह वहुत ठीक है। सारी बात निर्भर करती है श्लोकोंके चुनाव-पर। सच पूछो तो गीताके कुछ श्लोकोंको एक साथ रख देनेसे गीताकी शिक्षाका सुसंवद्ध संक्षिप्त रूप आसानीसे नही तैयार किया जा सकता, परंतु इस प्रकारके उद्देश्य-के लिये वैसा करना आवश्यक नहीं है, इसका उद्देश्य तो बस मूल सत्योंको एक साथ रख देना हो सकता है — किसी बौद्धिक व्याख्याके लिये नहीं बल्कि अनुभूतिको पकड़-नेके लिये जो कि जपका उद्देश्य है। मैंने इस पुस्तकको नहीं पढ़ा है, इसलिये मैं नही जानता कि कितनी दूरतक यह अपने उद्देश्यको पूरा करती है।

*

जब कोई नियमित रूपसे किसी मंत्रका जप करता है तो वहुत वार जप अपने-आप भीतरमें होना आरंभ हो जाता है; इसका मतलव है कि आंतरिक सत्ताके द्वारा जप होने लगा है। इस ढंगसे जप अधिक फलदायक वन जाता है।

*

स्वभावत: ही, जिस नामपर मनुष्य एकाग्र होता है वह अपने-आप चलता रहेगा, यदि कोई वैसा करता है। परंतु नीदमें श्रीमाँको पुकारना आवश्यक रूपसे कोई जप

नहीं है — वास्तवमें आंतर सत्ता कठिनाईके समय या आवश्यक होनेपर बहुधा श्रीमां-को पुकारती हैं।

*

बहुतसे लोगोंको मंत्र ध्यानमें प्राप्त होते हैं। वेदमें ऋषियोंका कहना है कि अंतर्दर्शन और अंतर्ज्ञानके द्वारा उन्होंने सत्यको सुना — "कवयः सत्यश्रुतः" — वेद इसीलिये श्रुति कहलाते हैं कि वे अंतःकरणमें सुनकर प्राप्त किये गये थे।

विभाग सात

प्रेम और भक्तिके द्वारा साधना

प्रेम और भक्तिके द्वारा साधना

भागवत प्रेम, सौंदर्य तथा आनन्दको संसारके अंदर ले आना, निस्संदेह, हमारे योगका सर्वोच्च शिखर और सार-तत्त्व है। परंतु यह मुझे सर्वदा तबतक असंभव प्रतीत होता है जबतक कि इसके आधार, आश्रय तथा रक्षकके तौरपर भागवत सत्य —- जिसे कि मैं अतिमानसिक सत्य कहता हूँ — तथा उसकी भागवत शक्ति न अवतरित हो। अन्य स्थितिमें स्वयं प्रेम भी इस वर्तमान चेतनाकी गडबडियोंसे अंधा होकर अपने मानवीय पात्रोंमें ठोकर खा सकता है और, अगर ऐसा न भी हो तो, मनुष्यकी निम्नतर प्रकृतिकी स्खलनशीलताके कारण वह अस्वीकृत, परित्यक्त या शीघ्र ही भ्रष्ट और विनष्ट हो सकता है। परंतु जब भागवत प्रेम भागवत सत्य और शक्तिकी उपस्थितिमें आता है तब वह पहले किसी परात्पर और विश्वव्यापी तत्त्वके रूपमें अवतरित होता है और उस परात्परता तथा विश्वव्यापकतामेंसे भागवत सत्य एवं संकल्पके अनुसार व्यक्तियोंपर क्रिया करता है। फलस्वरूप वह उस व्यक्तिगत प्रेमकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल, महान्, विशुद्ध व्यक्तिगत प्रेमको उत्पन्न करता है जिसकी कल्पना कोई मानवीय मन या हृदय इस समय कर सकता है। वास्तवमें जब कोई इस अवतरणका अनुभव कर लेता है तभी वह संसारमें भागवत प्रेमके जन्म और कर्मका यंत्र बन सकता है।

*

मैं ठीक-ठीक यह नहीं समझता कि तुमने जो भागवत प्रेमके नीचे अवचेतनातकमें स्थापित हो जानेकी बात कही है उससे तुम्हारा मतलब क्या है। कौनसा प्रेम? भगवान्के लिये अंतरात्माका प्रेम? अथवा भागवत प्रेम और आनन्दका तत्त्व जो वह उच्चतम वस्तु है जिसे प्राप्त किया जा सकता है? पिछले भागवत प्रेम और आनन्दको नीचे अवचेतनातकमें स्थापित करनेका मतलब है समग्र सत्ताका सपूर्ण रूपांतर और इसे अतिमानसिक रूपांतरके परिणामके रूपमें ही किया जा सकता है,अन्यथा नही, और वह रूपांतर अभी बहुत दूर है। दूसरा, भगवान्के लिये अंतरात्माका प्रेम तत्त्वत: इस समय भी स्थापित किया जा सकता है, परंतु इसे समूची सत्तामें जीवंत और पूर्ण बनानेका अर्थ होगा चैत्य रूपांतरका संसिद्ध हो जाना और आध्यात्मिक रूपांतरका भी भली भांति प्रारंभ हो जाना।

*

श्रीमाताजीने तुम्हे यह नही कहा था कि प्रेम कोई भाव नही है, वरन् यह कहा था कि भागवत प्रेम कोई भाव नही है — और यह वहुत भिन्न वात है। मानवीय प्रेम भाव, तीव्रावेग तथा कामनासे वना होता है — ये सभी प्राणिक क्रियाएं हैं, और इस कारण मानवीय प्रेम मानवीय प्राणगत प्रकृतिकी दुर्बलताओंसे बद्ध होता है। भाव, अपने सभी दोषो और संकटोके होते हुए भी, मानवीय प्रकृतिमें एक अत्युत्तम और अनिवार्य वस्तु है,—वैसे ही जैसे मानसिक विचार मानवीय स्थितिमें अपने निजी क्षेत्रमें अत्युत्तम और अनिवार्य वस्तुए है। परंतु हमारा लक्ष्य है मानसिक विचारोंको पार कर जाना तथा उस अतिमानसिक सत्यके प्रकाशमें पहुँच जाना जो चिंतनात्मक विचारके सहारे नही, प्रत्युत प्रत्यक्ष दृष्टि और तादात्म्यके सहारे स्थित होता है। इसी प्रकार हमारा लक्ष्य है भावसे परे जाकर भागवत प्रेमकी उच्चता, गम्भीरता एव तीव्रतामें पहुँच जाना और वहां आंतरिक चैत्य हृदयके द्वारा भगवान्के साथ वह असीम एकत्व अनुभव करना जहातक प्राणमय भावोंकी जोशीली छलांगें नही पहुँच सकती अथवा जिसे वे अनुभव नही कर सकती।

जैसे अतिमानसिक सत्य हमारे मानसिक विचारोंका कोई उदात्तीकरणमात्र नही है, वैसे ही भागवत प्रेम मानवीय भावोंका कोई उदात्तीकरणमात्र नहीं है; वह एक भिन्न गुण, क्रिया और सारतत्त्वसे युक्त एक भिन्न प्रकारकी चेतना है।

*

यह (भागवत प्रेम) स्वयं-सत् है और वाह्य संपर्क या वाह्य अभिव्यक्तिपर निर्भर नही करता। आया वह अपने-आपको वाहरमें अभिव्यक्त करेगा या नहीं अथवा वह किस प्रकार अपने-आपको वाहरमें प्रकट करेगा यह उस आध्यात्मिक सत्यपर निर्भर करता है जिसको हमें अभिव्यक्त करना है।

*

भागवत प्रेम संभवत· भौतिक स्तरपर, मानवजाति जैसी है उसके कारण, अभी उतनी पूर्णता और स्वच्छन्दताके साथ अभिव्यक्त नही हो सकता जितनी पूर्णता और स्वच्छन्दताके साथ वह अन्य स्थितिमें अभिव्यक्त होगा। परंतु इस कारण भागवत प्रेम मानवीय प्रेमसे कम घनिष्ठ या तीव्र नही हो जाता। वह विद्यमान है और प्रतीक्षा कर रहा है कि उसे समझा जाय और स्वीकार किया जाय तथा इस बीच वह समस्त साहाय्य दे रहा है जिसे तुम उस चेतनामे अपनेको ऊपर उठाने और विस्तारित करनेके लिये ग्रहण कर सको जिससे इन कठिनाइयों और इन गलतफहमियोंका वार-वार घटित होना अव और संभव नही होगा — वह अवस्था प्राप्त हो जायगी जिसमें समग्र और पूर्ण एकत्व प्राप्त करना संभव होता है।

*

और मैं यह भी कह दूँ कि, मानव-प्रेम और दिव्य प्रेमका जहांतक प्रश्न है, मैंने पहलेको उस वस्तुके रूपमें स्वीकार किया था जहांसे हमें प्रस्थान करना है और दूसरे-पर पहुँचना है, मानव-प्रेमको निर्मूल नही करना है, वल्कि उसे अधिक तीव्र करना और रूपांतरित करना है। फिर मेरी दृष्टिमें, भागवत प्रेम कोई वायवीय, शीतल और दूरस्थ वस्तु नही है, वल्कि एक ऐसा प्रेम है जो संपूर्णतः तीव्र, घनिष्ठ और एकत्व, सामीप्य तथा आनन्दोल्लाससे परिपूर्ण है एव अपनी अभिव्यक्तिके लिये समस्त प्रकृति-का उपयोग करता है। निश्चय ही, यह वर्तमान प्राणगत प्रकृतिकी अस्तव्यस्तताओं तथा अव्यवस्थाओंसे रहित है जिसे वह किसी सपूर्णतः उष्ण, गभीर और तीव्र वस्तुमें वदल देगा; परंतु यह माननेका कोई कारण नही कि वह किसी भी ऐसी वस्तुको खो देगा जो प्रेम-तत्त्वके अंदर सत्य और सुखकर है।

*

प्रेम उदासीन नही हो सकता—क्योंकि उदासीन प्रेम जैसा कोई भाव अस्तित्व ही नहीं रखता, किंतु उस उद्धरणमें श्रीमाताजीने जिस प्रेमका उल्लेख किया है वह एक वड़ी ही पवित्र, निश्चित एवं स्थिर वस्तु है। वह न तो अग्निकी तरह भभक उठता है और न ईंधन समाप्त होनेपर वुझ ही जाता है, वल्कि सूर्यके प्रकाशके समान स्थिर, सर्वग्राही तथा स्वयं-सत् होता है। एक ऐसा दिव्य प्रेम भी होता है जो वैयक्तिक है, परंतु यह साधारण मानवीय व्यक्तिगत प्रेमके समान नहीं होता जो दूसरे व्यक्तिके प्रति-दानपर निर्भर करता हो। यह वैयक्तिक तो होता है पर अहंपूर्ण नही होता। यह एक-की वास्तविक सत्तासे दूसरेकी वास्तविक सत्तामें संचरण करता है। परंतु इसे उप-लव्ध करनेके लिये सामान्य मानवी दृष्टिकोणसे छुटकारा पाना आवश्यक होता है।

*

अव पहले साधनामें मानवी प्रेमको लें। अंतरात्माको भगवान्‌की ओर मोड़ने-वाला प्रेम अनिवार्यतः दिव्य होना चाहिये; पर अभिव्यक्तिका करण प्रारंभमें चूँकि मानव प्रकृति होती है, इसलिये यह मानवी प्रेम तथा भक्तिका रूप ग्रहण कर लेता है। परंतु जैसे-जैसे चेतना गहन वनती, महत्तर होती और परिवर्त्तित होती है, उसमें वह महत्तर शाश्वत प्रेम विकसित होता और स्पष्ट रूपसे मानवी प्रेमको दिव्य प्रेम वना देता है। पर स्वयं मानवी प्रेममें कई प्रकारकी प्रेरक शक्तियां है। एक चैत्य मानवी प्रेम होता है जो व्यक्तिके अन्दर गहराईसे उद्‌भूत होता है और अंतःसत्ताके उसके साथ, जो इसे दिव्य हर्ष और मिलनके लिये पुकारता है, संपर्कमें आनेका परिणाम होता है। यह, एक वार आत्म-सचेतन हो जानेपर, चिरस्थायी, स्वयंसत्, वाह्य तुष्टियोंपर अनाश्रित, वाह्य कारणोंसे कम न होनेवाला, निःस्वार्थ, मांग या सौदा न करनेवाला वल्कि सरल तथा स्वाभाविक रूपसे आत्मदान करनेवाला, गलतफहमियों, खिन्नताओं,

कलह तथा क्रोधमे न प्रवृत्त होनेवाला और न उनसे खंडित होनेवाला बल्कि सदा सीधे आतरिक मिलनकी ओर बढ़नेवाला होता है। यही चैत्य प्रेम दिव्य प्रेमके निकटतम है और अतएव प्रेम और भक्तिका यही उचित और सर्वोत्तम रूप है। परंतु इसका यह अर्थ नही कि सत्ताके अन्य अंग, प्राणिक तथा भौतिक भी, अभिव्यक्तिके साधनके रूपमे नही वर्त्ते जायगे अथवा वे प्रेमके पूरे विकासमें तथा इसके पूर्ण अर्थमें, यहांतक कि दिव्य प्रेममे भी भाग नही लेगे। इसके विपरीत, वे दिव्य प्रेमके साधन हैं तथा इसकी पूर्ण अभिव्यक्तिमें बहुत बड़े अग हो सकते है। इसमें संदेह नहीं कि उनकी क्रिया उचित होनी चाहिये, न कि गलत। स्वयं प्राणमें भी दो प्रकारके प्रेम होते हैं। एक तो आनंद, विश्वास और त्यागसे पूर्ण, उदार, स्वार्थहीन, वदान्य तथा आत्मार्पणमें बहुत ही पूर्ण होता है। यह चैत्य प्रेमसे बहुत मिलता-जुलता है और उसका पूरक बनने तथा दिव्य प्रेमको अभिव्यक्त करनेका साधन बननेके लिये बहुत उपयुक्त होता है। चैत्य प्रेम अथवा दिव्य प्रेम कोई भी, अपनी अभिव्यक्तिमे, भौतिक साधनोंकी, जहां-कही वे पवित्र, शुद्ध एवं संभव होते हैं, उपेक्षा नही करता। अवश्य ही वह ऐसे साधनोंपर निर्भर नहीं करता और उनके न मिलनेपर क्षीण नही होता, विद्रोह नहीं करता अथवा वत्ती काट देनेपर बुझ जानेवाली मोमवत्तीकी तरह मर नहीं जाता। हां, वह उनका उपयोग जब भी कर सकता है, आनन्द और आभारपूर्वक करता है। भौतिक साधनों-का उपयोग दिव्य प्रेमकी प्राप्ति एवं आराधनाके लिये किया जा सकता है और किया जाता भी है। उन्हें केवल मानवीय दुर्वलताको थोड़ी छूट देनेके लिये ही स्वीकार नही किया गया है और न यही सत्य है कि चैत्य पद्धतिमें इन साधनोंका कोई स्थान नही है। इसके विपरीत, ये भगवान्तक पहुँचने, प्रकाशको पाने तथा चैत्य संबंधोंको मूर्त्ति-मान करनेके माध्यम है। जबतक इनका उपयोग समुचित भावके साथ और एक सत्य हेतुके लिये होता है, इनका अपना स्थान है। ये साधन केवल तभी अनुपयुक्त सिद्ध होते तथा विपरीत प्रभाव डालते हैं जब या तो इनका दुरुपयोग किया जाता है या इन्हें समुचित ढगसे नही ग्रहण किया जाता क्योकि ये उदासीनता और जड़तासे अथवा विद्रोह या शत्रुतासे अथवा किसी स्थूल वासनासे कलुषित होते हैं।

किंतु प्राणमय प्रेमका एक दूसरा भी प्रकार है जो मानव-प्रकृतिका अधिक सामा-न्य तरीका है। यह अस्मिता और कामनाका तरीका है। यह प्राणमय लालसाओं, इच्छाओं और मागोंसे पूर्ण होता है। इसकी प्रगति इसकी मांगोंकी पूर्त्तिपर निर्भर करती है। यदि यह अपनी अभिलषित वस्तुको नहीं प्राप्त करता अथवा कल्पना भी कर लेता है कि इसके साथ उपयुक्त सलूक नही किया जा रहा है — क्योंकि यह सब प्रकारकी कल्पनाओं, मिथ्या धारणाओ, ईर्ष्या-द्वेषों और गलतफहमियोंसे भरा होता है — तो यह तत्काल दु.खी, मर्माहत एव क्रुद्ध हो उठता है, सब प्रकारकी दुरव-स्थाओंसे त्रस्त अनुभव करता है तथा अंतमें अवरुद्ध होकर समाप्त हो जाता है। ऐसा प्रेम अपनी प्रकृतिमें अत्यंत अस्थायी एवं अविश्वसनीय होता है तथा दिव्य प्रेमका आधार नही बनाया जा सकता।.. .... इसीलिये हम इस निम्न-प्राणस्तरीय मानवीय प्रेमको अनुत्साहित करते है और चाहते है कि लोग यथासंभव शीघ्रसे शीघ्र अपनी

प्रकृतिसे इसे बहिष्कृत कर दें। प्रेममें तो हर्ष, मिलन, विश्वास, आत्मदान और आनंदका प्रस्फुटन होना चाहिये —परंतु यह निम्नस्तरीय प्राणमय प्रेम केवल कष्ट, विपत्ति, निराशा, भ्रमभंग एवं वियोगका ही कारण होता है। इस प्रेमका रंचमात्र अंश भी शांतिके आधारोंको हिला देता है और आनन्दकी ओर ले जानेके बदले मनुष्यको शोक, असंतोष और निरानन्दमें गिरा देता है।

*

जो प्रेम भगवान्‌की ओर लगाया जाता है वह साधारण प्राणगत भाव नही होना चाहिये जिसे मनुष्य प्रेम कहते हैं, क्योंकि वह प्रेम नही है, बल्कि केवल प्राणगत कामना है, स्वायत्त करनेकी सहजवृत्ति है, अधिगत करने और एकाधिकार जमानेका आवेग है। यही नहीं कि वह दिव्य प्रेम नही है, अपितु उसे योगमे थोडीसी मात्रामें भी नही मिलने देना चाहिये। भगवान्‌के प्रति सच्चा प्रेम है आत्मदान — मागसे मुक्त, नमन और समर्पणसे पूर्णतः युक्त; वह प्रेम कोई दावा नही करता, कोई शर्त नही लादता, कोई मोल-तोल नही करता, ईर्ष्या या अभिमान या क्रोधकी जबर्दस्तियोंमे रत नही होता — क्योंकि ये चीजें उसकी बनावटमें ही नही है। उसके बदलेमें भगवती माता भी अपने-आपको दे देती हैं, किंतु स्वतंत्र रूपसे — और वह चीज आंतरिक दानके रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है — तुम्हारे मन, तुम्हारे प्राण, तुम्हारी भौतिक चेतनामें उनकी उपस्थिति होती है, उनकी शक्ति तुम्हें दिव्य प्रकृतिमें नवजन्म देती, तुम्हारी सत्ताकी सभी गतियोंको ऊपर उठाती और उन्हें पूर्णता एवं कृतार्थताकी ओर ले जाती है, उनका प्रेम तुम्हें परिव्याप्त कर लेता और तुम्हें अपनी गोदमें लेकर भगवान्‌की ओर ले जाता है। यही प्रेम है जिसे अपने सब भागोंमें, एकदम अन्नमय भागतकमें, अनुभव करने और प्राप्त करनेकी अभीप्सा तुम्हें अवश्य करनी चाहिये, और इस प्रेमकी कुछ भी सीमा नहीं है, न समयमें और न परिपूर्णतामें। अगर कोई सच्चे तौरपर इसकी अभीप्सा करता और इसे पा लेता है तो किसी और दावेकी या किसी हताश कामनाकी कोई गुँजायश नही रहनी चाहिये। और यदि कोई सच्चे भावसे अभीप्सा करता है तो वह इसे निश्चित रूपसे प्राप्त करता है, ज्यों-ज्यों प्रकृति शुद्ध होती जाती है और अपना अपेक्षित परिवर्तन करती जाती है त्यों-त्यों वह इसे अधिकाधिक प्राप्त करता जाता है।

अपने प्रेमको समस्त स्वार्थपूर्ण दावों और कामनाओंसे मुक्त रखो; तुम देखोगे कि उसके उत्तरमें तुम्हें वह सब प्रेम प्राप्त होने लगा है जिसे तुम सहन और हजम कर सकते हो।

फिर यह भी समझ लो कि आध्यात्मिक उपलब्धि सबसे पहले होनी चाहिये, जो काम करना है वह पहले होना चाहिये, न कि दावों और इच्छाओंकी पूर्त्ति। जब भागवत चेतना अपने अतिमानसिक प्रकाश और शक्तिके साथ उतर आयेगी और भौतिक सत्ताको रूपांतरित कर देगी केवल तभी अन्य वस्तुओंको प्रमुख स्थान दिया

जा सकता है — और तब भी कामनाकी तृप्ति नहीं करनी होगी, बल्कि भागवत सत्यको चरितार्थ करना होगा — प्रत्येकके अंदर तथा 'सर्व' के अंदर और उस जीवन-के अदर जिसे इस सत्यको अभिव्यक्त करना है। दिव्य जीवनमें सब कुछ भगवान्‌के लिये होता है, न कि अहके लिये।

भ्रांतिया दूर करनेके लिये मुझे शायद दो-एक बातें और कह देनी चाहियें। प्रथम, भगवान्‌के प्रति जिस प्रेमकी मैं चर्चा कर रहा हूँ वह केवल आंतरात्मिक प्रेम ही नही है, वह प्रेम है व्यक्तिकी सारी सत्ताका, जिसमें प्राण और प्राणमय भौतिक सत्ता भी आ जाती हैं,—ये सभी आत्मोत्सर्गके लिये एक समान समर्थ होती हैं। दूसरे, यह मान लेना भूल होगा कि अगर प्राण प्रेम करे तो अवश्य ही वह ऐसा प्रेम होगा जो अपनी कामनाकी तृप्तिकी माग करेगा और उसे शर्तके रूपमें लादेगा; यह सोचना गलत होगा कि वह या तो अवश्य ऐसा ही होगा या प्राणके लिये आवश्यक है कि वह अपनी "आसक्ति" से बचनेकी खातिर अपने प्रेमके पात्रसे सर्वथा दूर हट जाय। प्राण अपने निस्संकोच आत्मदानमें उतना ही पूर्ण हो सकता है जितना प्रकृतिका अन्य कोई भी भाग; जब यह अपने प्रियतमके लिये अपने-आपको भुला देता है तब कोई भी भाग इसकी अपेक्षा अधिक उदार नही हो सकता। प्राण और शरीर दोनोंको सच्चे तरीके-से — सच्चे प्रेमके तरीकेसे, अहंकी इच्छाके तरीकेसे नही — अपने-आपको उत्सर्ग कर देना चाहिये।

*

साधारणतया जब लोग प्राणिक घनिष्ठताकी चर्चा करते हैं तो उनका मतलब किसी अत्यंत बाहरी वस्तुसे होता है जिसे नीचे उतार लानेकी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह तो मानव-जीवनकी एक सामान्य वस्तु है। यदि वह भगवान्‌के साथ आंत-रिक प्राणिक घनिष्ठता हो तो निःसंदेह वह एकत्वको अधिक पूर्ण बनाती है, बशर्ते कि वह चैत्य चेतनापर आधारित हो।

*

यदि भगवान्‌के लिये मनुष्यके प्रेममें प्राण भी सहयोग दे तो वह उस प्रेममें साहस, उत्साह, तीव्रता, पूर्णता, ऐकांतिकता, आत्मत्यागका भाव, समस्त प्रकृतिका सपूर्ण और आवेगपूर्ण आत्मदान ले आता है। सच पूछा जाय तो भगवान्‌के प्रति प्राणिक आवेग ही आध्यात्मिक वीरों, विजेताओं या हुतात्माओंको उत्पन्न करता है।

*

मेरे विचारमें "प्रेम" शब्द "सद्‌भाव" से कुछ अधिक तीव्र वस्तुको अभि-

व्यक्त करता है, सद्भावमें तो महज सामान्य पसंदगी या चाह सम्मिलित हो सकते हैं। पर चाहे प्रेम हो या सद्भाव, मानवीय भाव सदा ही या तो अहंकारपर आधारित होता है या उससे अत्यधिक मिला-जुला होता है, इसीलिये यह पवित्र नही होता। उपनिषद्में कहा है, "व्यक्ति पत्नीको उसके पत्नी होनेके कारण प्यार नही करता।" — (और इसी प्रकार बच्चों, मित्र आदिको भी) — "बल्कि अपने स्वार्थके लिये वह पत्नीको प्यार करता है।" साधारणतया बदलेकी, किसी प्रकारके लाभ अथवा आदानकी अथवा विशिष्ट मनोमय, प्राणमय या अन्नमय सुख एव तृप्तिकी आशा व्यक्तिको अपने प्रियसे होती ही है। इन आशाओंको हटा दो और प्रेम बहुत शीघ्र दब जायगा, क्षीण हो जायगा या लुप्त हो जायगा अथवा क्रोध, उपालंभ, उपेक्षा या घृणातकमें परिवर्तित हो जायगा। पर इस प्रेममें एक अभ्यासका तत्त्व भी होता है, ऐसा तत्त्व जो प्रिय व्यक्तिकी उपस्थितिको एक प्रकारसे अनिवार्य बना देता है, क्योकि वह सदासे साथ रहा है — और यह भाव कभी-कभी इतना दृढ़ होता है कि आपसमे स्वभावके पूर्ण वैषम्य, घोर विरोध तथा घृणातकके होनेपर भी बना रहता है और विरोधकी ये खाइयां भी दोनों व्यक्तियोंको पृथक् नहीं होने देती। कुछ लोगोंमें यह भावना कुछ हलकी होती है और कुछ समय बाद व्यक्ति अलग रहनेका अभ्यासी हो जाता है अथवा किसी दूसरेको स्वीकार कर लेता है। इसके अतिरिक्त, बहुधा एक प्रकारका स्वाभाविक आकर्षण या अनुरक्ति — मानसिक, प्राणिक या भौतिक — भी होती है जो प्रेमको अधिकतर दृढ़ता प्रदान करती है। अंतमें, उच्चतम अथवा गहनतम प्रेममें चैत्य तत्त्व होता है जो अंतरतम हृदय एवं अंतरात्मासे उद्भूत होता है। यह एक प्रकारका आंतरिक मिलन अथवा आत्मार्पण होता है अथवा कम-से-कम इसे खोजता है, यह एक संबंध या उत्प्रेरणा होता है जो अन्य अवस्थाओं अथवा तत्त्वोंसे स्वतंत्र होता है, जो स्वयं-सत् होता है और किसी मानसिक, प्राणिक अथवा शारीरिक सुख, संतुष्टि, स्वार्थ या अभ्यासके लिये नहीं होता। किंतु मानवीय प्रेममें विद्यमान यह चैत्य तत्त्व, यदि कहीं होता भी है तो, सामान्यतया दूसरे तत्त्वोंके साथ इतना मिश्रित, उनसे इतना दबा हुआ और उनमें इतना छिपा हुआ होता है कि अपनेको फलीभूत करने अथवा अपनी स्वाभाविक पवित्रता और पूर्णता प्राप्त करनेका अवसर उसे नहीं मिलता। अतएव जिसे हम प्रेम कहते हैं वह कभी एक चीज होता है तो कभी दूसरी और बहुधा एक अव्यवस्थित मिश्रण होता है और इसीलिये तुम्हारे इस प्रश्नका कि अमुक-अमुक अवस्थामें प्रेमका क्या अर्थ होगा, उत्तर देना लगभग असंभव हो जाता है। यह परिस्थितियों एवं व्यक्तियोंपर निर्भर करता है।

जब प्रेम भगवान्की ओर प्रवृत्त होता है तब भी इसमें यह सामान्य मानवी तत्त्व वर्तमान रहता है। व्यक्ति बदलेमें कुछ चाहता है और यदि वह वस्तु मिलती प्रतीत नहीं होती तो प्रेम क्षीण होने लगता है; स्वार्थ भी होता है, मानवकी अभिलाषाओंको पूरा करनेवाले भगवान्की चाह भी होती है और यदि मांगें पूरी नही होतीं तो भगवान्के प्रति मान-अभिमान पैदा होता है, विश्वास जाता रहता है, उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है आदि-आदि। परंतु भगवान्के प्रति सच्चा प्रेम अपने स्वभावमें ऐसा नही होता,

बल्कि चैत्य एव आध्यात्मिक होता है। चैत्य तत्त्व व्यक्तिकी अंतरतम सत्ताकी, आत्मार्पण, प्रेम, भक्ति, अंतर्मिलनके लिये, सबसे बड़ी आवश्यकता है जो भगवान्‌द्वारा ही पूर्णत संतुष्ट हो सकती है। आध्यात्मिक तत्त्व सत्ताकी अपने उच्चतम और पूर्ण आत्म-भाव तथा भगवान्‌से (जो कि सत्ता और चेतना और आनन्दके स्रोत हैं) संपर्क लाभ करने, उसमें लीन, उससे एकीभूत होनेकी मांग है। ये दोनों एक ही वस्तुके दो पक्ष है। मन, प्राण एवं शरीर इस प्रेमके पोषक एवं संग्राहक बन सकते है, पर वे पूर्णत: ऐसे तभी बनेगे जब वे परिवर्त्तित होकर चैत्य एवं आध्यात्मिक तत्त्वोंके साथ एकरस हो जायगे और अहंके निम्नतर आग्रहोंको अब अपने अंदर नही ले आयेंगे।

*

भला तुम किसी असाधारण वस्तुकी चाह क्यों करते हो? अंतरात्माका प्रेम सत्य, सरल और पूर्ण वस्तु है -- बाकी चीजें केवल तभी अच्छी होती हैं जब वे अंतरात्माके प्रेमको प्रकट करनेका माध्यम होती है।

*

बाह्य सत्ताको भी अहंसे रहित होकर चैत्य पुरुषकी पद्धतिसे प्रेम करना सीखना होगा। यदि यह अहंपूर्ण प्राणिक ढंगसे प्रेम करता है तो यह केवल अपने लिये और साधनाके लिये और श्रीमाताजीके लिये कठिनाइयां ही पैदा करता है।

*

श्रीमाताजीके साथ बालक जैसा संबंध वह है जो संपूर्ण, सरल और एकनिष्ठ विश्वास प्रेम और निर्भरताका संबंध है।

*

जब तुम भगवान्‌के पास आते हो, आंतरिक रूपसे भगवान्‌की ओर झुक जाओ और अन्य चीजोंसे अपनेको प्रभावित न होने दो।

*

जिस चीजका वह वर्णन करता है वह है निज भावावेगों या उमंगोंकी तृप्तिके लिये अहंकी प्राणमय माग; यह माया है। यह सच्चा प्रेम नही है, क्योंकि सच्चा प्रेम मिलन और आत्मदानकी स्पृहा करता है और ऐसा ही प्रेम व्यक्तिको भगवान्‌के प्रति

निवेदित करना चाहिये। यह प्राणिक (तथाकथित) प्रेम केवल दुःख और निराशा ही लाता है; यह सुख नहीं लाता, यह कभी संतुष्ट नही होता। यदि इसे, जो चीज यह मांगता है वह, दे भी दी जाय तो भी यह उससे कदापि संतुष्ट नही होता।

प्राणमय मांगकी इस मायासे छुटकारा पाना पूर्णतः संभव है, यदि कोई पाना चाहता हो; किंतु छुटकारा पानेकी इच्छा अवश्यमेव सच्ची होनी चाहिये। अगर उसकी इच्छा सच्ची हो तो वह निःसंदेह सहायता और संरक्षण प्राप्त करेगा। उसे प्राणिक केंद्रके स्थानपर चैत्य केंद्रको अपना आधार बनाना होगा।

*

प्राणमय प्रेमका यह सामान्य स्वभाव है कि यह स्थायी नही होता अथवा, यदि यह स्थायी होनेका प्रयत्न करता है तो यह संतोष नही देता, क्योंकि यह एक वासना है जिसे प्रकृतिने एक क्षणिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिये मनुष्यमें प्रक्षिप्त किया है। अतएव एक अस्थायी उद्देश्यके लिये तो यह काफी अच्छा है और इसका सामान्य स्वभाव यह है कि जब यह प्रकृतिके प्रयोजनको यथेष्ट मात्रामें पूरा कर चुकता है तो यह क्षीण होने लगता है। मनुष्यजातिमें, चूँकि मनुष्य अधिक जटिल प्राणी है, प्रकृति अपनी इस प्रवृत्तिको बल देनेके लिये कल्पना और आदर्शवादकी सहायता लेती है, इसे एक प्रकारके उमंगका, सौन्दर्य और सजीवता और गौरवका भाव प्रदान करती है, पर कुछ समय बाद वह सब कुछ मंद पड़ जाता है। यह प्रेम टिक नही सकता, क्योंकि इसकी ज्योति और शक्ति संपूर्ण रूपसे उधार ली हुई होती हैं, इस अर्थमें उधार ली हुई होती हैं कि वे परेकी किसी वस्तुकी प्रतिबिंब होती हैं, उस प्रतिबिंबक प्राणमय वस्तुकी अपनी निजी शक्तियां नही होतीं जिसका उपयोग कल्पना अपने प्रयोजनके लिये करती है। सच पूछा जाय तो मन और प्राणमें कुछ भी स्थायी नही होता, वहां सब कुछ एक प्रवाह-मात्र होता है। एकमात्र वस्तु जो स्थायी है वह है अंतरात्मा, आत्मा। अतएव प्रेम केवल तभी स्थायी हो सकता या संतोष दे सकता है यदि वह अंतरात्मा और आत्मापर आधारित हो, यदि उसका मूल वहां हो। पर उसका अर्थ है अब प्राणमें न रह अपने अंतरात्मा और आत्मामें रहना।

प्राणको अपने आग्रहोंको छोड़नेमें कठिनाई इसलिये होती है कि वह बुद्धि या ज्ञानके द्वारा नहीं, बल्कि सहजप्रेरणा, आवेग और सुखेच्छासे शासित होता है। यह पीछे इस कारण हटता है कि वह निराश हो जाता है, वह अनुभव करता है कि निराशा सर्वदा पुनरावर्त्तित होती रहेगी, परंतु वह यह नही समझता कि सारी चीज ही अपने-आपमें एक माया है अथवा, यदि समझता है तो, वह शिकायत करता है कि उसे ऐसा ही होना चाहिये। जहां वैराग्य सात्त्विक होता है, निराशासे उत्पन्न नहीं होता बल्कि महत्तर और सत्यतर वस्तुओंको प्राप्त करनेकी भावनासे उत्पन्न होता है, वहां यह कठि-नाई नहीं होती। परंतु प्राण अनुभवसे सीख सकता है, इतना सीख सकता है कि वह मायामरीचिकाके सौंदर्यके लिये पश्चात्ताप करनेसे मुँह मोड़ ले। इसका वैराग्य

भी सात्त्विक और निश्चयात्मक हो सकता है।

*

प्राणगत प्रेमका आकर्षण चाहे जितना भी हो, एक बार जब वह छूट जाता है और मनुष्य एक उच्चतर स्तरपर पहुँच जाता है तब उस प्रेमको एक बहुत बड़ी चीजके रूपमें जैसा कि मनुष्य उसे पहले समझता था, नहीं देखना चाहिये। उसे इस प्रकार अतिरंजित मूल्य देनेका अर्थ है उस उच्चतर वस्तुके प्रति होनेवाले आकर्षणसे अपनी चेतनाको पीछे हटा रखना जिसके साथ उस प्रेमका एक क्षण भी मुकाबला नहीं किया जा सकता। अगर कोई मनुष्य एक निम्न कोटिकी भूतकालकी बातके प्रति इस प्रकारकी अतिरंजित भावना बनाये रखे तो फिर इससे निश्चय ही एक उच्चतर भविष्यके लिये समस्त व्यक्तिका विकास साधित करना अधिक कठिन हो जायगा। निःसंदेह श्रीमाताजीकी यह इच्छा नहीं है कि कोई भी मनुष्य प्राचीन प्राणगत प्रेमके प्रति अनुरागपूर्ण आदरकी भावनाके साथ पीछेकी ओर नजर ले जाय। वस्तुओंके किसी भी सच्चे मूल्यांकनके अंदर वास्तवमें वह "इतनी थोड़ी" सी चीज ही थी। यह बिलकुल ही मुकाबला करनेका प्रश्न नहीं है और न एकके प्राणगत अनुरागको निर्मूल कर दूसरेके प्राणगत अनुरागको अत्यधिक मूल्य देनेका प्रश्न है। यह समस्त बात ही अपने मूल्यमें अवश्य क्षीण होती जानी चाहिये और भूतकालकी धुँधली रचनाओंके अंदर वापस चली जानी चाहिये जिनका अब कोई भी महत्त्व नहीं है।

*

तुम्हारी कठिनाई यह है कि तुम्हारे प्राणने अभीतक प्रेमके स्वयंभू आनन्दका रहस्य, प्रेमके अपने विशुद्ध सत्यके आनन्दका, निरपेक्ष रूपमें उसके आंतरिक सौंदर्यका, तथा अपनी निरतन आनन्दानुभूतिका रहस्य नहीं पाया है; वह अभीतक इसके अस्तित्वमें विश्वास ही नहीं कर सका है। लेकिन वह उसकी ओर बढ़ रहा है और यह अंतःसंक्रमणकी स्थिति शायद इस गतिकी एक अवस्था थी—भगवान्‌के साथ एकात्म होनेकी जो पवित्रतम भावानुभूति है उसकी ओर जानेके पथपर एक सुनिश्चित प्राणिक भावानुभूतिको गौण करनेकी अवस्था थी।

*

मानवीय प्रेमके विपरीत, भागवत प्रेम गंभीर, विशाल और प्रशांत होता है। इसे ग्रहण करनेमें समर्थ होने तथा इसका प्रत्युत्तर देनेके लिये मनुष्यको अचंचल और विशाल होना चाहिये। उसे समर्पित हो जानेको ही अपना संपूर्ण लक्ष्य बना लेना चाहिये जिससे वह एक पात्र और यंत्र बन सके — स्वयं उसमें जिस वस्तुको भरनेकी

आवश्यकता है उस भागवत प्रज्ञा और प्रेमपर छोड़ देना चाहिये। उसे अपने मनमें इस वातका भी निश्चय कर लेना चाहिये कि वह यह आग्रह नही करेगा कि अमुक समय-के भीतर उसे अवश्य प्रगति करनी चाहिये, विकसित होना चाहिये, सिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिये। साधनामें जो भी समय लगे, उसे प्रतीक्षा करने, प्रयास जारी रखनेके लिये तैयार रहना चाहिये और अपने समूचे जीवनको केवल एकमेव वस्तु, स्वय भग-वान्को पानेकी अभीप्सामें और उनकी ओर उद्घाटनमें वदल देना चाहिये। अपने-आपको दे देना ही साधनाका रहस्य है, मांग करना और उसे प्राप्त करना नही। जितना ही अधिक मनुष्य अपनेको दे देता है उतना ही अधिक ग्रहण करनेकी सामर्थ्य वढती हैं। परंतु उसके लिये समस्त अधीरता और विद्रोहको दूर भगाना होगा; न पाने, सहायता न आने, प्यार न पाने, यहांसे चले जाने, जीवनका या आध्यात्मिक प्रयासका परित्याग कर देनेके सभी सुझावोंका त्याग कर देना चाहिये।

*

यदि प्रेम अखंड और पूर्ण हो तथा उसके साथ कोई भी प्राणगत मांग कभी न जुडी हुई हो तो विद्रोहके सुझाव नहीं आ सकते।

*

कोई व्यक्ति अपने स्वभावमें दिव्य वन जानेपर ही दिव्यभावके साथ प्रेम कर सकता है; दूसरा कोई पथ नहीं है।

*

प्रेम अपने-आपमें पर्याप्त है — इसे अंधेकी लाठीकी आवश्यकता नहीं होती। इस विषयमें वह श्रद्धा तथा अन्य प्रत्येक दिव्य शक्तिके जैसा ही है।

*

मानव-प्रेम अधिकांशमें प्राणिक और भौतिक होता है जिसे कुछ मानसिक समर्थन प्राप्त होता है — यह एक स्वार्थहीन, उच्च और शुद्ध रूप और अभिव्यक्तिको केवल तभी प्राप्त हो सकता है जव कि इसे चैत्यका स्पर्श प्राप्त हो। यह सच है, जैसा कि तुम कहते हो, कि यह अधिकांश अवसरोंपर अज्ञान, आसक्ति, आवेग और कामना-का एक मिश्रण होता है। पर यह चाहे जो कुछ हो, जो मनुष्य भगवान्के पास पहुँचना चाहता है उसे कभी मानव प्रेमों और आसक्तियोंका वोझ अपने ऊपर नही लादना चाहिये, क्योंकि ये उसके लिये कितनी ही वेड़ियां तैयार कर देते हैं और उसके पगोंको

आगे बढनेसे रोकते है तथा उसे प्रेमके एकमात्र चरम विषयके ऊपर अपने हृदयावेगों-को एकाग्र करनेके बदले अन्य दिशामें मोड़ देते है।

अवश्य ही चैत्य प्रेम नामकी एक चीज है जो शुद्ध, मांगसे रहित, आत्मदानमें सच्ची है, परतु जब मनुष्य एक-दूसरेके प्रति आसक्त होते है तब वह साधारणतया उतनी शुद्ध नही रह पाती। जब कोई साधना करता हो तब उसे इस चैत्य प्रेमके मिथ्या-भिमानसे खूब सावधान रहना चाहिये — क्योंकि यह अधिकांशमें किसी प्राणगत आकर्षण या आसक्तिके अधीन होनेके लिये एक आवरण और समर्थन होता है।

विश्व-प्रेम आध्यात्मिक होता है और वह स्थापित होता है सर्वत्र विद्यमान एक-मेवाद्वितीय और श्रीभगवान्के बोधपर तथा व्यक्तिगत चेतनाके आसक्ति तथा अज्ञानसे मुक्त होकर एक विशाल विश्वगत चेतनामे परिवर्त्तित हो जाने पर।

भागवत प्रेम दो प्रकारका होता है — समस्त सृष्टि तथा जीवोंके लिये, जो स्वय उसीके अग है, दिव्य प्रेम, तथा प्रेमी साधकोंका प्रेम और प्रेमास्पद भगवान्के लिये प्रेम, इसमें वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों प्रकारके तत्त्व होते हैं, परंतु इसमें जो वैयक्तिक तत्त्व होता है वह सब प्रकारके निम्नतर तत्त्वोंसे अथवा प्राणगत और भौतिक सहजवृत्तियोंके बंधनसे मुक्त होता है।

*

चैत्य प्रेम विशुद्ध तथा अहंपूर्ण मांगोंसे शून्य आत्मदानके भावसे पूर्ण होता है, पर यह मानवीय है और भूल कर सकता एवं कष्ट भोग सकता है। भागवत प्रेम उससे कही अधिक विशाल और गभीर वस्तु है तथा ज्योति और आनन्दसे भरपूर रहता है।

*

भगवान्का प्रेम वह है जो ऊपरसे आता है और भागवत एकत्व तथा उसके आनंद-से मानव-सत्ताके ऊपर बरसता है — चैत्य प्रेम भागवत प्रेमका एक रूप है जिसे वह मानव-चेतनाकी आवश्यकता और संभावनाओंके अनुसार मनुष्य-सत्ताके अंदर ग्रहण करता है।

*

अंतरात्माका प्रेम और हर्ष भीतरसे चैत्य पुरुषसे आते हैं। जो ऊपरसे आता है वह उच्चतर चेतनाका आनन्द होता है

*

यदि प्रेम अपने उद्देश्यमें चैत्य हो तो वह सर्वदा एकत्वका बोध ले आता है अथवा कम-से-कम सत्ताके एक आंतरिक घनिष्ठ सामीप्यका बोध प्रदान करता है। भागवत प्रेम एकत्वपर आधारित होता है और चैत्य प्रेम भागवत प्रेमसे निःसृत होता है।

*

अगर चैत्य पुरुष भगवान्‌के साथ युक्त हो जाय तो वह पृथक् नहीं हो सकता। पृथक्करणका अर्थ है एकत्वका अभाव। चैत्य अनुभूति है अनेकमेंसे एककी एकत्वके अंदर अनुभूति (अंश और समग्र); यह समुद्रमें पानीकी एक बूंदकी तरह लय हो जानेकी अनुभूति नहीं है — क्योंकि तब तो किसी प्रेम या भक्तिका होना संभव नहीं होगा जबतक कि वह प्रेम स्वयं अपने लिये, भक्ति स्वयं अपने लिये ही न हो।

*

मनुष्य अपनी प्रकृतिके व्यष्टिभावापन्न होनेके कारण अनिवार्यतः पृथक् होते हैं और बस संपर्क स्थापित कर सकते है। चैत्य पुरुषमें मनुष्य चैत्य सहानुभूतिके द्वारा एकत्वका बोध प्राप्त करता है, पर एकीभूत हो जानेका अनुभव नही प्राप्त करता, क्योंकि चैत्य व्यष्टिभावापन्न अंतरात्मा है और इसे सबसे पहले भगवान्‌के साथ संयुक्त होना होगा और उसके बाद ही वह भगवान्‌के द्वारा अन्योंके साथ संयुक्त हो सकता है। आध्यात्मिक अनुभूतिमें दो बिलकुल विपरीत विधाएं हैं — एक तो वह है जिसमें मनुष्य भगवान्‌में लीन हो जानेके लिये जगत्‌की समस्त बाह्य वस्तुओं तथा समस्त स्थूल सत्ताओंसे अपनेको अलग कर लेता है और दूसरी वह है जिसमें मनुष्य सर्वमें आत्मा या भगवान्‌को अनुभव करता है और उस अनुभूतिके द्वारा विश्वके साथ एकत्वकी उपलब्धि करता है।

*

जो प्रेम आध्यात्मिक स्तरोंसे संबंधित होता है वह भिन्न प्रकारका होता है — चैत्य पुरुषमें अपना निजी अधिक व्यक्तिगत प्रेम, भक्ति, समर्पणभाव होता है। उच्चतर या आध्यात्मिक मनका प्रेम अधिक वैश्व और निर्व्यक्तिक होता है। उच्चतम दिव्य प्रेमको अभिव्यक्त करनेके लिये इन दोनोंको एक साथ युक्त हो जाना चाहिये।

*

वैश्व प्रेम सर्वदा वैश्व ही होता है — चैत्य प्रेम व्यक्तिभावापन्न हो सकता है।

*

विश्व-प्रेम सबके साथ एकात्म होनेकी अनुभूतिपर निर्भर करता है। इस अनुभूतिके बिना भी सबके लिये चैत्य प्रेम या सहानुभूति हो सकती है।

*

प्रबुद्ध मानस और अधिमानस साधारणतया मन की अपेक्षा कही अधिक भागवत प्रेमके सत्यके प्रति उद्घाटित होता है तथा प्रेमको विश्वव्यापी बनानेमें भी अधिक सक्षम होता है — उन लोकोंमें प्रेम अपनी तीव्रावस्थामें मानसिक भागोंकी अपेक्षा अधिक स्थिर और कम अहन्‌-बद्ध होता है। परंतु मनमें यदि चैत्य और आध्यात्मिक प्रेम वर्द्धित हो तो मन भी उनकी तरहका प्रेम प्राप्त कर सकता है।

*

मै 'अ' के प्रश्नको बिलकुल ही नही समझता। क्या वह यह पूछना चाहता है कि मनुष्य स्वयं दूसरोंके प्रति वैश्व प्रेम अनुभव करनेसे पहले सभी जीवोंके प्रति भागवत प्रेमको जान सकता है या नही ? यदि उसका आशय यही है तो निश्चय ही मनुष्य स्वय वैश्व प्रेम प्राप्त करनेसे पहले भागवत प्रेमके विषयमें सज्ञान हो सकता है — वह अपने अदर भगवान्‌के साथ सपर्क प्राप्त करके भागवत प्रेमके विषयमें सचेतन हो सकता है। स्वभावत. ही उसकी सज्ञानता प्राप्त होनेपर मनुष्यके अंदर सबके लिये वैश्व प्रेमका विकास हो जाना चाहिये। परंतु उसका आशय यदि वह प्रेम है जो दिव्य है, निम्नतर वृत्तियोंसे कलकित नही है, तो यह सही है कि जबतक मनुष्यको शांति, पवित्रता, अहंसे मुक्ति, विशालता और वैश्व चेतनाकी ज्योति जो कि वैश्व प्रेमका आधार है, नही प्राप्त हो जाता तबतक उस प्रेमको पाना कठिन है जो सभी प्रकारके दोषों, सीमाओ तथा सामान्य मानवीय प्रेमके दागोंसे मुक्त है। जितना ही अधिक मनुष्य विश्वभावापन्न होता जाता है उतना ही वह इन चीजोंसे मुक्ति पाता जाता है।

*

अपने मूलमें सर्वके साथ एकत्वबोध एक ऐसी वस्तु है जो स्वयंसत् और आत्मतुष्ट है और जिसे अभिव्यक्त होनेकी कोई आवश्यकता नही होती। जब यह प्रेमके रूपमें प्रकट भी होता है तो यह एक ऐसी वस्तु होता है जो विशाल और विश्वव्यापी, तीव्र होनेपर भी अक्षुब्ध और सुदृढ होता है। यह आधारभूत वैश्व एकत्वके अंदर विद्यमान रहता है। एक उपरितलीय विश्व-चेतना भी है जो वैश्व शक्तियोंकी क्रीडाकी चेतना है — यहां कोई भी चीज उठ सकती है, कामवासना भी। सच पूछा जाय तो इसी भागको पूर्णत. चैत्यभावापन्न बनानेकी आवश्यकता है अन्यथा मनुष्य न तो इसे अधिकृत कर सकता, न बनाये रख सकता और न उचित ढगसे इसके साथ

व्यवहार कर सकता है।

*

मनमें एकमेवकी उपलब्धि होनेपर मनमें एक प्रकारकी मुक्ति आती है या आनी चाहिये, परंतु यह संभव है कि प्राण और शरीर अपने आवेगके अधीन रहकर अपनी सामान्य वृत्तियोंको बनाये रखें — क्योंकि वे अपने कार्यके लिये केवल अंशत ही मनपर निर्भर करते हैं। वे यहांतक कि उसे बहा भी ले जा सकते हैं, 'हरन्ति प्रसभं मनः', अथवा वे मनके तर्क-वितर्क तथा असम्मतिके बावजूद भी कार्य कर सकते हैं। रोमन कवि इसे इस प्रकार कहता है: "मैं उत्तमको देखता हूँ और उसका अनुमोदन करता हूँ, पर निकृष्टका अनुसरण करता हूँ"— गीताकी भाषामें कहा गया है, "अनिच्छन्नपि बलादिव नियोजितः।" अतएव यह आवश्यक है कि इस उपलब्धिको अपनी शांति और पवित्रताकी शक्तिके साथ ठोस रूपमें प्राण और शरीरतकमे उतर आना चाहिये जिससे कि प्राणिक क्रियाएं जब उठनेकी चेष्टा करें तो इसके द्वारा उनका मुकाबला किया जा सके और इसके स्वाभाविक दबावके कारण वे बने रहनेमे असमर्थ हो जायं।

*

जबतक समूची चेतना संदिग्ध पदार्थसे शुद्ध न हो जाय और एकत्वकी अनुभूति चरम पवित्रताके साथ सुस्थापित न हो जाय तबतक सर्व-प्रेमको अभिव्यक्त होने देना उचित नही है। सच पूछा जाय तो इसे अपने अंदर धारण किये रहनेसे यह स्वभावका एक सच्चा अंग बन जाता है और अभी भी आनेवाली अन्य अनुभूतियोंके साथ युक्त हो जानेपर सुस्थापित और शुद्ध हो जाता है। अभी तो तुम्हें उसका महज एक प्राथमिक स्पर्श प्राप्त हुआ है और प्रकट करके उसका अपव्यय करना बहुत नासमझी होगी। कामकेंद्र और प्राण आसानीसे सक्रिय हो सकते है — मैं बहुत अच्छे योगियोंके उदाहरण जानता हूँ......जिनमें विश्वप्रेम बदलकर विश्वकाम बन गया। ऐसी बात यूरोप और पूर्व दोनों जगहोंमें बहुतोंके साथ घटित हुई है। परंतु इसके अतिरिक्त भी इसे बाहर फेंक देनेकी अपेक्षा इसे ठोस और पुष्ट बनाना सर्वदा उत्तम है। जब साधना आगे बढ़ जाती है और प्रेमको आलोकित करने और पथ दिखानेके लिये ऊपरसे ज्ञान आता है तो फिर बात दूसरी हो जाती है। मैं जो समस्त अरूपांतरित प्राणिक क्रियाओंके त्यागपर इतना बल देता हूँ यह अनुभवपर आधारित है — मेरे तथा दूसरोंके अनुभवपर तथा चैतन्यके वैष्णव आन्दोलन जैसे प्राचीन योगोंके अनुभवपर आधारित है जो (मैं प्राचीन बौद्ध सहज धर्मकी कोई चर्चा नहीं करता) अत्यधिक भ्रष्टाचारके कारण ही समाप्त हो गया। विश्वप्रेमके जैसा कोई विशाल आन्दोलन केवल तभी चलाया जा सकता है जब कि प्रकृतिका क्षेत्र इसके लिये पक्के रूपमें तैयार कर लिया गया हो। दूसरोंके साथ तुम्हारे मिलने-जुलनेमें मुझे कोई आपत्ति नही है, पर केवल

की एक शर्त्तके रूपमें अपने अंदर धारण कर रखना होता है जिसका परिणाम भागवत सकल्पके अनुसार होता है अथवा जो उस संकल्पके द्वारा आवश्यकता होनेपर व्यवहृत होता है। पर अपने व्यक्तिगत संतोष अथवा दूसरोंके संतोषके लिये उसे चारों ओर व्यक्त करते फिरना केवल उसे नष्ट करना और उसे खो देना है।

*

पहले जब कभी हृदयका उद्घाटन हुआ तो तुमने उसे प्राणिक भोगोंके साथ जोडना आरंभ कर दिया और भगवान्की ओर प्रेमको मोड़ने और उसकी मौलिक पवित्रताको बनाये रखनेकी जगह उसे तुमने औरोंकी ओर मोड़ा — वैसे ही जब उच्चतर चेतना नीचे उतरी तो उसे भी तुमने मानसिक क्रियाओंमें बिखेर दिया। इस बार वे दोनो चीजें अधिक विशुद्ध रूपमें आ रही थीं, पर अभी भी यह खतरा है कि मानसिक और प्राणिक शक्तियां कहीं उन्हें पकड़ न लें और तब संभव है कि उन दोनोंका आना रुक जाय या समाप्त हो जाय। अतएव इस बार तुम्हें सावधान रहना चाहिये और किसी प्रकारकी मानसिक विच्युतिको न आने देना चाहिये।

*

एक दार्शनिकके रूपमें मैंने मैक टैगर्ट (Mc. Taggart) का नाम सुना है, पर उनके विचारों तथा उनके लेखोंसे मैं संपूर्णतः अपरिचित हूँ; अतएव किसी निश्चयताके साथ तुम्हें उत्तर देना मेरे लिये थोड़ा कठिन है। यदि उन विचारों और वाक्योंको विचारकके देखनेकी संपूर्ण पद्धतिकी पृष्ठभूमिमें रखकर न देखा-समझा जाय, पृथक्-पृथक् देखा जाय तो आसानीसे गलतफहमी हो सकती है। फिर, जब कोई आध्यात्मिक जिज्ञासु या योगी (कभी-कभी) दर्शनकी भाषामें कुछ कहता है और कोई बौद्धिक विचारक (कभी-कभी या अंशतः) रहस्यवादकी भाषामें बोलता है तो दोनोंके दृष्टिकोण और पद्धतिमें सर्वदा बहुत अंतर होता है। एक तो आध्यात्मिक या गुह्य अनुभवसे अथवा कम-से-कम अंतर्ज्ञानात्मक अनुभवसे आरंभ करता है और उसे तथा अन्य आध्यात्मिक या अंतर्ज्ञानात्मक सत्यके साथके उसके संबंधको मनकी अपर्याप्त तथा अत्यंत अमूर्त्त भाषामें प्रकट करनेका प्रयत्न करता है। वह विचार और अभिव्यंजनाके पीछे किसी आध्यात्मिक या अंतर्ज्ञानात्मक अनुभवको खोजता है जिसकी ओर वह संकेत कर सके और, यदि वह किसी ऐसे अनुभवको नहीं पाता तो वह, विचार चाहे बौद्धिक दृष्टिसे जितना भी सुन्दर हो, अथवा अभिव्यंजना चाहे बौद्धिक दृष्टिसे जितनी भी अर्थपूर्ण हो, उन दोनोंको ही आध्यात्मिक तत्त्वसे शून्य होनेके कारण सारहीन अनुभव करनेको इच्छुक होता है। बौद्धिक विचारक भावनाओं तथा मानसभावापन्न अनुभवोंसे और अन्य मानसिक या बाह्य व्यापारोंसे आरंभ करता है तथा उनके अंदर या पीछे विद्यमान मूल सत्यतक पहुँचनेका प्रयास करता है।

साधारणतया वह एक मानसिक विविक्त विचारणापर ही आकर अथवा किसी ऐसी चीजके एक गौण मानसिक अनुभवपर ही आकर रुक जाता है जो अपने स्वरूपमें मानसिकसे भिन्न होती है। परंतु कही उसमें यदि सच्चा रहस्यवादी हो तो वह, कभी-कभी, कम-से-कम परेकी चमकों और झांकियोंतक पहुँच जायगा। क्या इस पद्धतिकी विवशता वह चीज नहीं है (मेरा मतलब हैं बौद्धिक दर्शनकी पद्धतिकी अक्षमता, शब्द और विचारके अंदर उसका स्थिर हो जाना, जब कि पूर्ण रहस्यवादीके लिये शब्द और विचार केवल उपयोगी रूपक अथवा अर्थद्योतक क्षणिक दीप्तियां हैं) जिसने मैक टैगर्टको अपने अंदरके रहस्यवादीको प्रकट करनेसे रोका है, जैसे कि वह बहुतोंको रोकती है ? यदि आलोचक सही है तो, यही कारण है कि मैक टैगर्ट इतना गूढ़ और नीरस है, जब कि उसके विचारोंमें जो कुछ सुंदर और प्रभावशाली है वह सभवत. कोई ऐसी ज्योति होगी जो अभिव्यंजनाके अयोग्य साधनोंके बावजूद,—जिसके लिये दार्शनिक विचारक हमारी निंदा करते हैं,—भीतरसे चमकती है। परतु, इस थोडी लंबी चेतावनीके अधीन, मैं उन उद्धृत वाक्यों या संक्षिप्त विचारोंपर विचार प्रकट करनेका प्रयास करूँगा जिन्हें तुमने अपने पत्रद्वारा मेरे सामने रखा है।

"चरम सद्वस्तुमें आत्माओंका मुख्य कार्य प्रेम": मुझे यह बात थोडी अतिरिक्त प्रतीत होती है। यदि "मुख्य कार्य" के बदले "एक मौलिक शक्ति" कहा गया होता तो चल सकता था। स्वयं मैं यह कहूँगा कि आनन्द और एकत्व चरम सद्वस्तुकी मौलिक स्थितियां हैं, और आनन्द और एकत्वकी अत्यंत विशिष्ट सक्रिय शक्तिके रूपमें प्रेमको मुख्य रूपसे उनकी क्रियाओंको सहारा देना तथा रंग प्रदान करना चाहिये; परंतु क्रियाएं अपने-आपमें एक ही मुख्य प्रकारकी नहीं बल्कि स्वभावमें बहुविध हो सकती हैं।

"उदारता और सहानुभूति" : मानसिक अनुभवमें उदारता और सहानुभूतिको प्रेमसे पृथक् करना होगा; परंतु मुझे ऐसा लगता है कि विभाजक मनके परे, जहां एकत्वका सच्चा बोध आरंभ होता है, ये अपनी क्रियाकी एक उच्चतर तीव्रतापर पहुँचकर प्रेमके विशिष्ट गुण बन जाती हैं। उदारता प्रेमद्वारा आरोपित एक तीव्र दबाव बन जाती है जिसमें कि सर्वदा प्रेमास्पदकी भलाई करनेका प्रयास किया जाय; सहानुभूति प्रेमवश उत्पन्न यह अनुभूति बन जाती है कि हम प्रेमास्पदकी सभी गतिविधियों तथा उससे संबंधित सभी चीजोंको अपनी सत्ताके अंगके रूपमें ग्रहण करते हैं, अपने अन्दर धारण करते हैं और उनमें हिस्सा बंटाते हैं।

"प्रेम सत्य है और उसका कारण चाहे महान् हो या तुच्छ वह अपनेको पूर्णतः सत्य सिद्ध करता है": यह बात मानव-व्यवहारमें बहुधा सत्य नहीं उतरती; क्योंकि वहां प्रेमकी भवितव्यता और उसका औचित्य साधारणतया बहुत कुछ (यद्यपि सर्वदा नहीं) उसके कारण या उद्देश्यके स्वरूपपर निर्भर करता है। क्योंकि प्रेमका उद्देश्य यदि इस अर्थमें तुच्छ हो कि वह एकत्वके बोधकी सक्रिय उपलब्धिके लिये, जो कि मैक टैगर्टके कथनानुसार प्रेमका सारतत्त्व है, एक अनुपयुक्त यंत्र हो तो प्रेमके अपनी चरितार्थतामें असफल होनेकी संभावना है। हां, निस्संदेह, यदि यह प्रेम केवल होने-

से ही सतुष्ट हो, अपने निजी मौलिक ढंगसे अपने-आपको प्रेमास्पदपर खपा देनेसे ही सतुष्ट हो, अपने-आपको खपा देनेके किसी वदलेकी, किसी पारस्परिक एकीकरणकी आशा न करे तो वात दूसरी है। फिर भी, तत्त्वतः प्रेमका जो वर्णन है वह सत्य हो सकता है: परंतु उस स्थितिमें वह वर्णन इस तथ्यकी ओर संकेत करेगा कि प्रेम अपने मूलमें एक स्वय-सत् शक्ति है, एक निरपेक्ष, एक परात्पर (जैसा कि मैंने कहा है) वस्तु है, और वह अपने विपयोंपर निर्भर नही करता -- वह एकमात्र अपने-आपपर अथवा एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर करता है; कारण वह भगवान्‌की एक स्वयं-सत् शक्ति है। यदि वह स्वय-सत् न होता तो वह अपने विपयोंके स्वभाव या प्रतिक्रियासे कदापि स्वतंत्र न होता। यह अशत. वह चीज है जिसे मैं परात्पर प्रेम कहता हूँ --- यद्यपि यह उसकी परात्परताका केवल एक रूप है। वह स्वयंभू परात्पर प्रेम सवके ऊपर फैल जाता है, सर्वत्र धारण करने, आलिंगन करने, युक्त होने, सहायता करने, प्रेम और आनन्द और एकत्वकी ओर उठा ले जानेके लिये मुड़ जाता है और इस तरह विश्वव्यापी दिव्य प्रेम वन जाता है; अपने-आपको पानेके लिये, सक्रिय एकत्वको प्राप्त करनेके लिये अथवा यहां जीवका भगवान्‌के साथ मिलन सिद्ध करनेके लिये जव यह किसी एक या दूसरेपर तीव्र रूपसे एकाग्र हो जाता है तो यह व्यक्तिगत दिव्य प्रेम वन जाता है। परंतु दुर्भाग्यवश मानव मन, मानव प्राण और मानव शरीरमें आकर यह कई प्रकारके अशुद्ध रूप ग्रहण कर लेता है; यहां प्रेमका दिव्य तत्त्व सहज ही नकली रूपोंके साथ मिलजुल जाता है, धीमा हो जाता, प्रच्छन्न हो जाता अथवा विभाजन और अज्ञानसे प्रसूत टेढी-मेढी क्रियाओंमें खो जाता है।

"प्रेम और आत्मसम्मान": यह सुननेमें वड़ा उच्च प्रतीत होता है, पर साथ ही रुक्ष भी प्रतीत होता है; प्रेमीके अंदरका यह "भाव" वहुत "भावपूर्ण" नहीं प्रतीत होता, यह मानो किन्हीं भावमय तरंगोंके प्रवाहसे बहुत ऊपर गगनचुंवी न्यायवाक्योंका व्यवहार करना है। इस अर्थमें या किसी गभीरतर अर्थमें प्रेमसे आत्मसम्मानका भाव उदित हो सकता है, पर यह उसी भांति ज्ञानमें, शक्ति-सामर्थ्यमें अथवा अन्य किसी भी चीजमें भाग वँटानेपर आ सकता है जिसे मनुष्य उच्चतम श्रेय अथवा उच्चतमका सारतत्त्व समझता है। परंतु प्रेमका भाव, प्रेमकी आराधना एक विलकुल भिन्न, यहांतक कि एक विपरीत भावको भी उत्पन्न कर सकती है। विशेपकर भगवान्‌के अथवा जिसे वह दिव्य समझता है उसके प्रेममें भक्त प्रेमास्पदके लिये तीव्र आदरभाव अनुभव करता है, उसे ऐसा वोध होता है मानो वह कोई महान् महत्त्वकी, सौदर्यकी या मूल्यकी वस्तु हो और अपने लिये उसमें यह प्रवल धारणा होती है कि वह अपने प्रेमास्पदके मुकाविले वड़ा अयोग्य है और वह जिसकी आराधना करता है उसके जैसा वन जानेकी उसमें तीव्र आकांक्षा होती है। प्रेमके उमड़नेपर वहुत वार ऐसा जरूर होता है कि साधक एक प्रकारके आनन्दोल्लास, अंतरमें एक प्रकारके उत्कर्पसाधन, अपने स्वभावमें नवीन शक्तियों और उच्च या सुन्दर संभावनाओं या प्रकृतिमें एक प्रकारकी तीव्रताके आनेका वोध प्राप्त करता है; पर यह चीज ठीक आत्मसम्मान-का वोध नही है। एक गभीरतर आत्मसम्मानके भावका आना संभव है जो एक सच्चा

भाव है, जिसमें साधक एक पूजाकी वस्तुके रूपमें अथवा परम प्रेमास्पदकी आंतरिक उपस्थितिके स्वयं मंदिरके रूपमें अपने अंतरात्माके, यहांतक कि मन, प्राण और शरीर-के मूल्य-महत्त्व और पवित्रताको भी अनुभव करता है।

ये प्रतिक्रियाएं घनिष्ठ रूपमें इस तथ्यसे संबंधित है कि प्रेम, जब यह इस नामके योग्य होता है, सर्वदा मिलनकी, एकत्वकी खोज होता है, परंतु अपने गुह्य आधारमें भी यह भगवान्‌की एक खोज है, भले ही कभी-कभी यह केवल एक अस्पष्ट टटोलना ही होता है। अपनी गहराईमें प्रेम स्वयं अपने अंदर विद्यमान भागवत संभावना अथवा सद्वस्तुका प्रेमास्पदके अंदर विद्यमान भागवत संभावना या सद्वस्तुके साथ एक संपर्क है। सच पूछा जाय तो इस गुणको स्थापित करने या बनाये रखनेकी अक्षमता ही मानव-प्रेमको या तो क्षणस्थायी बना देती या इसके पूर्ण अर्थवत्तासे शून्य बना देती है अथवा मानव आधारकी क्षमताके अनुसार एक क्षीण, एक कम उल्लासपूर्ण क्रियामें डूब जानेका दंड दे देती है। परंतु वहां मैक टैगर्ट अपनी सरक्षक शर्त्त उपस्थित करते है, "जब मैं प्रेम करता हूँ, मैं दूसरेको उस रूपमें नही देखता जैसा कि वह अभी है (और इसलिये वह वास्तवमें नहीं है), बल्कि जैसा कि वह वास्तवमें है (अर्थात्, जैसा वह होगा)।" इसका बाकी अंश जिसमें वह कहता है कि "अपने सारे दोषोंके साथ दूसरा किसी प्रकार अनंत रूपसे भला है —कम-से-कम अपने मित्रके लिये," मुझे अत्यत मानसिक वक्तव्य प्रतीत होता है जो आध्यात्मिक आतर मूल्योंकी दृष्टिसे बहुत नि-श्चित रूपसे कुछ भी नहीं व्यक्त करता। परंतु उद्धृत सूत्र भी आद्योपांत सुस्पष्ट नहीं है। मेरी समझमें उसका अर्थ कुछ-कुछ वही है जिसे विवेकानन्दने आपातदृष्ट मनुष्य और सच्चे मनुष्यके बीचका भेद कहा है; अथवा यह कुछ हदतक वेदांतके एक प्राचीन गुरु, याज्ञवल्क्यके इस कथनके साथ मिलता-जुलता है कि स्त्रीके लिये स्त्री (अथवा, मित्र,— क्योंकि स्त्री सूचीकी केवल पहली वस्तु है) प्रिय नहीं है, बल्कि आत्मा (महत्तर आत्मा, अंतरस्थ जीवात्मा) के लिये वह प्रिय है।" परंतु याज्ञवल्क्यने, एकमेव (बहु नहीं) ब्रह्मका साधक होनेके कारण उस बातको स्वीकार न किया होता जो मैक टैगर्टके वाक्यमें निहित है; उन्होंने कहा होता कि मनुष्यको परे जाना होगा और अंतमें स्त्री या मित्रमें अवस्थित आत्माको नहीं खोजना होगा — यद्यपि कुछ समय उसे वहां खोजा गया है — बल्कि आत्माको उसकी अपनी आत्मसत्तामें खोजना होगा। जो हो, ऐसा लगता है कि यहां यह स्पष्ट घोषणा की गयी है कि वास्तवमें मनुष्य नही (जो कुछ कि वह अभी है), बल्कि अंतरस्थ भगवान् अथवा भगवान्‌का एक अंश (तुम चाहो तो इसे ईश्वर-कहो अथवा केवल ब्रह्म कहो) प्रेमका विषय है। परंतु योगी मैक टैगर्टकी तरह उस "होगा" से संतुष्ट नहीं होगा — किसी अप्राप्त अनंतके लिये सांतके प्रेममें बंधा रहना स्वीकार नहीं करेगा। वह तो यह आग्रह करेगा कि भगवान् अपने-आपमें जो कुछ हैं उनको अथवा अभिव्यक्त भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, उनकी पूर्ण उपलब्धिके लिये दौड़ पड़ा जाय; वह अपने-आपसे अचेतन, अनभि-व्यक्त या केवल सुदूर संभावनाके रूपमें विद्यमान भगवान्‌से संतुष्ट नहीं रहेगा।

इसमें ऐसा स्थल है जहां इष्ट देवताके साथ सादृश्यकी बात, जैसा कि तुम सूचित

करते हो. ठीक नही उतरती; क्योकि इष्ट देवता, जिसपर साधक एकाग्र होता है, भगवान्‌का एक सचेतन व्यक्ति-रूप होता है जो साधकके निजी व्यक्तित्वकी आवश्यकताको पूरा करता है और उसे एक प्रतिनिधि मूर्त्तिके अंदर यह दिखाता है कि भगवान् क्या है अथवा कम-से-कम अपने द्वारा उसे परब्रह्मका सकेत देता है। दूसरी ओर, जब मैने भागवती शक्तिके अपनी तपस्-क्रियामें आत्मलीन होनेकी बात कही तब मै यह समझानेकी चेष्टा कर रहा था कि भागवत वैश्व अभिव्यक्तिके अन्दर इस आपात-दृष्ट निश्चेतन जडतत्त्वके प्रादुर्भावकी संभावना है। मैने कहा था कि सम्मुखीन क्रियाके अदर भगवान्‌का कुछ अश ऐसा था जिसने अपनेको इतनी अधिक एकाग्रताके साथ स्थूल आकारमें फेंक दिया कि वह गति और आकार बन गया जिसे शक्तिकी गतिउत्पन्न करती है और उसके पीछे उस सबको रख देती है जो वह नही था,—ठीक जैसे कि, बल्कि कही अधिक मात्रामें और कहीं अधिक स्थायित्वके साथ, एक मनुष्य जो कुछ करता, देखता या बनाता है उसमें एकाग्रता कर सकता और अपने निजी अस्तित्वको भूल सकता है। स्वय मनुष्यमें भी, जो निश्चेतन नही है, यह एक दूसरे रूपमें दिखायी देता है; उसकी सामनेकी सत्ता यह नही जानती कि उपरितलीय व्यक्तित्व और कर्मके पीछे क्या है, जैसे अभिनेताकी सत्ताका जो भाग भूमिका अदा करनेवाला बनता है वह अभिनेताके पीछे विद्यमान अधिक स्थायी 'स्व' को पूर्णतया भूल जाता है। परतु दोनो ही अवस्थाओंमें पीछेकी ओर एक वृहत्तर 'स्व' है, "निश्चेतन वस्तुओंमें एक चेतन सत्ता" है, जो स्वयं अपने विषयमें तथा जीव-रूपमें दृष्ट आत्मविस्मृत सम्मुखीन आकारके विषयमें सचेतन होता है। क्या मैक टैगर्ट इस अंतरस्थ सचेतन भगवान्‌को स्वीकार करते है? वह इस परम (absolute) या वास्तविक आत्माको बहुत कम ही महत्त्व देते हैं जो, जैसा कि वह फिर भी देखते है, अवास्तव या कम वास्तव बाह्य रूपमे विद्यमान है। उन्होंने भगवान्‌को अस्वीकार इसलिये किया है कि उनका मन और प्राणिक स्वभाव मित्रके ऊपर, जैसा कि वह है, आग्रह करता है, यद्यपि उनका उच्चतर मन उनका मित्र जो कुछ होगा उसके विचारकी सहायतासे उस आग्रहसे बचनेकी कोशिश कर सकता है। अन्यथा उनके प्रतिपाद्य विषयमें जो यह विशालकाय अतिरजना है कि जीवनमें एकमात्र यथार्थ वस्तु है मित्रका प्रेम और भगवान्‌को अवसर देनेकी जो अनिच्छा है और यह डर है कि कही वह मित्रको उठा न ले जाय और उसके स्थानमें भगवान्‌को न रख जाय, इसे समझना कठिन है।

मैं बिलकुल नही समझ पाता कि आखिर 'परम' (absolute) के विषयमें उनकी परिकल्पना क्या है। यह कैसे कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न आत्माओंका समाज (?) समष्टिरूपसे 'परम' (absolute) है? यदि इसका मतलब यह हो कि जहा सज्ञान मुक्त आत्माओंका एक संघ होता है वहां भगवान् उपस्थित रहते हैं और उनकी एक विशेष अभिव्यक्तिका होना सभव होता है,—तो यह बात समझमें आने योग्य है। अथवा, यदि समाजका अर्थ केवल यह हो कि समस्त पृथक्-पृथक् आत्माओंका जोड़ या समष्टि ही भगवान् है और ये पृथक्-पृथक् आत्मा भगवान्‌के अश है तो यह भी समझमें आने योग्य (सर्वेश्वरवादी) समाधान है। केवल, वह

'परम' की अपेक्षा कोई दिव्य 'सर्व' अथवा किसी प्रकारका विश्वात्मा या ब्रह्म होगा। यदि कोई 'परम' (absolute) हो — जिसे बौद्धिक रूपसे स्वीकार करनेके लिये हम बाध्य नहीं हैं, हां, बस उच्चतर मनकी कोई वस्तु अनिवार्य रूपसे उसकी मांग करती प्रतीत होती है या यह अनुभव करती है कि वह है — तो वह निश्चय ही अपनी निजी परम सत्तामें विराजमान होगा,—निर्मित नहीं होगा, अपनी सत्ताके लिये विभिन्न आत्माओंकी समष्टिपर निर्भर नहीं होगा, वल्कि स्वय-सत् होगा। बुद्धिके लिये ऐसा 'परम' एक अवर्णनीय 'क्ष' (अज्ञात वस्तु) है जिसे वह नहीं समझ सकती, वल्कि जव रहस्यवादी या आध्यात्मिक अनुभव काफी दूरतक आगे जाता है तो वह अंतमें उसके पास पहुँचा देता है और अनुभवका दरवाजा चाहे जो हो जिससे कि हम उसकी प्रथम झांकी पाते हैं, वह वहां होता ही है भले ही हम उस आरंभिक अनुभवमे उसे पूर्णत: भी न पकड़ सकें।

तुम कहते हो कि तुम्हारे अपने अनुभवमें यह ऐसा था मानो सांतके अंदर अनंत-का विस्फोट हो — एक महत्तर शक्तिका विस्फोट हो जो नीचे तुम्हारे ऊपर उतर आयी हो अथवा अपने पास तुम्हें ऊपर उठा ले गयी हो। निस्संदेह, यही वह चीज है जो आध्यात्मिक अनुभवमें सर्वदा घटित होती है — और यही कारण है कि मै इसे 'परात्पर' कहता हूँ। यह ऐसी ही एक अवतरित होनेवाली और ऊपर उठानेवाली दिव्य शक्तिके रूपमें अथवा अवतरणशील और उन्नयनकारी प्रेम — अथवा ज्योति, शांति, आनन्द, चैतन्य, उपस्थिति आदिके रूपमें प्रकट होती है। यह सांतके अदर होनेवाली अपनी अभिव्यक्तिसे सीमित नहीं होती,—मनुष्य इसे, शाति, शक्ति, प्रेम, ज्योति या आनन्द या उपस्थितिको, जिसमें ये सब होते हैं, स्वयंसत् अनंतके रूपमें अनु-भव करता है, यहां इसके विषयमें जो हमारा प्रथम दर्शन होता है उससे निर्मित या सीमित वस्तु नहीं है। मित्रोंके प्रति मैक टेगर्टका प्रेम ही उनके लिये एकमात्र यथार्थ वस्तु बना रहा; मैं मान सकता हूँ कि उन्हें यह झांकी नहीं प्राप्त हुई थी। परंतु एक वार जव यह विस्फोट, यह अवतरण और उन्नयन, घटित हो जाता है तो वह अंतमें एक यथार्थ वस्तु वन जानेके लिये वाध्य होता है, क्योंकि एकमात्र उसीके द्वारा वाकी चीजें अपने निजी स्थायी महत्तर सत्यको प्राप्त कर सकती हैं। यही वह भागवत चेतना-का अवतरण और उसके अंदर आरोहण या उन्नयन है जिसकी चर्चा हम अपने योगमें करते हैं। अन्य सभी वस्तुएं केवल तभी ठीक उतरती, सफल होती और अपनेको चरितार्थ करती हैं जव कि वे इस दिव्य अनुभूतिका या उसकी अभिव्यक्तिका एक अंग वननेके लिये ऊपर उठ सकती हैं, और, वैसा करनेके लिये उन्हें एक महान् रूपांतर और सिद्धिको स्वीकार करना होगा। परंतु केंद्रीय उपलब्धि ही एकमात्र केंद्रीय लक्ष्य होनी चाहिये और वास्तवमें एकमात्र वह उपलब्धि ही अन्य चीजोंको संपादित करेगी, उन सव चीजोंको संपादित करेगी जो उसका अंग वननेके लिये अभिप्रेत हैं, दिव्यत: संभव हैं।

II

भक्तिका स्वभाव है उस सत्ताकी आराधना, पूजा करना और उसके प्रति आत्म-दान करना जो हमसे महत्तर है; प्रेमका स्वभाव है सामीप्य या मिलनका अनुभव करना या उसके लिये प्रयत्न करना। आत्मदान दोनोंका ही गुण है; ये दोनों ही योगमें आवश्यक है और जब ये दोनों एक-दूसरेको सहारा देते हैं तो दोनों ही अपनी पूर्ण शक्तिको प्राप्त करते हैं।

*

भक्ति कोई अनुभूति नही है, यह हृदय और अंतरात्माकी एक अवस्था है। यह वह अवस्था है जो चैत्य पुरुषके जागृत और प्रमुख होनेपर आती है।

*

अहैतुकी भक्तिके मार्गमें प्रत्येक वस्तु भक्तिका साधन बनायी जा सकती है — उदाहरणार्थ, काव्य तथा संगीत केवल काव्य और संगीत तथा भक्तिकी अभिव्यंजनामात्र ही नहीं रहते, बल्कि ये स्वयं प्रेम एवं भक्तिका अनुभव करानेवाले साधन बन जाते है। स्वयं ध्यान भी मानसिक एकाग्रताका प्रयत्न ही न रह प्रेम और उपासना और पूजाका एक प्रवाह बन जाता है।

*

इस योगमें केवल आंतरिक पूजा और ध्यान करनेकी ही कोई सीमा नहीं बांध दी गयी है। चूंकि यह समस्त सत्ताका योग है, केवल आंतर सत्ताका ही योग नही है, ऐसा कोई प्रतिबंध अभीष्ट नहीं हो सकता। विभिन्न धर्मोके पुराने रूप झड़ जा सकते हैं, पर समस्त रूपोंका न होना साधनाका नियम नही है।

*

ये मनद्वारा निर्मित अतिरजनाएं हैं जिनमें सत्यके एक पक्षको ग्रहण किया जाता और दूसरे पक्षोंकी अवहेलना की जाती है। आंतरिक भक्ति मुख्य वस्तु है और उसके बिना भक्तिसंबंधी बाह्य बातें महज एक बाह्यांचार और कर्मकांड बन जाती है, पर बाह्य बातोंका भी अपना स्थान और उपयोग है जब कि वे ऋजु और सच्ची हों।

*

वाह्य पूजाका तात्पर्य क्या है ? यदि वह विशुद्ध रूपमें वाह्य हो तो निस्सदेह वह निम्नतम रूप है; परंतु उसे यदि सच्ची चेतनासे किया जाय तो वह उपासनाको महत्तम संभवनीय परिपूर्णता प्रदान कर सकती है जिसमें शरीर और अत्यंत वाहरी चेतना भी पूजाके भाव और कार्यमें भाग लेनेका अवसर प्राप्त कर सकती है।

*

फोटो तो महज एक वाहन है -- परतु तुम्हें यदि यथार्थ चेतना प्राप्त है तो तुम उसमें जीवंत सत्ताका कुछ अंश ले आ सकते हो या उस सत्ताके विपयमें अभिज्ञ हो सकते हो जिसका वह चित्र है और उसे उसके साथ संपर्क स्थापित करनेका साधन बना सकते हो। यह ठीक मंदिरमें स्थापित मूर्त्तिमें प्राणप्रतिष्ठा करनेकी जैसी वात है।

*

जो कुछ तुम कहते हो वह निस्सदेह सही है, पर यह कही अधिक अच्छा है कि उस अवलंबको न हटा दिया जाय जो अभी वैसे लोगोंकी श्रद्धाके लिये वहा है जिन्हें वैसे अवलंबोंकी आवश्यकता होती है। ये मूक्ष्म दर्शन और मूर्त्तिया और अनुष्ठान इसीके लिये हैं। यह एक आध्यात्मिक सिद्धांत है कि किसी श्रद्धाको या श्रद्धाके आधार-को तवतक नहीं हटाना चाहिये जवतक कि उसे रखनेवाले लोग उसके स्थानमें किसी विशालतर और पूर्णतर वस्तुको ले आनेमें समर्थ न हों।

यदि प्राणप्रतिष्ठाके द्वारा कोई शक्तिशाली दिव्य सत्ताका अवतरण हो तो वह सत्ता उसे उतारनेवाले व्यक्तिके शरीर छोड़ देनेके वहुत वादतक वहा विद्यमान रह सकती है। साधारणतया यह सत्ता धर्माध्यक्षकी भक्ति और उन लोगोंके सच्चे वि-श्वास और पूजाके वलपर वनी रहती है जो उस मंदिरमें उपासन करने आते है। ये लोग अयोग्य हों तो यह संभव है कि वह दिव्य उपस्थिति वापस चली जाय।

*

देखना कई प्रकारका होता है। एक तलीय देखना होता है, जिसमें देखी हुई सत्ताकी एक मूर्त्ति एक क्षण अथवा कुछ समयके लिये निर्मित या ग्रहण की जाती है। ऐसा देखना कोई परिवर्तन नही लाता, जवतक कि आंतरिक भक्ति इसे परिवर्तनका साधन न वनाये। परंतु जीवंत मूर्त्तिको उसके किसी भी रूपमें -- अपनेमें-मानों हृदयमें भी ग्रहण किया जा सकता है; इसका प्रभाव तात्कालिक हो सकता है, या यह आध्यात्मिक विकास-की एक अवधिका श्रीगणेश कर सकता है। फिर अपनेसे वाहर, न्यूनाधिक वस्तुनिष्ठ और सूक्ष्म-भौतिक अथवा भौतिक प्रकारका भी देखना होता है।

रही मिलनकी वात, सो स्थायी मिलन अंतरमें होता है और वह वहां सभी कालमें

रह सकता है. बाह्य मिलन या स्पर्श बहुधा स्थायी नही होता। कुछ लोग हैं, जो जब पूजा करते है बहुधा ही या सदैव संस्पर्श अनुभव करते है। देवता उनके लिये चित्रमें, अथवा पूजित मूर्त्तिमे,प्राणवत हो उठ सकता है, उस (चित्र अथवा मूर्त्ति) के द्वारा चल-फिर और कार्य कर सकता है। अन्य लोग उनकी (देवताकी) सतत उपस्थितिका अनुभव कर सकते हैं — बाहर, सूक्ष्म-भौतिक रूपमें — अपने साथ-साथ अथवा अपने ही कमरेमे रहते हुए। किंतु कभी-कभी यह कुछ समयके लिये ही होता है। अथवा वे सत्ताको अपने पास अनुभव कर सकते हैं, बहुधा किसी शरीरमें देख सकते हैं (यद्यपि यदा-कदाके अतिरिक्त स्थूल रूपमे नही), उसका स्पर्श अथवा आलिंगन अनुभव कर सकते हैं. सदा उससे आलाप कर सकते है — यह भी एक प्रकारका मिलन है। सबसे महान् मिलन वह है जिसमें हम देवताका सतत अनुभव करते है, अपनेमें निवास करते हुए, ससारकी प्रत्येक वस्तुमे निवास करते हुए, समस्त जगत्को अपने-आपमे धारण किये हुए, अस्तित्वके साथ एक, तथापि परम रूपमें संसारसे परे। किंतु ससारमे भी हम और कुछको नही, उन्हीको देखते, उन्हीको सुनते और उन्हीको अनुभव करते हैं, यहांतक कि इन्द्रिया भी मात्र उन्हीकी गवाही देती हैं। और इनमेंसे वे विशेष वैयक्तिक अभिव्यक्तियां भी बाद नहीं है, जो 'क' और उनके गुरुको प्रदान की गयी थीं। मिलनके जितने अधिक प्रकार हों, उतना ही अच्छा है।

*

हम किसी भी इंद्रियके द्वारा अथवा चेतनाके अंदर किसी बोधके द्वारा अभिव्यक्तिको ग्रहण कर सकते है — पूर्ण बाह्य अभिव्यक्तिके अंदर दर्शन, श्रवण, स्पर्श आदि सब कुछ हो सकता है।

*

मेरा मतलब था कि मनुष्य भागवत चेतनाको एक निर्व्यक्तिक आध्यात्मिक स्थितिके रूपमें, शांति, ज्योति, हर्ष तथा भागवत उपस्थितिके अनुभवसे शून्य विशालताके रूपमें अनुभव कर सकता है। भागवत उपस्थितिका अनुभव एक ऐसी सत्ताके रूपमें होता है जो उस ज्योति आदिका सजीव स्रोत और सारतत्त्व है, अतएव एक ऐसे 'पुरुष'के रूपमें होता है जो केवल एक आध्यात्मिक अवस्था ही नही है। श्रीमाताजीकी उपस्थिति और भी अधिक ठोस, सुनिश्चित और व्यक्तिभावापन्न होती है — वह किसी ऐसे व्यक्तिकी उपस्थिति नही होती जो अपरिचित हो, किसी शक्ति या सत्ताकी हो, बल्कि वह एक ऐसे व्यक्तिकी उपस्थिति होती है जो परिचित, घनिष्ठ, प्रिय होता है, जिसके प्रति मनुष्य अपनी सारी सत्ताको जीवंत ठोस रूपमें समर्पित कर सकता है। मूर्त्तिका होना अनिवार्य नही है, यद्यपि वह सहायक होती है — उसके बिना भी अपने भीतर उपस्थितिका अनुभव हो सकता है।

*

यदि भगवान्‌की उपस्थिति स्थापित हो जाय तो इसका अर्थ है कि सत्ता रूपांतर-के लिये तैयार हो गयी है और वह स्वाभाविक रूपमें होता रहता है।

*

आदेश और दर्शन साधनाकी एक अवस्थाके तत्त्व है; घनिष्ठतर मिलनकी अवस्था तब भी बहुत दूर होती है। मन और प्राण दर्शनके द्वारा भगवान्‌का संस्पर्श और आदेशके द्वारा पथका निर्देशन चाहते है। अपने योगमें हमारा लक्ष्य भगवान्‌के अखंड मिलन और सान्निध्य तथा नियंत्रणकी अनुभूतिको सब समय बनाये रखना है। परंतु मन और प्राणके स्तरपर वह प्रायः अधूरी रहती है, और उसमें भ्रांतिकी काफी गुंजायश होती है। कर्ममें इस प्रकारके भागवत मिलनका संपूर्ण सत्य तो अतिमानसिक रूपांतरकी सिद्धि हो जानेपर ही प्राप्त हो सकता है।

III

तुम्हारी यह धारणा भ्रमात्मक है कि मैं भक्तिके विरुद्ध हूँ या भावमय भक्ति-के विरुद्ध हूँ — ये दोनों बातें वास्तवमें एक-सी ही हैं, क्योंकि भावके बिना भक्ति हो ही नही सकती। बल्कि ठीक तथ्य यह है कि योगविषयक अपने लेखोंमें मैंने भक्तिको सर्वोच्च स्थान प्रदान किया हैं। किसी समय मैंने अगर ऐसा कुछ कहा भी है जिससे इस गलतफहमीका कारण समझमें आ सके तो वह तो उस अपवित्र भावुकताके विरुद्ध है जो, मेरे अनुभवानुसार, संतुलनका अभाव, विक्षुब्ध और सामंजस्यहीन भावाभि-व्यक्ति या यहांतक कि विपरीत प्रतिक्रियाएंतक उत्पन्न करती और अपनी पराकाष्ठामें स्नायुविकाररूपी परिणाम भी ले आती है। परंतु पवित्रीकरणके लिये आग्रह करनेका अर्थ यह नहीं कि मैं सच्चे वेदन और भावको भी निंदनीय ठहराता हूँ, जैसे मन या संकल्प-की पवित्रताके लिये आग्रह करनेका अर्थ यह नहीं होता कि मैं विचार और संकल्पको निन्द्य मानता हूँ। बल्कि इसके विपरीत, भाव जितना अधिक गहरा होता है, भक्ति भी उतनी ही अधिक तीव्र होती है, सिद्धि और रूपांतरकी शक्ति भी उतनी ही महान् होती है। सच पूछा जाय तो अधिकांश समय भावकी तीव्रतासे ही हृत्पुरुष जागता है और भगवान्‌की ओर ले जानेवाले आंतरिक द्वार उद्‌घाटित होते हैं।

*

हृदयको सुखा देना इस योगका अंग नहीं है; बल्कि हृद्‌गत भावोंको भगवान्‌की ओर मोड़ना होगा। ऐसे अनतिदीर्घ काल आ सकते हैं जिनमें हृदय शांत रहे, साधारण अनुभवोंसे विमुख हो और ऊपरसे भावप्रवाहके आनेकी प्रतीक्षा करे; परंतु ऐसी स्थिति-या सूखेपनकी स्थितियां नहीं बल्कि नीरवता और शांतिकी स्थितियां हैं। इस योगमें

जबतक चेतना ऊपर नही उठती तबतक वास्तवमें हृदयको एकाग्रताका प्रमुख केंद्र होना चाहिये।

*

योगमें हृद्गत भाव आवश्यक होता है और सच पूछा जाय तो केवल अतिरंजित भावुकता ही छोटी-छोटी बातोंके कारण, जिन्हें हमें अतिक्रम करना है, निराशाके गर्त्तमे डाल देती है। इस योगका सच्चा आधार ही है भक्ति और यदि कोई अपनी भावात्मक सत्ताको मार डाले तो फिर भक्ति हो ही नही सकती। अतएव भावात्मक सत्ताको योगसे बहिष्कृत करनेकी कोई संभावना नही हो सकती।

*

भावावेग योगके लिये एक अच्छी वस्तु है; परंतु भावावेगजन्य कामना सहज ही विक्षोभका एक कारण तथा एक बाधा बन जाती है।

अपने भावावेगोंको भगवान्‌की ओर मोड़ दो, उनकी शुद्धिके लिये अभीप्सा करो; तब वे योगमार्गके सहायक बन जायेंगे और फिर कभी दुःख-कष्टका कारण नहीं होंगे।

भावावेगको मार डालना नही, वरन् उसे भगवान्‌की ओर मोड़ देना ही योगका यथार्थ मार्ग है।

परंतु उसे शुद्ध-पवित्र, आध्यात्मिक शांति और उल्लासके ऊपर प्रतिष्ठित तथा आनन्दमे परिवर्त्तित हो जानेके योग्य बन जाना होगा। मन और प्राणके भागोंमें समता और स्थिरता तथा हृदयमें तीव्र चैत्य भाव पूर्णतया साथ-साथ रह सकते हैं।

अपनी अभीप्साके द्वारा हृदयमें चैत्य अग्निको जगाओ जो धीर-स्थिर रूपसे भगवान्‌की ओर जलती रहती है — यही भावावेगमयी प्रकृतिको मुक्त और चरितार्थ करनेका एकमात्र पथ है।

*

वास्तवमें केवल साधारण प्राणिक भावावेग ही शक्तिका अपव्यय करते और एकाग्रता तथा शांतिको भग करते हैं और उन्हें ही निरुत्साहित करनेकी आवश्यकता है। भावावेग अपने-आपमें कोई बुरी वस्तु नही हैं; वे तो प्रकृतिका एक आवश्यक अंग हैं और चैत्य भावावेग तो साधनाका एक अत्यन्त बलशाली सहायक है। जो चैत्य भावावेग भगवान्‌के प्रति प्रेमके कारण आंसू अथवा आनन्दका आंसू ले आता है उसे कभी दबाना नहीं चाहिये। उसमें जब कोई प्राणिक वस्तु मिल जाती है तो केवल वही साधनामें बाधाविघ्न उपस्थित करती है।

*

भावात्मक (भक्ति) चैत्य भक्तिकी अपेक्षा अधिक बाह्य वस्तु है — यह बाह्य अभिव्यक्तिकी प्रवृत्ति रखती है। चैत्य भक्ति अंतर्मुखी होती है और संपूर्ण आंतर और बाह्य जीवनको नियंत्रित करती है। भावात्मक भक्ति तीव्र हो सकती है पर वह न तो अपने आधारमें उतनी सुदृढ़ होती है और न उतनी पर्याप्त शक्तिशाली ही कि जीवन-की समूची दिशाको परिवर्त्तित कर दे।

*

यह बिलकुल ठीक है कि ऊपर जानेपर मनुष्य सभी समस्याओंसे बाहर निकल जाता है, क्योंकि अब उनका अस्तित्व ही नही रहता, परतु समस्याएं यहां नीचे विद्य-मान हैं और इतनी अधिक हल न की हुई समस्याओं तथा समाधानकी मांगके रहते हुए सदा ऊपर रहना कठिन है। परंतु ठीक जिस तरह मनुष्य अत्यंत ऊपर जा सकता है, उसी तरह वह भीतर गहराईमें भी जा सकता है और वास्तवमें इस भीतरकी गहराई में जानेकी आवश्यकता है। जो घटित हुआ वह भावात्मक सत्ताके ऊपरी तलपर था और यदि मनुष्य महज वहीं ठहर जाय तो भावात्मक सत्ताकी कठिनाइयां आ सकती हैं, परंतु करनेकी चीज यह है कि मनुष्य वहां ऊपरी तलपर ही न ठहर जाय बल्कि भीतर गहराईमें पैठ जाय। क्योंकि भावात्मक सत्ताके ऊपरी तलके पीछे, हृदयकेंद्रके पीछे गहराईमें चैत्य पुरुष विद्यमान है। एक बार जब मनुष्य चैत्य पुरुषतक पहुँच जाता है तो फिर ये चीजे उसे नहीं छूतीं; उस समय उसके अंदर विद्यमान रहती है आंतरिक शांति और आह्लाद, अविक्षुब्ध अभीप्सा, श्रीमाताजीकी उपस्थिति या सान्निध्य।

*

प्रेम, शोक, विषाद, निराशा, भावोल्लास आदि आवेगोंमें इनके अपने लिये ही आसक्त होना और इनके प्रति एक प्रकारका मानसिक और प्राणिक अत्याग्रह रखना ही भावुकता है। वास्तवमें गहरे भावके अंदर शांति, नियंत्रण, पावन संयम और मर्यादा आदि होने चाहियें। हमें अपने भावों और अपनी संवेदनाओंका क्रीड़ा-कन्दुक नहीं, प्रत्युत सदैव उनका नियंता होना चाहिये।

*

जब चेतना इन सब चीजोंमें लिप्त होती है और भावात्मक हर्षावेशमें अथवा दुःख-कष्टमें लोटती-पोटती है तो उसे ही भावुकता कहते हैं। एक दूसरे प्रकारकी भावुकता भी है जिसमें मन प्रेम, वेदना आदि भावोंके बोधमें सुख अनुभव करता है और उनके साथ खेलता है, परंतु वह कम तीव्र और अधिक छिछली भावुकता होती है।

*

मनके द्वारा साधनाविषयक अभिज्ञता प्राप्त करना अनिवार्य नहीं है। अगर भक्ति मौजूद है, और हृदयकी नीरवतामे अभीप्सा है, अगर भगवान्‌के प्रति सच्चा प्रेम है, तो तुम्हारी प्रकृतिका उन्मीलन स्वतः ही हो जायगा, तुम्हें सच्ची अनुभूति मिलेगी और तुम्हारे अतरमें माताजीकी शक्ति कार्य करने लगेगी, एवं आवश्यक ज्ञान स्वत ही आ जायगा।

*

भगवान् और परम सत्यके सर्वदा ही दो पक्ष होते हैं — सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक और यह समझना भूल है कि केवल निर्व्यक्तिक ही यथार्थ या प्रमुख है, क्योंकि वह सत्ताके एक भागमे एक प्रकारकी शून्य अपूर्णता ले आता है और केवल एक ही पक्षको सतोष प्राप्त होता है। निर्व्यक्तिकताका संबंध बुद्धि और निष्क्रिय आत्मासे है, सव्यक्तिकताका सबंध अतरात्मा और हृदय और सक्रिय सत्तासे है। जो लोग साकार भगवान्‌की अवहेलना करते है वे एक ऐसी वस्तुकी अवज्ञा करते हैं जो बहुत गभीर और आवश्यक है।

हृदयके विशुद्धतर आवेगोंका अनुसरण करना एक ऐसी वस्तुका अनुसरण करना है जो कम-से-कम उतनी ही मूल्यवान् है जितनी कि सत्य क्या हो सकता है इस विषयकी अपनी धारणाओके प्रति मनकी निष्ठा है।

*

इसका कारण विश्लेषणप्रवण मनकी सक्रियता है, उसके सक्रिय होनेपर एक प्रकारकी नीरसताका अनुभव हमेशा ही होता है। उच्चतर मन या सहज-अंतर्बोध अपने साथ अधिक स्वाभाविक और संपूर्ण ज्ञान लाता है — वही सच्चे ज्ञानका आरंभ है, और उसमें ऐसा प्रयत्न भी नही करना होता। जिस भक्तिका तुम अनुभव कर रहे हो वह आंतरात्मिक है, पर उसपर प्राणका गहरा रंग है; और मन तथा प्राण ही भक्ति और ज्ञानके बीच विरोध खड़ा कर देते है। प्राणको, जिसकी रुचि सिर्फ भावमें है, मानस ज्ञान सूखा और नीरस मालूम होता है; और मन भक्तिको एक अंध भावावेग मानता है, इसे यह संपूर्णतया आकर्षक तभी मालूम होती हैं जब वह उसके स्वरूपका विश्लेषण कर लेता और उसे समझ लेता है। इस विरोधका अवसान तब होता है जब अंतःपुरुष और उच्चतर स्तरका ज्ञान मिलकर प्रधान रूपमें कार्य करते है। अंतःपुरुष अपने भाव और भक्तिके पोषक इस ज्ञानका स्वागत करता है, और उच्चतर विचारकी चेतना भक्तिमें सुखका अनुभव करती है।

*

यंत्रसम और कृत्रिम भक्ति नामकी कोई वस्तु नहीं हो सकती — या तो भक्ति होगी अथवा नहीं होगी। भक्ति तीव्र या अतीव्र, पूर्ण या अपूर्ण, कभी प्रकट और कभी प्रच्छन्न हो सकती है, पर यंत्रसम या कृत्रिम भक्ति तो एक विरोधोक्ति है।

*

भोजन और वाह्य वस्तुओंके प्रति तुम्हारा नवीन मनोभाव यथार्थ मनोभाव, चैत्य मनोभाव है और वह यह सूचित करता है कि अब चैत्य पुरुष प्राणिक-भौतिक तथा साथ ही प्राण-प्रकृतिके अन्य भागोंको नियंत्रित करने लगा है।

अब हृदयकी वात लें, इस योगमें भगवान्‌के लिये व्याकुलताकी वृत्ति, रोना, शोक करना, व्यग्र होना आदि आवश्यक नही है। प्रवल अभीप्सा अवश्य होनी चाहिये, तीव्र उत्कंठा भी अच्छी तरह रह सकती है, तीव्र प्रेम और मिलनकी आकाक्षा रह सकती है; परंतु वहां शोक या विक्षोभ नही होना चाहिये। तुम अपने हृदयमे जो अचचलता और नीरवता अनुभव करते हो वह नीचे आनेके लिये उच्चतर चेतनाके दवावका परिणाम है। वह चीज सर्वदा ही मन और हृदयमें स्थिरता ले आती है और जव उच्च-तर चेतना उतरती है तो महान् शांति और निश्चल-नीरवता ले आती है। निश्चल-नीरव मन और हृदयमें यथार्थ मनोभाव अवश्य होना चाहिये और तव तुम्हें यह वोध आता है कि तुम श्रीमाताजीके वच्चे हो, उनके प्रति श्रद्धा-विश्वास तथा उनके साथ युक्त होने-की आकांक्षा भी तुम अनुभव करते हो। उसके साथ-साथ, जो कुछ आनेवाला है उसके लिये एक अभीप्सा अथवा नीरव प्रतीक्षाका भाव भी रह सकता है। वह अभीप्सा भी तुम्हारे अन्दर विद्यमान प्रतीत होती है। इसलिये सव कुछ अच्छा है।

जैसा कि मैंने वहुधा लिखा है, इस योगमें दो प्रकारके रूपांतर हैं। पहला रूपांतर तव आता है जव चैत्य पुरुष सामने आता है और प्रकृतिको नियंत्रित और परिवर्त्तित करता है। यही चीज तुम्हारे अंदर वड़ी तेजीके साथ घटित हुई है; इसे अपनी पूर्णता-तक जाना होगा, पर यह स्वाभाविक रूपमें जायगी। दूसरा रूपांतर वह है जव मस्तक-के ऊपरसे श्रीमाताजीकी चेतनाका अवतरण होता है और उससे समस्त सत्ता और प्रकृतिका रूपांतर होता है। यह चीज भी तुम्हारे अंदर अव अपनी तैयारी कर रही है। दवावका, हृदय आदिमें नीरवता आनेका यही कारण है। इस वार ऊपर जाने-पर जो तुम्हें अनुभूति हुई वह उस ऊर्ध्वस्थ उच्चतर चेतनामें अवस्थित उच्चतर सत्ता-की विशालताका अनुभव थी और उस उच्चतर चेतनाके भीतरसे ज्योति नीचे उतर रही थी। वह विशालता और वह ज्योति पीछे तुम्हारे अंदर उतरेगी और तुम्हारी चेतना उस ज्योति और विशालता तथा उनके अंदर जो कुछ है उस सवमें परिवर्त्तित हो जायगी।

*

विरह आत्माकी खोजमें प्राण-स्तरपर होनेवाली एक संक्रमणकालीन अनुभूति है — कोई कारण नहीं कि साधनाकी बिलकुल प्राथमिक अवस्थामें यह अनुभूति होनेकी संभावना न हो। जो उपलब्धियां बिना किसी बेचैनीके, विशुद्ध आनन्दमें होती है वे अधिक विकसित साधनाका फल होती हैं।

*

विरहका विशुद्ध भाव चैत्य भाव होता है — पर उसमें यदि राजसिक या तामसिक गतियां (जैसे, अवसाद, विलाप, विद्रोह आदि) अंदर घुस आयें तो फिर वह तामसिक या राजसिक बन जाता है।

*

विछोहकी वेदना प्राणकी वस्तु है, चैत्य पुरुषकी नहीं; चैत्य पुरुषमें कोई वेदना नहीं होती और इसलिये उसे व्यक्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। चैत्य पुरुष श्रद्धा, हर्ष और विश्वासके साथ सर्वदा भगवान्‌की ओर मुड़ा रहता है — जो भी अभीप्सा उसमें होती है वह विश्वास और आशासे भरपूर होती है।

*

मान-अभिमान (कोप) की वृत्तिसे तुम जितनी जल्दी छुटकारा पा जाओ उतना ही अच्छा है। जो मान-अभिमानमें रत होता है वह अपनेको विरोधी शक्तियोंके प्रभावके अधीन कर देता है। मान-अभिमानका सच्चे प्रेमके साथ कोई संबंध नहीं। यह भी, ईर्ष्याकी तरह, प्राणिक अहंकारका एक अंग है।

*

योगका यथार्थ उद्देश्य ही है चेतनामें परिवर्तन लाना — एक नवीन चेतनाको प्राप्त करके या अंतरस्थ सत्य-सत्ताकी प्रच्छन्न चेतनाको अनावृत करके और धीरे-धीरे उसे अभिव्यक्त और पूर्ण बनाकर मनुष्य सबसे पहले भगवान्‌का संस्पर्श और फिर उनके साथ एकत्व प्राप्त करता है। आनन्द और भक्ति उस गभीरतर चेतनाके अंग हैं और जब मनुष्य उस चेतनामें निवास करता है और उसमें वर्द्धित होता है केवल तभी यह आनन्द और भक्ति चिरस्थायी हो सकती है। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक मनुष्य आनन्द और भक्तिकी केवल अनुभूतियां प्राप्त कर सकता है, पर सतत और स्थायी स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता। परंतु भक्तिकी अवस्था और निरंतर-वर्द्धमान समर्पणकी स्थिति सभी मनुष्योंको साधनाकी प्रारंभिक अवस्था-

में नहीं प्राप्त होतीं; इस स्थितिके उद्घाटित होनेसे पहले बहुतोंको, निस्संदेह अधिकांश लोगोंको, शुद्धि और तपस्याकी एक लंबी यात्रा पार करनी होती है, और इस प्रकारके अनुभव, जो आरंभमें बहुत कम और बिखरे होते हैं और पीछे बार-बार आते हैं, उनकी प्रगतिके सूचक चिह्न होते हैं। यह किन्हीं विशेष अवस्थाओंपर निर्भर करता है जिनका योग करनेकी उच्चतर या हीनतर क्षमताके साथ कोई संबंध नहीं, बल्कि, जैसा कि तुम कहते हो, भागवत प्रभाव-रूपी सूर्यकी ओर खुलनेकी हृदयकी प्रवृत्तिके साथ है।

*

हां, यही चीज घटित हुई, परंतु भक्ति और प्रेमका प्रवाह भी एक ऐसी चीज है जो जितनी ही अधिक बार आती या जितना ही अधिक जागृत होती है उतना ही अधिक वह अवश्यमेव सत्ताके सभी भागोंमें भर जाती और उनपर अपना प्रभाव डालती है।

*

तुम्हें जो एक वस्तुके स्थानमें दूसरी चीजके आनेका अनुभव हुआ वह बिलकुल सही था। बहुत हदतक रूपांतरका कार्य प्राचीन उपरितलीय (निम्न) आत्मभावको हटाकर और उसकी गतिविधियोंको बाहर फेंककर और उनके स्थानमें एक नवीन गभीरतर आत्मभाव और उसकी सच्ची क्रियाको बैठाकर ही आगे बढ़ता है।

यदि उच्चतर भाव, भक्ति आदि तुम्हें कभी-कभी एक प्रभाव या रंग जैसे प्रतीत होते हैं तो इससे कोई हर्ज नहीं। जब तुम अपनेको बाह्य शरीर या बाह्य प्राण या बाह्य मनमें अनुभव करते हो तब वे ऐसा ही दीखते हैं। ये भाव वास्तवमें तुम्हारे अंतरतम आत्माके, तुम्हारे अंतरात्माके, तुम्हारे अंदर विद्यमान चैत्य पुरुषके भाव हैं और जब तुम अपनी चैत्य चेतनामें रहते हो तो वे यथार्थ और स्वाभाविक बन जाते हैं। परंतु जब तुम्हारी चेतना हट जाती है और अधिक बहिर्मुखी हो जाती है तो अंतरात्मा या भागवत चैतन्यकी ये क्रियाएं भी स्वयं बाहरी, महज एक प्रभावके जैसी प्रतीत होती है। जो हो, तुम्हें निरंतर उनकी ओर उद्घाटित होना होगा और तब वे अधिकाधिक तुम्हारे अंदर स्थिरताके साथ घुसती जायंगी अथवा क्रमागत तरंगों या बाढ़ोंके रूपमें आयेंगी और तबतक चलती रहेंगी जबतक कि वे तुम्हारे मन, प्राण और शरीरमें भर नहीं जातीं। तब तुम उन्हें केवल यथार्थ वस्तुके रूपमें ही नहीं बल्कि अपनी वास्तविक सत्ता आत्माके अंग तथा अपनी प्रकृतिके सच्चे उपादानतत्त्वके रूपमें अनुभव करोगे।

*

यदि हम केवल भावात्मक सत्ताकी भक्तिको प्रोत्साहित न करें क्योंकि निम्नतर

प्राण अभी सयमके अधीन नही है और भिन्न रूपसे कार्य करता है तो भक्ति भला कैसे वढेगी और निम्नतर प्राण कैसे परिवर्त्तित होगा ? जवतक अंतिम रूपमें प्रकृति निर्मल और सुसमंजस नही हो जाती तबतक सदा ही सत्तामें परस्पर विरोधी चीजें विद्यमान रहेगी। परतु यह कोई कारण नही कि किसी भी प्रकार उत्तम क्रियाओंकी क्रीड़ा दवा दी जाय—इसके विपरीत, ये ही चीजे है जिन्हें अर्जित करना और वढाना चाहिये।

IV

वैष्णव भावना और भक्तिको संपूर्ण हृदयसे तुम्हारे स्वीकार कर लेनेकी वात वास्तवमे चौका देनेवाली वन जाती है जव उसके साथ यह आग्रह जोड़ दिया जाता है कि जवतक कोई भगवान्का अनुभव नही प्राप्त कर लेता तवतक वह उन्हें अपना प्रेम नही दे सकता। भला भक्तिके लिये भक्तिके आनन्दकी अपेक्षा वैष्णव मनोभाव-में और कौनसी चीज अधिक प्रसिद्ध है ? वह मनोभाव चिल्ला-चिल्लाकर कहता है, "मुझे भक्ति दो, चाहे और जो भी चीज मुझसे दूर क्यों न रखो। यदि तुम्हारे साथ मिलन प्राप्त करनेमें वहुत देर हो, यदि तुम्हारे अभिव्यक्त होनेमें विलंव हो तो भी मेरी भक्ति, तुम्हारे लिये मेरी खोज, मेरी पुकार, मेरे प्रेम, मेरी पूजाको सर्वदा वने रहने दो।" कितने सतत रूपसे भक्तने गाया है, "अपने सारे जीवन मै तुम्हें ढूँढ़ता रहा हूँ और फिर भी तुम नही मिले हो, परंतु फिर भी मै ढूँढ़ता हूँ और ढूंढ़ना, प्रेम करना और पूजा करना वन्द नही कर सकता।" यदि भगवान्को पहले अनुभव किये विना उनको प्रेम करना वास्तवमें असंभव होता तो ऐसा भला कैसे होता ? सच पूछा जाय तो तुम्हारा मन गाड़ीको ही घोड़ोंसे आगे रखता प्रतीत होता है। मनुष्य सवसे पहले आग्रह अथवा जोशके साथ भगवान्की खोज करता है और उसके वाद ही उन्हें पाता है, कुछ लोग दूसरोंसे जल्दी पाते हैं, पर अधिकांश लोग दीर्घकालकी खोजके वाद ही पाते है। कोई उन्हे पहले पाकर फिर उनकी खोज नहीं करता। उनकी एक झांकी भी वहुधा केवल दीर्घ और तीव्र खोजके वाद ही मिलती है। मनुष्यको भगवान्के लिये प्रेम होता है अथवा किसी हदतक उन्हें पानेकी हृदयकी थोड़ी आकांक्षा होती है और उसके वाद ही वह ईश्वर-प्रेमको, हृदयकी आकांक्षाके प्रति उनके उत्तरको, परम हर्ष और आनन्दके उनके प्रत्युत्तरको जानता है। कोई भगवान्से यह नही कहता, "पहले तुम अपना प्रेम दिखाओ, अपने अनुभवोंको मेरे ऊपर वरसाओ, मेरी मांग पूरी करो, फिर मैं देखूंगा कि जवतक तुम मेरे प्रेमके योग्य हो तवतक मैं तुम्हें प्यार कर सकता हूँ या नही।" सच पूछा जाय तो निश्चय ही साधकको पहले खोजना और प्यार करना होगा, अन्वेषण करते रहना होगा, 'अन्वेपित' के लिये आतुर वन जाना होगा — केवल तभी पर्दा खिसकता है और ज्योति प्रकट होती है और परमप्रियका मुखमंडल प्रत्यक्ष होता है और केवल वही मरुभूमिकी उसकी लंवी यात्राके वाद जीवको संतुष्ट कर सकता है।

पर फिर तुम कह सकते हो, "हां, पर मैं प्यार करता होऊं या नही, मैं चाहता जरूर हूँ, मैंने सदा ही चाहा है और अब मैं और भी अधिक चाहता हूँ, पर मैं पाता कुछ नहीं हूँ।" हां, पर चाहना ही सब कुछ नही है। जैसा कि अब तुमने देखना आरभ किया है, कुछ शर्ते हैं जिन्हें पूरा करना होगा – हृदयकी शुद्धिकी तरह। तुम्हारी प्रस्थापना यह थी कि "जब एक बार मैं भगवान्‌को चाहता हूँ तो भगवान्‌को अवश्यमेव मेरे सामने प्रत्यक्ष होना चाहिये, मेरे पास आना चाहिये, कम-से-कम मुझे अपनी झाकियां देनी चाहिये, यथार्थ, ठोस, वास्तविक अनुभूति देनी चाहिये न कि महज अस्पष्ट चीजे जिन्हे मैं न तो समझ सकूँ न मूल्य दे सकूँ। ईश्वरकी करुणा-शक्तिको उसके प्रति जो मेरी पुकार है उसका उत्तर अवश्य देना चाहिये, चाहे मैं अभी उसके योग्य होऊं या नही —अन्यथा करुणा-शक्ति नामकी कोई वस्तु नहीं है।"ईश्वरकी करुणा-शक्ति निस्संदेह कुछ लोगोंके लिये वैसा कर सकती है, पर भला यह "अवश्य" कहांसे आ टपकता है? यदि ईश्वरको ऐसा अवश्य करना चाहिये, तो फिर वह अब ईश्वरकी करुणा नही रह जाती, बल्कि वह ईश्वरका कर्तव्य या दायित्व या ठेका या संधि हो जाता है। भगवान् हृदयके *भीतर झांकते हैं और उस क्षण वह पर्देको हटा देते है जिसे वह वैसा करनेका* यथार्थ क्षण समझते हैं। तुमने इस भक्ति-सिद्धांतपर जोर दिया है कि केवल उनका नाम पुकारनेकी जरूरत है और उन्हें अवश्य उत्तर देना चाहिये, उन्हे तुरत वहां उपस्थित हो जाना चाहिये। शायद, पर किसके लिये यह सत्य है? निस्संदेह, एक विशेप प्रकारके भक्तके लिये जो नामकी शक्तिको अनुभव करता है, उसमें प्रियतमके लिये आतुरता है और उसे वह अपनी पुकारमें भी शामिल करता है। यदि कोई ऐसा हो तो तुरत उत्तर आ सकता है — यदि नही है तो उसे वैसा बनना होगा, तब उत्तर अवश्य आयेगा। परंतु कुछ लोग वर्षो नाम-जप करते रहते हैं और उसके बाद ही उत्तर आता है। स्वयं रामकृष्णने कुछ महीनोंके बाद पाया था, पर कैसे महीने! और उन्हे उसे पानेसे पहले कैसी स्थितिमेंसे गुजरना पड़ा! फिर भी उन्हें शीघ्र सफलता मिली क्योंकि उनका हृदय पहलेसे ही पवित्र था — और वह दिव्य आवेग उसमें था।

निस्संदेह भक्त नहीं बल्कि ज्ञानी पहले अनुभवकी मांग करता है। वह कह सकता है, "मैं अनुभवके बिना कैसे जान सकता हूँ?" पर वह भी तोता पुरीकी तरह तीस वर्षोतक भी खोजता रहता है, सुनिश्चित उपलब्धि पानेका प्रयत्न करता रहता है। वास्तवमें बुद्धिप्रधान, तार्किक मनुष्य ही यह कहता है, "यदि भगवान् है तो वह पहले अपनेको मेरे सम्मुख सिद्ध करे, तब मैं विश्वास करूँगा, तब मै उसका अन्वेषण करनेके लिये कोई गंभीर और दीर्घ प्रयास करूँगा और देखूँगा कि वह कैसा है।"

इस सबका मतलब यह नहीं है कि अनुभव साधनाके लिये अनावश्यक है — मैंने अवश्य ही ऐसी बेमतलब बात नहीं कही होगी। मैंने जो कहा है वह यह है कि अनुभव आनेसे पहले भगवान्‌के प्रति प्रेम और उनकी खोज हो सकती है और सामान्यतया रहती है — यह चीज एक सहजवृत्ति है, अंतरात्मामें अंतर्निहित एक उत्कंठा है और ज्योंही अंतरात्माका कोई आवरण दूर होता है या दूर होना आरंभ करता है, वह ऊपर आ जाती है। दूसरी बात मैंने यह कही है कि "अनुभूतियों"के

आरम्भ होनेसे पहले प्रकृतिको तैयार कर लेना (विशुद्ध हृदय आदि-आदि) अधिक अच्छा है, न कि उससे उलटी बात, और मैं इसे उन उदाहरणोंके आधारपर कहता हूँ जिनमें सच्ची अनुभूतिके लिये हृदय और प्राणके तैयार होनेसे पहले ही अनुभूतियोंके कारण खतरा उत्पन्न हुआ है। अवश्य ही, बहुतसे लोगोंको सच्ची अनुभूति पहले प्राप्त होती है, कृपाका एक स्पर्श मिलता है, पर यह ऐसी चीज नहीं होती जो स्थायी हो और वहां सर्वदा रहती हो, बल्कि वह एक ऐसी चीज होती है जो स्पर्श करती, पीछे हट जाती और प्रकृतिके प्रस्तुत हो जानेकी प्रतीक्षा करती है। पर यह प्रत्येक मनुष्यके साथ नहीं घटित होता, मेरी समझमें, अधिकसंख्यक लोगोंके साथ भी नहीं घटित होता। मनुष्यको अंतरात्माकी अंतर्निहित उत्कंठासे आरंभ करना होता है, तब मंदिर-के प्रस्तुत होनेके लिये प्रकृतिके साथ संघर्ष होता है, फिर दिव्य विग्रहका उद्घाटन होता और अन्तमें देवालयमें देवताकी स्थायी उपस्थिति आ जाती है।

*

प्राचीन योगी और जिज्ञासु जिस वस्तुके लिये सर्वप्रथम प्रार्थना करते थे वह थी शान्ति और जिस अवस्थाको वे भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये सर्वोत्तम घोषित करते थे वह थी मनकी अचंचलता और निश्चल-नीरवता — और इससे सदा ही परम शांतिकी प्राप्ति होती है। प्रसन्न और आलोकित हृदय आनन्दके लिये उपयुक्त आधार है, और यह भला कौन कहेगा कि आनन्द या जो कुछ उसे तैयार करता है, भागवत मिलनमें बाधक होता है? जहांतक निराशाका प्रश्न है, यह निश्चय ही, मार्गका घोर दुर्वह भार है। व्यक्तिको कभी-कभी इसमेंसे गुजरना होता है, जैसे "पथिककी प्रगति, (Pilgrims Progress)" नामक कथाके ईसाई नायकको निराशाकी दलदल-मेंसे गुजरना पड़ा था। परंतु बार-बार इसीकी रट लगाते रहना बाधाके सिवा और कुछ नहीं हो सकता। गीता तो विशेष रूपसे कहती है: "निराशारहित हृदयसे 'अनिर्विण्णचेतसा' (६.२३), योगका अभ्यास करो।" मुझे खूब अच्छी तरह पता है कि दुःख-दर्द एवं संघर्ष तथा घोर निराशा स्वाभाविक है, यद्यपि ये चीजें मार्गकी अवश्यंभावी चीजें नहीं है। ये स्वाभाविक इस कारण नहीं हैं कि ये सहायिका हैं, वरन् इसलिये हैं कि ये इस मानवीय प्रकृतिके अंधकारद्वारा हमपर लादी जाती हैं, जिस अंधकारमेंसे संघर्ष करते हुए हमें प्रकाशकी ओर जाना है। मैं नहीं समझता कि तुमने रामकृष्ण और विवेकानन्दके जीवनकी जिन घटनाओंकी चर्चा की है उनके बारेमें वे यह सलाह देते कि ये दूसरोंके लिये अनुकरणीय दृष्टांत हैं — वे तो निश्चित रूपसे यही कहते कि श्रद्धा, धैर्य तथा अध्यवसाय ही अधिक उत्तम मार्ग है। इन अशुभ घड़ि-योंके होते हुए भी अनतोगत्वा वे इसी मार्गपर डटे रहे......। जो हो, रामकृष्णने नारद और एक तपस्वी योगी तथा एक वैष्णव भक्तकी कहानी कहकर उससे मिलनेवाली शिक्षाका समर्थन किया था। मैं उसके सारांशकी रक्षा करते हुए उसे अपने शब्दोंमें रखता हूँ। नारद जब वैकुंठ जा रहे थे तो मार्गमें उनकी एक योगीसे भेंट हुई जो पहाड़

पर घोर तपस्या कर रहा था। योगीने चिल्लाकर कहा, "नारद महाराज ! आप तो वैकुंठ जा रहे हैं और वहां आप विष्णु भगवान्से मिलेंगे। मै जीवनभर भीषण तप करता रहा हूँ, परंतु अभीतक मैंने उन्हें प्राप्त नही किया है। कृपया मेरे लिये उनसे केवल इतना पूछियेगा कि मैं उन्हें कब प्राप्त करूँगा।" आगे चलकर नारद एक वैष्णव-से मिले, वह वैष्णव भक्त हरिकीर्तन कर रहा था और अपने कीर्तनके साथ-साथ नाच भी रहा था। वह भी चिल्लाकर बोला: "हे नारदजी ! आप मेरे प्रभु भगवान् हरिसे मिलेंगे। उनसे पूछियेगा कि कब मैं उनके पास पहुँचकर उनकी मुखछवि देखूँगा।" लौटते हुए नारद मुनि पहले उस योगीके पास आये और बोले, "मैंने विष्णुसे पूछा है। तुम उन्हें और छः जन्मोंके बाद प्राप्त करोगे।" योगीके मुखसे अत्यंत दुःखभरी चीख निकल पड़ी: "हाय-हाय ! इतनी अधिक तपस्याएं ! ऐसे विकट पुरुषार्थ ! कितने कठोर हैं भगवान् विष्णु मेरे प्रति !" इसके बाद नारदजी भक्तसे मिले और बोले "तुम्हारे लिये मेरे पास कोई अच्छी खबर नहीं है। तुम्हें भगवान्के दर्शन होंगे तो सही, पर एक लाख जन्मोंके बाद।" परंतु भक्त अतिहर्षके मारे उछल पडा और चिल्लाने लगा: "ओह ! मैं अपने प्रभुवर हरिके दर्शन करूँगा ! एक लाख जन्मोंके बाद मै अपने प्रभुवर हरिके दर्शन करूंगा ! भगवान्की कितनी महान् कृपा है !" वह नये हर्षावेशके साथ नाचने-गाने लगा। तब नारदजीने कहा, "तुमने भगवान्को पा लिया है। आज ही तुम्हें भगवान्के दर्शन होंगे।" हां, तो आप कहेंगे, "कैसी अत्युक्तिपूर्ण कहानी है और मानव प्रकृतिके कितने विपरीत !" पर वास्तवमें यह उतनी विपरीत है नहीं और कम-से-कम हरिश्चंद्र तथा शिविकी कहानियोंसे अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण तो शायद नही है। फिर भी, मै उस भक्तको आदर्शके रूपमें नहीं पेश करता, क्योंकि मैं स्वयं इसी जीवनमें साक्षात्कार करनेपर आग्रह करता हूँ, न कि छः या लाख जन्मोंके बाद। परंतु इन कहानियोंकी मार्मिक बात है इनसे मिलनेवाली शिक्षा, और निस्संदेह जब रामकृष्णने यह कहानी कही थी तो वे इस बातसे अनभिज्ञ नही थे कि योगका एक ज्योतिर्मय मार्ग भी है। वे यहांतक कहते दीखते हैं कि वह बहुत शीघ्र पहुँचानेवाला तथा अधिक अच्छा मार्ग है। अतएव ज्योतिर्मय मार्गकी संभावनाकी बात मेरा निजी अनुसंधान या मौलिक आविष्कार नहीं है। तीस वर्षसे भी अधिक पूर्व मैंने योगकी जो पुस्तकें पहले-पहल पढ़ी थीं उनमें अंधकारमय तथा ज्योतिर्मय पथका वर्णन था और यह भी बलपूर्वक कहा गया था कि इनमेंसे पिछला पहलेकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।

*

ठीक क्रिया है शुद्ध अभीप्सा और समर्पण। परंतु व्यक्तिको भगवान्से यह अनुरोध करनेका अधिकार नहीं है कि वे अपनेको प्रकट करें ही। अभिव्यक्ति तो चेतनाकी आध्यात्मिक या आंतरात्मिक अवस्थाके या ठीक प्रकारसे किये गये सुदीर्घ साधना-भ्यासके उत्तरके रूपमें ही संपन्न हो सकती है। अथवा, यदि यह उनके पूर्व या किन्हीं प्रत्यक्ष कारणके बिना संपन्न हो तो वह कृपा है। परंतु व्यक्ति कृपाकी मांग नहीं कर

सकता या उसे वाध्य नही कर सकता। कृपा तो स्वत:स्फूर्त वस्तु है जो भागवत चेतना-से उसकी सत्ताके स्वच्छन्द प्रवाहके रूपमें प्रस्रवित होती है। भक्त इसकी वाट जोहता है; पर वह पूरे विश्वासके साथ — जरूरत हो तो जीवनभर भी — प्रतीक्षा करनेके लिये तैयार होता है — यह जानते हुए कि वह प्राप्त होगी ही। वह अपने प्रेम तथा समर्पणमे यह सोचकर कभी हेरफेर नहीं करता कि कृपा अभी या जल्दी क्यों नहीं प्राप्त होती। स्वयं तुमने भक्तोंके जो कितने ही पद गाये है उनकी भी यही भावना है। कुछ समय पूर्व मैंने एक ऐसा ही गीत तुम्हारे मुखसे रिकार्डमें सुना था और वह अत्यंत सुंदर था और सुन्दरताके साथ गाया गया था — "चाहे मैंने तुम्हें पाया नहीं है पर, हे नाथ, फिर भी मै तेरी उपासना करता हूँ।"

तुम्हारी भगवत्प्राप्तिमें वाधा पहुँचानेवाली चीज है प्राणगत अधीरताका चंचल तत्त्व तथा भगवान्से तुम जो कुछ चाहते हो उनकी अप्राप्तिसे लगातार वार-वार पैदा होनेवाली दृढ़ निराशा। तुम्हारी निराशा एवं अधीरताभरी भावना यह है कि "मैं इसे इतना चाहता हूँ, मुझे यह अवश्यमेव मिलना चाहिये, यह मुझसे क्यों रोककर रखा गया है?" परंतु चाह चाहे कितनी भी प्रवल क्यों न हो, वह पानेके लिये कोई आदेश-पत्र नही है; इसके लिये इसके अतिरिक्त कुछ और भी अपेक्षित है। हमारा अनुभव यह है कि अतिमात्र प्राणिक उत्सुकता, अत्यधिक आग्रह प्राय: मार्गमें वाधक ही होता है। यह एक प्रकारके विघ्न-वाधासमूहकी या चांचल्य एवं विक्षोभके ऐसे ववंडरकी सृष्टि करता है जो भगवान्के प्रवेशके लिये या अभीष्ट वस्तुके आगमनके लिये जरा-सा भी शांत अवकाश नही छोड़ता। वह इष्ट वस्तु प्राय: आती तो अवश्य है पर उस समय जव अधीरताका निश्चित रूपसे त्याग किया जा चुका हो और व्यक्तिको जो कोई भी चीज दी जाय (या, कुछ समयके लिये, न भी दी जाय) उसकी वह शांत-भावसे खुला रहकर प्रतीक्षा करे। परंतु जव तुम सच्ची भक्तिको और अधिक वढ़ाने-के लिये मार्ग वना रहे होते हो तव कितनी ही वार इस प्राणिक तत्त्वका स्वभाव उमड़कर अपना अधिकार जमा लेता है और की हुई उन्नतिको जहांका तहां रोक देता है।

अप्रसन्नताका भी मूल उद्‌गम है प्राण। कुछ अंशमें निराशा भी इसका कारण होती है, पर यही एकमात्र कारण नही है। क्योंकि यह अतीव सर्वसामान्य घटना है कि जव प्राणपर मन तथा आत्माका दवाव पड़ता है तो यह प्राय: सात्त्विक वैराग्यके स्थानपर राजसिक या तामसिक वैराग्य धारण कर लेता है। यह किसी भी वस्तुमें रस लेनेसे इनकार करता है, रूक्ष, उदासीन या अप्रसन्न हो जाता है। अथवा, यह कहता है, "भला, जो सिद्धि प्रदान करनेका तुमने मुझे वचन दिया था वह मुझे क्यों नही मिलती? मै प्रतीक्षा नहीं कर सकता।" इससे छुटकारा पानेका सवसे अच्छा तरीका यह है कि व्यक्ति इसका निरीक्षण करते हुए भी अपनेको इससे एकाकार न करे। यदि मन या मनका कोई भाग अनुमति दे या समर्थन करे तो, यह अवस्था डटी रहेगी या पुन:-पुन: आयेगी। यदि दु:ख अटल रूपसे आना ही हो तो जिस प्रकारके दु:खका तुमने अपने विगत पत्रमें वर्णन किया है वह अपेक्षाकृत वांछनीय है; वह विषाद जिसमें माधुर्य हो — निराशा नामभर भी नही, सच्ची चीजके आनेके लिये आंत-

परम बुद्धिमान् हैं। इस बीच चुपचाप जमीन साफ करो ताकि जब वे आयें तो उन्हें कंकड़-पत्थर और झाड़-झंखाड़पर लड़खड़ाना न पड़े। यही मेरा सुझाव है और जो कुछ मैं कह रहा हूँ उसे मैं खूब समझता हूँ — क्योंकि तुम चाहे जो कहो, मुझे सब मानवी कठिनाइयां और संघर्ष खूब अच्छी तरह मालूम हैं और उनका इलाज भी मुझे मालूम है। इसी कारण मैं सदा ऐसी चीजोंपर जोर देता हूँ जो संघर्षों और कठिनाइयोंको बहुत कम तथा छोटा कर देंगी,—आंतरात्मिक वृत्ति, श्रद्धा, पूर्ण और सरल विश्वास तथा भरोसा। स्मरण रहे कि ये वैष्णव योगके सिद्धांत है। निःसंदेह, एक और वैष्णव पद्धति भी है जो उत्कंठा तथा निराशा — तीव्र स्पृहा और विरह-वेदनाके बीच झूलती रहती है। तुम उसीका अनुसरण करते दीखते हो और मैं इस बातसे इन्कार नही करता कि मनुष्य इससे लक्ष्यपर पहुँच सकता है जैसे वह प्रायः किसी भी विधिसे पहुँच सकता है यदि वह उसका सच्चाईसे अनुकरण करे। परंतु तब, जो लोग उसका अनुसरण करते हैं वे विरहमे — परम प्रेमी भगवान्‌के वियोग तथा उनकी मनमौजमें भी रस अनुभव करते है। उनमेंसे कुछने यह गाया है कि उन्होंने अपने जीवनभर उनकी खोज की है पर सदा ही वह उनकी दृष्टिसे ओझल हो गये हैं और इस चीजमें भी उन्हें रस मिलता है और वे खोजना कभी नही छोड़ते। परंतु तुम्हें इसमें कुछ रस नहीं मिलता। अतएव तुम मुझसे यह आशा नहीं कर सकते कि मैं तुम्हारे लिये इसका समर्थन करूँ। कृष्णकी खोज अवश्य करो, परंतु खोजो इस दृढ़ निश्चयके साथ कि तुम अवश्य उन्हें पाओगे; विफलताकी आशा लेकर खोज मत करो अथवा अधबीचमें छोड़ बैठनेकी किसी भी संभावनाको अपने अंदर मत घुसने दो।

*

मुझे कृष्णकी पूजा या वैष्णव मतकी भक्तिके लिये जरा भी आपत्ति नही है, और न वैष्णव भक्ति और मेरे अतिमानसिक योगमें कोई विरोध है। सच पूछा जाय तो अतिमानसिक योगका कोई विशेष और ऐकांतिक रूप नहीं है; सभी मार्ग अतिमानसकी ओर ले जा सकते हैं, ठीक जैसे कि सभी मार्ग भगवान्‌तक पहुँचा सकते हैं।

यदि तुम लगातार प्रयास करते रहो तो तुम जिस स्थायी भक्ति और जिस उपलब्धिको पाना चाहते हो उसे पानेमें तुम असफल नहीं होगे। परंतु तुम्हें कृष्णपर पूर्ण रूपसे यह भरोसा रखना सीखना होगा कि जब वह समझेंगे कि सब कुछ तैयार हो गया है और यथार्थ समय आ गया है तब वह उसे अवश्य देंगे। यदि वह चाहते हैं कि तुम अपनी अपूर्णताओं और अशुद्धियोंको पहले दूर करो तो वह आखिरकार समझमें आने योग्य बात है। मैं नहीं समझता कि तुम इसे करनेमें क्यों सफल नहीं हो सकते, अब जब कि तुम्हारा ध्यान इतने सतत रूपसे इसकी ओर आकृष्ट किया जा रहा है। उन्हें साफ-साफ देखना और उन्हें स्वीकार करना पहला पग है, उन्हें त्याग करनेका प्रबल संकल्प बनाये रखना दूसरा पग है, उनसे अपने-आपको

इच्छा और कामनाओंको भगवान्‌के सकल्पको अर्पित कर देता है, कर सकता है। मैंने यह भी कहा है कि भगवत्कृपा किसी भी मुहूर्त्त एकाएक कार्य कर सकती है, पर उसके ऊपर मनुष्यका कोई अधिकार नही है, क्योंकि वह एक असीम संकल्पसे आती है जिसे मनुष्य नही देख सकता। ठीक यही कारण है कि मनुष्यको कभी निराश नहीं होना चाहिये, इससे और फिर इस कारण भी निराश नही होना चाहिये कि भगवान्‌के लिये की हुई कोई सच्ची अभीप्सा अंतमें असफल नही हो सकती।

*

आध्यात्मिक वस्तुओंका केवल एक ही युक्ति-तर्क है; वह यह कि जब भगवान्‌के लिये कोई चाह, कोई सच्ची पुकार होती है तो वह एक दिन अपनी चरितार्थता प्राप्त करनेको बाध्य होती है। सच पूछा जाय तो जब कहीं कोई प्रबल असच्चाई होती है, किसी अन्य वस्तुके लिये — शक्ति, महत्त्वाकांक्षा आदिके लिये — तीव्र लालसा होती है जो आतरिक पुकारको व्यर्थ कर देती है तो फिर वह युक्ति-तर्क लागू नही होता। तुम्हारे प्रसंगमें हृदयके द्वारा, भक्तिके बढ़ जानेपर अथवा हृदयकी आंतरात्मिक शुद्धि हो जानेपर उसके आनेकी (पुकारके पूरा होनेकी) संभावना है; यही कारण है कि मै तुम्हारे ऊपर चैत्य पथको ग्रहण करनेका दबाव डालता था।

इन भ्रांत भावनाओं और वेदनोको अपने ऊपर शासन मत करने दो या अपने विषादकी स्थितिको अपने लिये निर्णय न देने दो : उपलब्धिके लिये सुदृढ़ केंद्रीय संकल्प बनाये रखनेका प्रयत्न करो; तुम ऐसा कर सकते हो यदि तुम ऐसा करनेका निश्चय कर लो, इन चीजोंको करना असभव नहीं है। तुम अनुभव करोगे कि आध्यात्मिक कठिनाई अन्तमें मृगमरीचिकाकी तरह विलीन हो जाती है। यह शारीर सत्तासे संबंध रखती है और, जहां आंतरिक पुकार सच्ची होती है वहां, बाह्य चेतना भी सर्वदा टिक नही सकती : इसकी आपातदृष्ट घनता गल जायगी।

निस्संदेह, तुम्हारा भक्तिकी याचना करना उचित है। क्योंकि मेरी समझमें तुम्हारी प्रकृतिकी यही सर्वप्रधान माँग है। उस विषयके लिये यह वह प्रबलतम चालकशक्ति है जो साधनामें हो सकती है और उस सबके लिये सर्वोत्तम साधन है जिसे प्राप्त करना है। यही कारण है कि मैंने यह कहा था कि वास्तवमें हृदयके माध्यमसे ही तुम्हें आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त होनी चाहिये।

*

जहांतक कृष्णके विषयमें प्रश्न है, क्यों न सरल-सीधे ढंगसे उनकी ओर आगे बढ़ा जाय? सरल भावसे बढ़नेका मतलब है उनपर विश्वास रखना। यदि तुम प्रार्थना करते हो तो विश्वास रखो कि वे सुनते है। यदि उत्तर आनेमें देर लगती हो तो विश्वास रखो कि वे जानते है और प्रेम करते हैं तथा समयका चुनाव करनेके बारेमें

परम बुद्धिमान् हैं। इस बीच चुपचाप जमीन साफ करो ताकि जब वे आयें तो उन्हें कंकड़-पत्थर और झाड़-झंखाड़पर लड़खड़ाना न पड़े। यही मेरा सुझाव है और जो कुछ मैं कह रहा हूँ उसे मैं खूब समझता हूँ — क्योंकि तुम चाहे जो कहो, मुझे सब मानवी कठिनाइयां और संघर्ष खूब अच्छी तरह मालूम हैं और उनका इलाज भी मुझे मालूम है। इसी कारण मै सदा ऐसी चीजोंपर जोर देता हूँ जो संघर्षों और कठिनाइयोंको बहुत कम तथा छोटा कर देंगी,—आतरात्मिक वृत्ति, श्रद्धा, पूर्ण और सरल विश्वास तथा भरोसा। स्मरण रहे कि ये वैष्णव योगके सिद्धांत हैं। नि:संदेह, एक और वैष्णव पद्धति भी है जो उत्कंठा तथा निराशा — तीव्र स्पृहा और विरह-वेदनाके बीच झूलती रहती है। तुम उसीका अनुसरण करते दीखते हो और मैं इस बातसे इन्कार नही करता कि मनुष्य इससे लक्ष्यपर पहुँच सकता है जैसे वह प्राय: किसी भी विधिसे पहुँच सकता है यदि वह उसका सच्चाईसे अनुकरण करे। परतु तब, जो लोग उसका अनुसरण करते है वे विरहमें — परम प्रेमी भगवान्के वियोग तथा उनकी मनमौजमें भी रस अनुभव करते है। उनमेंसे कुछने यह गाया है कि उन्होंने अपने जीवनभर उनकी खोज की है पर सदा ही वह उनकी दृष्टिसे ओझल हो गये हैं और इस चीजमें भी उन्हें रस मिलता है और वे खोजना कभी नही छोड़ते। परतु तुम्हें इसमें कुछ रस नही मिलता। अतएव तुम मुझसे यह आशा नही कर सकते कि मैं तुम्हारे लिये इसका समर्थन करूँ। कृष्णकी खोज अवश्य करो, परंतु खोजो इस दृढ़ निश्चयके साथ कि तुम अवश्य उन्हें पाओगे; विफलताकी आशा लेकर खोज मत करो अथवा अधबीचमें छोड़ बैठनेकी किसी भी संभावनाको अपने अंदर मत घुसने दो।

*

मुझे कृष्णकी पूजा या वैष्णव मतकी भक्तिके लिये जरा भी आपत्ति नही है, और न वैष्णव भक्ति और मेरे अतिमानसिक योगमें कोई विरोध है। सच पूछा जाय तो अतिमानसिक योगका कोई विशेष और ऐकांतिक रूप नहीं है; सभी मार्ग अतिमानसकी ओर ले जा सकते हैं, ठीक जैसे कि सभी मार्ग भगवान्तक पहुँचा सकते हैं।

यदि तुम लगातार प्रयास करते रहो तो तुम जिस स्थायी भक्ति और जिस उपलब्धिको पाना चाहते हो उसे पानेमें तुम असफल नही होगे। परंतु तुम्हें कृष्णपर पूर्ण रूपसे यह भरोसा रखना सीखना होगा कि जब वह समझेंगे कि सब कुछ तैयार हो गया है और यथार्थ समय आ गया है तब वह उसे अवश्य देंगे। यदि वह चाहते हैं कि तुम अपनी अपूर्णताओं और अशुद्धियोंको पहले दूर करो तो वह आखिरकार समझमें आने योग्य बात है। मैं नही समझता कि तुम इसे करनेमें क्यों सफल नहीं हो सकते, अब जब कि तुम्हारा ध्यान इतने सतत रूपसे इसकी ओर आकृष्ट किया जा रहा है। उन्हें साफ-साफ देखना और उन्हें स्वीकार करना पहला पग है, उन्हें त्याग करनेका प्रबल संकल्प बनाये रखना दूसरा पग है, उनसे अपने-आपको

सपूर्णत. पृथक् कर लेना जिसमें कि यदि वे प्रवेश भी करे तो यह मानो विजातीय तत्त्वोंका आना हो, अब वे तुम्हारी सामान्य प्रकृतिके अग न रहें बल्कि बाहरसे आनेवाली सूचनाए हो — यह अंतिम पग है; यहातक कि, एक बार देखे जाने और त्यागे जानेके बाद वे अपने-आप झड जा सकती और विलीन हो सकती है; परंतु अधिकांश लोगोंके लिये इस प्रक्रियामे काफी समय लगता है। ये चीजें तुम्हारी प्रकृतिकी ही अनूठी बातें नही है, ये विश्वव्यापी मानव-प्रकृतिके अग हैं; पर वे विलीन हो सकती हैं, अवश्य होती है और अवश्य होगी।

*

अब उस प्रश्नपर आये जो तुम्हें परेशान करता है। वास्तवमें यह प्रश्न इस कारण उठता है कि भक्तकी भावना और आलोचककी आलोचनाके बीच तुम्हारे मनमें कुछ भ्रम है। निस्सदेह, भक्त कृष्णको इसलिये प्यार करता है कि कृष्ण प्रिय है, और किसी कारणसे नही करता; बस यही है उसकी भावना और उसकी सच्ची भावना। उसे इस विषयमे अपना सिर खपानेके लिये समय नही होता कि उसके अंदरकी किस चीजने उसे प्रेम करनेके योग्य बनाया है। यह तथ्य कि वह प्रेम करता है उसके लिये पर्याप्त होता है और उसे अपने भावोंका विश्लेषण करनेकी आवश्यकता नही होती। उसके लिये कृष्णकी कृपा रहती है उनके प्रेमयोग्य होनेमें, भक्तके सम्मुख उनके प्रकट होनेमें, उनकी पुकारमें, वंशीकी ध्वनिमे। यह हृदयके लिये पर्याप्त है, अथवा यदि इसके अतिरिक्त और कोई चीज हो तो वह होती है यह उत्कंठा कि दूसरे या सब लोग उस वंशीको सुनें, उस मुखमंडलका दर्शन करे, इस प्रेमके समस्त सौंदर्य और परमानन्दको अनुभव करें।

सच पूछो तो भक्तका हृदय नही बल्कि आलोचकका मन यह प्रश्न उठाता है कि यह क्या बात है कि गोपियोको ही पुकारा गया और उन्होंने तुरत प्रत्युत्तर दिया और दूसरोंको — उदाहरणार्थ, ब्राह्मण स्त्रियोंको — नही बुलाया गया और उन्होंने तुरत प्रत्युत्तर नही दिया। एक बार जब मन प्रश्न उठाता है तो इसके दो उत्तर संभव होते हैं: बिना किसी कारण महज कृष्णकी इच्छासे ऐसा होता है, यह वह चीज है जिसे मन उनका निरपेक्ष दिव्य चुनाव या उनकी निरंकुश दिव्य मनमौज अथवा जिस हृदयकी पुकार हुई है उसकी तैयारी कहेगा: और यह ठीक उस चीजके समान है जिसे लोग अधिकार-भेद कहते है। तीसरा उत्तर होगा: परिस्थितियोंके वश ऐसा होता है, जैसे, 'अ' के कथनानुसार "आध्यात्मिक क्षेत्रको बंद सुरक्षित स्थानके रूपमें परिवेष्टित कर रखना।" परंतु परिस्थितियां भला भगवत्कृपाको कार्य करनेसे कैसे रोक सकती हैं? परिवेष्टित कर देनेके बावजूद भी वह कार्य करती है: ईसाई, मुसलमान भी कृष्णकी कृपाशक्तिको प्रत्युत्तर देते हैं। बाघ और भूत-पिशाच भी यदि उन्हें देख लें, उनकी वंशीध्वनि सुने तो उन्हें प्यार करने लगेंगे? हां, पर कुछ लोग क्यों उसे सुनते और उन्हें देखते है पर दूसरे नही सुनते और देखते? यहां दो विकल्प हमारे

सामने आ उपस्थित होते हैं : कृष्णकी कृपा उन्हें पुकारती है जिन्हें वे पुकारना चाहते है और उनके चुनाव या त्यागके लिये कोई निश्चयात्मक कारण नही होता, बस यह सब उनकी कृपा है अथवा उनकी कृपाका पीछे हट आना या कम-से-कम विलंबित होना है अथवा वह ऐसे हृदयोंको पुकारते हैं जो स्पंदित होनेके लिये तैयार होते हैं और उनकी पुकार होते ही उछल पड़ते हैं — और उस स्थितिमें भी वह यथार्थ मुहूर्त आनेतक प्रतीक्षा करते है। यह कहना कि यह बाहरी विशेषता या योग्यताके दिखावेपर नहीं निर्भर करता, निस्संदेह सत्य है; हो सकता है कि कोई चीज उसे आवृत्त करनेवाली बहुतसी कठोर परतोंके बावजूद जागृत होनेके लिये तैयार हो गयी हो, हो सकता है कि कोई वस्तु कृष्णके लिये दृश्य हो और हम लोगोंके लिये न हो। संभवतः उसी स्थानमें बहुत दिन पहले वंशी बजनी शुरू हो गयी थी, पर कृष्ण कठोर परतोंको गलानेमें व्यस्त थे जिसमें कि जगानेवाले सुरके बजनेपर जब हृदय उछल पड़े तब फिर वे चीजें उसे अपने नीचे न दबा दें। गोपियोंने सुना और वे जंगलमें दौड़ कर चली गयी, दूसरी स्त्रियां नही गयी, —अथवा, क्या उन्होंने यह समझा कि यह केवल कोई ग्राम्य संगीत है अथवा कोई गंवार ग्वाला-प्रेमी अपनी प्रेमिकाके लिये वंशी बजा रहा है : कोई ऐसी पुकार नही है जिसे सुशिक्षित और सुसंस्कृत या धार्मिक लोग भगवान्‌की पुकार समझें ? आखिरकार कुछ बातें अधिकार-भेदके विषयमें भी कहने योग्य हैं। परंतु, इसमें संदेह नही कि, उन्हें व्यापक अर्थमें समझना होगा। कुछ लोगोंमें कृष्णकी वंशी पहचाननेका अधिकार हो सकता है, कुछको ईसाकी पुकार पहचाननेका, कुछको शिवका नृत्य पहचाननेका — प्रत्येकका भागवत पुकारके उत्तरका अपना निजी ढंग और उसकी प्रकृतिका निजी उत्तर होगा। अधिकारको मनके कठोर शब्दोंमें नहीं व्यक्त किया जा सकता: यह एक आध्यात्मिक और सूक्ष्म वस्तु है, आह्वानकारी और आहूतके बीचकी कोई गुह्य और गुप्त वस्तु है।

गर्वसे फूले मस्तकका जहांतक प्रश्न है, भगवत्कृपाका सिद्धांत निस्संदेह, उसके घटित होनेमें सहायक नही होता, यद्यपि मैं यह कल्पना कर सकता हूँ कि उक्त मस्तकने कभी कृपाका अनुभव नहीं किया था बल्कि केवल अपने निजी अहंके महत्त्वको अनुभव किया था। गर्वसे फूलनेका भाव व्यक्तिगत प्रयासके मार्गमें भी उसी प्रकार आ सकता है जैसे कि भगवत्कृपाकी लालसासे आ सकता है। मूलतः इसका कारण इन दोनोंमेंसे कोई नही है, बल्कि इसका कारण इस प्रकारकी सृजनकी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

*

राधा अनन्य भगवत्प्रेमकी प्रतिमा हैं — ऐसा अनन्य भगवत्प्रेम जो प्रेमीके ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक सत्तासे लेकर शरीर सत्तातक सर्वांगमें परिपूर्ण और अखंड हो, जिसमें कि निरपेक्ष आत्मदान और पूर्ण समर्पण हो और जो शरीरमें तथा अत्यंत जड़ प्रकृतिमें परमानन्द भर दे।

*

राधा-कृष्णकी प्रतिमा देखनेपर काम-वृत्तिके उठनेका कारण यह है कि प्राचीन समयमे राधा-कृष्ण-भक्तिपंथके साथ उसका संबंध था। परंतु वास्तवमें प्रतिमाके साथ उसका कोई संबंध नही। उसका सच्चा रूपक मानवीय कामजन्य आकर्षण नही होगा, वल्कि अंतरात्मा, चैत्य पुरुष, भागवत पुकारको सुनना और पूर्ण प्रेम तथा समर्पणभावमे विकसित होना होगा जिससे सर्वोच्च आनन्द प्राप्त होता है। यही चीज है जिसे राधा और कृष्ण अपने दिव्य एकत्वके द्वारा मानव-चेतनामें उत्पन्न करते है और इसी रूपमें तुम्हें इसे मानना चाहिये और प्राचीन कामवृत्तिके संबंधको दूर फेंक देना चाहिये।

*

गोपियां, शव्दके यथार्थ अर्थमे, सामान्य जन नहीं हैं, वे आध्यात्मिक प्रेमभाव-के मूर्त्त रूप हैं, अपने प्रेमके चरम रूप, व्यक्तिगत भक्ति और निःशेष आत्मदानके नाते असामान्य हैं। जिस किसी व्यक्तिमें ये चीजें होती हैं, उसकी स्थिति अन्य विषयोंमें (शिक्षा, प्रस्तुत करनेकी शक्ति, विद्वत्ता, वाह्य पवित्रता आदि) चाहे जितनी नगण्य क्यो न हो, वह आसानीसे कृष्णकी खोज कर सकता और उन्हें पा सकता है; यही मुझे गोपियोंके रूपकका तात्पर्य प्रतीत होता है। निस्संदेह, इसके और भी वहुतसे तात्पर्य है — यह उन अनेकोंमेंसे केवल एक तात्पर्य है।

*

निश्चय ही, कृष्णके नामके साथ वहुत अधिक मनमौजपन, कठिन व्यवहार और लीला-वृत्ति जुड़ी हुई है जिसका मूल्य वे लोग सर्वदा तुरत-फुरत नही समझ पाते जिनके साथ वह खेल करते है। परंतु उनकी मनमौजोंमें एक युक्ति-तर्क है और साथ ही उनकी एक गुह्य पद्धति है, और जव वह उससे वाहर निकल आते हैं और तुम्हारे साथ भला वननेकी उनकी इच्छा हो जाती है तो उनमें एक प्रकारका चरम आकर्षण, मनोहरता और मोहिनी-शक्ति आ जाती है जो, उनके लिये तुमने जो कुछ कष्ट झेला है, उसका वदला चुका देती है और वदलेसे भी कहीं अधिक चुकाती है।

*

भला कृष्ण घोड़ेपर क्यों नही चढ़ेंगे यदि वह वैसा करना चाहें? उनके कार्यों और आदतोंको मानव मन अथवा अपरिवर्तनीय परंपरा नही निर्धारित कर सकती। विशेषकर कृष्ण स्वयं अपने-आपमें एक विधान है। संभवतः उस स्थानपर जानेके लिये उन्हें जल्दी थी जहां वह वंशी वजाना चाहते थे।

*

यदि कृष्ण सर्वदा और स्वभावतः रुक्ष और दूरस्थ हों (हे भगवान्! क्या अजीव खोज है — सभी मनुष्योंके कृष्ण!), तो मनुष्यकी भक्ति और अभीप्सा कैसे उनके पासतक जा सकती है — वह और यह (मानव भक्ति आदि) शीघ्र ही उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवकी तरह हो जायेंगे, अधिकाधिक हिममय होते जायेंगे, सर्वदा एक-दूसरेके सम्मुख होंगे पर बीचमें पृथ्वीका उभार होनेके कारण एक-दूसरेको देखेंगे नहीं। फिर, यदि कृष्ण मानव भक्तको नहीं चाहते होते और उसी तरह भक्त उन्हें न चाहता होता तो फिर उन्हें कौन पा सकता था? — तब तो वह सर्वदा शिवकी तरह हिमालय-की बर्फके ऊपर बैठे रहते। परंतु इतिहास उनका दूसरा ही वर्णन देता है और साधारण-तया उनपर अत्यधिक स्नेहपूर्ण और क्रीड़ाप्रिय होनेका आरोप लगाया जाता है।

*

मैं नहीं समझता कि 'अ' जिस चीजको कृष्णकी ज्योति कहता है उससे संबंधित तुम्हारे प्रश्नका उत्तर मैं दे सकता हूँ। निश्चय ही यह वह चीज नही है जिसे सामान्यतः ज्ञान समझा जाता है। उसके कहनेका मतलब भागवत चेतनाकी ज्योति या उससे आनेवाली ज्योति हो सकता है अथवा उसके कहनेका मतलब कृष्णकी ज्योतिर्मय सत्ता हो सकता है जिसमें सभी चीजें अपने परम सत्यके अंदर विद्यमान रहती हैं — ज्ञानका सत्य, भक्तिका सत्य, परमोल्लास और आनन्दका सत्य, सभी चीजें वहां हैं।

फिर दिव्य ज्योतिकी एक प्रकारकी अभिव्यक्ति भी है — उपनिषदें ज्योति-र्ब्रह्मकी, ज्योतिरूप ब्रह्मकी बात कहती हैं। बहुत बार साधक अपने ऊपर और अपने चारों ओर ज्योतिका एक प्रवाह अनुभव करता है अथवा ज्योतिकी एक धाराको अपने केंद्रोंमें,यहांतक कि अपनी सारी सत्ता और शरीरतकमें अधिकार जमाते हुए तथा प्रत्येक कोषमें प्रविष्ट होते हुए और उसे आलोकित करते हुए अनुभव करता है तथा उस ज्योति-में साधककी आध्यात्मिक चेतना वर्द्धित होती है और वह उसकी सभी या बहुतसी क्रिया-ओं और अनुभूतियोंकी ओर उद्घाटित होता है। प्रसंगतः, मेरे सामने रामदासकी पुस्तक 'विजन' (Vission-दर्शन) की एक आलोचना पड़ी है जिसमें एक ऐसे ही अनु-भवका वर्णन है जो राम मंत्रका जाप करनेसे प्राप्त हुआ था, पर, यदि मैं ठीक-ठीक समझ रहा हूँ, एक लंबी और कठोर तपश्चर्याके बाद प्राप्त हुआ था। "मंत्रके अपने-आप बंद हो जानेके बाद उन्होंने एक छोटीसी वृत्ताकार ज्योति अपनी मानस-दृष्टिके सामने देखी। इससे उनके अन्दर आनन्दकी सिहरन अनुभूत हुई। यह अनुभव कुछ दिनोंतक जारी रहा, फिर बिजलीकी चमककी जैसी उनकी आंखोंको चौंधिया देने-वाली एक ज्योतिका अनुभव उन्हें हुआ और उस ज्योतिने अंतमें उन्हें आच्छादित और परिव्याप्त कर लिया। अब उनके शारीरिक ढांचेके रंध्र-रंध्रमें एक अनिर्वचनीय आनन्दका संचार हो गया।" यह चीज सर्वदा इस प्रकार नहीं आती — अधिकांशतः यह धीरे-धीरे या लंबे व्यवधानके बाद आती है, आरंभमें, चेतनापर तबतक कार्य करती है जबतक चेतना तैयार नहीं हो जाती।

हम भी यहां कृष्णकी ज्योतिकी बात कहते हैं — मनमें कृष्णकी ज्योति, प्राणमें कृष्णकी ज्योति आदि। परन्तु यह एक विशिष्ट ज्योति है — मनमें यह सुस्पष्टता लाती है अथवा मानसिक भ्रांति और विकृतिसे मुक्ति देती है; प्राणमेंसे यह सभी कलुषित पदार्थोंको निकाल देती और जहां वे होते हैं वहां विशुद्ध और दिव्य प्रसन्नता और हर्ष ले आती है।

परन्तु हम अपनेको सीमित क्यों करें, केवल एक चीजपर आग्रह क्यों करें और दूसरी प्रत्येक चीजको बाहर क्यों निकाल दें? चाहे भक्तिसे या ज्योतिसे या आनन्दसे या शान्तिसे या चाहे किसी भी दूसरे उपायसे क्यों न मनुष्य भगवान्‌की प्रारंभिक अनुभूति प्राप्त करे मुख्य बात है उसे पाना और उसे प्राप्त करानेवाले सभी उपाय अच्छे हैं।

यदि कोई भक्तिपर आग्रह करता है तो वह भक्तिसे ही प्राप्त होती है और अपने पूर्ण रूपसे भक्ति और कोई चीज नहीं, सिर्फ संपूर्ण आत्मदान है। परंतु तब सभी ध्यानों, सभी तपस्याओं, प्रार्थना या सबके सभी साधनोंका अन्त यही होगा और वास्तवमें जब कोई उस साधनमें पर्याप्त रूपमें अग्रसर हो चुकता है तब भागवत कृपा अवतरित होती है और अनुभूति आती है और तबतक विकसित होती रहती है जबतक कि पूर्ण नहीं हो जाती। परन्तु उसके आगमनका मुहूर्त एकमात्र भगवान्‌की प्रज्ञाके द्वारा चुना जाता है और मनुष्यमें उतना बल अवश्य होना चाहिये कि वह उस समयके आनेतक सतता रहे, क्योंकि जब सब कुछ वास्तवमें तैयार हो जाता है तब वह आनेमें कभी नहीं चूकती।

विभाग आठ

योगमें मानवीय संबंध

योगमें मानवीय संबंध

ऐसा मालूम होता है कि इस योगके सिद्धातको तुमने नही समझा है। पुराने योगने पूर्ण त्यागकी, यहांतक कि स्वयं जागतिक जीवनको भी छोड़ देनेकी मांग की थी। पर, उसके बदले, इस योगका लक्ष्य है एक नया और रूपांतरित जीवन प्राप्त करना। परंतु उतनी ही कठोरताके साथ यह आग्रह करता है कि मन, प्राण और शरीर-मेंसे वासना और आसक्तिको पूर्णरूपेण निकाल फेंका जाय। इसका उद्देश्य है जीवन-को आत्माके सत्यमें पुनः प्रतिष्ठित करना और उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये, हम जो कुछ हैं और मन, प्राण तथा शरीरसे जो कुछ करते हैं उस सबके मूलको मनसे ऊपरकी एक महत्तर चेतनामें उठा ले जाना। इसका अर्थ यह है कि उस नये जीवनमें हमारे सभी संबंध एक आध्यात्मिक घनिष्ठताके ऊपर प्रतिष्ठित होने चाहिये और एक ऐसे सत्यपर प्रतिष्ठित होने चाहियें जो हमारे वर्तमान संबंधोंको सहारा देनेवाले किसी भी सत्यसे एकदम भिन्न हो। जिन सब चीजोंको लोग स्वाभाविक स्नेह-संबंध कहा करते हैं उन सबको उच्चतर पुकार आनेपर त्याग देनेके लिये हमें तैयार रहना चाहिये। अगर वे कभी रखे भी जायं तो फिर केवल एक परिवर्तनके साथ ही रखे जा सकते हैं जो उन्हें एकदम रूपांतरित कर देगा। पर, वे त्याग दिये जायंगे अथवा रखे जायंगे और परि-वर्त्तित किये जायंगे इसका निर्णय व्यक्तिगत कामनाओंके द्वारा कदापि नहीं करना होगा बल्कि ऊपरके सत्यके द्वारा करना होगा। सब कुछ योगके परम प्रभुके हाथोंमें छोड़ देना होगा।

जो शक्ति इस योगमें कार्य करती है वह सर्वांगपूर्ण स्वभाववाली है और अंतमें छोटी या बड़ी ऐसी किसी चीजको बर्दाश्त नहीं करती जो सत्य और उसकी प्राप्तिके लिये बाधा साबित हो।

*

व्यक्तिगत संबंध योगका कोई अंग नहीं है। जब मनुष्य भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है, केवल तभी दूसरोंके साथ कोई सच्चा आध्यात्मिक संबंध हो सकता है।

*

सभी साधकोंको एक-दूसरेसे अलग रहना होगा तथा एक-दूसरेके विरुद्ध तलवार खींच रखनी होगी — यह स्वयं एक पूर्वनिर्धारित धारणा है जिसका त्याग करना

ही होगा। यौगिक जीवनका विधान सामंजस्य है, संघर्ष नहीं। यह पूर्वनिर्धारित धारणा संभवतः उस प्राचीन भावनासे उत्पन्न होती है जिसका लक्ष्य होता है निर्वाण; परन्तु यहांपर लक्ष्य निर्वाण नहीं है। यहां लक्ष्य है जीवनमें भगवान्‌को संसिद्ध करना, अभिव्यक्त करना और उसके लिये एकत्व और सामाजिकताका होना अनिवार्य है।

योगका आदर्श यह है कि सब कुछ भगवान्‌के अन्दर और उनके इर्दगिर्द केंद्रित होना चाहिये और साधकोंका जीवन उसी सुदृढ़ नीवके ऊपर स्थापित होना चाहिये, उनके व्यक्तिगत संबंधोंका भी केंद्र भगवान् ही होने चाहियें। अधिकंतु सभी संबंध प्राणगत आधारसे उठकर आध्यात्मिक आधारपर चले जाने चाहियें और प्राणगत आधारको केवल आध्यात्मिक आधारका एक रूप और यंत्र बन जाना चाहिये — इस बातका अर्थ यह है कि साधकोंके आपसमें कोई भी संबंध क्यों न हों उनमेंसे समस्त ईर्ष्या, कलह, घृणा, असंतोष, विद्वेष तथा अन्य अशुभ प्राणगत भावोंको निकाल फेंकना चाहिये, क्योंकि ये सब चीजें आध्यात्मिक जीवनका अंग नहीं बन सकतीं। इसी तरह समस्त अहंकारपूर्ण प्रेम और आसक्तिको भी दूर होना होगा — उस प्रेमको जो केवल अहंकारकी तृप्तिके लिये ही प्रेम करता है, और, जैसे ही अहंकार आहत और असंतुष्ट हो जाता है वैसे ही प्रेम करना बंद कर देता है, यहांतक कि द्वेष और घृणातकका पोषण करता है। सच पूछो तो प्रेमके पीछे एक सच्चा, सजीव और स्थायी एकत्व अवश्य रहना चाहिये। निःसंदेह यह मानी हुई बात है कि काममूलक अपवित्रता जैसी चीजें भी अवश्य दूर होनी चाहियें।

यही है आदर्श, पर इसकी सिद्धिके मार्गका जहांतक संबंध है, वह विभिन्न लोगोंके लिये अलग-अलग हो सकता है। एक मार्ग वह है जिसमें साधक एकमात्र भगवान्‌का ही अनुसरण करनेके लिये अन्य सभी चीजोंका त्याग कर देता है। इसका मतलब जैसे यह नहीं है कि वह संसार और जीवनसे विरक्त हो जाय वैसे ही यह भी नहीं है कि वह किसी व्यक्तिसे विरक्त हो जाय। इसका बस मतलब है अपने केंद्रीय लक्ष्यमें डूब जाना, इस भावनाके साथ कि जब एक बार वह लक्ष्य प्राप्त हो जायगा तब सच्चे आधारके ऊपर सब प्रकारके संबंध स्थापित करना दूसरोंके साथ हृदय और आत्मा और जीवन-में, आध्यात्मिक सत्य और भगवान्‌में सचमुचमें युक्त हो जाना आसान हो जायगा। दूसरा मार्ग है जहांपर अभी मनुष्य है वहींसे आगेकी ओर चलना, मुख्यतः भगवान्‌को खोजते हुए चलना और बाकी सभी चीजोंको उसीके अधीन करना, पर उन्हें अलग नहीं रख देना, बल्कि उनमें जो कुछ रूपांतरित होनेके योग्य है उसे क्रमशः और अधिकाधिक रूपांतरित करनेकी चेष्टा करना। इस तरह जैसे-जैसे आंतर सत्ता शुद्ध होती जाती है वैसे-वैसे वे सभी चीजें जो संबंधके अंदर वांछित नहीं होतीं—काममूलक अपवित्रता, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकारपूर्ण मांग — दूर होती जाती हैं और उनके स्थानमें आ जाता है अंतरात्माके साथ अंतरात्माका एकत्व और भगवान्‌की डोरीके द्वारा सामाजिक जीवन-एक साथ बंध जाना।

यह बात नहीं है कि साधकमंडलके बाहरके लोगोंके साथ हम संबंध नहीं रख सकते, पर वहां भी, अगर आध्यात्मिक जीवन भीतरमें वर्द्धित हो रहा हो तो वह निश्चय

ही उस संबंधपर अपना प्रभाव डालेगा और साधककी ओर उसे अध्यात्मभावापन्न बनायेगा। और उस संबंधमें ऐसी कोई आसक्ति नही होनी चाहिये जो संबंधको भगवान्‌के लिये एक बाधा अथवा प्रतिद्वंद्वी बना दे। परिवार आदिके प्रति जो आसक्ति होती है वह प्रायः ही इस प्रकारकी होती है और, अगर ऐसी होती है तो, वह साधकके अंदरसे दूर हो जाती है। यह एक अनिवार्य आवश्यकता है जिसे, मैं समझता हूँ, अत्यधिक नहीं मानना चाहिये। परंतु यह सब, धीरे-धीरे किया जा सकता है; वर्तमान संबंधोंको काट देना कुछ लोगोंके लिये आवश्यक होता है, यह सभी लोगोंके लिये आवश्यक नहीं होता। रूपांतर, वह चाहे कितना ही धीरे-धीरे क्यों न हो, अनिवार्य है; जहांपर काट देना ही यथार्थ कर्तव्य है, वहां काटना आवश्यक है।

पुनश्च :– यहां मुझे फिरसे यह भी कह देना होगा कि प्रत्येक प्रसंग अलग-अलग होता है — सबके लिये एक ही नियम न तो व्यावहारिक होता है न व्यवहार्य। प्रत्येक मनुष्यके लिये उसकी आध्यात्मिक उन्नतिकी दृष्टिसे जो कुछ आवश्यक है बस वही वांछनीय वस्तु है और उसे ही दृष्टिमें रखना चाहिये।

*

भगवान्‌का सामीप्य प्राप्त करनेके लिये मानवी स्नेह और सहानुभूतिसे रहित होनेकी आवश्यकता नही। प्रत्युत, दूसरोंसे समीपता तथा एकताका बोध तो उस दिव्य चेतनाका ही एक अंग है जिसमें साधक भगवान्‌की समीपता तथा भगवान्‌के साथ एकताका अनुभव करता है। निःसंदेह, समस्त संबंधोंका पूर्ण परित्याग मायावादीका अंतिम लक्ष्य है, और तपस्यामूलक योगमें संसार तथा इसके जीवित प्राणियोंसे मैत्री, प्रीति एवं आसक्तिके सब संबंधोंका नितांत उच्छेद मोक्षकी ओर प्रगति करनेका आशाजनक चिह्न समझा जायगा। परंतु मेरे विचारमें, वहां भी प्राणिमात्रके साथ एकत्व तथा अनासक्तिपूर्ण आध्यात्मिक सहानुभूतिका अनुभव, कम-से-कम, बौद्धोंकी करुणाके समान, मोक्ष या निर्वाणकी ओर अंतिम झुकाव होनेसे पहलेकी अवस्था है। इस योगमें दूसरोंके साथ ऐक्यका अनुभव, प्रेम, सार्वभौम हर्ष तथा आनन्द मुक्ति एवं सिद्धिका मौलिक अंग है और ऐसी मुक्ति एवं सिद्धि ही हमारी साधनाका ध्येय है।

दूसरी ओर मानवसमाज, मानवीय मैत्री, प्रेम, स्नेह और समवेदनाका भाव, — पूरी तरहसे या निरपवाद रूपमें तो नही, पर अधिकतर एवं साधारणतः— प्राणिक आधारपर स्थित होते हैं और होते हैं अपने अहं-रूपी केंद्रसे धारित। प्रायः, मनुष्य दूसरोंसे प्रेम करनेमें सुख अनुभव होनेके कारण, दूसरोंके संपर्कसे तथा परस्पर आत्मसत्ताओंके एक-दूसरेमें व्याप्त होनेसे अहंका विस्तार होनेमें सुख अनुभव होनेके कारण, और अपने व्यक्तित्वके परिपोषक प्राणिक आदान-प्रदानके उल्लासके कारण ही दूसरोंसे प्रेम करते हैं — इससे भिन्न और कहीं अधिक स्वार्थपूर्ण अन्य हेतु भी होते हैं जो इस मुख्य चेष्टामें मिल-जुल जाते हैं। निस्संदेह, उच्चतर आध्यात्मिक, आंतरात्मिक, मानसिक, प्राणिक तत्त्व भी आ घुसते हैं या घुस सकते हैं; किंतु सारी-की-सारी वस्तु,

अपने सर्वोत्तम रूपमे भी, वहुत अधिक मिश्रित होती है। इसीलिये एक विशेष अवस्था-मे, प्रत्यक्ष कारणसे या उसके विना, जगत्, जीवन, मानवसमाज, मानवीय संवंध और परोपकार (जो अन्य सवके समान ही अहं-आक्रांत होता है) फीके पड़ने लगते हैं। कभी-कभी कोई दिखावटी कारण होता है, जैसे—स्थूल प्राणकी निराशा, दूसरोंका हमे प्रेम करना छोड देना अथवा यह अनुभव कि हमारे प्रेमपात्र व्यक्ति या साधारणतया सभी लोग वैसे नही है जैसा कि हम उन्हें समझते थे। फिर और भी कितने ही कारण हो सकते है। पर प्रायः आंतर सत्ताके किसी भागकी निराशा ही कारण होती है जिसका रूप मनमे प्रकट या अच्छी तरह प्रकट नहीं हुआ होता, क्योंकि मन उन चीजोंसे किसी ऐसी वस्तुकी आशा रखता था जिसे वे नही दे सकतीं। जो लोग आध्यात्मिक जीवनकी ओर मुडते या प्रेरित होते है उनमेंसे वहुतोके साथ ऐसा ही होता है। कुछ व्यक्तियोंमें यह निराशा वैराग्यका रूप धारण करती है जो उन्हें वैरागियोंकीसी उदासीनताकी ओर प्रेरित करता है तथा मोक्षके लिये तीव्र संवेग प्रदान करता है। अपने लिये हम जिस चीजको आवश्यक मानते है वह यह है कि मिलावट दूर हो जानी चाहिये और चेतनाको उस शुद्धतर स्तरपर (केवल आध्यात्मिक तथा आंतरात्मिक ही नहीं वल्कि शुद्धतर एवं उच्चतर मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक चेतनाके स्तरपर भी) प्रतिष्ठित करना चाहिये जिसमें यह मिश्रण है ही नही। वहां व्यक्ति एकत्व, प्रेम, सहानुभूति तथा मैत्रीका सच्चा आनन्द अनुभव करेगा। यही आनन्द अपने मूल रूपमें आध्यात्मिक तथा स्वयंभू है पर प्रकृतिके अन्य भागोंद्वारा अपनेको प्रकट करता है। यदि ऐसा ही होना हो तो स्पष्ट है कि एक परिवर्तन आवश्यक है। इन क्रियाओंके पुराने रूपको नष्ट होकर अपना स्थान नयी तथा उच्चतर आत्माको दे देना होगा ताकि यह उन क्रियाओंद्वारा अपने-आपको तथा भगवान्‌को प्रकट तथा चरितार्थ करनेका अपना पथ प्रशस्त करे — यही इस विषयका आंतर सत्य है।

अतः मैं समझता हूँ कि जिस अवस्थाका तुमने वर्णन किया है वह संक्रमण तथा परिवर्तनका काल है। ऐसी अवस्थाएं या गतियां शुरू-शुरूमें प्रायः अभावात्मक ही हुआ करती हैं। वैसे ही तुम्हारी यह अवस्था भी प्रारंभमें अभावात्मक है और इसका प्रयोजन है नयी भावात्मक वस्तुके लिये स्थान खाली करना ताकि वह प्रकट होकर इसमें निवास करे और इसे भर दे। परंतु उस रिक्त स्थानकी पूर्त्ति करनेवाली वस्तुका कोई चिरस्थायी या कम-से-कम पर्याप्त या पूर्ण अनुभव प्राणको नही है, अतः वह केवल अभाव ही महसूस करता है तथा इसमें शोक मानता है जव कि सत्ताका एक अन्य भाग, यहांतक कि प्राणका भी एक अन्य भाग लुप्त होती हुई वस्तुको जाने देनेके लिये तैयार होता है तथा उसे रखनेको तरसता नही। यदि प्राणकी यह गति न होती (जो तुममें वहुत प्रवल, विस्तृत और जीनेके लिये उत्कंठित रही है) तो, इन वस्तुओंका विलोप, कम-से-कम शून्यताके प्रथम भानके पश्चात् शांति, विश्राम और महत्तर वस्तुओंकी निस्तब्ध प्रतीक्षाके भावको ही जन्म देता। रिक्त स्थानको भरनेके लिये जो वस्तु सवसे पहले अभिप्रेत है उसका संकेत तुम्हें उस शांति तथा हर्षके रूपमें मिला जो तुम्हें शिवके स्पर्शके तौरपर अनुभूत हुआ — स्वभावतः ही, यही इतिश्री नही हो जायगी

वल्कि यह तो केवल श्रीगणेश होगा। यह नये आत्मभाव तथा नयी चेतनाके लिये और महत्तर प्रकृतिकी क्रियाके लिये आधार होगा। जैसा मैं तुम्हें वता चुका हूँ, गभीर आध्यात्मिक स्थिरता तथा शांति ही स्थायी भक्ति एवं आनन्दकी एकमात्र दृढ़ भित्ति है। उस नयी चेतनामें दूसरोंके साथके संवंधोंके लिये नया ही आधार होगा। कारण, वैराग्यपूर्ण शुष्कता या संसर्ग-शून्य एकाकिता तुम्हारा आध्यात्मिक भविष्य नही हो सकती क्योंकि यह तुम्हारे स्वभावसे संगत नही है। तुम्हारा स्वभाव तो हर्ष, विशालता, विस्तार, प्राणशक्तिकी व्यापक गतिके लिये बना है। अतएव निरुत्साहित मत होओ; शिवकी पावन क्रियाकी प्रतीक्षा करो।

*

मैंने वरावर ही कहा है कि भागवत या आध्यात्मिक कर्मके लिये प्राण अनिवार्य है — इसके विना जीवनमें कोई पूर्ण अभिव्यक्ति, कोई उपलब्धि नही हो सकती — यहांतक कि साधनामें भी कोई अनुभूति मुश्किलसे हो सकती है। जब मै प्राणिक मिश्रण या प्राणके वाधा-विघ्न, विद्रोह आदिकी चर्चा करता हूँ तव मैं वास्तवमें असंस्कृत वाह्य प्राणकी वात करता हूँ जो कामना, अहंकार और निम्नतर आवेगोंसे भरा होता है। मैं वही वात मन और शरीरके विषयमें भी कह सकता था यदि वे वाधा देते या विरोध करते, पर ठीक-ठीक इस कारण कि प्राण इतना अधिक शक्तिशाली और अपरिहार्य होता है, इसकी वाधा, इसका विरोध या सहयोग देनेकी अस्वीकृति अत्यंत अद्भुत रूपमें प्रभावशाली होती है और इसकी अशुद्ध मिलावटें साधनाके लिये अधिक खतरनाक होती है। यही कारण है कि मैं सर्वदा अशुद्ध प्राणके खतरोंपर और वहां प्रभुत्व प्राप्त करने तथा शुद्धि करनेपर आग्रह करता रहा हूँ। इसका कारण यह नहीं कि मैं संन्यासियोंकी तरह प्राण और उसकी जीवनी-शक्तिको उसके एकदम स्वभाववश ही निन्दा करने और परित्याग करनेकी वस्तु मानता हूँ।

स्नेह, प्रेम, प्यार आदि अपने स्वभावमें चैत्य है,—प्राणमें ये होते है क्योंकि चैत्य पुरुष प्राणके माध्यमसे अपनेको प्रकट करनेका प्रयास कर रहा है। सच पूछा जाय तो भावात्मक सत्ताके माध्यमसे चैत्य पुरुष सवसे अधिक आसानीसे प्रकट होता है, क्योंकि वह ठीक उसके पीछे हृदय-केंद्रमें अवस्थित रहता है। परंतु वह चाहता है कि ये चीजें शुद्ध हों। यह वात नही कि वह प्रांण और शरीरके माध्यमसे होनेवाली वाह्य अभिव्यक्तिका त्याग करता है, वल्कि चैत्य पुरुष अंतरात्माका ही रूप होनेके कारण स्वभावतः ही अंतरात्माका अंतरात्माके प्रति होनेवाले आकर्षणको अनुभव करता है, अंतरात्माके साथ अंतरात्माके एकत्वको ठीक उन्हीं वस्तुओंके जैसा अनुभव करता है जो अंतरात्माके लिये अत्यंत स्थायी और ठोस होती हैं। मन, प्राण और शरीर अभिव्यक्तिके साधन हैं और अभिव्यक्तिके वहुत मूल्यवान् साधन हैं, पर अंतरात्माके लिये आंतरिक जीवन सवसे पहली वस्तु, गभीरतम सत्य है और इन सवको उसके अधीन रखना होगा और उसके द्वारा प्रसीमित रखना होगा — उसकी अभिव्यक्ति,

उसके यत्र और प्रणालीके रूपमे रखना होगा। मैं नही समझता कि मैं आंतरिक वस्तुओपर, चैत्य और आध्यात्मिक वस्तुओंपर आग्रह करके मैं कोई नयी बात, अद्भुत या न समझमे आने योग्य बात कह रहा हूँ। इन चीजोंपर आरंभसे ही सर्वदा अधिक जोर दिया जाता रहा है और जितना ही अधिक मनुष्य विकसित होता है उतना ही इनका महत्त्व बढ़ जाता है। मेरी समझमें नही आता कि आंतरिक जीवनपर, अंतरात्मा और आत्मापर इस प्रारभिक आग्रहके विना योग करना कैसे संभव हो सकता है। प्राणपर प्रभुत्व जमाने, उसको आध्यात्मिक और चैत्य चेतनासे कम महत्त्वपूर्ण और अधीनस्थ वनानेपर जोर डालना भी कोई नवीन, विचित्र या अतिरंजित वात नहीं है। इन वातोपर किसी भी प्रकारके आध्यात्मिक जीवनके लिये सर्वदा जोर डाला जाता रहा है; यहातक कि जो योग, वैष्णव मतकी कुछ पद्धतियोंकी तरह, प्राणका व्यवहार करनेका अत्यधिक प्रयत्न करते हैं, वे भी इसके पवित्रीकरण तथा भगवान्के प्रति इसके पूर्ण समर्पणपर आग्रह करते है। भगवान्से संबंधित सभी अनुभूतियां आंतरिक अनुभूतियां हैं, केवल, यहांपर अंतरात्मा भावात्मक सत्ताके जरिये अपनेआपको अर्पण करता हैं। अतरात्मा या चैत्य पुरुप कोई अश्रुतपूर्व या अवोध्य वस्तु नहीं है।

*

मानव-प्रेम स्पष्ट ही अविश्वसनीय है, क्योंकि यह वहुत अधिक स्वार्थपरता और कामनापर आधारित है, यह अहंभावकी एक लौ है जो कभी मलिन और कुहासाच्छन्न, कभी अधिक स्पष्ट और गहरे रंगसे रंगा होता है — कभी सहजवृत्ति और आदतपर आधारित तामसिक, कभी राजसिक और हृदयावेग या प्राणिक आदानप्रदानके लिये चीख-पुकारसे पोपित होता है, कभी अधिक सात्त्विक होता तथा निष्काम होने या अपनी दृष्टिमे वैसा प्रतीत होनेका प्रयास करता है। परंतु मूलतः यह किसी व्यक्तिगत आवश्यकता या किसी-न-किसी प्रकारके आंतरिक या वाँह्य प्रतिफलपर निर्भर करता है और जव वह आवश्यकता पूरी नही होती या प्रतिफल समाप्त हो जाता है या नही प्राप्त होता तो यह अधिकाश समय कम हो जाता या मर जाता या भूतकालकी आदतके केवल एक धीमे या विक्षुव्व अवशेपके रूपमें वना रहता है अथवा अपनी तृप्तिके लिये अन्यत्र मुड जाता है। यह जितना ही अधिक तीव्र होता है, उतना ही अधिक यह अशांतियों, संघर्षों, कलहों, सभी प्रकारके अहंकारपूर्ण उपद्रवों, स्वार्थपरताओं, अवैध मागो, यहांतक कि क्रोध और घृणाके विस्फोटों और मतभेदोंके द्वारा विक्षुव्ध होनेको वाध्य होता है। यह वात नही कि ये स्नेह टिक नही सकते — तामसिक सहजस्फूर्त स्नेह व्यक्तियोंको पृथक् करनेवाली प्रत्येक चीजके वावजूद अभ्यासवश टिकते है, जैसे, कुछ पारिवारिक स्नेह; कभी-कभी सारे उपद्रवों और असामंजस्यों और तीक्ष्ण मतभेदोंके वावजूद राजसिक स्नेह टिक सकते हैं, क्योंकि एकको दूसरेकी एक प्राणिक आवश्यकता होती है और उसके कारण वह चिपका रहता है अथवा दोनों-

को वह आवश्यकता होती है और वे निरन्तर अलग होते और वापस आते और वापस आते और अलग होते है या झगड़ेसे मेलकी ओर और मेलसे झगड़ेकी ओर जाते हैं; सात्त्विक स्नेह वहुधा कर्तव्यवोधसे लेकर आदर्शभावनातकके कारण या किसी दूसरे अवलंवके कारण टिकते हैं पर वे अपनी उत्सुकता या तीव्रता या तेजस्विताको खो सकते है। परंतु उसमें सच्ची दृढता केवल तभी आती है जव मनुष्य-प्रेममें चैत्य तत्त्व इतना पर्याप्त प्रवल हो जाता है कि वह वाकीपर अपना रंग चढ़ा सके या उनपर प्राधान्य स्थापित कर सके। उस कारणसे मित्रता अन्य सभी मानवीय स्नेहभावोंकी अपेक्षा वहुत अधिक वार अत्यत स्थायी होती है या हो सकती है, कारण उस सवधमें प्राणका कम हस्तक्षेप होता है और यद्यपि वह अहंकी एक लौ होती है, वह एक स्थिर और शुद्ध अग्नि वन सकती है जो सर्वदा अपनी गर्मी और ज्योति देती रहे। परतु विश्वसनीय मित्रता लगभग सर्वदा वहुत थोड़ेसे लोगोंमें ही होती है; स्नेहशील, नि:स्वार्थभावसे विश्वासपात्र मित्रोंके एक झुंडका होना तो इतना विरल व्यापार है कि इसे निश्चित रूपमें एक भ्रम माना जा सकता है . ..। पर जो हो, मानवीय स्नेहका चाहे जो भी मूल्य हो, इसका एक अपना स्थान है, क्योंकि इसके द्वारा चैत्य पुरुपको वे भावात्मक अनुभूतियां प्राप्त होती है जिनकी उसे तवतक आवश्यकता होती जवतक वह आपात-दृष्टके स्थानमें सच्ची, अपूर्णके स्थानमें पूर्ण, मानवीयके स्थानमे दिव्य अनुभूतियोंको सामने उपस्थित करनेके लिये तैयार नही हो जाता। जिस तरह चेतनाको उच्चतर स्तरपर ऊपर उठना है वैसे ही हृदयकी क्रियाओंको भी उस उच्चतर स्तरतक ऊपर उठना होगा और अपने आधार और स्वभावको वदलना होगा। योगका स्वरूप है समस्त जीवन और चेतनाको भगवान्में स्थापित करना, इसलिये प्रेम और स्नेहको भी भगवान्में वद्धमूल करना होगा और भगवान्के अन्दर प्राप्त आध्यात्मिक और चैत्य एकत्व उनका आधार होना चाहिये — अन्य सभी चीजोंको एक ओर छोड़कर सवसे पहले भगवान्को प्राप्त करना या एकमात्र भगवान्को पानेका प्रयत्न करना उस परिवर्तनका सीधा पथ है। इसका अर्थ है कोई आसक्ति न होना — आवश्यक रूपसे इसका अर्थ यह नही है कि स्नेहको अस्नेहमें या ठंडी उदासीनतामें वदल दिया जाय। परंतु संभवत. 'अ' यह चाहता है कि उसके अपने प्राणिक भावावेग जैसे वे हैं — ज्योंके त्यों — भगवान्में ले लिये जायं — उसे कोशिश करने दो और आलोचनाओं तथा भाषणोंके द्वारा उसे परेशान मत करो; यदि ऐसा किया जा सकता है तो उसे स्वयं अपने लिये इसका पता लगा लेना होगा।

*

वास्तवमें इसका कारण तुम्हारा स्वभाव या दुर्भाग्य नहीं है कि तुम्हारा प्राण दूसरोंके सायके संवंधोंसे जो तुष्टि पाना चाहता था वह नहीं प्राप्त कर पाता। ये संवंध कभी पूरा या स्थायी संतोप नही दे सकते। यदि ये देते, तो फिर कोई कारण ही न होता कि मनुष्य कभी भगवान्को पानेका प्रयास करता। वह साधारण पार्थिव

जीवनसे ही संतुष्ट बना रहता। सच पूछा जाय तो जब भगवान् प्राप्त हो जाते हैं और चेतना सत्य-चेतनामें ऊपर उठ जाती है केवल तभी दूसरोंके साथ सच्चा संबंध स्थापित हो सकता है।

जब मैंने यह कहा था कि इसमें कोई हानि नहीं है तो मेरा मतलब यह था कि जो कुछ तुम्हारे मनमें है उसे अपने ही अन्दर घूमते रहने देनेकी अपेक्षा उसे श्रीमाताजी-को बता देना अधिक अच्छा है। परंतु एक बार जब कह दिया तो फिर सब कुछ मनसे बाहर निकाल दिया जाना चाहिये और मनको अपनी स्थिरता फिरसे प्राप्त कर लेनी चाहिये।

*

ये क्रियाएं मनुष्यकी अज्ञ प्राणिक प्रकृतिका अंग हैं। जिस प्रेमको मनुष्य परस्पर एक-दूसरेके प्रति अनुभव करता है वह भी सामान्यतया अहंजन्य प्राणिक प्रेम होता है और ये अन्य क्रियाए, दावा, मांग, ईर्ष्या, मान-अभिमान, क्रोध इत्यादि, उसकी सामान्य सहायक हैं। इनके लिये योगमें कोई स्थान नहीं है — न सच्चे प्रेम, चैत्य या दिव्य प्रेममें ही स्थान है। योगमें सभी प्रेम भगवान्‌की ओर मुड जाने चाहियें और मनुष्य या दूसरी वस्तुओंकी ओर केवल भगवान्‌के पात्रोंके रूपमें — मान-अभिमान तथा शेष चीजोंके लिये उसमें कोई स्थान नही होना चाहिये।

*

वह सब निस्संदेह प्रेम नहीं है, बल्कि आत्मप्रेम है। ईर्ष्या आत्मप्रेमका महज एक कुत्सित रूप है। यही बात लोग नही समझते — वे यह भी समझते हैं कि मांग और ईर्ष्या और आहत अभिमान प्रेमके चिह्न है अथवा कम-से-कम उसके स्वाभाविक अनुचर है।

*

उच्चतर प्राणकी क्रिया सामान्य प्राणकी क्रियासे कही अधिक परिमार्जित और अपनी गतिमें अधिक विशाल होती है। वह इंद्रियबोध और कामनाकी अपेक्षा हृद्‌गत भावोंपर अधिक बल देती है, पर वह मांग तथा अधिकारकी कामनासे शून्य नही होती।

*

जो संबंध मानवजीवनमें साधारण प्राण-प्रकृतिके अंग होते हैं उनका आध्या-

त्मिक जीवनमें कोई मूल्य-महत्त्व नही — वे वल्कि प्रगतिमें वाधा डालते हैं; क्योंकि उस जीवनमें मन और प्राण भी पूर्णतः भगवान्‌की ओर मुड़ जाने चाहियें। परंतु, साधना-का उद्देश्य है आध्यात्मिक चेतनामें प्रवेश कर जाना और प्रत्येक चीजको एक नवीन आध्यात्मिक आधारपर स्थापित करना जो केवल तभी हो सकता है जब कि साधक भगवान्‌के साथ पूर्ण एकता स्थापित कर लेता है। इस बीच सबके लिये शांत शुभ कामना बनाये रखना होगा, पर प्राणिक ढंगके रिश्ते-नाते सहायता नहीं करते — क्योंकि वे चेतनाको नीचे एक प्राणिक आधारपर वनाये रखते हैं और उसे उच्चतर स्तरकी ओर ऊपर उठनेसे रोकते है।

*

पूरक आत्मा और विवाहके विषयमें जो तुम्हारा प्रश्न है उसका उत्तर देना आसान है; आध्यात्मिक जीवनका मार्ग तुम्हारे लिये एक दिशामें है और विवाह बिल-कुल दूसरी तथा उलटी दिशामें। पूरक-आत्मा-विषयक सारी-की-सारी चर्चा एक वनावटी आवरण है जिससे मन निम्न प्राणिक प्रकृतिकी भावनात्मक, संवेदनात्मक तथा भौतिक कामनाओंको ढकनेकी चेष्टा करता है। तुम्हारे अंदरकी यह प्राणिक प्रकृति ही ऐसा प्रश्न करती है और यह अपनी कामनाओं और मांगों तथा तुम्हारे अंतःस्थ सत्य अंतरात्माकी पुकार — इन दोनोंका मेल मिलानेवाला उत्तर पसंद करेगी। परंतु इसे यहांसे ऐसे किसी असंगत मेलकी अनुमतिकी आशा नही करनी चाहिये। अतिमानसिक योगका मार्ग सुस्पष्ट है। इन चीजोंके साथ रियायत करना इस मार्गका अंग नही है। तुम जो यथासंभव आध्यात्मिक पर्देकी आड़में, पारिवारिक तथा वैवाहिक जीवनके ऐश-आराम तथा भोगविलासकी एवं साधारण उत्तेजनात्मक इच्छाओं और स्थूल विषयवासनाओंके उपभोगकी लालसाकी पूर्त्ति करना चाहते हो वह इस मार्गका अंग नही है,—वल्कि ये चेष्टाएं जिन शक्तियोंको विकृत करतीं तथा जिनका दुरुपयोग करती हैं उन्हें शुद्ध तथा रूपांतरित करना ही इस मार्गका अंग है। ये मानवीय और पाशविक तृष्णाएं कोई ऊंची वस्तु नहीं हैं, ऊंची वस्तु है दिव्य आनन्द जो इनके ऊपर और परे है। इन हीन कामनाओंमें आसक्त होनेसे आनन्दके अवतरणमें वाधा पहुँचती है। साधकके अंदर प्राणिक पुरुषकी अभीप्साको इसी आनन्द की कामना करनी चाहिये।

*

मानवीय प्राणिक आदान-प्रदान साधनाका सच्चा अवलंब नही हो सकता और, इसके विपरीत, यह निश्चित रूपसे उसे हानि पहुँचाता और विकृत करता है, चेतनाको आत्मप्रतारणाकी ओर ले जाता तथा भावात्मक सत्ता तथा प्राण-प्रकृतिको गलत रास्तेपर मोड़ देता है।

*

पारिवारिक बंधनके विषयमें तुम जो कुछ लिखते हो वह बिलकुल ठीक है। यह एक अनावश्यक आदान-प्रदानकी क्रियाकी सृष्टि करता है और भगवान्‌की ओर पूरी तरह मुड़नेके पथमें बाधा डालता है। योग आरंभ करनेके बाद अपने संबंधोंको किसी भौतिक मूलस्रोतपर या भौतिक चेतनाके अभ्यासोंपर कम आधारित करना चाहिये और अधिकाधिक साधनाके आधारपर स्थापित करना चाहिये — साधारण तरीकेसे अथवा प्राचीन दृष्टिकोणसे संबंध नही स्थापित करना चाहिये, बल्कि वह संबंध होना चाहिये साधकोंके साथ एक साधकका, दूसरोंके साथ इस भावसे संबंध होना चाहिये मानो सभी ऐसे आत्मा हैं जो एक ही पथसे यात्रा कर रहे हैं अथवा सभी श्रीमाताजीके बच्चे है।

*

जब कोई आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करता है तो पारिवारिक बंधन, जो सामान्य प्रकृतिकी चीज है, विलीन हो जाता है — मनुष्य सभी पुरानी वस्तुओंके प्रति उदासीन हो जाता है। यह उदासीनता एक प्रकारकी मुक्ति है। वास्तवमें इस चीजके अन्दर कठोरताके भावके होनेकी बिलकुल आवश्यकता नही। प्राचीन भौतिक स्नेहसंबंधोंसे बंधे रहनेका अर्थ होगा सामान्य प्रकृतिसे बंधे रहना और वह चीज आध्यात्मिक प्रगतिमें बाधा पहुँचायेगी।

*

माता-पिताके प्रति आसक्ति साधारण भौतिक प्रकृतिकी वस्तु है — भागवत प्रेमके साथ इसका कोई सरोकार नही।

*

यह भाव (बच्चेका अपने पालन-पोषणके लिये अपने पिताका ऋणी अनुभव करना) मानवसमाजका एक विधान है, 'कर्म'का कोई विधान नही है। बच्चेने पितासे उसे जगत्‌में ले आनेके लिये नही कहा था — और, यदि पिताने अपने निजी सुखके लिये ऐसा किया है तो वह बच्चेके पालन-पोषणके लिये बस कम-से-कम ही कर सकता है। ये सभी सामाजिक संबंध हैं (और सच पूछो तो यह पिताके प्रति बालकका एकपक्षीय ऋण बिलकुल नही है), पर वे चाहे जो हों, जैसे ही कोई आध्यात्मिक जीवन ग्रहण करता है, वे समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि आध्यात्मिक जीवन बाहरी भौतिक संबंधोंपर बिलकुल आश्रित नहीं होता; वास्तवमें एकमात्र भगवान्‌पर ही मनुष्यको उस समय उसे आधारित करना चाहिये।

*

भगवान्‌की ओर मुड़ जानेपर आंतरिक सत्ता स्वभावतः ही पुराने प्राणिक संबंधों और बाहरी क्रियाओं तथा संस्पर्शोंसे अलग हट जाता है जबतक कि वह बाहरी सत्ताके अन्दर एक नीवन चेतना नही ले आता।

*

जिस क्रियाकी तुम बात करते हो वह चैत्य नही बल्कि भावात्मक है। सच पूछो तो तुम प्राणिक-भाविक शक्तिको प्रकट करते और नष्ट करते हो। यह इसलिये भी हानिकारक है कि जहां तुम एक ओर किसी पुराने प्राणिक संबंध या इन लोगोंके साथके बंधनको त्यागनेका प्रयत्न करते हो, वहां तुम इस क्रियाके द्वारा दूसरे ढंगसे उनके साथ प्राणिक संबंध पुनः स्थापित करते हो। यदि तुम्हारी पहली क्रियामें कोई चीज गलत थी तो यह दोषको दूर करनेका बिलकुल गलत तरीका है।

निश्चय ही, किसी व्यक्तिके विरुद्ध कोई हिंसापूर्ण भावना रखे बिना त्याग करना कहीं अधिक अच्छा होगा, क्योंकि हिंसाभाव प्राणकी किसी विशेष दुर्बलताका चिह्न है जिसे अवश्य सुधारना चाहिये — और किसी दूसरे कारणसे नही। परित्याग शांतिपूर्ण, दृढ़तापूर्ण, आत्मसुनिश्चित और निर्णायक होना चाहिये, उस समय वह मौलिक तथा फलदायक हो जाता है।

*

जैसे-जैसे भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ता है वैसे-वैसे अन्य चीजें मनको सताना बंद करती जाती हैं।

*

भगवान्‌के प्रति प्रेम जब किसी भागको अधिकृत करता है तो उसका प्रभाव उस भागको भगवान्‌की ओर मोड़ देता है — जैसा कि तुम इसको "श्रीमाँके ऊपर एकाग्रता" कहते हो — और अंतमें सब कुछ सत्ताके इस केंद्रीय झुकावके चारों ओर एकत्रित और सुसमंजस हो जाता है। कठिनाई होती है सत्ताके यंत्ररूप भागोंके विषयमें जिनके अंदर पुराने विचार अभ्यासवश बार-बार उठते रहते हैं। यदि एकाग्रता बढ़ती रहे तो यह चीज मनकी परिधिपर होनेवाली कम महत्त्वपूर्ण चीज हो जाती है और अंतमें झड़कर उन चीजोंके आनेके लिये स्थान खाली कर देती है जो नयी चेतनासे संबंधित होती हैं।

*

आतरिक एकाकीपनको केवल भगवान्के साथ एकत्वकी आंतरिक अनुभूति प्राप्त करके ही दूर किया जा सकता है। कोई भी मानवीय संपर्क इस शून्य स्थानको नही भर सकता। उसी तरह, आध्यात्मिक जीवनके लिये मानसिक और प्राणिक सबधोके ऊपर नही, बल्कि दिव्य चेतना तथा भगवान्के साथ एकत्वके ऊपर दूसरोंके साथ सामजस्य स्थापित करना चाहिये। जब कोई भगवान्को अनुभव करता तथा दूसरोको भगवान्मे अनुभव करता है तो फिर वास्तविक सामंजस्य आता है। उससे पूर्व जो कुछ हो सकता है वह है किसी सामान्य दिव्य लक्ष्यकी भावना और सबके श्रीमाता-जीके बच्चे होनेके बोधपर स्थापित सद्भावना और एकता......। सच्ची सुसमंजसता केवल किसी चैत्य या किसी आध्यात्मिक आधारपर ही स्थापित हो सकती है।

*

भगवान्के साथ अकेले रहना साधककी समस्त अनुकूल परिस्थितियोंमें सर्वोत्तम है, क्योंकि यही वह स्थिति है जिसमें वह आंतरिक रूपमें भगवान्के सर्वाधिक निकट आता है और समस्त सत्ताको अपने हृदय-कक्ष तथा विश्व-मंदिरके अंदर एकत्वमें परिणत कर सकता है। इसके अतिरिक्त, सबके साथ वास्तविक एकताका प्रारंभ और आधार यही है, क्योंकि यह उस एकताको उसके सच्चे आधारपर, भगवान्पर स्थापित करता है, क्योंकि वास्तवमें भगवान्में ही साधक सबके साथ मिलता और युक्त होता है, और अब अपने मानसिक और प्राणिक अहंकारके अनिश्चित आदान-प्रदानकी स्थितिमें नही रहता। अतएव एकाकीपनसे भय मत करो, बल्कि श्रीमाँपर पूरा भरोसा रखो और उनकी शक्ति तथा कृपाके सहारे अपने पथपर आगे बढ़ते जाओ।

*

साधकका प्रेम भगवान्के प्रति ही होना चाहिये। जब उसमें वह प्रेम पूर्ण रूपमें होता है केवल तभी वह दूसरोंको ठीक प्रकारसे प्यार कर सकता है।

*

अपनेको किसी भी बाहरी व्यक्तिके हाथोंमें सौंप देनेका अर्थ होता है साधनाके वातावरणसे बाहर चले जाना और बाह्य सांसारिक शक्तियोंके हाथोंमें अपनेको सौंप देना।

कोई साधक किसी विशेष व्यक्तिके लिये प्यारकी चैत्य भावना रख सकता है, सभी प्राणियोंके प्रति वैश्व प्रेमकी भावना रख सकता है, परंतु अपने-आपको तो उसे केवल भगवान्के हाथोंमें ही अर्पित करना होगा।

*

यह नहीं कहा जा सकता कि ये संपर्क सामान्य रूपसे अच्छे है या बुरे। यह व्यक्ति, उसके प्रभाव तथा अन्य बहुत-सी बातोंपर निर्भर करता है। सामान्यतया ये सारे संपर्क पुरानी प्रकृतिकी बाकी चीजोंके साथ-साथ भगवान्‌के प्रति समर्पित हो जाने चाहियें, ताकि जो कुछ भागवत सत्यके साथ सामंजस्य रखता हो केवल वही तुम्हारे अंदर शेष रह सके और उसके कार्यके लिये रूपांतरित हो सके। दूसरे लोगोंके साथके समस्त संबंध पुरानी प्रकृतिके अन्दरके संबंध नहीं, बल्कि भगवान्‌के अंदरके संबंध होने चाहिये।

*

एक ऐसा भी प्रेम है जिसमें हृदयावेग बढ़ती हुई एकता तथा ग्रहणशीलताके साथ भगवान्‌की ओर मुड़ जाता है। जो कुछ वह भगवान्‌से प्राप्त करता है उसे वह दूसरोंपर उंडेल देता है — पर उन्मुक्त होकर, और बदलेमें कुछ भी न चाहते हुए। यदि तुम ऐसा करनेमें समर्थ हो तो यही प्रेम करनेका सर्वोत्तम और सर्वाधिक संतोष-प्रद मार्ग है।

*

व्यक्तिगत संबंध तभी स्थापित होता है जब एक-दूसरेके प्रति अनन्य पारस्परिक झुकाव होता है। इस योगमें व्यक्तिगत संबंधोंका नियम यह है: (1) समस्त व्यक्तिगत संबंध साधक और भगवान्‌के एकमात्र संबंधमें विलीन हो जायें; (2) समस्त व्यक्ति-गत (चैत्य-आध्यात्मिक) संबंध भगवती मांसे आयें, उन्हीके द्वारा निर्धारित हों और एकमात्र भगवती मांके साथके संबंधके ही अंग हों। जहांतक व्यक्तिगत संबंध इस दुहरे नियमका पालन करता है और किसी प्रकारकी भौतिक तुष्टि अथवा प्राणिक विकृति या मिश्रणको नही फटकने देता वहांतक वह रह सकता है। लेकिन अतिमानस चूँकि अभीतक आधिपत्य नहीं जमा सका है, अपितु वह सिर्फ अवतरणकी स्थितिमें है और अभी भी प्राणिक और भौतिक स्तरपर संघर्ष चल रहा है, हमें बहुत अधिक सावधानी बरतनी चाहिये, जैसी सावधानी कि उस समय आवश्यक नहीं होगी जब कि अतिमानसिक रूपांतरण वहां पहलेसे सिद्ध हो चुका होगा। दोनों (व्यक्तियों) को श्रीभगवती मांपर पूर्णतः निर्भर होकर उनके साथ सीधा संबंध स्थापित करना होगा और यह देखते रहना होगा कि वह बना रहे तथा उसकी परिपूर्णतामें कोई वस्तु हानि न पहुँचाये अथवा तनिक भी उसे विच्छिन्न न करे।

*

यहां साधक और साधिकाके बीच केवल वही संबंध स्वीकार्य है जो कि एक

साधक और साधकके बीच अथवा एक साधिका और साधिकाके बीच होता है — एक मित्रतात्मक संबंध जो कि योगके एक ही पथके अनुगामियोंके बीच और श्रीमाताजीके बच्चोंके बीच होता है।

*

इस योगमें पुरुष और नारीके बीच स्वतंत्र और स्वाभाविक यौगिक संबंध — जो कि एक साधक और साधिकाके बीच होना चाहिये — रखनेमें सफलता प्राप्त करनेका एक ही तरीका है कि दोनो लेशमात्र भी यह विचार किये बिना मिल सकें कि एक नारी है और दूसरा पुरुष। वे दोनों बस मानव हैं, दोनों साधक हैं, दोनों भगवान्‌की सेवाके लिये प्रयत्नशील हैं और दोनों ही एकमात्र भगवान्‌की खोजमें हैं, अन्य किसीकी खोजमें नहीं। बस, इसी भावको अपने अन्दर पूर्ण रूपसे बनाये रखो और तुम देखोगे कि कोई भी कठिनाई तुम्हारे पास नही फटकेगी।

*

इसका तात्पर्य यह है कि तुम्हें एक-दूसरेके साथ साधकों-जैसा संबंध रखना चाहिये जिसमें मैत्रीपूर्ण सद्भाव हो, परंतु उसमें प्राणिक ढंगका कोई विशेष संबंध न हो। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जिससे कि तुम ऐसे प्राणिक संबंधके जगे बिना न मिल सको तो उस दशामें उससे मिलना-जुलना वांछनीय नहीं है।

*

सब कुछको भगवान्‌की ओर मोड़ देनेका जहांतक प्रश्न है, वह पूर्णताका परामर्श तो उन व्यक्तियोंके लिये है जो साथमें कोई भी बोझ ढोनेकी इच्छा नहीं रखते, अन्यथा पुरुष-पुरुषके बीच और नारी-नारीके बीच अथवा पुरुष और नारीके बीच मैत्री वर्जित नहीं है, बशर्ते कि वह सच्ची वस्तु हो और उसके अन्दर काम-भाव न उदय हो तथा साथ ही वह किसीको लक्ष्यसे दूर न हटा ले जाय। यदि प्रमुख लक्ष्य शक्तिशाली हो तो बस इतना ही पर्याप्त है... ...। जब मैंने व्यक्तिगत संबंधकी बात कही थी तब निश्चय ही मेरा तात्पर्य कोरी तटस्थतासे कदापि नहीं था, क्योंकि तटस्थतासे कोई संबंध नहीं बनता, अपितु वह एकदम संबंधहीनताको ही प्रश्रय देती है। यह आवश्यक नहीं है कि भावात्मक मैत्री बाधक ही हो।

*

निश्चय ही पुरुष-पुरुष अथवा नारी-नारीके बीच मैत्री रखना पुरुष और नारीके

बीच मैत्री रखनेकी अपेक्षा अधिक आसान है, क्योंकि वैसी स्थितिमें सामान्यतया काम-भावनाका प्रवेश नही होता। पुरुष और नारीकी मैत्रीमे किसी भी क्षण छिपकर या सीधे तौरपर कामुक प्रवृत्ति आ सकती है और वेचैनी उत्पन्न कर सकती है। किंतु पुरुष और नारीके बीच कामरहित पवित्र संबंधका होना असंभव नही है; ऐसी मैत्री हो सकती है और सदैव होती रही है। एकमात्र आवश्यकता यह है कि निम्न प्राण चोर दरवाजेसे भीतर न झांके या उसे प्रवेश न करने दिया जाय। पुरुष और नारीके स्वभावमें प्राय: एक सामंजस्य या आकर्षण या साम्य होता है जो किसी प्रकट या गुप्त निम्न-प्राणिक (यौन) आधारकी अपेक्षा किसी अन्य आधारपर आश्रित होता है। कभी-कभी यह प्रबल रूपसे मानसिक अथवा चैत्य अथवा उच्च-प्राणिक आधार और कभी-कभी इन तत्त्वोंके मिश्रणपर निर्भर करता है। ऐसी स्थितिमें मित्रता स्वाभाविक होती है और दूसरे तत्त्वोंके अंदर आकर इसे विच्छिन्न करने या नीचेकी ओर खींच लानेकी संभावना कम होती है।

यह सोचना भी गलत है कि केवल प्राण-सत्तामें ही प्यारकी गरमाहट है और चैत्य सत्ता ज्योति-शिखासे रहित कोई शीतल वस्तु है। सुस्पष्ट, स्वच्छ सद्भाव एक वहुत अच्छी और वांछनीय वस्तु है। लेकिन वही चीज चैत्य प्रेम नही है। प्रेम तो प्रेम है, वह मात्र सद्भाव नही है। चैत्य प्रेममे प्राणकी ही तरह अथवा उससे भी अधिक तीव्र गरमाहट और लौ हो सकती है। बस, यह एक विशुद्ध अग्नि है जो अहंजन्य कामनाओंकी तुष्टिपर अथवा जिस ईंधनका वह आलिंगन करती है उसे स्वाहा कर जानेपर निर्भर नही करती। यह एक शुभ्र लौ है, न कि लाल। लेकिन शुभ्र लौ अपनी ऊष्णतामें लालकी अपेक्षा हीनतर नही है। यह सत्य है कि चैत्य प्रेम मानवीय संबंधों और मानवीय प्रकृतिमें सामान्यतया पूर्ण रूपसे सक्रिय नही हो पाता; जब वह भगवान्‌की ओर उन्मुख किया जाता है तभी उसकी उमंग और उसका उल्लास अधिक आसानीसे अपनी पूर्णताको प्राप्त होते है। मानवीय संबंधमें चैत्य प्रेमके साथ ऐसे दूसरे तत्त्व आ मिलते है जो तुरंत उसका प्रयोग करनेकी चेष्टा करते हैं और उसे ढक देते हैं। वह अपनी पूर्ण प्रगाढ़ता और तीव्रताको वाहर प्रकट करनेका अवसर केवल बिरले क्षणोंमें ही पाता है। अन्यथा वह केवल एक तत्त्वांशरूपमें प्रवेश करता है, किंतु फिर भी मूलत: प्राणिक प्रेममें वही समस्त उच्चतर गुणोंका दान करता है। समस्त उत्कृष्ट मधुरता, कोमलता, निष्ठा, आत्मदान, आत्मत्याग, अंतरात्माका अंतरात्मातक पहुँचना, आदर्श-रूपमें विचारोंका उन्नयन आदि जो सव गुण मानवीय प्रेमको स्वयं उसके परे उठा ले जाते हैं, चैत्य पुरुषसे ही आते है। यदि वह अन्य तत्त्वोंको — मानवीय प्रेमके मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक तत्त्वोंको अविकृत, शासित और रूपांतरित कर सकता तो प्रेम पृथ्वीपर द्वैत जीवनके अन्दर यथार्थ वस्तुका, आत्मा और उसके उप-करणके पूर्ण एकत्वका कोई प्रतिबिंव या प्रस्तुति-रूप हो सकता। परंतु उसके कुछ अपूर्ण रूप भी दुर्लभ हैं।

हमारी दृष्टि यह है कि योगमें प्रकृतिकी संपूर्ण लौके लिये साधारण वात है भग-वान्‌की ओर मुड़ जाना और शेष चीजोंको सच्चे आधारकी प्रतीक्षा करनी चाहिये;

साधारण चेतनाकी बालू और कीचडपर उच्चतर चीजोंका निर्माण करना सुरक्षित नही है। पर इसीलिये मैत्री या संग-साथका बहिष्कार करना आवश्यक नहीं है, किन्तु इन्हे पूर्णतया केंद्रीय अग्निके अधीन हो जाना चाहिये। यदि कोई इस बीच भगवान्‌के साथके सबधको ही अपना एकमात्र तल्लीनकारी लक्ष्य बना ले तो यह सर्वथा स्वाभाविक है और इससे साधनाको पूरा-पूरा बल मिलता है। चैत्य प्रेम तब अपना पूर्णत्व प्राप्त करता है जब कि वह दिव्यतर चेतनाकी, जिसकी हम खोज कर रहे हैं, आभा बन जाता है। उससे पहले अपनी प्रकाशमयी पूर्ण सत्ता और स्वरूपको व्यक्त करना उसके लिये कठिन है।

पुनश्च. मन, प्राण और शरीर यथार्थतः अंतरात्मा और आत्माके यंत्र है; जब वे केवल अपने लिये कार्य करते हैं तब वे अज्ञानमयी और अपूर्ण चीजें ही पैदा करते है — यदि वे चैत्य पुरुष और आत्माके सचेतन यंत्र बना दिये जायं तो वे अपनी दिव्यतर सार्थकताको प्राप्त कर लेते है। इस योगमें हम जिस चीजको रूपांतर कहते है उसमें यही भाव निहित है।

*

मैत्री अथवा स्नेह-संबंधका योगमें बहिष्कार नही किया गया है। भगवान्‌के साथ मित्रताका होना तो साधनाका एक स्वीकृत सबंध है। साधकोंके बीच मित्रताका सबंध होता है और श्रीमाताजी उसे प्रोत्साहित करती है। बस, हम चाहते यह हैं कि मित्रताके उन सबंधोंको उस आधारकी अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़ आधारपर स्थापित किया जाय जिसपर कि मानवीय मैत्री-संबंधोंका अधिकांश भाग अस्थिर रूपसे स्थापित होता है। यथार्थतः इस कारण कि हम मैत्री, बंधुत्वभाव, प्रेमको पवित्र चीजें मानते हैं, इसलिये हम यह परिवर्तन चाहते हैं — कारण हम प्रत्येक क्षण अहंकारकी क्रियाओंद्वारा इन्हे भग होते हुए तथा वासनाओं, ईर्ष्या-द्वेषों, प्रतारणाओंके द्वारा, जिनकी ओर प्राणकी प्रवृत्ति होती है, इन्हें अशुद्ध और नष्ट-भ्रष्ट होते हुए देखना नही चाहते — वास्तवमें हम इन्हे सच्चे रूपमें पवित्र और सुदृढ़ बनाना चाहते है और इसलिये इनकी जड़ अन्तरात्मामें जमा देना, इन्हें भगवान्‌की आधार-शिलापर स्थापित करना चाहते है। हमारा योग कोई वैराग्यपूर्ण योग नही है; इसका लक्ष्य पवित्रता तो है, पर कठोर तपस्या नही है। मैत्री और प्रेम उस सुर-संगतिके अनिवार्य स्वर है जिसे पानेकी हम अभीप्सा करते है। यह कोई मिथ्या स्वप्न नही है, क्योंकि हमने देखा है कि अपूर्ण अवस्थाओंमें भी, जब अनिवार्य तत्वका थोड़ा-सा अंश भी एकदम मूलमें विद्यमान रहता है, तो यह चीज संभव होती है। यह कठिन है और पुरानी बाधाएं अभी भी हठपूर्वक चिपकी हुई हैं? परंतु कोई भी विजय लक्ष्यके प्रति सुदृढ़ निष्ठा हुए बिना और दीर्घ प्रयासके बिना नही प्राप्त हो सकती। लगातार प्रयास करते रहनेके सिवा और कोई उपाय नही है।

*

योगमें मित्रता बनी रह सकती है, पर आसक्तिको अथवा किसी ऐसे तल्लीन-कारी स्नेह-संबंधको अवश्य दूर हो जाना होगा जो मनुष्यको साधारण जीवन और चेतनाके साथ बांध रखे।

*

सभी प्रकारकी आसक्ति साधनाके लिये बाधक है। तुम्हें सबके प्रति सद्भाव, सबके लिये चैत्य करुणा रखनी चाहिये, पर कोई प्राणिक आसक्ति नही रखनी चाहिये।

*

यदि तुम अपनी करुणाके लिये बदलेकी आशा करते हो तो तुम निराश होनेको बाध्य हो। जो लोग प्रेम या करुणा केवल उसीके लिये, किसी बदलेकी आशाके बिना, प्रदान करते हैं, केवल वे ही इस अनुभवसे बचते हैं। कोई संबंध भी केवल तभी किसी सुदृढ़ आधारपर स्थापित किया जा सकता है जब कि वह आसक्तिसे मुक्त हो अथवा जब वह दोनों ओर प्रधानतया चैत्य हो।

*

एक मौलिक चैत्य सद्भावना है जो सबके लिये एक जैसी होती है; परंतु किसी एक या दूसरेके प्रति एक विशेष प्रकारकी चैत्य सद्भावना भी हो सकती है।

*

नही — चैत्य प्रेम विवेकको बहिष्कृत नहीं करता।

*

यह इस बातपर निर्भर करता है कि तुम चैत्य "प्रेम" का क्या अर्थ लेते हो। मनुष्य सभी प्राणियोंके लिये चैत्य सद्भाव रख सकता है; यह न तो लिंग-भेदपर निर्भर करता है और न इसमें कोई कामुकताकी बात है।

*

संसारमें भी पुरुष और नारीके बीच ऐसे संबंध हुए हैं जिनमें कामवासना हस्त-क्षेप न कर सकी — वे विशुद्धतः चैत्य संबंध थे। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे संबंधमें

लिंग-भेदकी चेतना तो रहेगी, पर वह उस संबंधके अन्दर कामना या बाधाके स्रोतके रूपमे नही आयेगी। परतु स्वभावत ही इस स्थितिके संभव होनेसे पहले एक प्रकारके चैत्य विकासका होना आवश्यक होता है।

*

इसकी सीमाओंकी परिभाषा करना अथवा इसे पहचानना कठिन है। क्योंकि यदि किसी दूसरे व्यक्तिके प्रति चैत्य प्रेम हो तो भी यह मनुष्यमें प्राणिक प्रेमके साथ इतना मिलजुल जाता है कि यह एक अत्यत सामान्य बात हो गयी है कि लोग प्राणिक प्रेमको चैत्य स्वभावका प्रेम मानकर उसका समर्थन करते हैं। हम कह सकते हैं कि चैत्य प्रेम अपनी मौलिक पवित्रता और निःस्वार्थभावके द्वारा पहचाना जाता है — परतु प्राणिक प्रेम, जब वह चाहे, इस गुणका बहुत भड़कीला अनुकरण कर सकता है।

*

हमारा अनुभव यह है कि जब दोनों भगवान्‌के इर्दगिर्द केंद्रित सत्यचेतनामें होते है केवल तभी भगवान्‌के अन्दर यथार्थ मिलनकी कुछ संभावना होती है। अन्यथा, जो व्यक्तिगत सबध वहा बनता है उसके साथ या तो नैराश्य और विच्छेद आता है अथवा ऐसी प्रतिक्रियाएं आती है जो विशुद्ध नही होती।

*

परतु मानवीय प्राणिक स्नेहका यही स्वभाव है, यह संपूर्ण स्वार्थपरता है जो प्रेमका छद्मवेश लिये रहता है। कभी-कभी जब उसमें कोई प्रबल प्राणिक आवेग, आवश्यकता या बधन होता है तो व्यक्ति दूसरेके स्नेहको (अपने प्रति) बनाये रखनेके लिये कुछ भी करनेको तैयार रहता है। पर जब उस क्रियामें चैत्य भाव प्रवेश करनेमें समर्थ होता है केवल तभी वहां सच्चा निःस्वार्थ स्नेह होता है अथवा कम-से-कम उसका कोई तत्त्व विद्यमान होता है।

*

जिस व्यापारकी तुम चर्चा करते हो वह मानव-प्रकृतिके लिये स्वाभाविक है। लोग प्रीतिकी किसी विशेष भावनाके कारण, अपने स्वभावके किसी भाग और दूसरेके स्वभावके किसी भागके बीच मेल या आकर्षण होनेके कारण परस्पर आकर्षित होते हैं या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी ओर आकर्षित होता है। प्रारंभमें यह केवल अनुभूत होता है; मनुष्य दूसरेके स्वभावके अंदर जो कुछ उसके लिये अच्छा या सुखकारक

होता है उस सबको देखता है और यहांतक कि शायद उन गुणोंका भी उसपर आरोप करता है जो उसमें नहीं होते या उतने अधिक नही होते जितना कि वह सोचता है। परंतु अधिक घनिष्ठ परिचय होनेपर स्वभावके अन्य भाग अनुभूत होते हैं जिनके साथ उसके स्वभावका कोई मेल नहीं होता — संभवतः विचारोंका संघर्ष होता है या भावनाओंमें विरोध होता है या दो अहंकारोंका द्वंद्व होता है। यदि वहां घना प्रेम या स्थायी प्रकारका मैत्री-भाव होता है तो मनुष्य संपर्ककी इन कठिनाइयोंको जीत सकता और एक प्रकारका सामंजस्य या मेल-मिलाप स्थापित कर सकता है; परंतु बहुधा यह चीज वहां नही होती अथवा विरोध इतना तीव्र होता है कि मेल-मिलापकी प्रवृत्तिको वह निष्फल कर देता है अथवा अहंकार इतना घायल हो जाता है कि वह पीछे हट जाता है। तब मनुष्यके लिये यह बिलकुल संभव हो जाता है कि वह दूसरेके दोषोंको बहुत अधिक देखना या अतिरंजित रूपमें देखना आरंभ करे अथवा वह दूसरेके ऊपर बुरे या दुःखदायी प्रकारकी बातोंका आरोप करता है जो उसमें नही होती। ऐसी स्थितिमें समूचा दृष्टिकोण बदल सकता है, सद्भावना कुभावनामें, स्नेह स्नेहहीनतामें, यहांतक कि शत्रुता या विद्वेषमें बदल सकता है। यह मनुष्य-जीवनमें सर्वदा घटित हो रहा है। इसके विपरीत भी घटित होता है, पर कम आसानीसे — अर्थात् कुभावनासे सद्भावनामें, विरोधभावसे सामंजस्यमें परिवर्तन। पर, निस्संदेह, यह आवश्यक नही कि किसी व्यक्तिके प्रति बुरा मत या बुरी भावना केवल इसी कारण उत्पन्न हो। ऐसा कई कारणोंसे, सहज-स्वाभाविक नापसंदगी, ईर्ष्या, विरोधी हितों आदि-आदिके कारण भी घटित होता है।

मनुष्यको दूसरोंके प्रति शांत-स्थिर-भावसे; उनके गुणों या दोषोंपर अत्यधिक बल दिये बिना, किसी कुभावना या गलतफहमी या अविचारके बिना, शांत-स्थिर मन और दृष्टिसे ताकनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

*

यही वह तरीका है जिसे प्राणिक प्रेम साधारणतया तब ग्रहण करता है जब कि वहां कोई प्रबल चैत्य शक्ति उसे सुधारने और धारण करनेके लिये विद्यमान नहीं होती। प्रथम प्राणिक आवेशके समाप्त हो जानेके बाद दो अहंकारोंका विरोध प्रकट होना आरम्भ हो जाता है और आपसी संबंधोंमें अधिकाधिक तनाव बढ़ता जाता है — एक या दोनोंके लिये, दूसरेकी मांगें उसके प्राणिक भागके लिये असह्य हो जाती हैं, निरंतर झुंझलाहट बनी रहती है और मांग एक बोझ या जुआ प्रतीत होने लगती है। स्वभावतः ही साधनाके जीवनमें प्राणिक संबंधोंके लिये कोई स्थान नहीं है — वे हमारी प्रकृतिके पूर्णतः भगवान्‌की ओर मुड़नेमें रुकावट डालनेवाली बाधाएं हैं।

II

उस समय अपनी सत्ताके सभी भागोंमे अचंचलता तथा तीव्र अभीप्साका तुम्हें अनुभव प्राप्त हुआ। अपने आंतरिक ध्यानमें तुम्हे परिणामस्वरूप श्रीमाताजीके साथ सपर्क अनुभूत हुआ और उसके वाद तुम्हारी आंतर सत्ता ऊर्ध्वस्थित शांति, विशालता और ज्योतिके लोकोंकी ओर ऊपर उठी और फिर हृदयस्थित अपने केंद्रीय स्थानमें वापस आ गयी।

दूसरोंके प्रति भावनाओंकी असमानता, पसंदगी और नापसंदगी, मानवीय प्राण-प्रकृतिमें बद्धमूल है। इसी कारण कुछ लोग अपने निजी प्राणिक स्वभावके साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं, दूसरे नहीं करते; फिर प्राणिक अहंकार भी है जो आघात पानेपर अथवा, जव उसकी अभिरुचियो या उसकी इस भावनाके अनुसार कि लोगोंको क्या करना चाहिये, कार्य नही होते या लोग कार्य नही करते तो, नाराज हो जाता है। ऊपर आत्मामे एक प्रकारकी आध्यात्मिक शाति और समता है, सवके प्रति एक प्रकारका सद्भाव या एक विशेष अवस्थामें भगवान्‌के सिवा सभी लोगोंके प्रति एक प्रकारकी स्थिर अचचलता है; चैत्य पुरुषमें मूलतः सवके प्रति एक प्रकारकी सम करुणा या प्रेम है, पर किसीके साथ विशेष संवंध भी हो सकते हैं — परंतु प्राण-पुरुष सर्वदा असम होता है और पसंदगियों तथा नापसंदगियोंसे भरा होता है। साधनाके द्वारा प्राणको अचचल वनाना होगा; उसे ऊर्ध्वस्थित आत्मासे सव वस्तुओंके प्रति उसका अचंचल सद्भाव और समत्व तथा चैत्य पुरुषसे उसकी सामान्य करुणा या प्रेम ग्रहण करना होगा। यह होगा, पर इसके होनेमें समय लग सकता है। इस वीच तुम्हें उन भावनाओंको और वलशाली वनाना होगा जिन्हें तुमने अपने पत्रमें व्यक्त किया है, — क्योंकि वे सच्ची चैत्य भावनाएं हैं,— और वे इस लक्ष्यको प्राप्त करनेमें तुम्हें सहायता देंगी। तुम्हें क्रोध, असहिष्णुता या नापसंदगीकी समस्त आंतरिक और वाह्य क्रियाओंसे मुक्त हो जाना चाहिये। यदि कार्य गलत हो जायं या गलत रूपमें किये जायं तो तुम्हें महज यह कहना चाहिये कि "श्रीमाताजी जानती हैं" और तुम्हें चुपचाप कार्य करते रहना चाहिये या यथासंभव उत्तम रूपमें विना संघर्षके कराते रहना चाहिये। कुछ समय वाद हम तुम्हें वतायेंगे कि श्रीमाताजीकी शक्तिका व्यवहार कैसे किया जाता है जिसमें कि कार्य अधिक अच्छे ढंगसे हों, परंतु सवसे पहले तुम्हें एक अचंचल प्राणके अंदर अपनी आंतरिक स्थितिको प्राप्त करना होगा, क्योंकि केवल वैसा होनेपर ही उस शक्तिका व्यवहार यथासंभव पूर्ण सफलताके साथ किया जा सकता है।

*

कर्म सर्वदा मौनावस्थामें ही उत्तम रूपमें संपन्न होता है, हां, यदि स्वयं कर्मके लिये ही यदि वोलनेकी आवश्यकता हो तो वात दूसरी है। वातचीतको छुट्टीके समयके

लिये रख छोड़ना ही सबसे उत्तम है। अतएव कर्मके समय तुम्हारे चुप रहनेपर कोई व्यक्ति आपत्ति नहीं करेगा।

बाकी जो बात है कि तुम्हें क्या करना चाहिये, सो तुम्हें दूसरोंके प्रति अपना समुचित मनोभाव बनाये रखना चाहिये और वे लोग चाहे जो कुछ भी कहें या करें, तुम्हें विक्षुब्ध, उत्तेजित या क्रुद्ध नहीं होना चाहिये — दूसरे शब्दोंमें, समता तथा सार्वजनीन सद्भाव बनाये रखो जो योगके साधकके लिये उचित है। यदि तुम ऐसा करो और फिर भी दूसरे लोग विक्षुब्ध या क्रुद्ध हो जायं तो तुम उसकी परवाह न करो, क्योंकि तब तुम उनकी अनुचित प्रतिक्रियाके लिये उत्तरदायी नहीं होगे।

*

मैंने तुम्हारा पत्र पढ़ा है और अब मैं समझ रहा हूँ कि तुम्हें कौनसी बातें दुष्कर प्रतीत हो रही हैं — परंतु वे हमें इतनी गंभीर बातें नहीं प्रतीत होतीं कि उन्हें यथार्थ-में अशांतिका कारण समझा जाय। वे तो उस प्रकारकी असुविधाएं हैं जो उस समय सर्वदा आती हैं जब बहुतसे लोग एक साथ रहते और कार्य करते हैं। वे दो मनों या दो संकल्पोंके बीच गलतफहमी होनेके कारण पैदा होती हैं, दोनों ही अपने रास्तेपर खींचते हैं और यदि दूसरा अनुसरण नहीं करता तो आहत या दुःखी अनुभव करते हैं। इसका एकमात्र इलाज है चेतनाका परिवर्तन — क्योंकि जब कोई एक गभीरतर चेतनामें पैठ जाता है, सर्वप्रथम, वह इन बातोंका कारण समझ जाता है और विक्षुब्ध नहीं होता,— वह एक प्रकारकी समझ-शक्ति, धैर्य और सहिष्णुता उपार्जित करता है जो उसे झुँझलाहट तथा अन्य प्रतिक्रियाओंसे मुक्त कर देती हैं। यदि दोनों या सभी चेतनामें वर्द्धित हों तो उससे एक-दूसरेके दृष्टिकोणोंको मनसे समझनेकी शक्ति उत्पन्न होती है जो सामंजस्य ले आना तथा निर्विघ्न कार्य करना अधिक आसान बनाती है। बस, यही चीज है जिसकी खोज हमें आंतरिक परिवर्तनके द्वारा करनी चाहिये — उस सामंजस्यको बाहरसे, बाहरी उपायोंके द्वारा उत्पन्न करना उतना आसान नहीं है, क्योंकि मानव-मन अपनी समझमें बड़ा कठोर होता है और मानवीय प्राण अपने निजी कर्ममार्गपर आग्रहशील होता है। बस, अपना मुख्य संकल्प यह बना लो — अपने अंदर तुम वर्द्धित होगे और स्पष्टतर तथा गभीरतर चेतनाको आने दोगे तथा यह शुभे-च्छा बनाओगे कि यही परिवर्तन दूसरोंके अंदर आये जिसमें कि संघर्ष और गलत-फहमीके स्थानमें औदार्य तथा सामंजस्य उत्पन्न हो।

*

देखो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि झगड़ा करना, आघात पहुँचाना साधनाका अंग नहीं हैं: जिन विरोधों और संघर्षोंकी तुम चर्चा करते हो वे, ठीक जैसा कि बाहरी जगत्में होता है, प्राणिक अहंकारके संघर्षण है। वैर-विरोध, घृणा, नापसदगी,

लड़ाई-झगडे आदिको उसी तरह साधनाका अंग नही कहा जा सकता जिस तरह कामा-वेग या काम-क्रियाओको साधनाका अंग नही कहा जा सकता। मेल-मिलाप, सद्-भाव, सहिष्णुता, समता आदि साधकके साथ साधकके संबंधका आवश्यक आदर्श है। मनुष्य किसीके साथ मिलने-जुलनेके लिये बाध्य नही है, पर यदि कोई अपने-आपमे अलग रहता है तो ऐसा साधनाके कारणोंसे ही होना चाहिये, अन्य उद्देश्योंसे नही, अधिकतु, यह किसी बडप्पनकी भावना या दूसरोंके प्रति घृणाभावके बिना होना चाहिये । यदि कोई देखे कि किसी भी कारणसे दूसरोंके संग-साथमें रहनेसे उस (पुरुप या स्त्री) मे अवांछनीय प्राणिक वृत्तियां उदित होती है तो वह (पुरुष या स्त्री) अवश्य ही उस सग-साथसे, सावधानीके लिये, तवतक अलग रह सकता है जवतक कि वह (पुरुप या स्त्री) इस कमजोरीको जीत नहीं लेता। परंतु अलग रहनेका दिखावा करना या सार्वजनिक रूपसे आघात पहुँचाना आवश्यकताओंके अंदर सम्मिलित नहीं है और भावनाओको धोखा देनेकी आदतको भी उसी तरह जीतना चाहिये।

*

ये परिणाम कोई दड नही है, अहंमन्यताके वशवर्त्ती होनेके ये स्वाभाविक परिणाम है। सभी झगडे अहमन्यतासे उत्पन्न होते हैं जो अपने ही मतको आगे रखता है और अपने ही महत्त्वको प्रस्थापित करता है, यह समझता है कि वही सही है और अन्य सभी लोग गलत है और इस तरह क्रोध और आघातका बोध आदि उत्पन्न करता है। इन सब चीजोंको प्रश्रय नही देना चाहिये, वल्कि तुरत इनका परित्याग कर देना चाहिये।

*

मै तुमसे यह कहूँगा कि तुम क्रोध या अन्य किसी वृत्तिको उठने न दो या उनकी प्रेरणासे आचरण मत करो। इन सब चीजोंको दूर हटा दो और यह समझो कि अंदर शाति पाना और भगवान्‌की खोज करना ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात हैं — ये झगड़े तो महज अहंकारके विस्फोट हैं। बस, एक दिशामें मुड़ जाओ, पर उसके बाद सबके लिये एक शांत सद्भाव बनाये रखो।

*

यदि तुम ज्ञान प्राप्त करना या सबको भाईके रूपमें देखना या शांति पाना चाहते हो तो तुम्हें अपने विषयमें, अपनी कामनाओं, भावनाओं, अपने प्रति लोगोंके व्यवहार आदिके विषयमें कम सोचना चाहिये तथा भगवान्‌के विषयमें अधिक सोचना चाहिये — अपने लिये नही, भगवान्‌के लिये जीवन धारण करना चाहिये।

*

अब तुमने समुचित मनोभाव धारण कर लिया है,और तुम यदि इसे बनाये रखो तो सब कुछ अच्छे ढंगसे चलेगा। सच पूछो तो तुम भगवती माताके पास योगके लिये आये हो, न कि पुराने ढंगके जीवनके लिये। फिर तुम्हें इस स्थानको एक आश्रम समझना चाहिये, न कि एक साधारण संसार, और दूसरोंके साथके अपने व्यवहारमें क्रोध, स्वाग्रह और अभिमानको जीतनेका प्रयत्न.करना चाहिये, चाहे तुम्हारे प्रति उनका मनोभाव या व्यवहार जैसा भी क्यों न हो; क्योंकि जबतक तुम्हारे ये मनोभाव रहेंगे तबतक योगमें प्रगगि अरनेमें तुम्हें कठिनाई होगी।

*

झगड़े और संघर्ष यौगिक स्थितिके अभावके प्रमाण हैं और जो लोग गभीरतापूर्वक योग करना चाहते हैं उन्हें इन चीजोंसे बाहर निकलना सीखना होगा। जब संघर्ष या विवाद या झगड़ेका कोई कारण न हो तो रार न करना काफी आसान है; परतु जब कारण हो और दूसरा पक्ष असहिष्णु और युक्तिविहीन हो तो मनुष्यको अपनी प्राण-प्रकृतिसे ऊपर उठनेका सुअवसर प्राप्त होता है।

*

तुम्हारे प्रश्नकी जहांतक बात है, वास्तवमें प्राण-प्रकृतिका भावुक अंश ही लोगोंके साथ झगड़ता है और उनके साथ बात करना अस्वीकार करता है और यही भाग है जो उस भावके विरुद्ध प्रतिक्रिया होनेपर बोलना और संबंध स्थापित करना चाहता है। जबतक मनुष्यमें इनमेंसे कोई वृत्ति विद्यमान है, दूसरीका होना भी संभव है। जब तुम इस भावुकतासे मुक्त होते हो और अपनी समस्त पवित्र वृत्तियोंको भगवान्की ओर मोड़ देते हो, केवल तभी ये अस्थिर अवस्थाएं दूर होती हैं और उनके स्थानमें सबके प्रति एक अचंचल शुभेच्छा आ जाती है।

*

दो मनोभाव है जिन्हें कोई साधक रख सकता है: उनकी मित्रता या शत्रुताका कोई विचार न कर सबके प्रति स्थिर समताका भाव अथवा एक प्रकारकी सामान्य सदिच्छाका भाव।

*

दूसरोंके दोषोंकी बहुत अधिक चर्चा मत करो। वह सहायक नहीं होता। अपने मनोभावमें सर्वदा अचंचलता और शांतिको बनाये रखो।

*

यह बिलकुल ठीक है। जो लोग सहानुभूति दिखाते हैं केवल वे ही सहायता कर सकते है — निश्चय ही साधकको घृणाके बिना दूसरोंके दोषोंको देखनेमें समर्थ भी होना चाहिये। घृणा दोनों पक्षोंको हानि पहुँचाती है, सहायता किसीकी नहीं करती।

*

देखने और निरीक्षण करनेमें कोई हानि नही यदि सहानुभूति और निष्पक्षताके साथ वैसा किया जाय — सच पूछा जाय तो अनावश्यक रूपसे टीका-टिप्पणी करने, दोष ढूँढने, दूसरोंको दोषी ठहराने (बहुधा बिलकुल गलत रूपमें) की प्रवृत्ति ही अपने और दूसरोंके लिये बुरा वातावरण पैदा करती है। और भला यह कठोरता और सुनिश्चित दोषारोपण किसलिये? क्या प्रत्येक मनुष्यमें अपने निजी दोष नही है — उसे भला दूसरोंमें दोष निकालने और उन्हें दंड देनेके लिये इतना उत्सुक क्यों रहना चाहिये? कभी-कभी मनुष्यको विचार करना पड़ता है पर उसे जल्दबाजीमें या दोष निकालनेकी भावनाके साथ नही करना चाहिये।

*

स्वयं अपने-आप उन्हीं दोषोंसे बचनेमें पटु होनेकी अपेक्षा कही अधिक मनुष्य दूसरोंके कार्यकी कटु आलोचना करने और उनसे यह कहनेमें समर्थ होता है कि कार्य कैसे करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। निस्संदेह, बहुत बार उन्हीं दोषों-को मनुष्य दूसरोंमें अधिक आसानीसे देख लेता है जो स्वयं उसमें होते है पर जिन्हें वह देखनेमें असमर्थ होता है। ये तथा अन्य दोष, जैसे दोषोंकी तुमने अंतमें चर्चा की है, मानव-स्वभावके सामान्य दोष हैं और थोड़े लोग ही इनसे बचते है। मानव-मन वास्तव-में अपने विषयमें सचेतन नही होता — यही कारण है कि योगमें मनुष्यको सर्वदा यह खोजना और देखना होता है कि अपने अन्दर क्या है तथा अधिकाधिक सज्ञान होना होता है।

*

यह सामान्य जीवनका कोई प्रश्न नही है। सामान्य जीवनमें मनुष्य सर्वदा गलत रूपमें विचार करते हैं, क्योंकि वे मानसिक मानदंडों तथा साधारणतया परंपरा-गत मानदंडोंसे विचार करते हैं। मानव-मन सत्यका नहीं बल्कि अज्ञान और भूल-भ्रांतिका यंत्र है।

*

सच पूछो तो प्रत्येक व्यक्तिका तुच्छ अहं ही दूसरोंके "वास्तविक या अवास्तविक" त्रुटियोंको खोजना और उनके विषयमे बातचीत करना पसंद करता है — और इससे कुछ नहीं आता-जाता कि वे वास्तविक है या अवास्तविक; अहंको उनके विषयमें राय देनेका कोई अधिकार नही है, क्योंकि उसे सत्य दृष्टि या यथार्थ भाव नही प्राप्त है। वास्तवमें एकमात्र शांत, अनासक्त, धीर-स्थिर, सर्व-करुणामय और सर्व-प्रेममय आत्मा ही प्रत्येक जीवके बल और दुर्वलताको ठीक-ठीक देख सकता और उनका विचार कर सकता है।

*

हां, सब सही है। निम्न प्राणको दूसरोंकी कमियोंको ढूँढ़नेमें एक हीन और तुच्छ सुख मिलता है और इस तरह मनुष्य अपनी निजी तथा आलोचनाके विषय दोनोंकी प्रगतिमें बाधा पहुँचाता है।

*

गपशप करनेकी वृत्ति सदैव ही एक बाधा होती है।

*

जब साधक अपने प्रति होनेवाली साधारण मानवीय प्राणिक मांगोंके विरुद्ध अपने पथपर दृढ़ बना रहता है तो उसके विरुद्ध उन लोगोंके द्वारा ऐसी निंदाओं (पत्थर आदि कहना) का होना एकदम सामान्य बात है। परंतु इस बातसे तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिये। साधारण प्राणिक मानव-प्रकृतिके पंकिल पथोंपर नरम और दुर्बल मिट्टी होनेकी अपेक्षा भगवान्‌के मार्गपर एक पत्थर होना कहीं अधिक अच्छा है।

*

वास्तवमें इस बातका कोई महत्त्व नही कि दूसरे तुम्हारे विषयमें क्या सोचते हैं, बल्कि महत्व इस बातका है कि तुम स्वयं क्या हो।

*

कभी-कभी दुर्भावनापूर्ण (उचित या सुविचारित नहीं) आलोचना भी अपने कुछ पक्षोंमें सहायक हो सकती है, यदि कोई उसके अनौचित्यसे प्रभावित हुए बिना उसपर ध्यान दे सके।

*

स्वभावतः ही, प्रशंसा और निंदाका वह प्रभाव पड़ सकता है (मानव-स्वभाव लगभग अन्य किसी चीजकी अपेक्षा, यहांतक कि यथार्थ लाभ या हानिकी भी अपेक्षा कहीं अधिक इन चीजोंके प्रति संवेदनशील है), जबतक कि उसमें समता न स्थापित हो गयी हो अथवा किसी व्यक्तिके ऊपर इतना पूर्ण उसे विश्वास और प्रसन्नतापूर्ण निर्भरता न हो गयी हो कि प्रशंसा और निंदा दोनों उसके स्वभावके लिये सहायक हों। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें योगके बिना भी इतना संतुलित मन होता है कि वह निंदा-स्तुतिको शांतभावसे ग्रहण करता और वह जिस योग्य होता है उसका विचार करता है।

III

दूसरोंको सहायता करनेकी भावना अहंभावका ही एक सूक्ष्म रूप है। एकमात्र भगवान् ही सहायता कर सकते हैं। मनुष्य उनका यंत्र हो सकता है, परंतु तुमको सबसे पहले एक योग्य और अहंशून्य यंत्र बनना सीखना होगा।

*

दूसरोंको सहायता करनेकी भावना अहंभावका एक भ्रम है। वास्तवमें जब श्रीमाताजी नियुक्त करती तथा अपनी शक्ति देती हैं केवल तभी मनुष्य सहायता कर सकता है और उस दशामें भी कुछ सीमाओंके भीतर ही कर सकता है।

*

समस्त परिवर्तन भीतरसे, भागवत शक्तिकी अनुभूत अथवा गुह्य सहायताके द्वारा आना चाहिये; वास्तवमें उसके प्रति अपना आंतरिक उद्‌घाटन होनेपर ही मनुष्य सहायता ग्रहण कर सकता है, दूसरोंके साथ मानसिक, प्राणिक या भौतिक संपर्क होनेपर नहीं ग्रहण कर सकता।

*

निस्सदेह, यह सापेक्षिक और आंशिक सहायता होती है, पर यह कभी-कभी उपयोगी होती है। सच्ची सहायता केवल अंतरसे भागवती शक्तिकी क्रियाके फलस्वरूप तथा पुरुषकी अनुमति होनेपर आ सकती है। निस्संदेह, यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो वास्तवमें सहायता करता है, यह नहीं सोचता कि वह सहायता कर रहा है। फिर सहायताके साथ यदि "प्रभाव" स्थापित करनेका भाव जुड़ा हुआ हो तो वह प्रभाव मिश्रित हो सकता है और यदि यंत्र शुद्ध न हो तो सहायता और साथ

ही हानि भी पहुँचा सकता है।

*

हां, मानव चरित्रके साथ सर्वदा ऐसा ही होता है — मनुष्य पीछे कोई ऐसा अभिप्राय या कोई भावना रखकर एक-दूसरेकी सहायता करना चाहते हैं जो अहंभावसे उत्पन्न होती है।

हां, जब कोई किसी उच्चतर चेतनामें निवास करता है केवल तभी इससे भिन्न होता है।

*

माता-सदृश महत्त्वाकांक्षाकी वास्तविक त्रुटि — कम-से-कम जिस रूपमें यह उस (स्त्री) की तरह बहुतोंमें प्रकट होती है — यह है कि यह एक अहंजन्य क्रियाको, एक बड़ा पार्ट खेलने, अपने ऊपर निर्भरशील लोगोंको पाने, मातृवत् प्रतिष्ठा पाने आदि-आदिकी कामनाको छिपाये रखती है। मानव-परोपकारवादका अधिकांश वास्तवमें इसी अहं-आधारपर खड़ा होता है। यदि कोई इससे मुक्त हो जाय तो सहायता करनेका संकल्प विशुद्ध सहानुभूति तथा चैत्य भावकी क्रियाके रूपमें अपना यथार्थ स्थान पा सकता है।

*

तुम्हें 'अ' के विचारोंके विषयमें न तो अधिक परेशान होनेकी आवश्यकता है न उन्हें महत्त्व देनेकी। उनका एकमात्र सत्य यह है कि यदि कोई सावधान न हो तो साधनाकी क्रियाओंके अन्दर भी बड़ी आसानीसे प्राणिक मिलावट आ जाती है। इससे बचनेका एकमात्र उपाय है सब कुछ भगवान्‌की ओर मोड़ देना और भगवान्‌से ही सब कुछ आहरण करना और आसक्ति, अहंकार तथा कामनासे मुक्त हो जाना। दूसरे साधकोंके साथके अपने संबंधमें न तो कठोरता और रूक्षता होनी चाहिये और न आसक्ति और भावुकतापूर्ण झुकाव।

मातृवत् भावनाका जहांतक प्रश्न है — इसे भी अन्य प्रत्येक चीजकी तरह रूपांतरित करना होगा। ये सभी संबंध जब अरूपांतरित होते हैं तो इनका खतरा यह होता है कि ये सूक्ष्म रूपमें अहंभावके सहायक हो सकते हैं। इससे बचनेके लिये, अपनेको महज एक यंत्र बना लेना होगा, पर यंत्र होनेका अहंकारतक वहां नहीं होना चाहिये, और फिर उसे *अपने मूलस्रोतका ज्ञान होना चाहिये*, उसे कार्यपर या किसी संबंधपर आग्रह नहीं करना चाहिये, बल्कि जब वह यह अनुभव कर सके कि वह अपेक्षित है तब उपयोगी होनेके लिये महज उसका अनुसरण करे। इसके अलावा, इस विषयमें

भी उसे सावधान रहना चाहिये कि उसके द्वारा यथार्थ शक्तियोंके अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति न आवे, केवल वे ही आवें जो उच्चतर चेतना तथा सहायताके साथ सु-समजस हो। यदि कोई इस भावना तथा इस सावधानीके साथ सर्वदा कार्य करे तो यदि भूलें हो भी जायं तो कोई हर्ज नहीं — वर्द्धमान चेतना उन्हें सुधार देगी और कहीं अधिक पूर्ण क्रियाकी ओर प्रगति करेगी।

*

निस्संदेह, दूसरोंकी सहायता करनेकी असुविधा यह है कि साधक उनकी चेतना तथा उनकी कठिनाइयोंके संपर्कमे आता है और फिर उसकी चेतना अधिक बहिर्मुखी भी हो जाती है।

*

हां, यह (किसी भी व्यक्तिके पथभ्रष्ट हो जानेपर उसके साथ सहानुभूति रखना) खतरनाक है, क्योंकि इससे तुम उस व्यक्तिको पथभ्रष्ट करनेवाली विरोधी शक्तिके संपर्कमें आ जाते हो और वह शक्ति तुरत तुम्हें भी स्पर्श करने, सुझाव देने तथा एक प्रकारके स्पर्शज या संक्रामक रोगके द्वारा भ्रष्ट करनेका प्रयत्न करती है।

*

सहानुभूति दिखानेपर तुम संपर्क प्राप्त करते हो और जो कुछ दूसरेमें है उसे ग्रहण करते हो — अथवा तुम फिर अपनी शक्तिका कुछ अंश दे सकते या अपने भीतरसे जाने देते या खीच लेने देते हो जो दूसरेके पास चला जाता है। वास्तवमें वह प्राणगत सहानुभूति है जिसका यह परिणाम होता है; शांत-स्थिर आध्यात्मिक या चैत्य शुभेच्छा इन प्रतिक्रियाओंको नहीं उत्पन्न करती।

*

परंतु, मुझे भय है, दूसरोंकी कठिनाइयोंको अपने ऊपर लेना किसीके भी लिये एक भारी बोझ होगा और इस पद्धतिकी फलोत्पादकतामें मुझे संदेह है। मनुष्य बहुत अधिक लाभदायी रूपमें जो कुछ कर सकता है वह यह है कि यदि उसके पास शक्ति-सामर्थ्य है तो वह अपनी शक्ति-सामर्थ्य दूसरेको दे दे, यदि उसके पास शांति है तो दूसरेपर शांति बरसा दे आदि। यह कार्य वह अपनी शक्ति या शांति खोये बिना कर सकता है — यदि ऐसा समुचित ढंगसे किया जाय।

*

इस मामलेमें दो मनोभावोंका होना संभव है और इनमेंसे प्रत्येकके बारेमें कुछ कहा जा सकता है। 'अ' के मनोभावके विषयमें बहुत कुछ कहा जा सकता है — सबसे पहले, जबतक किसी व्यक्तिकी अपनी निजी सिद्धि पूर्ण नही हो जाती, तबतक वह जो सहायता देगा वह सर्वदा थोड़ी संदिग्ध और अपूर्ण होगी और, दूसरे, अनुभवी योगियोंने इतने अधिक बार जोरदार शब्दोंमें कहा है कि दूसरोंको सहायता देनेके लिये उनकी कठिनाइयोंको अपने ऊपर ले लेनेमें खतरा है। परंतु जो हो, पूर्णताके लिये प्रतीक्षा करना सर्वदा संभव नहीं है।

*

बिना हिचकिचाये मन और हृदय दोनोंमें दूसरेका मंगल चाहना ही सर्वोत्तम सहायता है जो मनुष्य दूसरेको दे सकता है।

*

यदि तुम्हारे पति अपने जीवनके संकटमय कालसे गुजर रहे हैं और अस्वस्थता भोग रहे हैं और उनके प्रति तुम्हें सहानुभूति है तो फिर भी उनके लिये सबसे अच्छा यही है कि तुम अपने-आपको शांत करो और संकटकाल पार करनेमें उन्हें सहायता देनेके लिये भगवान्‌को पुकारो। साधारण जीवनतकमें अशांति और अवसाद उस व्यक्तिके लिये अनुपयुक्त वातावरण पैदा करते हैं जो बीमार या कठिनाइयोंमें होता है। एक बार जब तुम साधिका बन गयी तब, चाहे स्वयं तुम्हारे लिये हो अथवा जिन लोगोंके प्रति अभी भी तुम्हारी सहानुभूति है उन लोगोंको सहायता देनेके लिये हो, भागवत संकल्पशक्तिपर भरोसा रखने और ऊपरसे सहायताके लिये आह्वान करनेका सच्चा आध्यात्मिक मनोभाव ही सर्वदा सर्वोत्तम तथा अत्यंत फलदायी पथ होता है।

*

तुमने भगवान्‌के हाथोंमें जो कुछ या जिस किसीको सौंप दिया है, उस वस्तु या मनुष्यके लिये अब न तो तुम्हारे अंदर कोई आसक्ति होनी चाहिये और न दुश्चिन्ता, बल्कि सब कुछ भगवान्‌पर छोड़ देना चाहिये जिसमें कि जो कुछ सर्वोत्तम हो उसे वह करें।

*

यह बहुत अच्छा है कि जिस अवस्थाका तुम वर्णन करते हो वह स्थापित हो गयी है — यह एक बड़ी प्रगति है। प्रार्थनाओंकी जहांतक बात है, प्रार्थना करनेका कार्य

और जो मनोभाव वह ले आती है, विशेषकर दूसरोंके लिये की गयी निःस्वार्थ प्रार्थनाका कार्य, स्वयं तुम्हें उच्चतर दिव्य शक्तिकी ओर खोल देता है, यद्यपि जिसके लिये प्रार्थना की जाती है उस व्यक्तिमें कोई तदनुसार परिणाम नहीं भी दिखायी देता। उसके विषयमें कोई भी सुनिश्चित बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि परिणाम आवश्यक रूपमें उन व्यक्तियोंपर निर्भर करता है, इस बातपर निर्भर करता है कि आया वे खुले है या नहीं अथवा ग्रहणशील हैं या नहीं अथवा उनके अंदरकी कोई वस्तु प्रार्थनाद्वारा उतारी गयी किसी शक्तिको प्रत्युत्तर दे सकती है या नहीं।

IV

अपने सपर्कोंको सीमित करनेमें समर्थ होना अवश्य ही एक महान् साहाय्य है, बशर्ते कि इसे अति दूरतक न खींचा जाय। जो हो, मैं यहां इतना कह दूँ कि सीमित सपर्कोंके होनेपर भी अवांछित लहरें भीतर घुस सकती है — यह सावधानताका एक उपाय है पर यह तुम्हें पूर्णतः सुरक्षित नहीं बना देता। दूसरी ओर, पूर्ण रूपसे अलग हो जानेपर मनुष्य दूसरे छोरपर पहुँच जाता है और उसके भी अपने खतरे हैं। सच पूछो तो ध्यान हटानेवाली, उद्विग्न करनेवाली, बहिर्मुखी बनानेवाली आदि-आदि "वस्तु" से पूर्ण संरक्षण केवल तभी मिल सकता है जब कि अंतरमें चेतना वर्द्धित हो। इस तरह कुछ कालके लिये अपने अन्दर निमग्न हो जाना और संपर्कोंको सीमित कर देना एक सहायक उपाय हो सकता है यदि उसका व्यवहार विवेकपूर्ण तरीकेसे किया जाय।

*

यह सच है कि सभी परिस्थितियोंमें, यहाँतक कि अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी, मनुष्यको आंतरिक स्थितिको बनाये रखनेका प्रयत्न करना चाहिये; पर उसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस दशामें भी, अनावश्यक रूपसे, प्रतिकूल अवस्थाओंको स्वीकार करना होगा जब कि उनको बने रहने देनेका कोई समुचित कारण न हो। विशेषतः, स्नायुमंडल और शरीर अत्यधिक श्रम नहीं सहन कर सकते,— मन भी तथा उच्चतर प्राण भी नहीं सह सकते; तुम्हारी थकावट एकमेव भागवत चेतनामें बने रहनेके श्रमके कारण आयी तथा साथ-ही-साथ अपनेको साधारण चेतनाके दीर्घ संपर्कोंके प्रति अत्यधिक खोले रखनेके कारण आयी। आत्मरक्षणकी कुछ मात्राकी आवश्यकता होती है जिसमें कि चेतना निरंतर सामान्य वातावरणके अन्दर नीचे या बाहरकी ओर न खींची जाय अथवा शरीरको उन कार्योंमें जबर्दस्ती नियुक्त कर देनेके कारण थकावट न हो जो तुम्हारे लिये विजातीय बन चुके है। जो लोग योगाभ्यास करते है वे बहुधा इन कठिनाइयोंसे बचनेके लिये एकांतकी शरण लेते हैं; वह यहां अनावश्यक है, परंतु साथ-ही-साथ तुम्हे इस प्रकारके निरर्थक श्रमके अधीन अपनेको

सर्वदा खींच ले आने देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

*

तुम बिलकुल ठीक कहते हो। दूसरोंके साथ न मिलनेपर मनुष्य उस परीक्षणसे बच जाता है जिसे दूसरोंके साथका संपर्क चेतनाके ऊपर लादता है और इन परिस्थितियोंमें प्रगति करनेका मौका खो देता है। जब मनुष्य केवल प्राणको प्रश्रय देनेके लिये, गपशप करने, प्राणिक क्रियाओं आदिका आदान-प्रदान करनेके लिये किसीसे मिलता-जुलता है तो वह आध्यात्मिक दृष्टिसे लाभदायक नहीं होता; परंतु सब प्रकारके मिलने-जुलने और संपर्कसे विरति भी वांछनीय नहीं है। जब चेतना सचमुच पूर्ण एकांतवासकी आवश्यकता समझती है केवल तभी ऐसा एकांतवास किया जा सकता है और उस दशामें भी वह एकांत पूर्ण तो हो सकता है पर अखंड नहीं हो सकता। क्योंकि अखंड एकांतवासमें मनुष्य विशुद्ध रूपमें आत्मनिष्ठ जीवन बिताता है और बाहरी जीवन-तक आध्यात्मिक प्रगतिको प्रसारित करने तथा पूर्णत: उसकी परीक्षा करनेका सुअवसर वहां नहीं होता।

यह अच्छी बात है कि जो कुछ घटित हुआ उसके प्रति तुम्हें शीघ्र समुचित मनोभाव प्राप्त हो गया; यह चीज चेतनामें प्राप्त एक अच्छी प्रगतिको सूचित करती है।

*

वह (लोगोंके साथ मिलना-जुलना, हंसना-बोलना, हंसी-मजाक आदि) एक प्रकारका प्राणिक प्रसरण है, यह प्राणिक सामर्थ्य नहीं है — यह प्रसरण खर्चीला भी है। क्योंकि जब इस प्रकारका मिलना-जुलना होता है तो जो लोग प्राणिक रूपसे प्रबल होते हैं वे उससे शक्ति पाते हैं पर जो प्राणिक रूपसे दुर्बल होते हैं वे अपनी शक्ति खो देते और अधिक कमजोर हो जाते हैं।

*

मैं समझता हूँ, सबके ऊपर लागू होने योग्य कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। कुछ ऐसे लोग हैं जो प्राणके फैलावकी प्रवृत्ति रखते हैं, दूसरे लोग ऐसे होते हैं जो एकाग्रताकी प्रवृत्ति रखते हैं। ये दूसरे प्रकारके लोग अपने निजी प्रयत्नकी तीव्रताके अन्दर तल्लीन होते हैं और निश्चय ही उससे ये प्रगतिकी एक महान् शक्ति संग्रह करते हैं और शक्तिके उस व्यय और क्षतिसे बच जाते हैं जो अधिक संपर्क रखनेवाले लोगोंको प्राय: ही उठाना पड़ता है; फिर साथ ही दूसरोंकी प्रतिक्रियाओंकी ओर ये कम खुले होते हैं (यद्यपि इनसे सर्वथा बचा नहीं जा सकता)। दूसरे लोगोंको, जो कुछ उनके अन्दर है, उसको प्रदान करनेकी आवश्यकता होती है और वे, जो कुछ उनके पास है उसका

उपयोग करनेसे पहले पूर्ण पूर्णत्व प्राप्त करनेके लिये प्रतीक्षा नही कर सकते। यहां-तक कि उन्हें प्रगति करनेके लिये देने और लेनेकी आवश्यकता हो सकती है। बस, एक ही बात है कि उन्हें दोनों प्रवृत्तियोमे समतोलता बनाये रखनी चाहिये, जितना अधिक वितरित करनेके लिये वे एक तरफसे खुले है उतना ही अधिक अथवा उससे भी अधिक ऊपरसे ग्रहण करनेके लिये एकाग्र होना चाहिये।

*

'अ' का प्राण बहुत प्रबल और विस्तरणशील है, अतएव यह बिलकुल स्वाभाविक है कि यदि वह किसीको पसद करे तो वह उसके साथ मिलकर उसपर इस प्रकारका प्रभाव डाल सकता है। परंतु मै नही समझता कि जो कुछ वह देता या ग्रहण करता है उसके विषयमे वह सचेतन है; यह अधिक अपने-आप होनेवाले कार्यके जैसा है। वह केवल देनेका ही अभ्यासी नही है यद्यपि, एक प्रबल आत्मलीन प्राणके विपरीत एक प्रबल विस्तारशील प्राणके लिये, ग्रहण करने और देने दोनोंकी आवश्यकता होती है।

*

यह एक स्वभावका विषय है। कुछ लोग कहीसे जो कुछ आता है उस सबके प्रति चैत्य रूपमे और प्राणिक रूपमे सवेदनशील और प्रतिक्रियात्मक होते हैं; दूसरे लोग ठोस स्नायुवाले तथा आक्रमणके लिये प्राचीर-वेष्टित होते हैं। यह बिलकुल ही प्रबलता या दुर्बलताका प्रश्न नही है। पहली कोटिके लोगोंको जीवन तथा जीवनके प्रति उत्तरका एक महत्तर बोध होता है; वे जीवनमें अधिक दु.ख भोगते हैं और उससे (जीवनसे) अधिक प्राप्त करते है। यह ग्रीक और रोमन लोगोंके बीचका अंतर है। अहंकारके बिना भी यह विभेद बना रहता है, क्योंकि यह स्वभावका अंतर है। योग-में प्रथम कोटिके लोग प्रत्येक चीजको प्रत्यक्ष रूपमें अनुभव करने तथा घने अनुभवके द्वारा ब्योरेके साथ प्रत्येक चीजको जाननेमें अधिक सक्षम होते है; यही उनकी महान् सुविधा है। दूसरे लोगोंको जाननेके लिये मनका व्यवहार करना पड़ता है और उनकी पकड़ कम घनी होती है।

*

यह सही है कि अधिक घनिष्ठ रूपमें दूसरोंसे मिलने-जुलनेसे आंतरिक स्थिति नीचे गिर जाती है, यदि उनमें समुचित मनोभाव न हो और वे बहुत अधिक प्राणमें निवास करें। सभी संपर्कोंमें तुम्हे बस यही करना है कि तुम अपने भीतर बने रहो, अनासक्त भाव बनाये रखो और कर्म तथा दूसरोंकी गति-विधियोंमें जो कठिनाइयां

उठें उनसे अपनेको उद्विग्न मत होने दो, बल्कि तुम स्वयं यथार्थ वृत्ति बनाये रखो। दूसरोंको "सहायता" करनेकी कामना द्वारा आक्रांत मत होओ — स्वयं अपनी आंतरिक स्थितिमें रहते हुए *यथार्थ कार्य करो और यथार्थ बात बोलो तथा उनके पास भगवान्के* यहांसे सहायता आने दो। कोई भी व्यक्ति वास्तवमें सहायता नही कर सकता — एकमात्र भागवत कृपा-शक्ति ही कर सकती है।

*

यह (सामंजस्य, आनन्द और प्रेम) तुममें है और जब यह ऐसा होता है वातावरणमें फैल जाता है — परंतु स्वभावतः ही केवल वे ही लोग उसमें हिस्सा बंटा सकते हैं जो खुले हुए और प्रभावके प्रति संवेदनशील हैं। फिर भी जिसके अंदर शांति या प्रेम है ऐसा प्रत्येक व्यक्ति वातावरणमें उसके बढ़नेके लिये एक सहायक प्रभाव बन सकता है।

*

जब कोई मनुष्य कुछ समय बातचीत आदि करते हुए दूसरेके साथ रहता है, तब वहां सदा थोड़ा प्राणिक आदान-प्रदान होता है, जबतक कि वह दूसरेसे जो कुछ सहज रूपमें या सज्ञान रूपमें आता है उसका परित्याग नहीं कर देता। यदि कोई व्यक्ति संवेदनशील हो तो दूसरेकी ओरसे एक प्रबल छाप या प्रभाव पड़ सकता है। फिर, जब वह किसी दूसरे व्यक्तिके पास जाता है तो यह संभव है कि वह उस प्रभावको उसकी ओर हस्तांतरित कर दे। यह एक ऐसी चीज है जो बराबर घटित हो रही है। परंतु यह चीज हस्तांतरित करनेवालेके ज्ञानके बिना घटित हो रही है। जब मनुष्य सचेतन होता है जो वह इसे घटित होनेसे रोक सकता है।

*

दूसरे व्यक्तिके साथ बात करके अवसन्न हो जाना किसी व्यक्तिके लिये बिलकुल संभव है। बातचीत करनेका अर्थ है एक प्रकारका प्राणिक आदान-प्रदान, सो ऐसा सदा घटित हो सकता है। आया एक विशेष प्रसंगमें उन्होंने ठीक-ठीक निरीक्षण, किया है या नहीं यह दूसरा विषय है।

*

हां, यही है कसौटी। जब कोई अन्य लोगोंके साथ व्यवहार करता है तो सर्वदा ही उनकी ओर चेतनाका एक प्रसारण हो सकता है अथवा चेतनामें उनको ग्रहण किया

तुम यह समझनेमें भूल करते हो कि 'अ', 'ब', और 'स' की साधना सभी दिशाओंमें उनके मनके दौड़नेके कारण क्षतिग्रस्त नहीं होती। यदि उन्होंने एकाग्रभावके साथ योगसाधना की होती तो वे पथपर बहुत दूर आगे चले गये होते — यहांतक कि 'ब', जिसमें प्रभूत ग्रहणशीलता है और जो प्रगति करनेके लिये उत्सुक है, जितना वह आगे बढ़ा है उससे तीनगुना अधिक आगे बढ़ गया होता। परंतु तुम्हारी प्रकृति, जो कुछ वह करती है उसमें, बड़ी तीव्र है और इसलिये सीधे रास्तेको पकड लेना उसके लिये बिलकुल स्वाभाविक पंथ था। स्वभावत: ही, जब एक बार उच्चतर चेतना स्थापित हो चुकी और प्राण तथा शरीर दोनों साधनाके हेतु स्वयं अपने-आप चलनेके लिये पर्याप्त रूपमें तैयार हो गये तो अब कठोर तपस्याकी आवश्यकता नही रही। परंतु जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक हम इसे बहुत उपयोगी और सहायक तथा बहुतसे प्रसंगोंमें अनिवार्य समझते हैं। परंतु, जब प्रकृति इच्छुक नही होती तो हम इसके लिये आग्रह नहीं करते। मैं यह भी देखता हूँ कि जो लोग सीधी धारामें आ जाते हैं, (अभी ऐसे लोग बहुत नहीं हैं), वे स्वयं अपने ही मनको विच्छिन्न करनेवाले इन संबंधों और धंधोंको त्यागनेकी प्रवृत्ति ग्रहण कर लेते हैं तथा अपने-आपको पूर्णत: साधनामें झोंक देते हैं।

*

हां, निश्चय ही, विच्छिन्नता एक आंतरिक क्रिया है। परंतु कुछ बाहरी चीजें चेतनाके विच्छिन्न होनेमें सहायता करती हैं और यदि कोई व्यक्ति 'अ' की तरह यह कहता है कि 'ब' की तरह अपने संगी-साथियोंके साथ इधर-उधर भटकनेसे उसकी चेतना विच्छिन्न नहीं होती तो मैं कहूँगा कि वह या तो सच नहीं बोलता अथवा अपने-आपको धोखा देता है। यदि कोई सर्वदा आंतरिक चेतनामें रहे तो बाहरी कार्य करते रहनेपर भी उसका मन विच्छिन्न नहीं हो सकता — अथवा,यदि वह सब समय और सब काम करते हुए भगवान्के विषयमें सज्ञान रहता है तो फिर चेतनामें विच्छिन्न हुए बिना वह समाचारपत्र पढ़ सकता या बहुत अधिक पत्र-व्यवहार कर सकता है। परंतु उस स्थितिमें भी, यद्यपि चेतनामें कोई विच्छिन्नता नही होती, फिर भी अखबार पढ़ते समय या पत्र लिखते समय उसकी चेतनाकी तीव्रता उस समयकी अपेक्षा कम घनी होती है जब वह अपना कोई भी भाग बिलकुल बाह्य वस्तुओंमें नहीं संलग्न करता। वास्तवमें जब चेतना एकदम सिद्ध हो जाती है केवल तभी यह विभेद दूर होता है। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि मनुष्यको बाहरी कार्य बिलकुल नही करना चाहिये, क्योंकि तब उसे दोनों चेतनाओंको युक्त करनेकी शिक्षा नही प्राप्त होती। परंतु हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि कुछ चीजें चेतनाको अवश्य विच्छिन्न करतीं या उसे नीचे गिराती या उसे दूसरोंकी अपेक्षा अधिक बहिर्मुखी बनाती हैं। विशेषकर किसी व्यक्तिको स्वयं अपने-आपको यह धोखा नहीं देना चाहिये या अपने-आपसे यह झूठा दिखावा नहीं करना चाहिये कि उसकी चेतना उनके द्वारा विच्छिन्न नहीं होती जब कि

वास्तवमे वह होती है। उन लोगोंका जहांतक प्रश्न है जो दूसरे लोगोंको योगके प्रति आकर्षित करना चाहते है, मैं कहूँगा कि यदि वे अपने-आपको आंतरिक लक्ष्यके अधिक निकट खीच ले जाय तो वह एक वहुत अधिक फलदायक क्रिया होगी। और अंतमें वह चीज वहुतसे पत्र लिखनेकी अपेक्षा वहुत अधिक लोगोंको और कहीं अधिक अच्छे ढगसे "खीच" ले आयगी।

*

यही कारण है कि हम बाहरके रिश्तेदारों आदिके साथ पत्र-व्यवहार करनेके पक्षमे नही है। जवतक तुम वाहर या नीचे उनके अपने स्तरपर नहीं आ जाते जो कि स्पष्ट ही योगकी दृष्टिसे वाछनीय नही है, तवतक उनके साथ संपर्कका कोई विंदु नही प्राप्त होता। मै नही समभता कि पत्रके द्वारा वहुत अधिक अंतःप्रेरणा भेजी जा सकती है क्योंकि उनकी चेतना विलकुल ही तैयार नही है। शव्द अधिकसे अधिक उनके मनोके केवल ऊपरी भागको छू सकते हैं; वास्तवमें महत्त्वपूर्ण है शव्दोंके पीछे विद्यमान कोई वस्तु, पर उसके प्रति वे उद्‌घाटित नही हैं। यदि उनमें आध्यात्मिक वस्तुओके प्रति पहलेसे कोई रुचि हो तो वात अलग है। पर उस हालतमें भी वहुधा यह कही अधिक अच्छा है कि उन्हें इस मार्गमें खीचनेकी जगह उन्हें अपने निजी गुरुका अनुसरण करने दिया जाय।

*

यही कारण है कि इन चीजों (सवंधियोंके साथ पत्रव्यवहार) को वन्द कर देना अधिक अच्छा है। जो लोग अपने लोगोके साथ पत्रव्यवहार जारी रखते है वे तुम्हारी तरह इस वातको नही अनुभव करते, पर, जो हो, यह एक तथ्य है कि वे उन प्रकपनोंको वनाये रखते तथा वल प्रदान करते हैं जो उनके प्राणमें पुरानी शक्तियोंको सक्रिय वनाये रखते एवं अवचेतनामें उनका संस्कार वनाये रखते हैं।

*

प्रत्येक पत्रका अर्थ है उस व्यक्तिके साथ एक प्रकारका आदान-प्रदान, जो उसे लिखता है — क्योंकि शव्दोंके पीछे कोई चीज रहती है, उसके व्यक्तित्वका कुछ अंश अथवा पत्र लिखते समय उसने जिन शक्तियोको उत्पन्न किया या जो शक्तियां उसके चारों ओर थीं उन सवका कुछ अंश होता है। हमारे विचार और भावनाएं भी शक्तियां है और दूसरोंपर प्रभाव डाल सकती हैं। मनुष्यको इन शक्तियोंकी गतिविधिके विषयमें सचेतन होना होता है और तभी वह अपनी मानसिक और प्राणिक रचनाओंको संयमित कर सकता तथा दूसरोंकी वैसी रचनाओंसे प्रभावित होना वन्द कर सकता है।

*

हां, किसीके बुरे और अच्छे विचार दूसरोंपर बुरा या अच्छा प्रभाव डाल सकते हैं, यद्यपि वे बराबर नहीं डालते क्योंकि वे काफी शक्तिशाली नहीं होते — पर फिर भी वही उनकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये जिन लोगोंको ज्ञान प्राप्त है उन्होंने सर्वदा ही यह कहा है कि इस कारण दूसरोंके बुरे विचारोंसे हमें बचना चाहिये। यह सच है कि मनकी साधारण स्थितिमें दोनों प्रकारके विचार एक समान मनमें उठते हैं,; परंतु मन और मानसिक संकल्प-शक्ति दोनों सुविकसित हों तो मनुष्य अपने विचारों तथा साथ ही अपने कार्योंपर संयम स्थापित कर सकता है और बुरे विचारोंको अपनी क्रीड़ा करनेसे रोक सकता है। परंतु साधकके लिये यह मानसिक संयम ही पर्याप्त नहीं है। उसे अचंचल मनको पाना होगा और मनकी नीरवतामें केवल भागवत विचार-शक्तियों अथवा अन्य दिव्य शक्तियोंको ग्रहण करना होगा और उनका क्रीड़ा-क्षेत्र और उपकरण बनना होगा।

मनको निश्चल-नीरव बनानेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि ज्योंही कोई विचार आये उसे पीछे फेंक दिया जाय, वह तो केवल एक गौण क्रिया हो सकती है। मनुष्यको सभी विचारोंसे पीछे हट आना होगा और उनसे पृथक् हो जाना होगा, एक नीरव चेतना पानी होगी जो विचारोंको उनके आनेपर निरीक्षण करती है, पर स्वयं अपने-आप विचार नहीं करती अथवा विचारोंके साथ तदात्म नहीं हो जाती। विचारोंको एकदम बाहरी चीजोंके रूपमें अनुभव करना होगा। वास्तवमें ऐसा करनेपर ही विचारोंका त्याग करना या मनकी स्थिरताको भंग किये बिना उन्हें गुजर जाने देना अधिक आसान होता है।

हर्ष या शोकसे, प्रसन्नता या अप्रसन्नतासे, लोग जो कुछ कहते या करते हैं उससे या किसी भी बाहरी चीजसे उद्विग्न न होना ही वह चीज है जिसे योगमें समताकी स्थिति, सभी बातोंमें समभाव कहते हैं। इस स्थितिको प्राप्त करनेमें समर्थ होना साधनाके लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मानसिक अचंचलता और नीरवताको तथा साथ ही प्राणिक अचंचलता और नीरवताके आनेमें यह सहायता करता है। निश्चय ही इसका अर्थ यह है कि स्वयं प्राण और प्राणिक मन भी अब नीरव और अचंचल होने लगे हैं। चिंतनशील मन भी अवश्य अनुगमन करेगा।

*

किसीके विषयमें बातचीत करना बहुत अच्छी तरह उसपर प्रभाव डाल सकता है; यह प्रायः प्रभाव डालता है, क्योंकि यह विचार या भावनाकी एक शक्तिशाली रचना हो सकता है जो, इस प्रकार मूर्त्त होकर, उसके पास पहुँच सकती है। पर मैं यह नहीं मानता कि महज यांत्रिक विचार या कु-विरचित कल्पनाएं ऐसा कर सकती हैं — कम-से-कम ऐसा बहुत कम ही हो सकता है और इसके लिये असाधारण अवस्थाओंकी आवश्यकता होती है अथवा शक्तियोंकी एक ऐसी क्रीड़ा होनी चाहिये जिसमें एक तुच्छ वस्तुका भी मूल्य होता है।

*

नही, लोग इन चीजोंके विषयमें सचेतन नही होते, केवल थोड़ेसे लोग होते हैं। प्राणिक आदान-प्रदान तो होता है, पर वे इस बातको नहीं जानते --- क्योंकि वे बाह्य (शरीर) मनमे निवास करते हैं और ये चीजें पीछेकी ओर घटित होती हैं। यदि वे आदान-प्रदानके बाद अधिक स्फूर्त्ति या अवसन्नता या थकावट अनुभव भी करते हैं तो वे इसका कारण बातचीत या संपर्कको नही मानते, क्योंकि आदान-प्रदान अचेतन होता है; जिस बाह्य मनमें वे रहते है वह इस विषयमें सचेतन नहीं होता।

*

इस (प्राणिक आदान-प्रदानके विषयमें सचेतन होने) की उपयोगिता निर्भर करती है शातिपर आधारित एक आतरिक शक्तिके विकासपर, जो शक्ति इन चीजोंपर क्रिया करेगी और इन्हे रोक देगी। जबतक मनुष्य अचेतन होता है तबतक अज्ञानावस्थामें वह उस क्रियामेसे गुजरता है और तब चक्रसे बाहर जानेकी कोई संभावना नहीं होती, क्योंकि तब उसे कोई ज्ञान नही होता। सत्ताके अन्दर एक वर्धनशील आंतरिक विकासके साथ चेतनता आती है जो शांतिको, मुक्तिको एक आवश्यक वस्तु बना देती है --- उसके साथ-साथ मनुष्य एक नवीन चेतनाकी एक उच्चतर शक्तिकी ओर खुलता है जो प्राणिक आदान-प्रदानका अंत कर देती है और प्राणिक तथा मानसिक जीवनके लिये एक नवीन स्थितिका निर्माण करती है। यदि कोई वर्द्धित संवेदनशीलताके आते ही रुक जाता है और अधिक आगे नही बढ़ता तो अवश्य ही उसका कोई समुचित उपयोग नही रह जाता। 'अ' और 'ब' के जैसे कुछ लोग है जो 'गुह्य' ज्ञानमें इतना तल्लीन हो गये कि वे वही रुककर चक्कर काटने लगे और सब प्रकारकी भूलें करने लगे, क्योंकि आध्यात्मिक ज्योति उनमें नही थी। मनुष्यको वहां रुक नही जाना चाहिये, बल्कि आगे बढ़ जाना और परे आध्यात्मिक चेतनातक चले जाना चाहिये तथा उस महत्तर ज्योति, शक्ति और स्थितिको पाना चाहिये जिसे वह चेतना ले आती है।

*

मैं नहीं समझता कि लोग इस गुह्य व्यापारके विषयमें तनिक भी सज्ञान होते है। दौदेत (Daudet) के जैसे कुछ लोग शक्तियोंके खर्च होने या फेंके जानेका निरीक्षण कर सकते हैं, पर खीचे जाने या दूसरोंके ऊपर उनके प्रभावको नही देख सकते। मानसिक आदान-प्रदानकी भावना सुपरिचित चीज है, यद्यपि केवल उपरितलीय प्रकारके आदान-प्रदानको ही लोग जानते हैं, मनके ऊपर मनके नीरव कार्यको नहीं जानते जो सर्वदा चलता रहता है, परंतु प्राणिक संघातोंको केवल थोड़ेसे गुह्यविद्याविशारद ही जानते हैं। यदि कोई बहुत सचेतन हो जाय तो वह अन्दर और चारों ओरसे काम करनेवाली शक्तियों, जैसे हर्ष या अवसाद या क्रोधकी शक्तियोंके विषयमें

सज्ञान हो सकता है।

*

अवश्य ही एक सुसंस्कृत और सुशिक्षित मनुष्यकी प्राणिक शक्ति तथा एक अनगढ़ और अज्ञ मनुष्यकी प्राणिक शक्तिके बीच भेद होना ही चाहिये। यदि और कुछ नहीं तो, उसकी प्राणशक्तिमें कहीं अधिक परिमार्जन और सूक्ष्मता तो होगी ही और इसीलिये ऊर्जामें भी होगी। यदि अत्यधिक मद्यपान किया जाय तो वह ऊर्जाके मूल तत्त्व और गुणपर प्रभाव डालता है, पर संभवतः संयमित मद्यपान और धूम्रपानका प्रभाव कम दिखायी देने लायक होगा। मैं नहीं समझता कि साधारण जीवनमें लोग स्पष्ट रूपमें देखते हैं, पर उन्हें बहुधा एक प्रकारकी सामान्य धारणा होती है जिसकी वे व्याख्या या विशेष वर्णन नहीं दे सकते।

विभाग नौ

साधना -- आश्रममें और बाहर

साधना -- आश्रममें और बाहर

इस आश्रमकी स्थापनाका उद्देश्य वह नही है जो साधारणतया ऐसी संस्थाओं-की स्थापनाका हुआ करता है। संसारको त्यागनेके लिये नहीं, वल्कि एक दूसरे आकार और प्रकारके जीवनके विकासके लिये अभ्यासके क्षेत्र तथा केंद्रके रूपमें इसका निर्माण हुआ है। यह जीवन अंतमें उच्चतर आध्यात्मिक चेतनासे परिचालित होगा और अधिक महान् आध्यात्मिक जीवनको मूर्त्तिमान् करेगा। ऐसा कोई सामान्य नियम नही है कि किस अवस्थामें कोई व्यक्ति साधारण जीवनको छोड़कर इसमें प्रवेश कर सकता है। प्रत्येक प्रसंगमें यह व्यक्तिगत आवश्यकता और प्रेरणा और इस ओर पग उठानेकी संभावना या औचित्यपर निर्भर करता है।

*

यह आश्रम दूसरे आश्रमोंकी तरह नही है — यहांके सदस्य संन्यासी नही हैं; वास्तवमें यहां योगका एकमात्र लक्ष्य मोक्ष नहीं है। यहां जो कुछ किया जा रहा है वह एक कार्यकी तैयारी है — ऐसे कार्यकी जो यौगिक चेतना और योगशक्तिपर स्थापित होगा, और जिसका दूसरा कोई आधार नहीं हो सकता। इस वीच, प्रत्येक सदस्यसे यहां यह आशा की जाती है कि वह इस आध्यात्मिक तैयारीके अंगके रूपमें आश्रममें कुछ कार्य करेगा।

*

कठिनाई यह है कि उसमें सांसारिक जीवनके प्रति केवल वैराग्य प्रतीत होता है, पर उसे कोई ज्ञान नहीं है या इस योगके लिये उसमें कोई विशेष पुकार नहीं है, और यह योग और यहांका जीवन साधारण योग तथा साधारण आश्रमोंके जीवनसे विलकुल भिन्न वस्तुएं हैं। दूसरे जगहोंकी तरह यहांका जीवन ध्यानपरायण निवृत्तिका जीवन नहीं है। इसके अतिरिक्त, उसको विना देखे और निकटसे यह विना जाने कि वह कैसी है, कुछ भी मांग करना हमारे लिये असंभव है। आजकल हम वहुत थोड़ेसे लोगोंके सिवा आश्रममें अधिक सदस्य भर्त्ती करना नहीं चाहते।

*

कुछ लोगोंके लिये यहां रहे विना "जीवनका उत्सर्ग करना" सर्वथा संभव है।

यह आभ्यतरीण भावका तथा भगवान्‌के प्रति सत्ताके पूर्ण उत्सर्ग कर देनेका प्रश्न है।

*

हम नही समझते कि ('अ' का आकर आश्रममें रहना) इस अवस्थामें उपयोगी होगा। आश्रममें आ जानेपर कठिनाइयां समाप्त नहीं हो जातीं — तुम जहां भी रहो, तुम्हे उनका सामना करना और उन्हें जीतना होगा। कुछ विशेष प्रकृतिवाले लोगोंके लिये प्रारंभसे आश्रममें निवास करना उपयोगी होता है — दूसरोंको वाहर रहकर तैयारी करनी होती है।

*

मैंने तुम्हारे पत्रको पढ़ा है और विचार किया है और यह निश्चय किया है कि तुम्हें वह सुयोग दिया जाय जिसे तुम मांग रहे हो — तुम आरंभ करनेके लिये आश्रम-में दो या तीन महीने रह सकते हो, और यह देखो कि आया यही वास्तवमें वह स्थान और मार्ग है जिसे तुम खोज रहे थे और हम भी तुम्हारी आध्यात्मिक संभावनाओंका अधिक निकटसे निरीक्षण करके यह निर्णय कर सकते हैं कि किस तरह उत्तम रूपमें हम तुम्हें सहायता कर सकते हैं और आया यह योग तुम्हारे लिये सबसे अच्छा है या नही।

कई कारणोंसे यह परीक्षण आवश्यक है, पर विशेषतः इस कारण कि यह योग-साधना कठिन है और वहुत अधिक लोग यथार्थमें उन मांगोंको पूरा नहीं कर सकते जिन्हें यह प्रकृतिसे चाहता है। तुमने लिखा है कि तुमने मेरे अन्दर एक ऐसे व्यक्तिको देखा जिसने वुद्धिकी पूर्णताके द्वारा, उसको अध्यात्मभावापन्न और दिव्यभावापन्न करके सिद्धि पायी; पर वास्तवमें देखा जाय तो मैं मनकी पूर्ण नीरवताके द्वारा पहुँचा और मेरे मनमें जिस किसी अध्यात्मभावापन्न और दिव्यभावापन्न स्थितिको प्राप्त किया वह उस नीरवतामें एक उच्चतर अति-वौद्धिक ज्ञानके अवतरित होनेसे प्राप्त किया। स्वयं वह पुस्तक, "गीता-प्रवंध", मनकी उसी नीरवतामें, वौद्धिक प्रयासके विना और ऊपरसे आनेवाले इस ज्ञानकी अवाध क्रियाके द्वारा लिखी गयी थी। यह महत्त्वपूर्ण वात है, क्योंकि इस योगका सिद्धांत मानव-प्रकृतिको, जैसी कि यह है, पूर्ण वनाना नही है, वल्कि एक आंतरिक चेतनाकी क्रियाके द्वारा सत्ताके सभी भागोंका चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतर साधित करना है और फिर एक उच्चतर चेतनाके द्वारा करना है जो उनपर क्रिया करती है, उनकी पुरानी क्रियाओंको दूर फेंक देती है या उन्हें अपनी ही प्रतिमूर्तिमें वदल देती है और इस तरह निम्नतरको उच्चतर प्रकृतिमें परिवर्तित कर देती है। यह वुद्धिकी उतनी अधिक पूर्णता नहीं है जितना कि यह उसका अतिक्रमण है, मनका एक रूपांतर है, ज्ञानके एक विशालतर और महत्तर तत्त्वको उसके स्थानमें

ला विठाना है — और यही सत्ताके बाकी सभी अंगोंके साथ करना है।

यह एक धीमी और कठिन प्रक्रिया है; पथ लंवा है और आवश्यक आधारको भी स्थापित करना मुश्किल है। पुरानी वर्तमान प्रकृति विरोध करती और बाधा देती है और एकके बाद एक और बार-बार कठिनाइयां उठती हैं जबतक कि वे जीत नहीं ली जातीं। इसलिये इस विषयमें निस्सदिग्ध होना आवश्यक है कि अंतिम रूपमें इसपर चलनेका निर्णय करनेसे पहले मनुष्य यह जान लें कि यही वह पथ है जिसपर चलनेके लिये उसे आह्वान प्राप्त है।

यदि तुम चाहो, हम तुम्हें परीक्षणका अवसर देनेके लिये तैयार है जिसे तुम चाहते हो। तुम्हारा उत्तर पानेपर श्रीमाताजी आश्रममें तुम्हारे ठहरनेकी आवश्यक व्यवस्था करेंगी।

*

सत्ताके पूर्ण आध्यात्मिक जीवनके लिये तैयार हो जानेसे पहले सांसारिक जीवन-का त्याग करना लाभदायी नहीं होता। ऐसा करनेका अर्थ है अपनी सत्ताके विभिन्न अंगोंमें संघर्ष खड़ा कर देना और उसे इतनी तीव्रतातक उभार देना कि उसे सहन करने-के लिये प्रकृति तैयार न हो। तुम्हारे अन्दरके प्राणिक तत्त्वोंको अंशतः अनुशासन तथा जीवनके अनुभवका सामना करना होगा, जब कि आध्यात्मिक लक्ष्यको अपनी दृष्टिके सामने रखना होगा तथा कर्मयोगकी भावनाके साथ धीरे-धीरे उसके द्वारा जीवनको परिचालित करनेका प्रयास करना होगा।

बस, यही कारण है कि हमने तुम्हारे विवाहका समर्थन किया।

*

नहीं, आश्रममें रहना पर्याप्त नहीं है; मनुष्यको श्रीमाताजीकी ओर उद्घाटित होना होगा और मनको त्याग देना होगा जिसके साथ वह संसारमें खेल रहा था।

*

यहां कोई औपचारिक दीक्षा नहीं है, स्वीकृति ही पर्याप्त है, पर मैं सामान्यतया तबतक स्वीकार नहीं करता जबतक कि मैं अथवा श्रीमाताजी उस व्यक्तिको नहीं देख लेतीं अथवा जबतक कि कोई स्पष्ट चिह्न नहीं होता कि वह इस योगके लिये निर्दिष्ट है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो लोग शिष्य होना चाहते हैं वे स्वीकृतिसे पहले स्वप्न या सूक्ष्मदर्शनमें मुझे देख चुके होते है।

*

जो कुछ तुम कहते हो वह सही है। यह मनोभाव कि भगवान्‌को साधककी आवश्यकता है और साधकको भगवान्‌की आवश्यकता नहीं है, एकदम गलत और मूर्खतापूर्ण है। जब लोग यहां स्वीकृत होते है तो उन्हें एक महान् भागवत करुणाका, एक महान् कार्यका यत्र होनेका सुयोग प्रदान किया जाता है। यह मानना कि इस या उस व्यक्तिकी सहायताके बिना भगवान् अपना कार्य "नहीं कर सकते", निश्चय ही अत्यत अहकारपूर्ण और अयुक्तिसंगत बात है। उन्हे गीताकी यह युक्ति याद करनी चाहिये कि "ऋतेऽपि त्वाम्", "तेरे बिना भी" कार्य संपन्न हो सकता है और यह कि "निमित्तमात्र भव" — "उसका निमित्त बनो।"

*

मैं प्रणाम आदिकी बात नहीं सोच रहा था जिसका कि बड़ा जीवंत महत्त्व है, बल्कि उन पुरानी रीतियोंकी बात सोच रहा था जो बनी हुई हैं यद्यपि अब उनका कोई मूल्य नहीं है — उदाहरणार्थ, मृतकोंका श्राद्ध। फिर यहां ऐसी प्रथाएं हैं, जिनका इस योगके साथ कोई संबंध नहीं है — उदाहरणार्थ, जो ईसाई ईसाई प्रथाओंसे या मुसलमान नमाजसे या हिन्दू सध्यावंदनसे पुराने ढंगसे चिपके रहते हैं, वे बहुत शीघ्र देखेंगे कि वे या तो समाप्त हो रही हैं या उनकी साधनाके मुक्त विकासके लिये एक बाधा हो रही है।

II

तुमने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि तुम्हें कर्मके विषयमें एक भ्रांत धारणा है। आश्रममे कर्मका उद्देश्य मानवजातिकी सेवा या उसके एक भाग, जिसे आश्रमके साधक कहते है, की सेवा नहीं है। यह इसलिये भी नहीं है कि इससे या तो लोगोंको एक सुखपूर्ण सामाजिक जीवन पानेके लिये और साधकोंके बीच भावुकताओं तथा आसक्तियोंके प्रवाहित होनेके लिये और प्राणिक क्रियाओंकी अभिव्यक्तिके लिये, चाहे कुछके साथ या सबके साथ मुक्त प्राणिक आदान-प्रदानके लिये सुअवसर प्राप्त हो। यहांका कर्म भगवान्‌की सेवाके रूपमें और भगवान्‌के प्रति आंतरिक उद्‌घाटन-के लिये, एकमात्र भगवान्‌को समर्पण करनेके लिये, अहंकार तथा सभी साधारण प्राणिक क्रियाओंका त्याग करनेके लिये, चैत्य उत्कर्ष, निःस्वार्थभाव, आज्ञाकारिता, सभी मानसिक, प्राणिक या सीमित व्यक्तित्वके दूसरे-दूसरे स्वाग्रहके त्यागके लिये एक क्षेत्र-के रूपमे अभिप्रेत है। आत्मपुष्टीकरण लक्ष्य नहीं है, समष्टिगत प्राणिक अहंकी रचना करना भी उद्देश्य नहीं है। भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त कर उसमें तुच्छ अहं-को डुबा देना, शुद्धीकरण, समर्पण, अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और व्यक्तिगत अनु-भवोंपर आधारित अपने निजी अज्ञानपूर्ण आत्म-निर्देशनके स्थानमें भागवत पथ-प्रदर्शनको ले आना अर्थात् अपनी निजी संकल्प-शक्तिको भागवत संकल्प-शक्तिके

हाथोंमें समर्पित कर देना कर्मयोगका लक्ष्य है।

यदि कोई यह अनुभव करता हो कि मनुष्य तो समीप है और भगवान् दूर और मानव-प्राणियोंकी सेवा और प्रेमके द्वारा वह भगवान्‌की खोज करता है, न कि भगवान्‌की प्रत्यक्ष सेवा और प्रेमके द्वारा, तो वह एक गलत सिद्धांतका अनुसरण कर रहा है — क्योंकि वह तो मानसिक, प्राणिक और नैतिक जीवनका सिद्धात है, न कि आध्यात्मिक जीवनका।

*

["सर्वभूतके अन्दर भगवान्‌का प्रेम तथा सब वस्तुओंमें उसकी क्रियाओंका निरंतर बोध होते रहना और उसे स्वीकार करना।"] साधारण कर्मयोगके लिये यह बिलकुल ठीक है जो विश्वात्माके साथ युक्त होनेको अपना लक्ष्य मानता है और अधिमानसतक जाकर एकाएक रुक जाता है — परंतु यहां एक विशेष कार्य करना है और केवल स्वयं अपने लिये नही बल्कि पृथ्वीके लिये एक नयी सिद्धि प्राप्त करनी है। शेष संसारसे पृथक् अवस्थित होना आवश्यक है जिसमे कि हम एक नवीन चेतनाको उतार लानेके लिये साधारण चेतनासे अपनेको पृथक् कर सकें।

यह बात नही कि सबके प्रति प्रेम रखना साधनाका अंग नही है, परंतु इसे तुरत सबके साथ मिलने-जुलनेका रूप नही ले लेना चाहिये — यह केवल एक सामान्य, और जब आवश्यक हो तो, एक सक्रिय सार्वजनीन सदिच्छाके रूपमें प्रकट हो सकता है, परंतु बाकी चीजोंके लिये इसे पृथ्वीके लिये उसके सभी प्रभावोंके साथ उच्चतर चेतनाको नीचे उतार लानेके इस प्रयासके अन्दर एक छिद्र ढूंढ़ निकालना होगा। सभी चीजोंमें भगवान्‌की क्रियाको स्वीकार करनेकी जो बात है, वह यहां भी आवश्यक है इस अर्थमें कि इसे अपने संघर्षों और कठिनाइयोंके पीछे भी देखना होगा, पर मनुष्यके स्वभावको और संसारको, जैसा कि यह है, स्वीकार नहीं करना होगा — हमारा लक्ष्य है एक अधिक दिव्य क्रियाकी ओर आगे बढ़ना जो अभी जो कुछ है उसके स्थानमें एक महत्तर और सुन्दरतर अभिव्यक्तिको स्थापित करेगी। यह भी दिव्य प्रेमका ही एक कार्य है।

*

हमारे अपने दृष्टिकोणके बारेमें; वह यह है कि साधारण जीवन इस अर्थमें माया है, यह नहीं कि यह एक भ्रम-भ्रांति है, क्योंकि इसकी सत्ता है और बहुत यथार्थ है, पर यह एक अज्ञान है, एक ऐसी वस्तु है जो आध्यात्मिक दृष्टिसे जो कुछ मिथ्यात्व है उसीके ऊपर स्थापित है। अतएव इससे बचना युक्तिसंगत है अथवा यों कहें कि हम उसके साथ थोड़ा संपर्क रखनेको बाध्य हैं पर हम उसे जहांतक संभव है वहांतक कम करते है, इतना कम जितना कि हमारे उद्देश्यके लिये उपयोगी है। हमें जीवनको मिथ्या-

त्वसे मोडकर आध्यात्मिक सत्यमें, अज्ञानके जीवनसे आध्यात्मिक ज्ञानके जीवनमें ले जाना है। परंतु जवतक हम इसे स्वयं अपने लिये करनेमें सफल नहीं हो जाते, तवतक यह अधिक अच्छा है कि संसारके अज्ञानमय जीवनसे हम अपनेको अलग रखें, अन्यथा यह सभव है कि हमारी नन्हीसी धीरे-धीरे वर्द्धित होनेवाली ज्योति इसके चारों ओर विद्यमान अधकारके समुद्रोंमें निमज्जित हो जाय। जैसा कि अभी यह है, यह प्रयास काफी कठिन है — यदि हम संसारसे पृथक् न होते तो यह दसगुना अधिक कठिन हो जाता।

*

यहांका कार्य और संसारमें किया गया कार्य निस्संदेह एक ही चीज नहीं हैं। वहाका कार्य किसी भी तरह विशिष्ट रूपमें कोई दिव्य कर्म नहीं है — वह संसारका मामान्य कर्म है। परंतु फिर भी मनुष्य उसे एक प्रशिक्षणके रूपमें ले सकता है और कर्मयोगकी भावनाके साथ कर सकता है — महत्त्वपूर्ण वात स्वयं कर्मका स्वरूप नही है, वल्कि जिस भावके साथ वह किया जाता है उसका है। वह गीताकी भावनाके साथ, कामनाके विना, अनासक्तिके साथ, तिरस्कारके विना किया जाना चाहिये, और किया जाना चाहिये यथासंभव पूर्ण रूपमें, परिवारके लिये या पदोन्नतिके लिये या उच्चाधिकारियोंको खुश करनेके लिये नहीं किया जाना चाहिये, वल्कि महज इस कारण किया जाना चाहिये कि यह वह कार्य है जो संपन्न करनेके लिये अपने हाथोंमें सौंपा गया है। यह आंतरिक प्रशिक्षणका एक क्षेत्र है, और कोई चीज नहीं। इसके द्वारा मनुष्यको ये चीजे सीखनी होंगी: समता, निष्कामभाव, आत्मोत्सर्ग। कर्म वह चीज नही है जिसे उसीके तई किया जाय, वल्कि वह चीज है जिसे हम इसलिये करते हैं और इस ढगसे करते हैं कि हम उसे भगवान्‌को उत्सर्ग कर दें। इस भावसे करनेपर, इसका कोई महत्त्व नही कि वह कार्य क्या है। यदि कोई इस भांति आध्यात्मिक भावसे अपनेको प्रशिक्षित करे तो जो कोई भी विशिष्ट कार्य (जैसे कि आश्रमका कार्य) प्रत्यक्ष रूपमे भगवान्‌के लिये करनेको उसे किसी भी दिन दिया जायगा, वह उसे यथार्थ ढंगसे करनेके लिये तैयार हो जायगा।

*

स्पष्ट ही यहांका जीवन उस स्यानका जीवन नहीं है जहां मन और प्राण संतुष्ट और चरितार्थ होनेकी या भड़कीला जीवन वितानेकी आशा कर सकते हैं। सच पूछो तो जव कोई अंतरमें निवास करता है केवल तभी जीवन संतोपजनक होता है......। परंतु जो व्यक्ति सुनिश्चित आंतरिक जीवन जीता है उसके लिये जीवनमें कोई नीरसता नही आती। अंतरमें साक्षात्कार पाना ही प्रथम उद्देश्य होना चाहिये; उसके वाद ही उसके परिणामस्वरूप, पुरानी सत्ता और चेतनाके आधारपर नहीं, वल्कि सच्ची

आंतरिक सत्ता और एक नवीन चेतनाके आधारपर भगवान्‌का कार्य संपन्न हो सकता है। तवतक कर्म और जीवन "आत्म-परिपूर्णता" नहीं अथवा पुराने आधारपर स्थापित एक चमकीला और मजेदार प्राणिक जीवन नही, वल्कि साधनाका एक साधन-मात्र हो सकते हैं।

*

यहां ऐसी कोई चीज नहीं जो मानवीय प्राण-प्रकृतिकी सेवा करे; यहांका कार्य छोटा, नीरव, वाहरी जगत् तथा उसकी परिस्थितियोंसे पृथक् है और इसका महत्त्व केवल आध्यात्मिक आत्मोन्नतिके क्षेत्रके रूपमें ही है। यदि कोई मात्र आध्यात्मिक आशयसे परिचालित हो और आध्यात्मिक चेतना रखता हो तो वह इस कार्यमें हर्ष और दिलचस्पी अनुभव कर सकता है। अथवा यदि, अपनी मानवीय कमियोंके वावजूद, कर्मीका झुकाव मुख्यत: आध्यात्मिक प्रगतिकी ओर आत्मपरिपूर्णताकी ओर हो तो भी वह इस कार्यमें दिलचस्पी ले सकता है और इस खोज तथा अपनी अहंकारपूर्ण मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके शुद्धीकरणके लिये इसकी उपयोगिताको समझ सकता एवं साथ ही भगवान्‌की सेवाके रूपमें इसमें हर्ष प्राप्त कर सकता है।

*

यह विलकुल ही उपयोगी होनेका कोई प्रश्न नही है — यद्यपि तुम्हारा कार्य, जव तुम इसमें अपनेको प्रयुक्त करते हो, वहुत उपयोगी होता है। कर्म साधनाका अंग है, और साधनामें उपयोगिताका प्रश्न नहीं उठता, वह तो वस्तुओंका एक बाहरी व्यावहारिक मानदंड है,—यद्यपि वाहरी सामान्य जीवनमें भी उपयोगिता एकमात्र मानदंड नही है। प्रश्न है भगवान्‌के प्रति अभीप्साका, इस वातका आया वही जीवन तुम्हारा केंद्रीय लक्ष्य है, तुम्हारी आंतरिक आवश्यकता है या नहीं। स्वयं अपने लिये साधना करना दूसरी वात है — कोई उसे ग्रहण कर सकता या उसे छोड़ सकता है। यथार्थ साधना भगवान्‌के लिये होती है — यह अंतरात्माकी आवश्यकता है और कोई यदि अवसादके क्षणोंमें यह सोचता भी हो कि वह उसे छोड़ सकता है तो भी, वह उसे छोड़ नहीं सकता।

*

यहांका कार्य इसलिये नहीं है कि कोई अपनी क्षमता दिखावे या पदप्रतिष्ठा पावे या श्रीमाताजीका भौतिक सान्निध्य पानेका एक साधन बनावे, वल्कि यह पूर्ण-योगके कर्मयोग-भागके लिये एक क्षेत्र और एक सुयोग है, यथार्थ यौगिक ढंगसे कार्य करना, सेवाके द्वारा आत्मोत्सर्ग करना, व्यावहारिक रूपमें नि:स्वार्थभाव ग्रहण करना,

आज्ञापालन, विवेकशीलता, अनुशासन, भगवान् और भगवान्के कार्यको सर्वप्रथम तथा अपने-आपको अतमें रखना, समस्वरता, धैर्य, सहनशीलता आदि-आदि सीखनेके लिये है। जब कार्यकर्त्ता इन चीजोंको सीख लेंगे और अहंकेंद्रित होना, जैसे कि अभी तुम अधिकांश लोग हो, बंद कर देंगे तभी काम करनेका वह समय आयेगा जिसमें वास्तवमें क्षमता दिखायी जा सकती है, यद्यपि उस समय भी क्षमताका प्रदर्शन एक गौण घटना होगा और कभी भी मुख्य तथ्य या दिव्य कर्मका उद्देश्य नही हो सकता।

*

प्रत्येक व्यक्तिके लिये कलाकार या लेखक होने या कोई सार्वजनिक ढंगका कार्य करनेकी कोई आवश्यकता नही है। 'अ' और 'ब' में अपनी-अपनी निजी क्षमताएं है और वर्तमानके लिये यह पर्याप्त है कि वे अपनेको श्रीमाताजीके कार्यके लिये उपयोगी बनानेके लिये प्रशिक्षण ग्रहण करें। दूसरोंमें महान् क्षमताएं है जिन्हें वे आश्रमके तुच्छ तथा हीन कार्यमें व्यवहार करनेमें संतुष्ट हैं और किसी बड़े कार्यमें जनताके सम्मुख आनेकी परवा नही करते। अभी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऊपरसे सत्य-चेतनाको पाया जाय, अहंसे मुक्त हुआ जाय (जिसे अभीतक किसीने नहीं किया है) और भागवती शक्तिका यंत्र बनना सीखा जाय। उसके बाद ही अभिव्यक्ति हो सकती है, उससे पहले नही।

*

जिसे राजनीति कहा जाता है वह अत्यंत राजसिक, दोषपूर्ण और सभी प्रकारके अहंजनित आशयोंकी खिचड़ी है। हमारा पथ है परिवर्तनके लिये पार्थिव चेतनाके ऊपर आत्माका दबाव डालना।

*

नहीं, यह (राजनीति) किसीको एक कार्यके रूपमें नही दी गयी है। लोग उसे इसलिये जारी रखते हैं कि उनमें उसके लिये एक मानसिक दिलचस्पी है या उन्हें एक अभ्यास पड़ गया है जिसे वे छोड़ना नहीं चाहते, यह ठीक चाय पीने या उस ढंगकी अन्य किसी चीजकी प्राणिक आदत-जैसी चीज है। यही नहीं कि राजनीति किसीको एक कार्यके रूपमें केवल दी नहीं गयी है बल्कि जहांतक संभव हो राजनीतिक आलोचनाको भी निरुत्साहित किया गया है।

*

परंतु इसमें संदेह नहीं कि एकमात्र राजनीति ही प्राणके लिये सभवनीय कार्य नहीं है — दूसरे सैकड़ों कार्य हैं। जब कभी कोई वस्तु उत्पन्न, निर्मित, संगठित, उपलब्ध करने तथा जीतनेके लिये होती है तो उस समय प्राण ही वह शक्ति है जो अपरिहार्य होती है।

*

मैंने यह नियम वना लिया है कि मैं राजनीतिके विषयमे कुछ नही लिखूँगा। फिर एसेम्वली-जैसी सभामें क्या किया जाय, यह प्रश्न परिस्थितियोंपर निर्भर करता है, उस परिस्थितिकी व्यावहारिक आवश्यकताओंपर निर्भर करता है जो तेजीसे वदल सकती है। एक ऐसी सभाका कार्य आध्यात्मिक ढंगका नही होता। वैसे तो सभी प्रकारके कार्य पीछे विद्यमान आध्यात्मिक चेतनाके द्वारा किये जा सकते हैं, पर जवतक मनुष्य वहुत दूरतक आगे नही वढ़ जाता, वह वास्तवमें स्वयं उस कार्यकी आवश्यकताओं तथा उसके विशिष्ट स्वरूपके द्वारा ही निश्चित रूपमें परिचालित होता है। चूंकि तुम इस दलमें सम्मिलित हुए हो, उसका कार्यक्रम अवश्य ही तुम्हारा अपना कार्यक्रम होना चाहिये और तुम्हें जो करना है वह यह है कि तुम उस दलमें उस समस्त ईमानदारी, दक्षता और निःस्वार्थभावको ले आओ जिसे लानेके तुम योग्य हो। तुमने कोई पद स्वीकार न करके अच्छा ही किया है, क्योंकि तुमने प्रतिज्ञा की है। जो हो, कोई साधक जव राजनीतिमें प्रवेश करता है तो उसे स्वय अपने लिये नही, बल्कि देशके लिये कार्य करना चाहिये। यदि वह पद स्वीकार करता है तो उसे तभी उसे स्वीकार करना चाहिये जव कि वह उसके द्वारा देशके लिये कुछ कार्य करनेमें समर्थ हो और तवतक स्वीकार नहीं करना चाहिये जवतक कि उस पदके लिये वह अपने चरित्र और योग्यता और उपयुक्तताको सिद्ध नहीं कर देता। तुम्हें एक उच्च आदर्शपर चलना चाहिये जो तुम्हें अपने विरोधियोंसे भी सम्मान दिलाये और मतदाताओंके चुनावको उचित सिद्ध करे।

*

प्रचारका जहांतक संवंध है, मैंने यह देखा है कि यह हमारे लिये पूर्णतः अनुपयोगी है — यदि उसका कोई प्रभाव हो भी तो वह वहुत सामान्य और निरर्थक ही प्रभाव होगा और उसके लिये उठाये गये कष्टके उपयुक्त नहीं होगा। यदि सत्यको फैलना है तो वह स्वयं अपनी ही चालसे फैलेगा; ये चीजें अनावश्यक हैं।

*

सुप्रसिद्ध या अप्रसिद्ध होनेका आध्यात्मिक दृष्टिसे तनिक भी महत्त्व नही है।

यह केवल प्रचारकी भावना है। हमारा कोई ऐसा दल या मठ-मंदिर या धर्ममत नही है जो अनुयायियों या नये शिष्योंकी तलाश किया करता है। सच्चे दिलसे योगका अनुसरण करनेवाला एक मनुष्य भी हजारों सुप्रसिद्ध मनुष्योंसे अधिक मूल्यवान् है।

*

ऐसे अनुभवोंमें होनेवाला भय एक ऐसी चीज है जिससे साधकको अवश्य मुक्त होना चाहिये, यदि कोई खतरा हो तो श्रीमाताजीको पुकारना पर्याप्त है, पर वास्तवमें वहा कोई खतरा नही होता — क्योंकि संरक्षण वहां विद्यमान होता है।

यह सही है कि यहां कई लोग ऐसे है जो बाहरसे आनेवाले लोगोंके पीछे-पीछे दौड़ते हैं, विशेषत: यदि वे प्रसिद्ध या प्रतिष्ठित हो। यह मनुष्य-स्वभावकी एक मामूली कमजोरी है और, मानवस्वभावकी अन्य कमजोरियोंकी तरह, साधक इस कमजोरी-से भी छुटकारा पानेके इच्छुक नही प्रतीत होते। इसका कारण यह है कि वे पर्याप्त रूपमें अन्तरमें निवास नही करते, इसलिये जब कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु या महत्त्वपूर्ण (या वैसा माना जानेवाला) व्यक्ति बाहरसे आता है तो उनका प्राण उत्तेजित या आकर्षित हो जाता है।

*

'अ' या अन्य लोग क्या सोचते या कहते है, आखिरकार उसका बहुत अधिक मूल्य नहीं है, क्योकि हम अपने कामके लिये उनपर नही, बल्कि केवल भागवत संकल्प-शक्तिपर निर्भर करते हैं। कितने ही लोगोंने (बाहरके लोगोंने) हमारे बारेमें और हमारे विरुद्ध सभी प्रकारकी बातें कही और सोची है, उससे तनिक भी हमारे या हमारे कार्यके ऊपर कभी प्रभाव नही पड़ा है; उसका बहुत ही गौण महत्त्व है।

III

एक ऐसे आश्रममें, जो 'अ' के कथनानुसार, आध्यात्मिक और अतिमानसिक योगकी एक "प्रयोगशाला" है, यह आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है कि नाना प्रकार-के मनुष्य मानवजातिके प्रतिनिधिके रूपमें उपस्थित हों, क्योंकि रूपातरकी समस्याको अनुकूल और प्रतिकूल सभी प्रकारके तत्त्वोंके साथ निपटना है। सच तो यह है कि एक ही मनुष्यमें ये दोनों चीजें मिलीजुली रहती हैं। यदि केवल सात्त्विक और सुसंस्कृत मनुष्य ही योगके लिये आयें, ऐसे मनुष्य जिनमें प्राणिक कठिनाइयां बहुत अधिक न हों तो, चूंकि पार्थिव प्रकृतिके प्राणिक तत्त्वकी कठिनाईका सामना करके उसे जीता नहीं गया है, इसलिये यह खूब संभव है कि रूपांतरका प्रयास असफल हो जाय। कुछ अवस्थाओंमें यहांतक भी हो सकता है कि मानसिक, प्राणिक और शारी-

रिक तत्त्वोंके ऊपर एक अधिमानसिक स्तर भी आ उपस्थित हो और वह उन्हे प्रभावित करने लगे। परंतु यह मानव-सत्ताका अतिमानसिक या सर्वोच्च रूपांतर नही होगा। आश्रमवासी साधक सभी कोनोंसे आये हुए हैं और सभी प्रकारके हैं, और यह स्वाभाविक ही है।

योगकी प्रक्रियामें, जब एक-एक स्तरपर सामूहिक रूपमें — यद्यपि आवश्यक रूपसे एक-एक व्यक्तिपर नही — क्रिया की जाती है तो उसकी सब कठिनाइयां उठ खड़ी होती है। इससे आश्रमकी उन बहुतसी बातोंका कारण समझमें आ जायगा जिनके यहां होनेकी आशा लोगोंको नहीं होती। जब "प्रयोगशाला" में प्रारंभिक कार्य समाप्त हो जायगा तो स्थिति अवश्य बदल जायगी।

इसके अतिरिक्त, आश्रमवासियोंमें साधारण प्रकारके मानवीय मेलजोलपर अधिक जोर नहीं दिया गया है, क्योंकि वह लक्ष्य नही है (यद्यपि पारस्परिक सद्भाव, समादर एवं सौगन्य तो सदैव होना ही चाहिये)। लक्ष्य तो है एक नयी चेतनामें एकत्व लाभ करना। हर-एकके लिये सबसे मुख्य चीज है अपनी साधना करना, उस नवीन चेतनातक पहुँचना तथा वहां एकत्वकी उपलब्धि करना।

साधकोंमें जो कोई भी दोष क्यों न हों, उन्हें ऊपरकी दिव्य ज्योतिसे ही दूर करना होगा — सात्त्विक नियम केवल उन्हीं प्रकृतियोंमें परिवर्तन ला सकता है जिनका झुकाव सात्त्विक नियमकी ओर हो।

*

यदि उसकी श्रद्धा साधकोंकी पूर्णतापर निर्भर करे तो स्पष्ट ही वह एक यथार्थतः निर्बल वस्तु होगी। ऐसा नहीं माना जाता कि साधक और साधिकाएं पूर्ण हैं। सच पूछा जाय तो एकमात्र सिद्धोंके विषयमें ही कोई दावा कर सकता है कि वे पूर्ण हैं और फिर भी ऐसा दावा मानसिक मानदंडके अनुसार नही किया जा सकता......। उसकी श्रद्धा अन्य चीजकी अपेक्षा अधिक मानसिक प्रतीत होती है, और मानसिक श्रद्धा आसानीसे भंग हो सकती है।

बहुत अधिक अपना 'स्व' बन जानेके लिये आंतरिक जीवनकी एक विशेष सामर्थ्यकी आवश्यकता होती है। एकांतवासको किसी प्रकारकी इसकी विपरीत स्थितिके साथ बदल देना अधिक अच्छा हो सकता है। परंतु प्रत्येक अवस्थाके अपने लाभ और अपनी हानियां हैं और केवल जागृत रहने तथा एक आंतरिक स्थिति बनाये रखनेपर ही कोई हानियोंसे बच सकता है।

*

इस योगमें आत्मनिवेदन तथा आत्मदानका सामान्य सिद्धांत सबके लिये एक-जैसा है, परंतु आत्म-निवेदन तथा आत्मदानका मार्ग प्रत्येक व्यक्तिका अपना होता

है। 'अ' ने जो मार्ग अपनाया है वह 'अ' के लिये अच्छा है, ठीक जिस तरह कि तुमने जो मार्ग लिया है वह तुम्हारे लिये ठीक है, क्योंकि वह तुम्हारी प्रकृतिके अनुकूल है। यदि यह नमनीयता तथा विविधता न होती, यदि सबको एक ही नमूनेके अनुसार गढ़ना आवश्यक होता तो योग एक कठोर मानसिक मशीनरी हो जायगा, न कि जीवन्त शक्ति।

जब तुम अपनी अतश्चेतनामेसे गा सकते हो जिसमें तुम अनुभव करते हो कि माताजी तुम्हारे सभी कर्म चला रही है तो, कोई कारण नही कि तुम्हें वैसा क्यों नही करना चाहिये। क्षमताओका विकास करना, जब उसे योगका अंग बनाया जा सके तो, वह केवल स्वीकार्य ही नही अपितु समीचीन भी है। मनुष्य केवल अपना अंतरात्मा ही नही बल्कि अपनी समस्त शक्तिया भगवान्को समर्पित कर सकता है।

*

विशालतर आध्यात्मिक दृष्टिके लिये यह कुछ कठिन है कि वह तुम्हारे प्रश्नका उस ढगसे उत्तर दे जैसे तुम चाहते हो और जैसे प्रत्येक मानव (मनोमय प्राणी) चाहता है, अर्थात् ऐसा निर्णायात्मक उत्तर दे कि "तुम्हें ऐसा करना चाहिये" या "तुम्हें ऐसा नही करना चाहिये" — विशेषकर जब "तुम्हें" का प्रयोग "सबको" के अर्थमें किया जाय। क्योंकि आंतर आध्यात्मिक विषयोमे जहां मूल लक्ष्यकी समानता होती है, जहा प्रयत्नकी सर्व-सामान्य स्थूल रूपरेखाएं भी होती है, वहां ब्योरेकी बातोंमें कोई एक ही सार्वभौम नियमावली नही होती जो सभी जिज्ञासुओंपर लागू हो सके। तुम पूछते हो "क्या अमुक-अमुक वस्तु हानिकर नही है?" परंतु जो वस्तु एकके लिये हानिकारक है वह किसी दूसरेके लिये हितकारक हो सकती है, जो वस्तु किसी अवस्था-विशेषमे सहायक है, वह एक और अवस्थामें बाधक हो सकती है, जो चीज किसी एक परिस्थितिमें हानिकारक है वही किसी दूसरी परिस्थितिमें सहायक हो सकती है, जो काम किसी विशेष भावनासे करनेपर अमंगलकारी हो सकता है, वही एक बिलकुल भिन्न भावनासे करनेपर अनुपकारी या यहांतक कि लाभदायी भी हो सकता है......। इस प्रसगमे कितनी ही बाते विचारणीय है; भावना, परिस्थिति, व्यक्ति, प्रकृतिकी आवश्यकता एवं बनावट, अवस्था आदि-आदि। इसीलिये यह बार-बार कहा जाता है कि गुरुको प्रत्येक शिष्यसे उसकी विभिन्न प्रकृतिके अनुसार बरतना चाहिये और तदनुरूप उसकी साधनाका पथप्रदर्शन करना चाहिये। यदि सभीके लिये साधनाकी एक ही प्रणाली हो तो भी प्रत्येक स्थलपर यह हरएकके लिये भिन्न-भिन्न होती है। यह भी एक कारण है जिससे हम कहते हैं कि भगवान्की कार्यशैली मनसे नहीं समझी जा सकती, क्योंकि मन बंधे-बंधाये नियमों और मापदंडोंके अनुसार कार्य करता है, जब कि आत्मा समष्टिसंबंधी सत्य तथा व्यष्टिसंबंधी सत्य देखती है और अपनी व्यापक एवं गहन दृष्टिके अनुसार नाना प्रकारसे कार्य करती है। यह भी एक कारण है जिससे हम कहते है कि कोई भी अपनी निजी मानसिक निर्णय-शक्तिसे श्रीमाताजीके कार्यो तथा उनके कार्यके हेतुओंको नहीं समझ सकता: ये तो विशालतर चेतनामें प्रवेश

कर लेनेपर ही समझमें आ सकते हैं जिस चेतनासे श्रीमाताजी सभी चीजे देखती और उनपर क्रिया करती हैं। यह बात मनको चकरानेवाली है क्योंकि वह तो अपने क्षुद्र पैमानेका ही प्रयोग करता है; परंतु इस विषयका सत्य यही है।

इस प्रकार तुम देखोगे कि यहां कोई मानसिक नियम नही है, वरन् प्रत्येक उदाहरणमें पथप्रदर्शनका निर्धारण आध्यात्मिक हेतुओंसे किया जाता है जो स्वभावतः लचीले होते है। बस, और कोई विचारणा नही, और कोई नियम नही। सगीत, चित्रकला, काव्य तथा अन्य अनेक प्रवृत्तियां जो मन और प्राणसे सबंध रखती हैं, आध्यात्मिक विकासके या कर्मके अंगके रूपमें तथा आध्यात्मिक प्रयोजनके लिये बरती जा सकती हैं : यह उस भावनापर निर्भर करता है जिससे ये चीजें की जाती हैं।

*

भला श्रीमाताजीको प्रत्येक व्यक्तिके साथ एक ही तरीकेसे व्यवहार करनेके लिये बाध्य क्यों होना चाहिये? ऐसा करना उनके लिये एक अत्यंत बेकार बात होगी।

*

यह सत्य बात नहीं है कि जो कुछ मैं लिखता हूँ वह सब प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक समान अर्थ रखता है। तब तो इसका मतलब यह होगा कि हरएक व्यक्ति एक समान है और साधक-साधकके बीच कोई अंतर नहीं है। यदि ऐसा होता तो प्रत्येक व्यक्ति एक तरहसे प्रगति करता, एक-सी अनुभूतियां पाता और प्रगति करनेके लिये एक ही क्रम और एक ही अवस्थाओंसे गुजरते हुए एक ही समय लेता। मगर बात बिलकुल ही ऐसी नहीं है। इस प्रसंगमें साधारण नियम उस व्यक्तिके लिये निर्धारित किये गये थे जिसने कोई प्रगति नहीं की थी — परंतु प्रत्येक चीज इस बातपर निर्भर करती है कि प्रत्येक व्यक्ति योगका किस प्रकार प्रारंभ करता है।

*

जो बात दूसरे व्यक्तिके लिये लिखी गयी है उसे अपने लिये व्यवहारमें प्रयुक्त करना सर्वदा निरापद नहीं होता। प्रत्येक साधक अपने-आपमें एक स्वतंत्र विषय है और कोई सर्वदा या बहुधा किसी मानसिक नियमको लेकर कठोरतापूर्वक उन सब लोगोंपर लागू नहीं कर सकता जो योगाभ्यास कर रहे हैं। मैंने 'अ' को जो कुछ लिखा था वह 'अ' के लिये अभिप्रेत था और उसके प्रसंगमें उपयुक्त था, परंतु मान लो कि किसी ऐसे साधकका प्रश्न होता जो 'अ' से भिन्न एकदम अलग (अनगढ़) प्राणिक स्वभाववाला व्यक्ति होता तो मैं शायद कोई ऐसी बात उससे कहता जो संभवतः उसके एकदम विपरीत प्रतीत होती, जैसे, "अपनी निम्नतर प्राणिक प्रवृत्तियोंपर जमकर बैठ जाओ,

भोजनकी अपनी लालसाको निकाल बाहर करो — यह तुम्हारे मार्गमें एक गंभीर बाधा बनकर बैठी है, तुम्हारे लिये अपने इस भागमें जंगली पशु बने रहनेकी जगह, जैसे कि तुम अभी हो, अपनी आदतोंमें सन्यासी होना कहीं अधिक अच्छा होगा।" जो मनुष्य अपनी भावनाकी तीव्रताके कारण पर्याप्त भोजन या नींद या विश्राम नहीं लेता उससे मैं कह सकता हूँ, "अधिक खाओ, अधिक सोओ, अधिक विश्राम लो, अपनेको अत्यधिक थका मत दो अथवा अपनी तपस्यामें सन्यासी-भाव मत ले आओ।" विपरीत प्रकारकी अति करनेवाले दूसरे व्यक्तिसे मैं एक विपरीत भाषामें ही बोल सकता हूँ। प्रत्येक साधकका अपना एक निजी स्वभाव या उसकी प्रकृतिका एक झुकाव है और दो साधकोंके योगकी गति, जहां उन दोनोंके बीच कुछ सादृश्य भी हो भी, कदाचित् ही ठीक-ठीक एक जैसी होती है।

फिर, जो मन्त्र निर्धारित किये गये हैं उनका प्रयोग करनेमें यह आवश्यक होता है कि उन्हें उनका यथार्थ अर्थ प्रदान किया जाय। यह बिलकुल ठीक है कि "हमारे पथमें साधकका मनोभाव जबर्दस्ती दबानेका, 'निग्रह' का मनोभाव नहीं होता"; किसी मानसिक नियम या सिद्धांतके अनुसार अविश्वासित प्राणसत्ताका दमन करनेका मनोभाव भी नहीं है। परंतु इसका यह भी मतलब नहीं है कि प्राणको अपने निजी रास्तेपर ही चलते रहना होगा और अपनी मौजके अनुसार काम करना होगा। वास्तवमें दमन वह पथ नहीं है, बल्कि एक आंतरिक परिवर्तन है जिसमें निम्नतर प्राणको एक ऐसी उच्चतर चेतना राह दिखाती, प्रकाश देती और रूपांतरित करती है जो प्राणिक कामनाके विषयोंसे अनासक्त होती है। परंतु इस चीजको वर्द्धित होने देनेके लिये एक मनोभाव ग्रहण करनेकी आवश्यकता है जिसमें निम्नतर प्राणकी मांगोंकी तुष्टिको क्रमशः घटता हुआ महत्त्व ही दिया जाना चाहिये, उनपर एक प्रकारकी प्रभुता, 'संयम', स्थापित करनी चाहिये, इन चीजोंके किसी भी कोलाहलसे ऊपर रहना चाहिये, ऐसी चीजोंको, जैसे भोजनको, उनके समुचित स्थानमें सीमित कर देना चाहिये। निम्नतर प्राणका भी अपना स्थान है, उसे कुचलना या मार डालना नहीं है, बल्कि उसे बदल देना है, "दोनों छोरसे उसे कब्जेमें कर लेना है", ऊपरी छोरपर उसपर प्रभुत्व और नियंत्रण तथा निचले छोरपर उसका समुचित उपयोग होना चाहिये। मुख्य बात है आसक्ति और कामनासे छुटकारा पाना; वास्तवमें उसके बाद ही संपूर्णतः यथार्थ उपयोग संभव होता है। फिर किस यथार्थ उपायसे, किस क्रमसे, किन प्रक्रियाओंके द्वारा निम्न प्राणके ऊपर यह प्रभुत्व स्थापित होगा — यह निर्भर करता है प्रकृतिपर, विकासक्रियाके दबावपर, योगकी प्रकृत क्रियावलीपर।

वास्तवमें महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि कोई चीज खायी जाय या न खायी जाय; महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किस प्रकार वह या कोई भी खाद्य पदार्थ तुम्हें प्रभावित करता है, तुम्हारी आंतरिक अवस्था क्या है और किस प्रकार इस तरहकी कोई भी लिप्सता, स्वादलोलुपता या खाने-पीनेमें मस्तमग्न रहना, उस (आंतरिक अवस्था) की प्रगति और परिवर्तनके पथको रोकता है या नहीं रोकता, यौगिक साधनाके रूपमें तुम्हारे लिये सबसे उत्तम क्या है। तुम्हारे लिये एक नियम मैं निर्धारित कर सकता हूँ, "ऐसी कोई

बात मत करो, मत कहो या मत सोचो जिसे तुम श्रीमाताजीसे छिपाना चाहो।" और यह बात उन आपत्तियोंका उत्तर दे देती है जो "इन छोटी-छोटी बातों" की ओर श्रीमाताजीका ध्यान दिलानेके विरुद्ध तुम्हारे अन्दर उठी थी – तुम्हारे प्राणसे, ठीक है न ? तुम्हें भला यह क्यों समझना चाहिये कि श्रीमाताजीको इन बातोंसे परेशानी होगी। और वह उन्हें तुच्छ समझेंगी ? यदि "समस्त" जीवनको ही योग बन जाना है तो उसमें कौनसी चीज है जिसे तुच्छ या महत्त्वहीन कहा जाय ? यदि श्रीमाताजी उत्तर न भी दें तो तुम्हारे कार्य और आत्मविकाससे संबंधित किसी भी विषयको समुचित मनोभावके साथ उनके सम्मुख रखनेका तात्पर्य है उनके संरक्षणके अधीन, परम सत्यके प्रकाशमें, उस दिव्य शक्तिकी किरणोंके नीचे उसे रखना जो रूपांतरके लिये कार्य कर रही है — क्योंकि जिस बातकी ओर उनका ध्यान खींचा जाता है उसके ऊपर वे किरणें तुरत पड़ना और कार्य करना आरंभ कर देती हैं। जब तुम्हारे अन्दरकी आत्मा इसे करनेके लिये तुम्हें प्रेरित करती है तब तुम्हारे अन्दरकी कोई चीज जो इसे न करनेकी सलाह देती है, यह दिव्य ज्योतिकी किरण तथा दिव्य शक्तिकी क्रियासे बचनेका प्राणका भलीभांति एक उपाय हो सकता है।

*

मानव-प्रकृतिके साथ मानसिक कठोर नियमोंके अनुसार व्यवहृत होनेवाली मशीनकी तरह व्यवहार नहीं करना चाहिये — उसके जटिल अभिप्रायोंको कार्यान्वित करनेके लिये एक महान् नमनीयताकी जरूरत होती है।

IV

हां, साधारण जीवनतकमें प्राण और अहंकारके ऊपर एक प्रकारका संयम होना चाहिये — अन्यथा जीवन-निर्वाह असंभव हो जायगा। बहुतसे पशु भी, जो दल बनाकर रहते हैं, कठोर नियमोंका पालन करते और अहंकी क्रियापर एक प्रकारका संयम स्थापित करते हैं और उनमेंसे जो पशु उन नियमोंका उल्लंघन करते है उन्हें एक बुरे समयका सामना करना पड़ता है। यूरोपके लोग विशेष रूपसे इस बातको समझते है और यद्यपि वे अहंभावसे भरपूर होते है फिर भी जब सम्मिलित कार्य या सामूहिक जीवनका कोई प्रश्न होता है तो, यदि यह भीतर-ही-भीतर बड़बड़ाता भी है तो भी, वे इसे नियंत्रणमें रखनेमें सिद्धहस्त होते है; यही उनकी सफलताका रहस्य है। परंतु योग-जीवनमें, निश्चय ही, अहंको संयममें रखनेका प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रश्न है उससे छुटकारा पानेका और एक उच्चतर तत्त्वतक ऊपर उठनेका, इसीलिये बहुत अधिक प्रबल रूपमें तथा लगातार किसी प्रकारकी मांगको निरुत्साहित किया जाता है।

जिस नियमको प्रत्येक व्यक्ति अपनी मर्जीके अनुसार वदल सकता है वह कोई नियम नही है। जिन सव देशोंमे सुसंगठित कार्य सफलतापूर्वक संपन्न किया जाता है (भारत उनमें नही है), वहां नियम होते है और कोई भी उन्हें भंग करनेकी वात नहीं सोचता, क्योंकि यह माना जाता है कि विना अनुशासनके कर्म (या जीवन भी) वहुत शीघ्र एक अस्तव्यस्त वस्तु और अराजकतापूर्ण असफलता वन जायगा। भारतके महान् दिनोमे प्रत्येक चीज नियमके अधीन रखी गयी थी, यहांतक कि कला और काव्य भी, योग भी। यहां वास्तवमें किसी भी यूरोपियन संस्थानकी अपेक्षा नियम वहुत कम कठोर है। नियमोके चौखटेके भीतर भी व्यक्तिगत विवेक पर्याप्त क्रीड़ा कर सकता है — परन्तु विवेकका व्यवहार सावधानीके साथ करना चाहिये, अन्यथा वह कोई स्वेच्छाचारी या अस्तव्यस्त वस्तु वन जाता है।

*

श्रीमाताजी सभी साधकोंके चारों ओर अपना संरक्षण रखती हैं, परंतु वे यदि अपने ही कर्म या मनोभावके कारण उस संरक्षणके घेरेसे वाहर चले जायं तो उसके अवांछनीय परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं।

*

[अनुशासन :] इसका अर्थ है सत्यके एक मानदंडके अनुसार या कर्मके एक नियम या विधान (धर्म) के अनुसार या किसी उच्च अधिकारीके आज्ञापालनके रूप-मे या अपनी मनमौज, प्राणिक आवेगों और कामनाओंके अनुसार नही वल्कि युक्ति और वौद्धिक संकल्पके द्वारा आविष्कृत उच्चतम सिद्धांतोंके अनुसार कार्य करना। योगमे गुरु या भगवान्का आज्ञापालन तथा गुरुद्वारा घोपित सत्यके विधानका अनु-सरण करना अनुशासनकी आधारभूमि है।

*

तुम गाड़ीको घोड़ेके आगे रखते हो। यह शर्त्त लगाना उचित पथ नही है कि तुम जो कुछ चाहते हो वह यदि पा जाओ तो तुम आज्ञाकारी और प्रसन्न होगे। अपितु सर्वदा आज्ञाकारी और प्रसन्न वने रहो और तव तुम जो कुछ चाहते हो उसे तुम्हारे पास आनेका मौका मिलेगा।

*

कर्मको यथाक्रम व्यवस्था करनेके लिये नियम अनिवार्य हैं; क्योंकि क्रम और

साथ करनेपर वे अपने उद्देश्यके लिये बहुत उपयोगी हो सकते हैं।

*

अधिकांश लोग यह चाहते है कि बातें उनकी इच्छाके अनुसार किसी बाधाके बिना या निरपेक्ष रूपमें होनी चाहियें। पूर्णताकी चर्चा करना निरर्थक है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये स्वयं एक कानून बन जाता है तो उसे पूर्णता नही कहते। पूर्णता कामनाओंका परित्याग करने तथा एक उच्चतर संकल्प-शक्तिके प्रति आत्मसमर्पण करनेपर आती है।

*

यदि मै ऐसी बातें कहूँ जिन्हे मानव-प्रकृति आसान और स्वाभाविक महसूस करे तो वे अवश्य ही शिष्योंके लिये बहुत सुखदायी होंगी, पर फिर आध्यात्मिक लक्ष्य या प्रयासके लिये वहां कोई स्थान नही रह जायगा। आध्यात्मिक लक्ष्य और पद्धति-या आसान या स्वाभाविक नहीं होती (उदाहरणार्थ, जैसे कि लड़ाई-झगड़ा, काम-वासनाकी पूर्त्ति, लोभ-लालसा, आलस्य और सब प्रकारकी अपूर्णताओंमें संतोष आदि आसान और स्वाभाविक हैं) और यदि लोग शिष्य बनते है तो यह माना जाता है कि वे आध्यात्मिक लक्ष्यों और प्रयासोंका अनुसरण करेंगे, चाहे वे जितने कठिन और सामान्य स्वभावसे परे हों और ऐसी चीजें न हों जो आसान और स्वाभाविक होती है।

*

बाहरी जगत्में एक प्रकारका मानसिक और सामाजिक संयम है और अन्य वस्तुओंमें तल्लीनता भी है। यहां तुम अपनी निजी चेतनाके साथ एकाकी छोड़ दिये जाते हों और तुम्हे मानसिक और बाह्य संयमके स्थानमे आत्माका एक आंतरिक आत्म-सयम स्थापित करना होता है।

*

यह कोई दोष-त्रुटि या दंडका प्रश्न नही है — यदि हमें लोगोंको उनकी त्रुटि-योंके लिये दोषी ठहराना और दंड देना हो तथा एक न्यायालयकी तरह साधकोंके साथ व्यवहार करना हो तो कोई साधना संभव नहीं हो सकती। मै नहीं समझता कि हमारे विरुद्ध तुम्हारा दोषारोपण कैसे न्यायसंगत सिद्ध हो सकता है। साधकोंके प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है उनकी आध्यात्मिक सिद्धिकी ओर उन्हें ले जाना — हम किसी

परिवारके मालिककी तरह व्यवहार नहीं कर सकते — पारिवारिक झगडोंमे हस्त-क्षेप करके एकका समर्थन और दूसरेके ऊपर अपना दवाव नही डाल सकते। चाहे जितने अधिक बार 'अ' क्यों न ठोकर खाय, हमें उसे हाथ पकड़कर ले चलना होगा, फिरसे ऊपर उठाना होगा और फिर एक बार उसे भगवान्की ओर चलाना होगा। हमने सर्वदा यही तुम्हारे साथ भी किया है। परंतु हमने कभी उसके ऊपर की गयी तुम्हारी किसी मांगका समर्थन नहीं किया। हमें सर्वदा इस विषयका निपटारा इसी भांति करना होगा मानो वह विषय उसके और भगवान्के बीच हो। तुम्हारे लिये, मात्र एक चीजपर हमने जो आग्रह किया है, और वह भी तुम्हारी पूरी सहमतिके साथ और उसे करनेमें सहायता प्राप्त करनेके लिये हमसे की गयी तुम्हारी प्रार्थनाके बाद, वह यह है कि तुम उसके साथ अपने प्राणिक संबंधको एकदम काट दो और अब आगे उस संबंधके ऊपर किसी चीजको स्थापित न करो। फिर भी अब तुम हमें यह लिखते हो कि, चूंकि हमने तुम्हारे कार्यका, जो कुछ तुमने 'अ' से कहा था उस कार्यका,— कोई बात नहीं कि वह क्या था,—समर्थन नहीं किया है, तुम हमें सदाके लिये त्याग रहे हो।

मैं तुमसे अवश्य कहूँगा कि तुम अपने श्रेष्ठतर आत्मभावमें और अपनी सत्य-चेतनामें वापस आ जाओ और प्राणिक आवेशकी इन वृत्तियोंको झाड़ फेंको जो तुम्हारे अंतरात्माके अनुपयुक्त है। तुमने बार-बार श्रीमाताजीके प्रति अपने प्रेमकी बात, जो आनन्द तुम्हें उनसे प्राप्त हुआ है उसकी तथा अनेक आध्यात्मिक अनुभवोंकी बात लिखी है। उसे याद करो और यह याद करो कि वही तुम्हारा वास्तविक पथ-और तुम्हारी यथार्थ सत्ता है और दूसरी किसी चीजका कोई मूल्य नहीं। अपनी यथार्थ स्थितिमें वापस आ जाओ और निम्नतर प्रकृति तथा उसके अंधकार और अज्ञानको झाड़ फेंको।

V

सच पूछो तो कोई ऐसा व्यक्ति यहां नहीं रखा गया है जिसे जानेकी इच्छा हो या जिसने जानेका निर्णय किया हो — यद्यपि आध्यात्मिक जीवनका सिद्धांत कुछ समयके लिये भी पुराने जीवनमें वापस चले जानेके विरुद्ध है, विशेषकर जब कि साधक-में एक गभीरतर लगन हो और नवीन चेतनाका सुदृढ़ आधार पानेका वह प्रयास करता हो — क्योंकि साधारण वातावरण और परिस्थितियां और अभिप्राय कार्यको नष्ट कर देते तथा प्रगतिको पीछे धकेल देते है।

*

जब किसी साधकके आंतरिक और बाह्य सत्ताके बीच उतना तीक्ष्ण भेद नहीं होता तो ऐसी स्थितिमें सर्वदा साधकको ही अपना चुनाव करना होता है। वापस

आनेका जहातक प्रश्न है, बहुतसे लोग जो बाहर चले गये थे वापस आ गये है, दूसरे नही आये है — क्योंकि बाहर जानेपर बराबर यह खतरा रहता है कि मनुष्य उन शक्तियोंके प्रवाहमे प्रवेश कर जाय तो वापस आना असभव बना देती हैं। जो भी निर्णय तुम लो, वह स्पष्ट और सज्ञान होना चाहिये — अन्यथा तुम बाहर जा सकते हो और जैसे ही तुम वहा पहुँचोगे, वापस आना चाहोगे और फिर यहां आ जानेके बाद बाहर जाना चाहोगे; यह बात स्वीकार्य नहीं होगी।

*

यह बात अच्छी तरह जानी-समझी है कि जब [आश्रमसे चले जानेकी] अनुमति दी जाती है तो इसका मतलब यह नहीं कि उस परीक्षणके बुरी तरह असफल होनेकी सभावना नही है। परतु वह परीक्षण आवश्यक होता है यदि अहंभाव या बाहरी सत्ताका खिचाव तथा अंतरात्माका खिचाव भी अत्यधिक तीव्र हो गया हो और अन्य प्रकारसे समाधान आनेकी कोई संभावना न हो अथवा बाह्य सत्ता अनुभव लेनेके लिये आग्रहशील हो।

*

सच पूछो तो जब बाह्य सत्ता विशेष रूपसे दिव्य सत्यका परित्याग कर देती है और अपना जीवन बितानेका आग्रह करती है और आध्यात्मिक जीवनका विधान अस्वीकार कर देती है तभी [आश्रमसे बाहर जानेका] परीक्षण अपरिहार्य हो जाता है। मैंने कभी ऐसा नही कहा है कि वह समर्थन करने योग्य है।

*

कुछ लोगोंमे यह [आश्रमसे चले जानेका प्रवेग] अत्यंत प्रबल होता है; उन्हें जाना ही होगा और स्वय अनुभव लेना होगा। परंतु इसका अर्थ यह नही कि जो कोई व्यक्ति, जब कभी कोई कठिनाई अनुभव करेगा, उसे यहांसे चले जाना होगा। उनकी स्थिति असामान्य होती है।

*

अपनी प्रकृतिके कठिनतर अंगोंपर विजय पाना, जैसी कि तुम कल्पना करते हो, इतना असंभव नही है। एकमात्र आवश्यकता है तबतक निरंतर प्रयास जारी रखनेकी जबतक कि यह विरोध भंग नही हो जाता और चैत्य पुरुष, जो न तो अनुपस्थित है और न अनभिव्यक्त, दूसरोंपर आधिपत्य जमानेमें समर्थ नही हो जाता। यह कार्य

करना ही होगा चाहे तुम यहां रहो या न रहो और चले जानेपर इस कठिनाईके बढने और अंतिम परिणामको खतरेमें डालनेकी ही संभावना है — इससे तुम्हें सहायता नही मिल सकती। एकमात्र यहीं, क्योंकि यहां श्रीमाताजीकी प्रत्यक्ष उपस्थिति विद्यमान है, इस संघर्षका, चाहे यह जितना भी विकट क्यों न हो, समाधान पाने और इसे सफलतापूर्वक समाप्त किये जानेका सुअवसर और निश्चयता प्राप्त है।

*

सामान्यतया यह चीज ऐसे ही घटित होती है — जब कोई संसारसे बाहर आता है तो जो शक्तियां संसारपर राज्य करती हैं, अपनी अशांतिपूर्ण क्रियाके अदर तुम्हें फिरसे वापस खीच ले जानेके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा देती हैं।

*

यह अवश्य ही आश्चर्यजनक बात है। अधिकांश लोग यहांके वातावरणमें रहनेके बाद सामान्य वातावरणको नहीं सहन कर सकते। यदि वे बाहर जाते है तो जबतक वे वापस नहीं आते, बड़े परेशान रहते है। 'अ' की चाची भी, जो यहां केवल कुछ महीनोंतक ही रही थी, इसी ढंगकी बात लिखती है। परंतु जब लोग 'ब' और 'स' की तरह मिथ्यात्वके कब्जेमें चले जाते हैं तो वे असंस्कृत प्राण-प्रकृतिके अन्दर प्रक्षिप्त हो जाते हैं और फिर वातावरणके अंतरको नहीं अनुभव करते।

*

सभी योग कठिन हैं, क्योंकि प्रत्येक योगमें लक्ष्य है भगवान्को प्राप्त करना, संपूर्ण रूपसे भगवान्की ओर मुड़ जाना और उसका तात्पर्य है प्रकृतिकी सामान्य गतिविधियोंसे मुँह मोड़कर उसके परेकी किसी वस्तुकी ओर मुड़ जाना। परंतु मनुष्य जब सच्चाईके साथ अभीप्सा करता है तब उसे शक्ति दी जाती है जो अंतमें कठिनाइयोंको जीत लेती और लक्ष्यपर पहुँच जाती है।

श्रीमाताजी उन साधकोंकी चर्चा कर रही थी जो आश्रमके जीवन और वातावरणमें प्रवेश कर चुके हैं और यहां जो कुछ है उसका स्पर्श अपनी चैत्य सत्ताके ऊपर अनुभव कर चुके हैं। वह बात उन लोगोंपर लागू नहीं होती जो यहां बाहरी दुनियासे आये तो हैं, पर फिर भी वहींसे संबंध रखते हैं। 'अ' की प्रकृतिके सभी संबंध अभी भी बाहरी जीवनके साथ ही थे; उसका प्राण आश्रमजीवनके साथ बिलकुल ही मेल नही बैठा पाया था और सर्वदा उस जीवनमें रहनेके विचारसे कतराता था। उसने अपने चैत्य पुरुषको वह संबंध बनाने और उस प्रभावको आत्मसात् करनेके लिये जरा भी समय नहीं दिया जिससे उसके चैत्य पुरुषमें यह भावना घर कर जाती कि यही (आश्रम)

उसका सच्चा घर है। लोग इस ढगसे यहां आ सकते और कुछ दिन ठहर सकते तथा विना किसी कठिनाईके चले जा सकते हैं, जैसा कि बहुतोंने किया है। यहांसे जानेमें कठिनाई या वेचैनीका अनुभव करना, दूसरी ओर, इस बातका द्योतक है कि अंतरात्मा यहा अपनी जड जमा चुका है और यहांसे अपनेको उखाड़ ले जानेमें दु:ख-कष्टका अनुभव करता है। कुछ लोगोंको जो ऐसे हैं, यहांसे जाना पडा पर वे शांति अनुभव नहीं करते और सर्वदा यह सोचा करते है कि किस तरह शीघ्रसे शीघ्र आश्रम वापस जाया जाय।

दूसरोको अहभाव या आसक्तिसे रहित होकर सहायता करना या आध्यात्मिक वातावरण और आध्यात्मिक जीवनको छोडना एक बात है, पर व्यक्तिगत आसक्तिद्वारा या दूसरोंकी सहायता करनेकी आवश्यकताके वश वाहरी जीवनकी ओर खिच जाना दूसरी वात है।

*

यहा [आश्रम] से चले जानेमें असमर्थता चैत्य पुरुपसे आ सकती है जो, एक खास स्यितिमें आनेके वाद, दूसरे अंगोंको हटने देना अस्वीकार करता है, अथवा यह प्राणसे आ सकती है जिसमें अव साधारण जीवनकी ओर कोई खिचाव नही है और जो यह जानता है कि वह वहां कभी संतुष्ट नहीं होगा। सामान्यतया प्राणके उच्चतर भाग ऐसे होते हैं जो इस प्रकार क्रिया करते हैं। जो चीज अभी भी उस ओर मुड़नेमें समर्थ है वह संभवत: भौतिक प्राण है जिसकी पुरानी वृत्तियां शांत नहीं हुई है।

*

तुम्हें यह देखनेमे सक्षम होना चाहिये था......कि अशांतिका कारण स्वयं तुममें है, न कि वाहरी परिस्थितियोंमें। सच पूछो तो पारिवारिक संवंधोंके प्रति तुम्हारी प्राणिक आसक्ति और सामान्य सामाजिक विचार और भावनाएं तुम्हारे अन्दर उठ खड़ी हुई है और कठिनाइयां उत्पन्न कर रही हैं। यदि तुम योगाभ्यास करना चाहते हो तो जवतक तुम संसारमें हो तवतक तुम्हें भगवान्पर मन जमाकर और परिपार्श्वसे आवद्ध हुए विना वहां रहनेमें समर्थ होना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा करता है वह अपने इर्दगिर्दके लोगोंको संसारसे आसक्त और बद्ध व्यक्तिकी अपेक्षा सौगुना अधिक सहायता कर सकता है।

श्रीमाताजीके लिये तुम्हे यहां रहनेके लिये कहना संभव नहीं है, जव कि तुम स्वयं अपने मन और प्राणमें यहांसे जानेके लिये उत्सुक हो। सच पूछो तो स्वयं तुम्हारे भीतरमे किसी एक वातके लिये सुस्पष्ट संकल्प आना चाहिये।

*

आश्रमसे बाहरकी अपेक्षा आश्रमके वातावरणमें दिव्य उपस्थितिको अनुभव करना अधिक आसान है। पर यह केवल एक प्रारंभिक कठिनाई है जिसे मनुष्य निरंतर पुकार करते रहनेपर और प्रभावके प्रति अपनेको सतत उद्‌घाटित करके जीत सकता है।

*

वातावरणमें दिव्य शक्ति विद्यमान है, पर तुम्हे समुचित ढंगसे उसे ग्रहण करना होगा — आत्मदान, उद्‌घाटन और विश्वासके साथ। बाकी सब कुछ उसीपर निर्भर करता है।

*

सच बात यह है कि यहांसे एक प्रबल शक्ति बाहर जा रही है और यह स्वभावतः ही केंद्रमें प्रबलतम है। परंतु वहां इसका प्रभाव कैसा पड़ता है यह इस बातपर निर्भर करता है कि इसे कोई कैसे ग्रहण करता है। यदि इसे सरल विश्वास, श्रद्धा, उद्‌घाटन, निर्भरताके साथ ग्रहण किया जाय तो यह पूर्ण संरक्षणके रूपमें कार्य करती है। परतु यह एक दूर स्थानमें भी इसी भांति कार्य कर सकती है। वास्तवमें मकान नहीं, बल्कि आंतरिक सामीप्य महत्त्वपूर्ण है।

VI

जब किसी व्यक्तिको सामान्य धंधों और परिस्थितियोंमें रहना पड़ता है तो आध्यात्मिक जीवनके लिये अपनेको तैयार करनेका सर्वोत्तम उपाय यह है कि वह इस श्रद्धाके साथ गीतामें वर्णित 'समता' अर्थात् संपूर्ण समत्व और अनासक्तिको संवर्द्धित करे कि भगवान् हैं और भागवत संकल्पशक्ति सभी चीजोंमें कार्यरत है यद्यपि अभी अज्ञानके एक जगत्‌की परिस्थितियोंके अधीन कार्य कर रही है। इसके परे है दिव्य ज्योति और आनन्द जिसकी ओर जानेका प्रयास जीवन कर रहा है, पर उनके अवतरण-का सर्वोत्तम पथ और व्यक्तिगत सत्ता और प्रकृतिमें उसका आधार है इस आध्यात्मिक समतामें वर्द्धित होना। उसीसे अप्रिय और असंतोषजनक वस्तुओंसे संबंधित तुम्हारी कठिनाईका भी समाधान हो जायगा। सभी असुखद अवस्थाओंका सामना समताके इस भावके साथ करना चाहिये।

*

जब कोई संसारमें ही रह रहा है तो वहां वह आश्रमकी तरह ही नहीं रह सकता — उसे दूसरोंसे मिलना-जुलना पड़ता है तथा कम-से-कम बाहरी तौरपर दूसरोंसे

सब प्रकारके साधारण संबंध बनाये रखना होता है। मुख्य बात है अंतश्चेतनाको भगवान्‌की ओर खोले रखना तथा उसमें विकसित होना। जब कोई ऐसा करेगा तो, साधनाकी आतरिक तीव्रताके अनुसार, न्यूनाधिक वेगसे, दूसरोंके प्रति उसका मनोभाव बदल जायगा। सब कुछ अधिकाधिक भगवान्‌में दीख पड़ेगा और भाव तथा कर्म आदिका निर्धारण अधिकाधिक तुम्हारे अन्दरकी वर्धमान चेतनासे होगा, न कि केवल पुरानी बाह्य प्रतिक्रियाओंसे।

*

अपने संबधियों और दूसरोंसे जिस कठिनाईको तुम अनुभव करते हो वह सर्वदा वही कठिनाई होती है जो उस समय एक बाधाके रूपमें हस्तक्षेप करती है जब कि मनुष्यको साधारण या अननुकूल परिस्थितियोंमें साधनाका अभ्यास करना पड़ता है। इससे बचनेका एकमात्र पथ है स्वयं अपने अन्दर अपनी आंतर सत्तामें निवास करनेमें सक्षम होना — जो तब संभव होता है जब संवेदनशीलता और उज्ज्वलता, जिनकी चर्चा तुमने अपने पत्रमें की है, बढती और स्वाभाविक बन जाती हैं, क्योंकि तब तुम निरंतर अपनी आंतर सत्ताके विषयमें सज्ञान रहते हो और उसमें निवास भी करते हो — बाह्य सत्ता एक यंत्र बन जाती है, बाहरी जगत्‌में संपर्क और कर्मका एक साधन बन जाती है। उस समय लोगोंके साथ बंधन या आवश्यक प्रतिक्रियासे मुक्त संबंध स्थापित करना संभव हो जाता है — मनुष्य उस समय भीतरसे अपनी निजी प्रतिक्रिया या प्रतिक्रिया-शून्यताको निर्धारित कर सकता है; उस समय बाहरी संबंधोंसे एक प्रकारकी मौलिक मुक्ति प्राप्त हो जाती है — आवश्य ही, यदि कोई उसका वैसा होना पसंद करे।

*

ससारका जीवन अपने स्वभावमें अशांतिका एक क्षेत्र है — समुचित रूपमें उसमेंसे गुजरनेके लिये मनुष्यको अपना जीवन और कर्म भगवान्‌को अर्पित करना होता है और अंतरस्थ भगवान्‌की शांतिके लिये प्रार्थना करनी पड़ती है। जब मन अचंचल हो जाता है तो मनुष्य भगवती माताको अपने जीवनको सहारा देते हुए अनुभव कर सकता है और प्रत्येक चीजको उनके हाथोंमें सौंप सकता है।

*

जागतिक जीवनमें शांति पाना कभी आसान नहीं होता और वह कभी निरंतर नहीं बनी रह सकती, जबतक कि कोई अपने भीतर गहराईमें निवास न करे और बाह्य क्रियावलीको महज सत्ताका उपरितलीय पक्ष समझकर सहन न करे।

*

उसकी स्थितिमें जो एक वस्तु उसे साधनामें प्रविष्ट करा सकती है वह है सर्वदा भगवान्‌को स्मरण करना, अपनी कठिनाइयोंको ऐसी अग्निपरीक्षाएं समझना जिनमेंसे उसे गुजरना है, सतत प्रार्थना करना और भगवान्‌की सहायता और संरक्षण पानेकी इच्छा करना तथा अपने हृदय और चेतनाको उस सहायिका भागवत उपस्थितिकी ओर उद्‌घाटित करनेके लिये प्रार्थना करना।

*

श्रीमाताजीके लिये सांसारिक मामलोमें सहायता देनेका वचन देना संभव नहीं है। वह विशिष्ट प्रसंगोंमें ही हस्तक्षेप करती हैं। अवश्य ही कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने उद्‌घाटन और श्रद्धाके बलपर किसी भी सांसारिक कठिनाई या कष्टमें उनकी सहायता पाते हैं पर वह एक भिन्न बात है। वे सिर्फ श्रीमाँको याद करते और पुकारते हैं और यथासमय कुछ परिणाम उत्पन्न होता है।

*

आध्यात्मिक जीवनके लिये परिवार और सामाजिक जीवनका त्याग करनेकी जिस प्रवृत्तिकी तुम चर्चा करते हो वह विगत दो हजार वर्षो या उससे अधिक समयसे भारतकी एक परंपरा रही है — मुख्यतया पुरुषोंमें, इसने स्त्रियोंकी बहुत छोटी संख्याको ही छुआ है। यह याद रखना होगा कि भारतीय सामाजिक जीवनने लगभग पूर्ण रूपसे व्यक्तिको परिवारके अधीन कर रखा है। पुरुष और स्त्रियां अपनी स्वतंत्र इच्छाके अनुसार विवाह नहीं करती। उनके विवाहकी व्यवस्था अधिकांशत: तभी कर दी जाती है जब वे अभी बच्चे ही रहते हैं। केवल इतना ही नहीं, बल्कि दीर्घकालसे समाजका ढांचा लगभग एक लौह अचलता बन गया है जिसमें प्रत्येक व्यक्तिको अपने स्थानमें रख दिया जाता है और उसके अनुरूप बननेकी उससे आशा की जाती है। तुम निकासके पथ और साहसपूर्ण समाधानकी बात करते हो, पर इस जीवनमें न तो कोई समस्या है और न निकासका पथ, और समाधानके लिये कोई मांग भी नहीं है — साहसपूर्ण समाधान केवल वही संभव है जहां व्यक्तिगत इच्छाशक्तिको स्वतंत्रता प्राप्त हो; परंतु जहां एकमात्र समाधान (यदि कोई इस जीवनमें बना रहे) पारिवारिक इच्छाके प्रति आत्मसमर्पण करना है, वहां उस तरहकी कोई चीज संभव नहीं हो सकती। यह एक सुरक्षित जीवन है और सुखकर हो सकता है यदि कोई उसके साथ अपना मेल बैठा ले और उसके परे कोई असामान्य अभीप्सा न रखे अथवा सौभाग्यसे उसका परिपार्श्व अनुकूल हो; परंतु उसके पास असंगतियोंके लिये या उनसे बचनेके लिये अथवा किसी प्रकारकी व्यक्तिगत असफलतासे बचनेके लिये कोई उपाय नहीं है; वह किसी उपक्रम या मुक्त कर्म या किसी व्यक्तिवादके लिये बहुत थोड़ासा ही अवकाश छोड़ता है। व्यक्तिके लिये बाहर निकलनेका एकमात्र पथ है उसका आंतर आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन

ही हमने उनकी उपेक्षा की या उन्हें अस्वीकार कर दिया, पर ऐसे प्रार्थना-पत्र अधिकांशतः पुरुषोंसे आये थे; केवल एक या दो स्त्रियोंने अभी हालमें ऐसे पत्र दिये थे। अन्यथा स्त्रियोंने साधारण तौरपर दुःखपूर्ण विवाह या कठिन परिस्थितियोंके कारण प्रार्थना-पत्र नहीं दिया है। अधिकांश विवाहित साधिकाएं योगाभ्यास पहले ही प्रारंभ कर देनेके कारण अपने पतियोंके पीछे या साथमें आयी हैं; दूसरी वैवाहिक जीवनकी जिम्मेदारियोंको यथेष्ट रूपमें पूर्ण करनेके वाद आयी हैं; दो या तीन स्त्रियोंके प्रसंगमे पतिसे विच्छेद हो गया था, पर उनके यहां आनेसे पहले ही ऐसा हुआ था। कुछ उदाहरणोंमें कोई वच्चा था ही नही, दूसरोंमें वच्चे परिवारके साथ छोड़ दिये गये थे। ये सव प्रसंग वास्तवमें उस कोटिमें नही आते जिसका वर्णन तुम करते हो। कुछ साधकोंने पत्नी और परिवारको पीछे छोड़ दिया है, पर मै नही समझता कि किसी साधकके लिये जीवनकी कठिनाइयां उसके परिवारसे अलग होनेका कारण थी। वल्कि कारण यह विचार था कि उन साधकोंने अंतरकी पुकार अनुभव की और उसका अनुसरण करनेके लिये उन्हें सव कुछ छोड देना होगा।

भाग तीन

विभाग एक

अनुभव और साक्षात्कार

अनुभव और साक्षात्कार

अनुभव एक ऐसा शब्द है जिसमें योगमें घटित होनेवाली सभी बाते समाविष्ट हो जाती है; केवल इतना है कि जब कोई वस्तु स्थिर हो जाती है तब वह अनुभव न रहकर सिद्धिका अंग बन जाती है; उदाहरणके लिये, जब तक शांतिका आना-जाना होता रहता है तब तक तो वह अनुभव होती है पर स्थिर होते ही वह सिद्धि बन जाती है। साक्षात्कार भिन्न वस्तु है — जब हम किसी वस्तुकी अभीप्सा करते है और वह हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाती है तो यह साक्षात्कार कहलाता है; उदाहरणार्थ, हमारे अंदर एक विचार है कि भगवान् सबमें विद्यमान है, परंतु यह केवल एक विचार, एक विश्वास ही है; पर जब हम सबके अन्दर भगवान् का अनुभव या दर्शन करने लगते हैं, तब वह साक्षात्कार बन जाता है।

*

ऐसे सब भेद करना अनावश्यक है। मनके सारतत्वमें, प्राणमें या शरीरमें, कही भी किसी सत्यका अनुभव होनेपर साक्षात्कार प्रारंभ होता है। जब हम शांतिका अनुभव करते हैं, तब हम उसके स्वरूपको साक्षात् करने लगते है। इस अनुभवके बार-बार आनेपर हम उसका अधिक पूर्ण और स्थिर साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। जब वह सत्तामें कही स्थिर हो जाता है तो वह सत्ताके उस स्थानमें अथवा उस अंगमें पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है।

*

जब हम अहंसे भिन्न किसी अन्य चेतनाको जानना और उसमें निवास करना या उसके प्रभावके आधीन होना प्रारंभ करते हैं तो यह आध्यात्मिकता होती है। वह विशाल, अनन्त, स्वयंभू, अहंकार इत्यादिसे रहित चेतना ही परमात्मा (पुरुष, ब्रह्म, भगवान्) कहलाती है, अतएव निश्चय ही आध्यात्मिकताका यही अर्थ है। यह और अनुभूति तथा महत्तर चेतनाके साथ आनेवाली अन्य सब वस्तुएं साक्षात्कार कहलाती है।

*

योगी वह है जिसमें साक्षात्कार पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गया हो — साधक

वह है जो साक्षात्कारको प्राप्त कर रहा हो अथवा प्राप्त करनेका यत्न कर रहा हो।

*

ऐसा कोई नियम नही कि कोई भाव-भावना अनुभव नही बन सकते। अनुभव सभी प्रकारके होते हैं और चेतनामें वे हर प्रकारका रूप ग्रहण करते है। जब चेतना गहराईमे जाकर किसी आध्यात्मिक, चैत्य अथवा गुह्य तत्वका स्पर्श करती, देखती अथवा अनुभव करती है तो योगकी परिभाषामे यह अनुभव कहलाता है किन्तु बहुतसे ऐसे भी अनुभव होते हैं जो इस प्रकारके नहीं होते। भाव भी कई प्रकारके होते हैं। भाव शब्द बहुधा आवेगके अर्थमें प्रयुक्त होता है। भाव चैत्य अथवा आध्यात्मिक श्रेणीके आवेग हो सकते हैं जिन्हें यौगिक अनुभवोंके वर्गमें गिना जाता है — उदाहरणके लिये शुद्ध भक्तिका वेग अथवा भगवान्के प्रति प्रेमका उदय। अंग्रेजी शब्द फीलिंगका अर्थ किसी अनुभूत वस्तुका स्पर्श भी होता है — भले ही यह स्पर्श प्राणमें, अथवा चैत्य या चेतनाके अपने सारतत्वमें ही हो। मैंने देखा है कि मानसिक स्पर्श भी, जब वह बहुत स्पष्ट हो फीलिंग कहलाता है। यदि तुम इन्हें तथा इन जैसे अन्य फीलिंग्सको फीलिंग कहकर रद्द कर दो तब तो अनुभवोंके लिये बहुत थोड़ा स्थान रह जायगा। भावप्रधान अनुभूति और अंतर्दर्शन आध्यात्मिक अनुभवके मुख्य प्रकार है। व्यक्ति ब्रह्मको हर कही देखता और अनुभव करता है। वह एक शक्तिको अपनेमें प्रवेश करते या अपनेसे बाहर निकलते देखता है। वह अपने अन्दर अथवा चारों ओर भगवान्की उपस्थितिको देखता अथवा महसूस करता है, वह ज्योतिके एवं शांति अथवा आनन्दके अवरोहणको भी देखता तथा महसूस करता है। यदि तुम इन सबको फीलिंगमात्र कहकर त्याग दो तो तुम जिनको हम अनुभव कहते हैं उनके अधिकतम भागको रद्द कर दोगे। हम चेतनाके तत्व, उसकी स्थितिमें भी एक परिवर्तन महसूस करते हैं। हम शुद्ध विस्तारके एक सूक्ष्म क्षेत्रमें अपनेको फैलता हुआ पाते हैं और शरीरको उस विस्तारमें छोटीसी वस्तु महसूस करते है (ये दृश्य विषय भी हो सकते है), हम अपनी हृन्चेतनाको संकरा होनेके बदले चौड़ा, और धूमिल होनेके बदले ज्योतिर्मय होते महसूस करते हैं, ऐसे ही मस्तिष्क-चेतना, प्राण और शरीर-चेतनाको भी। इसी प्रकारकी सहस्रों चीजें हम महसूस करते हैं, भला हम उनको अनुभव क्यों न कहें? निःसंदेह ये फीलिंग्स अंतदर्शन, आंतरिक भाव एवं सूक्ष्म-अनुभूतिरूप होते हैं, शीत पवन, पत्थर अथवा अन्य किसी वस्तुके फीलिंगके समान भौतिक नही हैं, परंतु ज्यों-ज्यों अंतश्चेतना गहन बनती जाती हैं ये कम स्पष्ट अथवा कम मूर्त नहीं बल्कि अधिक ही होते जाते हैं।

*

अनुभव एक अव्यर्थ वस्तु है और उसे उचित महत्व देना ही चाहिये। अनुभव-

के सम्बन्धमें विचार करते हुए मन उसे बढ़ा-चढ़ाकर कह सकता है पर यह वस्तु अनुभवको उसके महत्वसे वंचित नही कर सकती।

*

प्रश्न अपने सब कार्योंको समान महत्व देनेका नहीं पर साधनाके विभिन्न प्रकारके सभी तत्वोंकी महत्ताको समझनेका है। जैसे यह नही कहा जा सकता कि कर्मका कोई मूल्य नहीं अथवा बहुत कम या तुच्छ मूल्य है, वैसे ही यह नियम नही बनाया जा सकता कि समाधिकी महत्ता कम है या अनुभूतियोंकी महत्ता हीन-कोटिकी है।

*

गहनतर और आध्यात्मिक अर्थमें एक ठोस साक्षात्कार वह है जो किसी वस्तुको अधिक यथार्थ रूपमें प्रत्यक्ष बनाता है, सक्रिय करता है, और जो चेतनाके सामने भौतिक वस्तुकी अपेक्षा अधिक घनिष्ठरूपमें दृष्टिगोचर होता है। सगुण या निर्गुण ब्रह्मका इस प्रकारका साक्षात्कार साधारणत: साधनाके प्रारंभमें अथवा प्रारंभिक वर्षोंमें या लम्बे समय तक नही होता। ऐसा बहुत विरले लोगोंको ही होता है। किन्तु किसी अनुभवी योगी या साधककी दृष्टिमें ऐसे साक्षात्कारकी आशा या मांग अविवेक और असाधारण अधीरतायुक्त मानी जायगी। अधिकतर योगी यही कहेंगे कि साधकको प्रारंभिक वर्षोंमें धीमी प्रगतिकी ही आशा करनी चाहिये और परिपक्व अनुभव केवल तभी प्राप्त हो सकते है जब प्रकृति तैयार और भगवान्के प्रति पूरी तरह एकाग्र हो जाय। कुछ लोगोंको तैयारीमें मदद देनेवाले द्रुत अनुभव अपेक्षाकृत आरंभिक अवस्थामें हो सकते हैं पर उसमें भी वे चेतनाकी उस मेहनतसे बच नहीं सकते जिसके द्वारा ये अनुभव स्थायी और पूर्ण साक्षात्कारमें परिणत होते हैं। यह पसन्दगी या नापसंदगीका प्रश्न नहीं है, यह तथ्य, सत्य, और अनुभवकी बात है। यह तथ्य है कि जो साधक प्रसन्न रहते हैं और धीरे-धीरे, यहां तक कि जरूरत पड़ने पर बहुत धीरे चलनेको तैयार रहते हैं वे अधीर और उतावले लोगोंकी अपेक्षा अधिक तेजीसे और विश्वासके साथ —आगे बढ़ते हैं। मैने हमेशा ही यह पाया है।

*

यह (आत्म-साक्षात्कार) कोई लम्बी प्रक्रिया नहीं है! बहुधा संपूर्ण जन्म और अन्य अनेकजन्म भी इसकी प्राप्तिके लिये पर्याप्त नहीं होते। रामकृष्णके गुरुको इसकी उपलब्धिमें ३० वर्ष लगे थे और इसपर भी उन्होंने यह दावा नहीं किया कि उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया है।

*

तुम्हारी यह कल्पना (कि तुम भगवान्से तब तक प्रेम नहीं कर सकते जब तक तुम्हें किसी प्रकारकी अनुभूति न हो जाय) अनेक साधकोंके अनुभवके प्रतिकूल है। मैं समझता हूँ रामकृष्णने किसी स्थान पर कहा है कि साधनाकालका प्रेम, उल्लास और उत्साह सिद्धिके प्रेम, उल्लास और उत्साहसे कहीं अधिक तीव्र होता है। मैं इससे सहमत नहीं हूँ, पर यह वस्तु सूचित करती है कि कमसे कम ऐसा तीव्र प्रेम उपलब्धिसे पहले संभव है।

*

मेरा अभिप्राय यह है कि ऐसे सैकड़ों भक्त है जिनमें बिना किसी ठोस अनुभवके, केवल मानसिक धारणा अथवा भगवान्के विषयमें भावनात्मक विश्वासका सहारा रखते हुए प्रेम और जिज्ञासाका भाव होता है। सारी बात यह है कि भगवान्के प्रति प्रेम होनेसे पहले व्यक्तिको कोई निर्णयात्मक या ठोस अनुभव होना ही चाहिये यह कहना मिथ्या है। यह आध्यात्मिक अनुभवके तथ्योंके एवं सर्वथा सामान्य तथ्योंके भी विपरीत है।

*

सामान्य भक्त वीर साधक नहीं होता। वीर साधक अपेक्षाकृत जल्दी अनुभव प्राप्त करते हैं किन्तु साधारण भक्तको प्रायः प्रेम या उत्कण्ठासे ही सन्तोष मानना पड़ता है — और वह करता भी यही है।

*

तुम्हारे अनुभवोंके बारमें मेरे कथनका आशय केवल यही था कि तुम योगसे जो चाहते हो उसके संबंधमें तुमने अपनी निजी धारणाएं बना ली हैं। तुम्हें जो अनुभव होना शुरू हुआ उसे तुम सदा उसी पैमानेसे नापते रहे हो। पर क्योंकि वह आशानुरूप नहीं था और न ही उस पैमानेपर पूरा उतरता था अतः पलभर बाद ही तुम अपने आपसे कहने लगे, "यह कुछ नहीं, यह कुछ नहीं।" इस असंतोषने तुम्हें पद-पदपर ऐसी प्रतिक्रिया या जुगुप्साकी ओर उघाड़ डाला जिसने हर तरहकी प्रगतिमें पग-पगपर रुकावट डाली। अनुभवी योगी जानता है कि छोटे प्रारंभ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होते है और उन्हें प्रोत्साहन देकर बड़े धीरजसे बढ़ने देना चाहिये। उदाहरणके लिये, वह जानता है कि जो उदासीन अचंचलता प्राणिक उत्सुकतावाले साधकके लिये इतनी असंतोषकारक होती है वह शांतिकी प्राप्तिकी पहली सीढी है जो शांति मन-बुद्धिकी समझसे सर्वथा परे है। वह जानता है कि आंतर हर्षकी लघु धारा या पुलक एवं गद्गद-भाव आनन्दसागरकी पहली बूंदका टपकना है, प्रकाशों या रंगोंकी क्रीड़ा आंतर दृष्टि

एवं अनुभूतिके द्वारोंकी कुंजी है, शरीरको एकाग्र नीरवतामें निस्तब्ध कर देनेवाला अवतरण किसी वस्तुका प्रथम स्पर्श है जिसके अंतमें भगवान्‌की उपस्थिति विराजमान है। वह अधीर नहीं होता; वरन्‌ सतर्क रहता है कि कहीं वह उस आरंभ हुए विकासको भंग न कर दे। निःसंदेह, कुछ साधकोंको प्रारंभमें प्रबल एवं निर्णायक अनुभव प्राप्त होते हैं, किंतु उनके बाद उन्हें दीर्घ पुरुषार्थ करना पड़ता है जिसमें कितनी ही सूनी घड़ियां तथा संघर्षकी घड़ियां आती हैं।

*

निश्चय ही इसमें निराशाके लिये कोई स्थान नहीं। प्रारंभमें आनन्द बूंद-बूंद करके या विच्छिन्न धाराके रूपमें आता है। तुम्हें प्रसन्नता और विश्वासके साथ अन्तिम प्रपाततक पहुँचना होगा।

*

यदि तुम सचमुच ही अपनी सम्पूर्ण चेतनामें अपनी सत्ताको भगवान्‌के चरणोंमें "उसकी" इच्छानुसार ढालनेके लिये समर्पित करनेका निश्चय कर लो, तो तुम्हारी व्यक्तिगत कठिनाई अधिकांशमें समाप्त हो जाएंगी—मेरा आशय उस कठिनाईसे है जो अब भी बाकी है, और वहां केवल सामान्य चेतनाके यौगिक चेतनामें रूपांतरित होनेकी कुछ अधिक साधारण कठिनाइयां ही रह जाएंगी जो सब साधनाओंमें सर्वसामान्य हैं। तुम्हारी मानसिक कठिनाई लगातार इसलिये बनी रही कि तुमने अपने पूर्वावधारित मानसिक विचारोंके अनुसार साधनाको मोड़ना, अनुभूतिको ग्रहण करना एवं भगवान्‌को प्रत्युत्तर देना चाहा और भगवान्‌को "उसके" अपने सत्य और यथार्थताके अनुसार तथा तुम्हारे मन और प्राणकी नहीं परंतु तुम्हारी अन्तरात्मा और आत्माकी आवश्यकताके अनुसार कार्य करने और व्यक्त होनेके लिये स्वतंत्रता नहीं दी। यह तो मानों ऐसा हुआ जैसे कि यह प्राण भगवान्‌के सामने रंगीन शीशा रखकर कहे "अब अपनेको इसमें डाल दो, मैं तुम्हें इसमें बन्द कर दूँगा और इस शीशेमें देखूँगा", अथवा इसीप्रकार मानसिक दृष्टिबिन्दुसे, तुम एक परखनली लेकर कहो, "इसमें घुस जाओ, मैं तुम्हारी परीक्षा करके देखूँगा कि तुम क्या हो"। परंतु भगवान् ऐसी प्रक्रियाओंसे कतराता है और उसकी यह आपत्ति बुद्धिको बिलकुल समझमें न आए ऐसी बात नहीं।

जो भी हो, मुझे खुशी है कि अनुभव होने फिर शुरू हो गये — यह तुम्हारे और अन्तिम दिनोंमें किये गये मेरे प्रयत्नके परिणाम स्वरूप हुआ है और व्यावहारिक रूपसे इस बातको फिर याद दिलाता है कि योग और अनुभवोंके प्रवेशका द्वार तुममें अभी विद्यमान है और समुचित स्पर्शसे वह खुल भी सकता है। तुमने उस दिन मुझपर नाम जपके साथ प्राणायाम करनेके अपने अनुभवके विषयमें भूल करनेका अभियोग लगाया था और मुझे एक अति तुच्छ घटनाको लेकर एक बड़ा अनुमान बांधनेके लिये

दोषी ठहराया था — प्रसंगवश, यह एक ऐसी बात है जो वैज्ञानिक लोग प्रतिदिन करते है और उसके विषयमे तुम्हारी तर्कबुद्धिको जरा भी आपत्ति नहीं होती। मेरा विश्वास है कि तुम्हारे पहले अनुभवको, शरीरमें इस प्रवाह और शांतिके अवतरणको, मैंने जो तुम्हारे अन्दर स्थित योगीके लक्षणके रूपमें मान लिया था उसके सम्बन्धमें भी तुम्हारा यही ख्याल था। किन्तु ऐसे विचार आध्यात्मिक प्रदेश और उसके व्यापारों-के विषयमे अनभिज्ञतासे उत्पन्न होते हैं और केवल यह बताते है कि तुमने बाह्य भौतिक तर्कने आध्यात्मिक सत्य और आन्तरिक अनुभवके विषयमें सर्वोच्च निर्णायककी भूमि-का अदा करनेकी जो आशा की थी उसे पूरा करनेमें वह असमर्थ है — यह असमर्थता बिलकुल स्वभाविक है क्योंकि वह इन वस्तुओंका क-ख भी नही जानता और मेरी समझमे नही आता कि वह ऐसी किसी वस्तुका निर्णायक कैसे हो सकता है जिसके विषयमे वह कुछ भी नहीं जानता। मैं जानता हूँ कि "वैज्ञानिक" अपने क्षेत्रसे बाहरके अतिभौतिक व्यापारोंके विषयमें लगातार यही कर रहे है — जिन लोगोंको कभी आध्यात्मिक या गुह्य अनुभव नहीं हुआ वे गुह्य व्यापार और योगके विषयमें नियम निर्धारित कर रहे है, परन्तु उनके ऐसा करनेके कारण यह कार्य अधिक तर्कसम्मत और क्षम्य नहीं हो जाता। प्राणायाम या जपके सम्बन्धमें थोड़ा बहुत जाननेवाला कोई भी योगी यह कह सकता है कि प्राणायाममें नाम जप कोई सामान्य या तुच्छ व्यापार नहीं है बल्कि यह योगके इन अभ्यासोंमें बहुत महत्व रखता है और, यदि यह स्वभावतः आये तो इस बातका प्रतीक होता है कि आन्तरिक सत्ताके किसी अंगने पूर्वजन्ममें इस प्रकारकी साधना की थी। जहांतक धाराका प्रश्न है वह वैज्ञानिकके प्रकाशकी "तरंग" के समान शरीरके, मन, प्राण, और भौतिक भागको अधिकृत करनेकी तैयारीके लिये झरनेके रूपमें नीचे बहती हुई उस उच्चतर चेतनाके प्रथम स्पर्शका सुपरिचित चिह्न है। इसी प्रकार तुम्हारे पहलेके अनुभवमें शरीरकी निश्चेष्टता और अकड़ाहट निस्तब्धता और नीरवतासे युक्त अपने स्वरूप या स्वभावके साथ उच्चतर चेतनाके उसी अवतरण-का लक्षण था। यह निष्कर्ष पूरी तरह युक्तियुक्त है कि जो व्यक्ति साधनाके प्रारंभमें इन अनुभवोंको प्राप्त करता है उसमें योगसाधनाकी क्षमता है और चाहे उसकी सामान्य प्रकृतिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएं उद्घाटनमें विलम्ब करवायें तो भी वह उद्-घाटित हो सकता है। ये बातें योगविज्ञानकी अंग है और उतनी ही परिचित हैं जितने कि वैज्ञानिक अन्वेषणके लिये भौतिक विज्ञानके निर्णायक परीक्षण।

तुम्हें जो मूर्च्छाका आभास हुआ उसका यही कारण है कि तुम सो नही रहे थे जैसे कि तुमने कल्पना की थी, किन्तु निद्राकी उस स्थितिमें थे जिसे साधारणतया "स्वप्न-समाधि" कहते है। यह मूर्च्छा जैसा अनुभव केवल अधिक गहराईमें, अधिक गहन स्वप्न-समाधिमें या सुषुप्तिमें जानेकी प्रवृत्ति थी — इनमेंसे पिछली अवस्था वह है जो साधारणतया अंग्रेजीके Trance शब्दसे अभिप्रेत है, परंतु इसका प्रयोग स्वप्न-समाधिके लिये भी किया जा सकता है। बाह्य मनको बाह्य चेतनाकी गभीरतर हानि मूर्च्छा जैसी प्रतीत होती है; यद्यपि इसमें वस्तुतः ऐसा कुछ नही होता — इसीलिये यह प्रभाव पड़ता है। यहां बहुतसे साधकोंको समय समयपर या कभी-कभी लम्बे समयके

लिये यह गहरी समाधि होती है जिसका प्रारंभ निद्राके रूपमे होता है — परिणामत जाग्रत अवस्थाकी तरह निद्रावस्थामे भी उनकी साधना जारी रहती है। यह प्राण या मनके स्तरपर होनेवाले उन स्वप्नानुभावोसे भिन्न है जो स्वयं सामान्य स्वप्न नही होते परंतु मन, प्राण, चैत्य या सूक्ष्म भौतिक लोकके यथार्थ अनुभव होते है। तुम्हे कुछ ऐसे स्वप्न आये जो प्राणस्तरके स्वप्नानुभव थे, वे जिनमें तुम श्रीमाँसे मिले और हाल ही में तुम्हारा ऐसा सम्बन्ध मानसिक स्तरपर भी हुआ। इस विषयके विज्ञ इसका यह अर्थ करेंगे कि आन्तरचेतना एव मनमे और इसीप्रकार प्राणमे भी तैयारी चल रही है, जो एक बड़ी उन्नतिकी सूचक है।

तुम पूछोगे कि निद्रा या अतर्मुख ध्यानमे ही ऐसी बाते क्यो होती है, जाग्रत अवस्था-में क्यो नही। इसके दो प्रकारक कारण है। पहला यह कि साधारण तौरपर योगमे अन्तर्मुख अवस्थामें ही ये बाते शुरू होती है जाग्रत अवस्थामे नही — यदि या जब जाग्रत मन तैयार हो जाता है केवल तभी ये उतने ही सहजरूपमे जाग्रत अवस्थामे भी आती है। और फिर तुम्हारे अन्दर जाग्रत मन बाह्य चेतनाके विचार और व्यापारो-पर इसके लिये बहुत सक्रिय होकर दबाव डाल रहा है कि वे आतरिक मनको जाग्रत चेतना-में अपनेको प्रक्षिप्त करनेका मौका दे। परन्तु ऐसा आतरिक चेतना द्वारा और प्रधान तया आन्तरमन द्वारा ही होता है; इसलिये, आन्तरसे बाह्यके बीचका मार्ग साफ न होनेपर वे सर्वप्रथम आन्तरस्थितिमे ही प्रकट होगे। यदि जाग्रत मन आन्तरचेतनाके अधिकारमे या उसके प्रति समर्पित होता है और स्वेच्छापूर्वक उसका उपकरण बनता है, तो ये उद्घाटन प्रारंभसे ही जाग्रत चेतनाके द्वारा साधित हो सकते है। यह भी योगका सुपरिचित नियम है।

इसके साथ-साथ मै यह भी कहूँगा कि जब तुम जवाब न मिलनेपर फरियाद करते हो तो तुम संभवत: भगवान्के किसी ऐसे आविर्भावकी आशा करते हो जो नियमा-नुसार,—यद्यपि इसमें अपवाद होते है,—तभी आता है जब पहलेके अनुभवोने चेतना-को इस प्रकार तैयार कर दिया होता है कि वह प्रत्युत्तरका अनुभव करे, उसे जान ले और पहचान ले। साधारणतया आध्यात्मिक या दिव्य चेतना — जिसे मैने उच्चतर चेतना कहा है — पहले आती है, उपस्थिति या आविर्भाव बादमे। पर उच्चतर चेतनाका यह अवतरण वस्तुत: स्वयं भगवान्का स्पर्श या प्रत्यक्ष आगमन होता है, यद्यपि पहले पहल निम्न प्रकृति इसे पहचान नही पाती।

*

मैं यह नही कहता कि ये अनुभव सदा निरर्थक ही होते है। किंतु ये इतने मिश्रित एवं अव्यवस्थित होते हैं कि यदि कोई इनके पीछे बिना किसी विवेक के पड़ जाय तो ये उसे भटका देते है और कभी-कभी तो दु:खद रूपसे पथभ्रष्ट कर देते हैं; या फिर उसे एक विमूढ स्थितिमें डाल देते है।

पर इसका यह अर्थ नही कि ऐसे सब अनुभव व्यर्थ एवं निर्मूल्य होते है, इनमें

सच्चे या झूठे दोनों प्रकारके अनुभव होते हैं; कुछ तो उपलब्धिके मार्गमें वास्तवमें सहायक सिद्ध होते है। वे कभी ठीक दिशामे निशान बनते है, कभी उपलब्धिके मार्गमें अवस्थाए और कभी उसे घटित करनेवाले तत्त्व एवं सामग्री। व्यक्ति ठीक ही स्वाभाविक रूपसे इनकी खोज करता है, आशा करता है तथा इनके लिये यत्नशील होता है। अथवा एक निश्चित आशामें कि देर-सवेर ये प्रकट होगे, वह इनके लिये अपनेको खोलता है। तुम्हारे अपने मुख्य अनुभव चाहे थोड़े रहे है और यदा-कदा हुए हैं किंतु मै यह नही कह सकता कि वे सारयुक्त नही थे अथवा व्यर्थ थे। मैं तो कहूँगा कि सारयुक्त थोडेसे अनुभव प्राप्त करना बहुतसे बेकार अनुभवोंसे अच्छा है। जो कुछ मैंने लिखा था उसका अर्थ यही था कि एकमात्र अनुभवोंकी राशिसे प्रभावित होना अथवा सोच बैठना कि ऐसे अनुभवोसे ही कोई बड़ा साधक बन जाता है ठीक नहीं। यह भी नही समझना चाहिये कि इस राशिको न पाना निश्चय ही एक न्यूनता हैं, एक शोचनीय हानि है अथवा वाछनीय वस्तुका अभाव है।

योगमें दो प्रकारकी चीजें होती हैं, उपलब्धियां एवं अनुभव। उपलब्धियोंका अर्थ है चेतनामे भगवान्‌के उच्चतर दिव्य प्रकृतिके, विश्वचेतना एवं उसके व्यापारके, व्यक्तिकी अपनी आत्मा और उसकी सत्य प्रकृतिके, तथा वस्तुओंकी आंतरिक प्रवृत्तिके आधारभूत सत्योंकी स्वीकृति एवं स्थापना। इन वस्तुओंकी शक्ति व्यक्तिमें धीरे-धीरे बढ़ती रहती है। यहांतक कि ये उसके आंतरिक जीवन एवं अस्तित्व का अंग बन जाती है; उदाहरणके लिये ये अनुभव व्यक्तिको होने लगते है — दिव्य उपस्थितिकी अनूभूति, उच्चतर शांति, शक्ति एवं आनन्दका चेतनामें अवतरण और स्थित होना, उनका वहां व्यापार, दिव्य अथवा आध्यात्मिक प्रेमकी प्राप्ति, अपनी चैत्य सत्ताकी अनुभूति, अपनी सत्य मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय सत्ताका ज्ञान, अधिमन अथवा अतिमानसिक चेतनाकी उपलब्धि और इन सबका हमारी वर्तमान निम्न प्रकृतिसे संबंध तथा इसे बदलनेके लिये इसपर इनकी क्रियाकी स्पष्ट अनुभूति। यह सूची प्रत्यक्ष ही बेहद लम्बी हो सकती है। जब ये अनुभव केवल एक चमक, एक पकड़ अथवा विरल आगमनके रूपमें ही हमारी चेतनामें प्रकट होते हैं, तब भी बहुधा इनको अनुभव ही कहा जाता है। किंतु इनको पूर्ण उपलब्धि तभी कहा जायगा जब ये अत्यधिक सुनिश्चित, बहुधा, अथवा निरंतर घटित होनेवाले अथवा नियमित बन जायं।

इसके अनन्तर ऐसे अनुभव भी होते हैं जो आध्यात्मिक अथवा दिव्य उपलब्धियोंमें सहायता करते हैं, उनकी ओर व्यक्तिको ले चलते हैं, साधनामें नए द्वार खोलते तथा प्रगति प्रदान करते हैं, अथवा मार्गमें सहायक सिद्ध होते हैं। इन अनुभवोके अंतर्गत ये सब आते हैं — प्रतीकात्मक अनुभव, अलौकिक दर्शन, भगवान्‌से अथवा उच्चतर सत्यके व्यापारसे किसी भी प्रकारका संपर्क, कुण्डलिनीके जाग्रत् होने जैसी स्थितियां, चक्रोंके खुलने एव संदेशों, संबोधियों (intuitions) और आंतरिक शक्तियोंके प्रकट होने जैसी बातें। व्यक्तिको इस बातका बहुत ध्यान रखना चाहिये कि ये अनुभव वास्तविक एवं सच्चे हों। और यह बात उसकी अपनी सच्चाई पर निर्भर करती है, क्योंकि यदि वह स्वयं सद्‌हृदय नही है, अपने अहंसे — बड़ा योगी अथवा अतिमानव

बननेसे ही उसकी साधनाका संबंध है, भगवान्‌से मिलनेकी अथवा भागवत चेतनाको, जो उसे भगवान्‌के संपर्कमें ला सकती है, प्राप्त करनेकी उसकी सदाकांक्षा नही है तो उसकी चेतनामें भ्रामक अथवा मिश्रित अनुभवोंका एक प्रवाह भर उठता है जिसके कारण व्यक्ति वीचके क्षेत्र (intermediate zone) की भूल-भुलैया अथवा अपनी ही नाना प्रकारकी कल्पनाओंमें फसा रहता है। सारे विषयका सार यही है।

तव 'क्ष' क्यों कहता है कि व्यक्तिको अनुभवोंके पीछे न पड़कर केवल भगवान्‌से ही प्रेम करना तथा उसे ही खोजना चाहिये ? इसका सीधा अर्थ यह है कि तुम्हें अनुभवोंको अपना प्रमुख लक्ष्य न वनाकर उस भगवानको ही अपना चरम साध्य बनाना चाहिये। यदि तुम ऐसा करोगे तो शुद्ध सहायक अनुभवोंको प्राप्त करने तथा अशुद्ध अनुभवोंसे बचनेकी अधिक संभावना रहेगी। यदि व्यक्ति प्रधानतया अनुभवोंकी खोजमें रहेगा तो उसका योग मनोमय, प्राणमय, एवं जड़ जगत्‌के निम्नतर विषयों अथवा गौण आध्यात्मिक वस्तुओंका योग ही वन जा सकता है तथा यह वृत्ति उन मिश्रित तथा पूर्ण-असत्यों अथवा अर्द्ध-असत्योंको भी पैदा कर सकती है, जो आत्मा और भगवान्‌के वीचकी बाधा वन जायंगे। यह साधनाका वड़ा पक्का नियम है। परंतु इन सब नियमों तथा वक्तव्योंको मर्यादित रूपमें तथा इनकी उपयुक्त सीमाओंमें ही ग्रहण करना चाहिये। इसका यह अर्थ कभी नहीं होता कि व्यक्ति उपयोगी अनुभवोंका स्वागत ही न करे अथवा उनका उचित मूल्य न समझे। जब अनुभवोंका पुष्ट क्रम चल पड़ता है तब उसका आश्रय लेना पूर्णतया उचित है, हां, केंद्रीय लक्ष्य दृष्टिके सम्मुख सदा रहना चाहिये। अंतर्दृष्टि द्वारा अथवा स्वप्नमें अनुभूत हुए सभी सहायक एवं पुष्टिकर संपर्कोंका, जिनके विषयमें तुमने कहा है, स्वागत करना चाहिये, उन्हें स्वीकार करना चाहिये। ठीक प्रकारके अनुभव उपलब्धिमें बड़े सहायक होते हैं; उन्हें सब प्रकारसे ग्रहण करना ही उचित है।

अनुभवके विषयमें अधिक व्यग्र मत बनो; क्योंकि भौतिक मन और सूक्ष्म भूमिकाओंके वीचकी वाधाको छिन्न-भिन्न करनेके वाद तुम हमेशा ही अनुभव प्राप्त कर सकते हो। तुम्हें सबसे अधिक इस वातकी अभीप्सा करनी चाहिये कि तुम्हारे अन्दर उन्नत प्रकारकी ग्रहणशील चेतना, मानसिक विवेक, अन्दर और वाहर होनेवाली घटनाओंके प्रति निर्लेप साक्षि-दृष्टि, प्राणकी पवित्रता, अचंचल स्थिरता, सहनशील धैर्य, घमंड और वडप्पनका अभाव — और सबसे अधिक, चैत्य सत्ताका विकास — समर्पण,आत्मदान, आन्तरात्मिक नम्रता और भक्ति उत्पन्न हों। इन वस्तुओंसे निर्मित और इस सांचेमें ढली हुई चेतना ही विना टूटे, विना लड़खड़ाये या विना भूलोंमें भटके अतिभौतिक भूमिकाओंसे आनेवाले प्रकाशकी धारा, शक्ति और अनुभवोंको सहन कर सकती है। इन वस्तुओंमें समग्र पूर्णता तवतक नही प्राप्त हो सकती जवतक उच्चतर मनसे लेकर अवचेतन भौतिक स्तरतक सारी प्रकृति मनसे अधिक महान् आलोकमय एकताको नहीं प्राप्त कर लेती, परंतु एक अच्छा खासा आधार और इन वस्तुओंमें सदा आत्म-निरीक्षण करनेवाली, जागरूक रहने और विकसित होनेवाली चेतनाका अस्तित्व अनिवार्य है — क्योंकि पूर्ण शोधन ही पूर्ण सिद्धिका आधार है।

*

जहांतक साधनाका प्रश्न है, उसके लिये आन्तरमनकी एक ऐसी नीरवताको प्राप्त करना आवश्यक है जो ध्यानको सफल बनाती है या हृदयकी ऐसी निश्चलताको प्राप्त करना आवश्यक है जो उद्घाटन उत्पन्न करती है। नियमित एकाग्रता, सतत अभीप्सा और हृदय और मनको अशांत या उत्तेजित करनेवाली वस्तुओंको शुद्ध करनेके सकल्पके द्वारा ही यह कार्य सपन्न किया जा सकता है। इन दो केंद्रोंमें कोई आधार स्थापित हो जानेपर अनुभव स्वय ही आते हैं। निःसंदेह बहुतसे लोग, इन वस्तुओंकी ओर एक प्रकारके मानसिक या प्राणिक रुझानके कारण आधारके अच्छी तरह स्थापित होनेसे पहले ही इस प्रकारके अन्तर्दर्शन जैसे अनुभवोंको प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ऐसे अनुभव व्यक्तिको स्वय रूपांतर या साक्षात्कारकी ओर नही प्रेरित करते — केवल मनकी नीरवता और चैत्य उद्घाटनके द्वारा ही वृहत्तर वस्तुएं उपलब्ध हो सकती है।

*

इन तीन बातोंपर बल देना जरूरी है :–

(1) मन और समग्र सत्तामें पूर्ण निश्चल-नीरवता और स्थिरता।

(2) 'पुनश्च' लिखकर वर्णित शोधनकी क्रियाको जारी रखना जिससे चैत्य सत्ता (अन्तरात्मा) समग्र प्रकृतिपर शासन कर सके।

(3) सब अवस्थाओं और सब अनुभवों द्वारा श्रीमाँके प्रति आराधना और भक्तिकी वृत्तिको बनाये रखना।

ये ही वे अवस्थाए हैं जिनमें रहकर व्यक्ति सब अनुभवोंमें निरापदरूपसे आगे बढ सकता है और समूचे आधारमें गडबडके बिना या अनुभवकी तीव्रतासे उत्तेजित हुए बिना पूर्ण उपलब्धिके समुचित विकासको प्राप्त करता है। तीन अनिवार्य अवस्थाएं है: स्थिरता, चैत्यशुद्धि और भगवान्‌के प्रति भक्ति तथा आध्यात्मिक विनम्रता स्वय अनुभव अपने-आपमें सही और सहायक है।

*

मै नही समझता कि तुमने जो उन्नति की है उससे असंतुष्ट होनेका कोई कारण है। बहुतोको प्रकृतिके तैयार होनेसे पहले ही अनुभव प्राप्त हो जाते हैं जिससे वे उनके द्वारा पूरा लाभ उठा सकें। दूसरोंके लिये शोधन और प्रकृतिके उपादानोंकी या करणोंकी तैयारीका कम या अधिक लम्बा काल पहले आता है, जब कि अनुभव तबतक रोके रखे जाते है जब तक कि यह तैयारीकी प्रक्रिया अधिकांशतः या पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाती। पिछली विधि जो तुम्हारे लिये अपनायी गई दीखती है दोनोंमेंसे अधिक सुरक्षित तथा अधिक दृढ़ है। इस अंशमे, हम समझते है, तुमने स्पष्ट रूपसे पर्याप्त उन्नति की है, उदाहरणार्थ, उग्रता, असहिष्णुता तथा उत्तेजना पर, जो तुम्हारी प्रकृति-

की ज्वालामुखीय शक्तिके लिये स्वभाविक थी, नियन्त्रण करनेमें तथा अतीव चचल मन एवं प्रकृतिके कुपथगामी एवं भ्रांतिशील आवेगोको लगाम लगानेके लिये सद्-हृदयताका प्रयोग करनेमें, और समग्र रूपसे सारी सत्ताके भीतर महत्तर शांति और समस्वरता स्थापित करनेमें तुमने काफी प्रगति की है। निःसंदेह, यह प्रक्रिया पूरी करनी आवश्यक है, पर एक अत्यंत आधारभूत कार्य संपन्न हो गया दीखता है। इस विषयको निषेधात्मक पार्श्वकी अपेक्षा भावात्मक पार्श्वमें देखना अधिक आवश्यक है। जिन चीजोंकी स्थापना करनी है वे ये है — ब्रह्मचर्य शम सत्य प्रशान्तिरात्म-सयमः — ब्रह्मचर्यम्, पूर्ण लैगिक पवित्रता: शम, सत्तामें शांति और समस्वरता, अर्थात् इसकी शक्तियां बनी रहें पर सयमित, समस्वरित एवं अनुशासित हो, सत्यम्, संपूर्ण प्रकृतिमें सत्य और सद्हृदयता; प्रशांति, शांति और स्थिरताकी व्यापक अवस्था; आत्मसंयमः, प्रकृतिकी चेष्टाओमेंसे जिसे भी सयत करनेकी आवश्यकता है उसे सयत करनेका सामर्थ्य और अभ्यास। जब ये पर्याप्त प्रतिष्ठित हो जाय तब व्यक्तिके अन्दर वह आधारशिला स्थापित हो जाती है जिसपर वह योग-चेतना विकसित कर सकता है और योग-चेतनाके विकासके साथ उपलब्धि और अनुभूतिके प्रति उद्घाटन सरलता-से संपन्न हो जाता है।

•

तुम्हें जो अनुभव हुए है वे भावी संभावनाओंके सूचक हैं। पहले डेढ़ वर्षमें अधिक अनुभवोंको प्राप्त करनेके लिये सांसारिक मनुष्यकी वृत्तिको त्याग कर साधककी वृत्ति-को पूरी तरह अपनाना जरूरी है। प्रारंभसे ही तीव्र प्रगति केवल तभी हो सकती है।

•

ये सब बातें (भोजन, चाय इत्यादिके अत्यधिक सेवनका त्याग) बाह्य वस्तुएं है जिनका अपना उपयोग है, पर साधककी पूर्ण वृत्तिसे मेरा आशय यह है कि कामना-वश बाह्य वस्तुओंका अनुसरण करते हुए, केवल उनके अपने लिये ही, हमें उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये, परन्तु प्रधानतया आन्तरिक सत्ता और उसकी उन्नतिमें निवास करते हुए और बाह्य वस्तुओं तथा क्रियाओंको केवल आन्तरिक उन्नतिके साधनके रूपमें ग्रहण करते हुए हमें सब समय अपनी अन्तरात्मा पर एकाग्र रहना चाहिये।

•

किंतु किसी भी प्रकारके अनुभवोंके किसी भी ऐश्वर्यसे आच्छादित होनेकी जरूरत ही क्या है? अस्तु, इनका मूल्य ही क्या है? साधककी विशेषता इनपर निर्भर नहीं करती; एक महान् आध्यात्मिक उपलब्धि, जो प्रत्यक्ष तथा केंद्रीय हो,

प्राय व्यक्तिको महान् साधक या योगी बना देती है, मध्यवर्त्ती यौगिक अनुभवोंकी सेना भी उसे ऐसा नही बनाती, यह अनेकों दृष्टांतोंसे पुष्कल रूपमें प्रमाणित हो चुका है इसलिये तुम्हे अपनी दरिद्रताकी उस वैभवसे तुलना करनेकी आवश्यकता नही। उच्चतर चेतना (वास्तविक सत्ता) के अवतरणके प्रति अपनेको खोलना ही एकमात्र प्रयोजनीय वस्तु है और वह, चाहे दीर्घ प्रयत्न तथा अनेक विफलताओंके बाद ही क्यो न प्राप्त हो, उस क्षयकारी सरपट दौड़से अधिक अच्छी है जो कही भी नही पहुँचाती।

*

साधनाके मानसिक स्तरपर आनेके साथ ही अनुभव अनिवार्य रूपसे प्रारंभ हो जाते हैं,—आवश्यकता इस बातकी है कि अनुभव दोष रहित और सच्चा हो। मनमे जिज्ञासा एव सकल्प और हृदयमे भगवान्‌के प्रति भक्तिकी प्रेरणा, ये दोनों योग-साधनाके पहले करण है, और (निम्न प्रकृतिकी हलचलको चुपकरके सुला देनेके साथ-साथ) शाति, विशुद्धि और स्थिरता — ये सब निश्चय ही वह पहला आधार है जिसे तुम्हे स्थापित करना है; प्रारंभमें अतिभौतिक लोकोंकी झलक लेने और आन्तर-दृष्टि, शब्द और शक्तियोंको प्राप्त करनेकी अपेक्षा इन वस्तुओंको उपलब्ध करना अधिक महत्वपूर्ण है। योगमें पहले विशुद्धि और स्थिरता आवश्यक है। इनके बिना साधकके पास (लोकों, सूक्ष्मदर्शन, शब्द इत्यादि जैसे) अनुभवोंका भंडार हो सकता है, पर जब ये अनुभव अशुद्ध और विक्षुब्ध चेतनामें आते हैं तो प्रायः अव्यवस्था और मिश्रणसे भरपूर होते है।

पहले पहल शांति और स्थिरता लगातार स्थिर नही रहती, वे आती-जाती रहती हैं और उन्हें प्रकृतिमें स्थिर करनेके लिये सामान्य रूपसे बहुत समय लगता है। इसलिये अधीरतासे बचकर, जो कुछ किया जा रहा है उसके सहारे स्थिर गतिसे चलते जाना चाहिये। यदि तुम शांति और स्थिरतासे परेकी किसी वस्तुकी कामना करते हो तो वह वस्तु होनी चाहिये अपनी आन्तरिक सत्ताको पूरी तरहसे खोलना और अपने अन्दर क्रिया करती हुई दिव्य शक्तिके प्रति सचेतन होना। इसके लिये सच्चे हृदयसे, खूब तीव्रतासे परन्तु अधीर हुए बिना अभीप्सा करो और तुम्हें यह लक्ष्य प्राप्त होगा।

*

बिलकुल ठीक। जबतक आधार शुद्ध नही हो जाता तबतक न तो उच्चतर (अर्थात् सहजस्फूर्त, ज्ञानदीप्त एव आध्यात्मिक) सत्य ही प्रकट हो सकता है न ही अधिमानसिक और अतिमानसिक सत्य, तब उनसे जो भी शक्तियां अवतरित होती है वे निम्नकोटिकी चेतनाके साथ मिश्रित हो जाती है तथा सत्यका स्थान अर्धसत्य या कभी-कभी खतरनाक भूलें भी ले लेती है।

*

कभी-कभी ऐसा होता है कि साधनाकी एक विशेष स्थितिमें, अधिक तीव्र अनुभवोंके प्रारंभमें (या उनके थोड़ा आगेपीछे) भगवान्‌का कोई स्वरूप तीव्रतासे प्रत्यक्ष होता है। यह एक ऐसा मिलन है जो सव जगह दृष्टिगोचर होता है और इससे मिलते-जुलते और भी अनुभव होते हैं। पर यह स्थिति चिरस्थायी नही होती और बादमें वह (सगुण) भगवान्‌के — सब रूपोंमें स्थित और अपने सव रूपोंसे परे स्थित भगवान्‌के — अधिक विस्तृत अनुभवोंको प्राप्त करता है। इन अनुभवोंमें सारे समय सत्ताका एक ऐसा अंश होना चाहिये जो साक्षी बनकर निरीक्षण करता रहे और ज्ञान प्राप्त करता रहे — क्योंकि कभी-कभी अज्ञानी साधक अपने अनुभवोंसे बहुत अधिक प्रभावित हो जाते हैं और वही रुक जाते हैं अथवा स्वच्छन्द बनकर पतित हो जाते हैं। तुम्हें उसे एक ऐसा अनुभव ही मानना चाहिये जिसमें होकर तुम आगे बढ़ रहे हो।

*

जो विशेष अनुभव तुम्हें हो रहे है वे इस बातका आभास देते हैं कि तुम्हारे अन्दर क्या होना है और क्या विकसित एवं तैयार हो रहा है तथा वे चेतनाको तैयार करनेमें सहायता दे रहे है। इसलिये यदि वे बदल जाते है और उनका स्थान दूसरे अनुभव ले लेते हैं तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नही — साधारण तौरपर ऐसा ही होता है; क्योंकि अनुभवोंके इन रूपोंको ही निरन्तर नहीं बनाये रखना चाहिये किन्तु इनके द्वारा उपलब्ध तत्वको ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार तुम्हें इस समय जिस वस्तुको सबसे अधिक विकसित करना है वह है निश्चल-नीरवता, अचंचलता, शांति, ऐसी शून्यता जिसमें अनुभव आ सके, तथा शीतलता और मुक्तिकी भावना। चेतनामें इस वस्तुको पूरी तरह प्राप्त कर लेनेके बाद उसमें एक अन्य ऐसी भी वस्तु आकर प्रतिष्ठित हो जायगी जो सच्ची चेतनाके लिये अनिवार्य है — साधारणतया साधना इसी तरह आगे बढ़ती है। इसलिये इन अनुभवोंके लिखने और श्रीमाँके सामने रखनेके बाद उनके विशिष्ट आकार-प्रकार नष्ट हो गये तथा अन्य रूपोंने उनका स्थान ले लिया तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। जब साक्षात्कार अधिक स्थिर रूपसे आना शुरु होगा तो फिर आगे ऐसा नही होगा।

*

तुम्हारे व्यक्तिगत उत्साह अथवा आन्तरिक अनुभवके ठोस होनेके विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है, परंतु अनुभवोंके तीव्र होनेपर भी उनकी सचाई और प्रकृतिमें बहुत अधिक मिश्रण हो सकता है। तुम्हारी अनुभूतिमें तुम्हारी अपनी व्यक्तिनिष्ठा, कभी-कभी तुम्हारे अहंके धक्के, बीचमें बहुत अधिक बाधा डालते हैं। ये तुम्हारी अनुभूतिको रूप प्रदान करते है एवं तुमपर अंकित होनेवाले संस्कारको भी उत्पन्न करते है। चैत्यके विशुद्धरूपसे प्रत्युत्तर देनेपर ही यह सम्भव होता है कि उसके द्वारा दिया

गया आकार ठीक हो और मन तथा प्राणकी क्रियाएं अपने सच्चे स्वरूपमें प्रकट हों। अन्यथा मन, प्राण और अहं अनुभवको अपने रंगमें रंग देते हैं, उसे अपने ढंगसे मोड़ देते है और बहुधा विकृत बना देते हैं। अनुभवकी तीव्रता उसकी पूरी सचाई और शुद्धताका आश्वासन नही देती, केवल चेतनाकी विशुद्धि ही उसे पूरी सचाई और शुद्धता प्रदान कर सकती है।

श्रीमा यहा शाश्वतरूपसे विद्यमान हैं, परन्तु यदि तुम अपने ही ढंगसे अर्थात् अपने विचार, वस्तुओंके सम्बन्धमें अपनी धारणा और अपने संकल्प और मांगके अनुसार ही कार्य करनेका निश्चय करो तो यह पूरी सम्भावना है कि श्रीमाँकी उपस्थिति पर्देके पीछे ढक जाये, वे स्वयं तुमसे दूर नही हटती परन्तु तुम उनसे दूर हटते हो। परंतु तुम्हारा मन और प्राण इस बातको स्वीकार करना नहीं चाहता क्योंकि अपनी क्रियाओं-को उचित ठहरानेमे ही उसका ध्यान लगा रहता है। यदि उनपर अन्तरात्माका पूरा प्रभुत्व स्थापित हो गया होता तो ऐसा न होता; वह आवरणको देख लेता, और तुरंत बोल उठता अन्दर कही कोई भूल हुई है, कोई धुन्ध छा गई है, और तब वह निरीक्षण करके उसके कारणको ढूँढ़ लेता।

यह पूर्णतया सत्य है कि जबतक आन्तरिक और बाह्य दोनों सत्ताएं निःशेषरूपसे आत्मसमर्पण नही कर देती तबतक सदा ही आवरण, अन्धकारके काल और कठिनाइयां आती रहेगी। किन्तु यदि आन्तरिक सत्ता पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दे तो बाह्य सत्ता भी स्वभावत. ही उसका अनुसरण करती है; यदि ऐसा न हो तो इसका मतलब यह है कि आन्तरिक सत्ताने अपने आपको पूरी तरहसे समर्पित नही किया; मन अपने विचारों और धारणाओंको दृढ़तासे पकड़े हुए है और अपने किसी भागमें कुछ बातें छिपाये हुए है, प्राण अपनी माग, आवेश, गतियों, अहंतापूर्ण विचारों और निर्माणोंको बलपूर्वक थामे हुए है और अपने किसी अंगमें किन्ही चीजोंको बचाये हुए है, शरीर अनेक तरहकी अपनी पुरानी आदतोंसे चिपटा हुआ है और कुछ वस्तुओंको अपने किसी अंगमे रखे हुए है; और ये तीनों सचेतन, अर्धचेतन या अवचेतन रूपसे दावा करते हैं कि इन सबको कायम रखा जाय, सम्मान दिया जाय, सन्तुष्ट रखा जाय और कार्य एवं सर्जनमें या योगमें एक महत्वपूर्ण तत्वके रूपमें ग्रहण किया जाय।

*

मन, प्राण और सूक्ष्म भौतिक भूमिकाके अनुभव अथवा विचार और प्राणकी रचनाएं प्रायः अपनेको इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं मानों वे बाह्य घटनाओंके ठोस रूप हों। इसी प्रकार सच्ची अनुभूतियां भी मन और प्राणमें होनेवाली नवीन वस्तुओं-की उत्पत्ति और वृद्धिका कारण बन जाती हैं। हमारे योगमें सबसे प्रथम आवश्यकता है विवेक और चैत्य कौशल की जो सत्य और मिथ्यामें भेद करते हैं, प्रत्येकको यथोचित स्थान देते हैं या उनकी महत्ता या तुच्छता प्रदान करते हैं और प्राण सत्ताकी उत्तेजनामें बह नही जाते।

II

केवल उच्च चेतनाकी अनुभूतियां स्वभावको नहीं बदलती। या तो उच्चतर चेतनाको सक्रियरूपसे नीचे उतरकर सारी सत्ताको बदलना होगा; या उसे आन्तरिक सत्तामें नीचे आन्तरिक-भौतिक भूमिका तक अपनेको प्रतिष्ठित करना होगा जिससे आन्तरिक सत्ता अपनेको बाह्य सत्तासे पृथक् अनुभव करे और उनपर स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सके; अथवा अन्तरात्माको सामने आकर प्रकृतिको बदलना होगा; या आन्तरिक संकल्पको जागकर प्रकृतिको बदलनेके लिये बाधित करना होगा। ये चार तरीके हैं जिनके द्वारा प्रकृतिका परिवर्तन साधित किया जा सकता है।

*

इस योगकी कठिनाई सत्यके अनुभव प्राप्त करना या उसका व्यक्तिगत साक्षात्कार करना नहीं है; किन्तु सत्यको समष्टिगत बनाना अर्थात् बाह्य चेतनाको उसकी स्थूल भूमिका तक आन्तरिक सत्यकी अभिव्यक्ति बनाना है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक निम्नतर प्रकृतिके आवरण सदा ही बाधा उपस्थित कर सकते हैं।

*

वैश्वचेतना, अधिमानसज्ञान और अनुभव एक आन्तरिक ज्ञान है — परन्तु इसका प्रभाव व्यक्तिगत होता है। जब तक व्यक्तिके पास वह ज्ञान होता है तब तक तो वह अन्तरात्मामें मुक्त होता है परन्तु बाह्य प्रकृतिको रूपांतरित करनेके लिये इसके अलावा कुछ और बातोंकी भी आवश्यकता होती है।

*

आत्मगतका अर्थ मिथ्या नहीं है। इसका अर्थ यह है कि सत्यकी अनुभूति अन्तरमें तो हुई पर उसने बाह्य सत्ताके साथ अभी सक्रिय संपर्क स्थापित नहीं किया। वह वैश्व चेतना और अधिमानस ज्ञानकी एक आन्तर-अनुभूति है।

*

मै एकबार तुम्हें कह चुका हूँ कि तुम्हारी अनुभूतियां आत्मनिष्ठ है और उस क्षेत्रमें जहांतक उनकी पहुँच है, वे सारतः ठीक हैं। किन्तु अतिमानसमें प्रवेश करनेके लिये आत्मगत अनुभवका होना यथेष्ट नहीं है। जीवनमें पहले सहज ज्ञान और अधि-मानसका पर्याप्त मात्रामें प्रयोग करना चाहिये।

*

सच्चासे तुम्हारा क्या आशय है ? तुम्हें जो आन्तरिक अनुभव हुआ उसका सम्बन्ध उच्चतर भूमिकासे है। जब तुम नीचे उतरते हो तो अपने साथ उसे भी इस स्थूल जगत्मे ले आते हो और इस संपूर्ण जगत्को उस चेतनाके माध्यमसे ही देखते हो — यह बात वैसी ही है जैसे कि जब कोई व्यक्ति सभी जगह भगवान्के अन्तर्दर्शन करता है तो वह नीचे, स्थूल जगत् तक सबको भगवान्के रूपमें ही देखता है।

*

साधककी अपनी आन्तरिक चेतनामें ऐसा ही होता है। निःसंदेह इसका अर्थ यह नही कि सारा ससार वैसा हो जाता है अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिकी चेतना भी।...यदि तुम्हारी अनुभूति वस्तुगत होती तो इसका अर्थ यह होता कि जगत् बदल गया है, प्रत्येक व्यक्ति सचेतन हो गया है, कही दुःख-कष्ट नहीं रहा। परन्तु यह कहनेकी जरूरत नही कि स्थूल जगत् उस ढगसे बाह्य रूपसे नही बदला, केवल तुम अपनी चेतनामें आन्तरिकरूपसे भगवान्को सर्वत्र देखने लगे हो, सारी अव्यवस्था दूर हो गई है, दुःख-कष्ट कमसे कम तत्कालके लिये समाप्त हो गया है — यह एक आत्मगत अनुभव है।

*

यह इस बात पर आधार रखता है कि तुम आत्मगत और वस्तुगतका क्या अर्थ करते हो। ज्ञान और अज्ञानका अपना स्वभाव आत्मगत है। किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि-विन्दुसे अज्ञानकी शक्ति व्यक्तिसे बाहर किसी ऐसे रूपमें प्रकट हो सकती है कि स्वयं ज्ञानी होनेपर भी वह चारों ओर घिरे हुए अज्ञानको हटा नही सकता। यदि यह बात सत्य है तो व्यक्तिमें अज्ञान एकमात्र आत्मगत वस्तु नही है परन्तु जगत्में भी व्याप्त है।

*

यह भक्तिके विविध भावोंकी अनुभूतियोंकी एक ऐसी श्रृंखला प्रतीत होती है जो केवल अनुभवके लिये — या भक्तिके बहुविध विकासके लिये आई है। निःसंदेह यह विशुद्ध आन्तरिक अनुभव है जिनका उद्देश्य है चेतनाको शिक्षित करना और वास्तविक अभिव्यक्तिके लिये इनका कोई सुनिश्चित मूल्य नही। ये केवल आत्मगत अनुभूति और ज्ञानके लिये ही आते हैं।

*

सुनहली ज्योति साधारणतया अतिमानस-लोकसे आनेवाली एक ज्योति होती

है — सत्य-ज्ञानकी ज्योति होती है (कभी-कभी यह अधिमानसिक अथवा सबोधि-जन्य सत्यमें परिवर्तित अतिमानसिक सत्य-ज्ञानकी ज्योति हो सकती है)। नारंगी रंग बहुधा गुह्य शक्तिको परिलक्षित करता है। तुम्हारे अन्दर सर्जनकारी रचना करनेकी एक प्रबल (आंतरिक) शक्ति है, अधिकाशमे, मेरा ख्याल है, मानसिक स्तरमें है पर अंशत: प्राणलोकमें भी है। इस प्रकारकी रचनात्मिका शक्तिका उपयोग बाह्य परिणाम उत्पन्न करनेके लिये भी किया जा सकता है यदि उसके साथ-साथ गुह्य शक्तियों तथा उनकी क्रियाओंका गभीर ज्ञान प्राप्त हो; परंतु जब वह शक्ति अकेली होती है तब बहुत अधिक प्रसंगोंमें इसका परिणाम यही होता है कि तुम अपना एक निजी जगत् गढ़ डालते हो और उसमें खूब संतोषके साथ तबतक निवास कर सकते हो जबतक तुम स्वयं अपने अन्दर, बाह्य स्थूल जीवनके किसी घनिष्ठ सपर्कमेंसे दूर रहते हुए, निवास करते हो; परंतु स्थूल अनुभवके द्वारा इस स्थितिकी परीक्षा नही की जा सकती।

*

प्रत्येक भूमिकामें वस्तुगत पक्षकी तरह ही आत्मनिष्ठ पक्ष भी होता है। केवल भौतिक भूमिका और जीवन ही वस्तुगत पक्ष नही है।

निर्माणकी जिस शक्तिके विषयमें मैंने अभी कहा था; जब वह तुम्हारे अन्दर होती है तो मनके अन्दर जो भी सुझाव आते है उनकी रूपरेखा बना कर वह उनके आकारको अपने अन्दर स्थिर कर लेता है। किन्तु यह शक्ति दो रास्तोंमें फट सकती है; एकमें वह मनको केवल यथार्थ वस्तुकी प्रतिमूर्तियां बनानेके लिये ललचा सकती है और दूसरेमें उसे स्वयं यथार्थ वस्तु समझनेकी भूल कर सकती है। यह अत्यन्त सक्रिय मनके बहुतेरे खतरोंमेंसे एक है।

तुम अपने मनमें या प्राणके स्तरपर अपने अन्दर कोई सर्जन कर सकते हो — यह एक तरहका सर्जन अवश्य है पर है केवल एक आन्तरिक सर्जन, यह एकमात्र तुम्हारे मन और तुम्हारी प्राणसत्तापर ही असर डाल सकता है। तुम अपने विचार, विचारोंके आकार और प्रतिमूर्तियों द्वारा अपने अन्दर या अपने लिये एक संपूर्ण जगत्का निर्माण कर सकते हो पर यह बात यहीं रुक जाती है।

कुछ लोगोंमें सचेतन रूपसे ऐसी रचनाएं बनानेकी शक्ति होती है जो बाहर आकर अन्य लोगोंके मन, प्राणिक क्रियाओं और बाह्य जीवनको प्रभावित करती है। ये रचनाएं विनाशात्मक होनेके साथ साथ सर्जनात्मक भी हो सकती हैं।

अंतमें एक शक्ति ऐसी रचनाओंका भी निर्माण करती है जो यहां पार्थिव चेतनामें, उसके मन, प्राण और भौतिक सत्तामें प्रभावशाली यथार्थ वस्तुएं बन जाती है। साधारणत: सर्जनसे हमारा यही अभिप्राय होता है।

III

आरम्भमें मानसिक साक्षात्कार उपयोगी होता है और वह आध्यात्मिक अनु-

भवको तैयार करता है।

शुरुआतमे यह मदद भी कर सकता है — पर यह बाधक भी बन सकता है। यह साधकपर निर्भर करता है।

*

वर्ड्सवर्थका अनुभव भी मानसिक था। निःसंदेह मानसिक अनुभव अच्छी तैयारीके सूचक है, परन्तु वही रुक जानेसे साधक यथार्थ वस्तुसे कोसों दूर रह जाता है।

*

यह (मनमे भगवान्का साक्षात्कार) एक विशेष प्रकारका जीवन्त प्रत्यय है — जिसके दो भाग है — पहला है विचारमें जीवन्त प्रत्यक्ष बोध जिसकी पहुँच ऊपर सबोधि या सत्यदृष्टि तक होती है, यह एक सजीव मानसिक भाव है, और दूसरा है मनस् तत्वमे इस प्रकार ज्ञात हुई वस्तुओंका पुनः प्रकटीकरण। इस तरह मन एक प्रकारकी आन्तरिक मानसिक इन्द्रिय द्वारा सबमे व्याप्त उस एकका अनुभव, दर्शन और साक्षात्कार करता है। आध्यात्मिक साक्षात्कार इससे अधिक ठोस होता है — व्यक्तिको स्वय अपनी सत्ताके ही उपादानमें एक प्रकारके तादात्म्य द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है।

*

तुम्हे अनुभवके द्वारा यह जानना होगा। मानस-प्रत्यक्षबोध और मानस-साक्षात्कार एक दूसरेसे भिन्न हैं — पहला केवल एक विचार है, दूसरेमें मन स्वयं अपने उपादानमे सत्यको प्रतिबिम्बित या पुनः प्रकट करता है। आध्यात्मिक अनुभव मानसिक अनुभवसे अधिक ऊचा होता है — इसमें अनुभूति स्वयं सत्ताके सारतत्व-मे ही होती है।

*

एकत्वकी मानसिक या प्राणिक अनुभूतिमें वही तात्त्विकता या वही प्रभाव नहीं होता जो एकत्वके आध्यात्मिक साक्षात्कारमें होता है — ठीक उसी प्रकार जैसे भगवान्का मानसिक प्रत्यक्ष बोध और आध्यात्मिक साक्षात्कार एक नही है। एक स्तरकी चेतना दूसरे स्तरकी चेतनासे भिन्न होती है। आध्यात्मिक और चैत्य-प्रेम मानसिक, प्राणिक या भौतिक प्रेमसे भिन्न है — यही बात दूसरी प्रत्येक चीजके

विषयमें लागू होती है। ऐसा ही एकताके प्रत्यक्षवोध और उसके प्रभावोंके विषयमें भी होता है। इसीलिये विभिन्न स्तरोंकी अपनी महत्ता है; अन्यथा उनके अस्तित्वका कोई अर्थ ही न होता।

*

तुम्हारा अनुभव उस आधारभूत और निर्णायक साक्षात्कारके प्रारंभको सूचित करता है जो चेतनाको सीमित मानसिक क्षेत्रमेंसे निकालकर उस सच्चे आध्यात्मिक दर्शन और अनुभवकी ओर ले जाता है जिसमें सब कुछ "एक" ही होता है तथा सब कुछ भगवान् ही होता है। यह सतत और जीवन्त अनुभव ही आध्यात्मिक जीवनकी नीव है। इसकी सचाई और महत्ताके विषयमें कोई संदेह नही हो सकता, क्योंकि स्पष्ट ही यह एक सजीव और सक्रिय वस्तु है और मानसिक साक्षात्कारको भी अतिक्रान्त कर जाती है। आगे जाकर यह विभिन्न पहलुओंको अपनेमें जोड भी सकती है, पर अब तुम्हें तात्विक एवं आधारभूत साक्षात्कार हो गया है। इसके स्थायी हो जानेपर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति मनके धुँधलकेको पार करके परमात्माके प्रकाशमें पहुँच गया है।

तुम्हें अब साक्षात्कारको बढ़ने और विकसित होने देना चाहिये। आवश्यक क्रियाएं संभवत: स्वयं वैसे ही आयेंगी जैसे वे अब आई हैं — बशर्ते कि तुम अपने संकल्पको प्रकाश और सत्यके प्रति एकाग्र और एकनिष्ठ रखो। यह तुम्हारे अन्दर अगले कदमकी ओर अर्थात् विचार-प्रवाहके विराम और आन्तरमनकी नीरवताकी ओर मार्गदर्शन दे ही चुका है। एक बार इसे जीत लेनेपर स्थायी शांति, मुक्ति, विशालता, आयेगी ही। सरलता और निष्कपटताकी आवश्यकताका भाव भी एक सच्ची प्रवृत्ति है जो उसी आन्तिरिक पथ-प्रदर्शनमे आती है। यह मन, प्राण और शरीरके पीछे रहनेवाले अधिकतम गहराईमें स्थित अन्तर्तम दिव्यतत्वको पूरी तरह तुम्हारे सामने लानेके लिये आवश्यक है — इसके सामने आनेपर तुम अपने आन्तरिक नेतृत्वके और पूर्ण आध्यात्मिक परिवर्तनके लिये क्रियाशील शक्तिके विषयमें जान सकोगे। यह सरलता उन नानाविध कुटिल मानसिक और प्राणिक व्यापारोंसे पृथक् होनेपर आती है जो व्यक्तिको जहां-तहां लिये चलते है — हृदयकी निश्चलता, अनासक्ति ही व्यक्तिको अकेले एक और अनन्य सत्य और प्रकाशकी ओर तबतक प्रेरित करती है जबतक वह सारी सत्ता और समग्र जीवनको अपने अधिकारमें नही ले लेती।

उस अद्वितीय और दिव्य भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखो जिसने तुम्हारा स्पर्श कर लिया है और तुम्हारे लिये अपना द्वार खोल दिया है। तुम आगे आनेवाली सब बातोंके लिये भी उसी पर भरोसा रखो।

*

मैंने 'क्ष' के अनुभवोंका विवरण पढ़ लिया। इससे लगता है कि उसने कुछ हद तक ठीक प्रारम्भ किया है और वह मानसिक स्थिरता तथा एक प्रकारके चैत्य उद्घाटनके प्रारंभको स्थापित कर सका है, परंतु इनमें कोई भी वस्तु अभीतक अधिक दूरीतक अग्रसर नहीं हो सकी है। सभवत. इसका कारण यह है कि उसने यह सब दृढ़ मानसिक संयम द्वारा और मन एवं भावमय तथा प्राणिक क्रियाओंको बलात् शान्त करके किया है, किन्तु उस आध्यात्मिक स्थिरताको स्थापित नही किया जो केवल अनुभवसे या मनके ऊपर स्थित उच्चतर सत्ताके प्रति समर्पणसे आती है। एक अधिक सारभूत उन्नतिकी नीव रखनेके लिये उसे इस वस्तुको प्राप्त करना होगा।

1 उसका यह विचार ठीक है कि आतर स्थिरता और निश्चल-नीरवता ही आधारशिला बननी चाहिये केवल बाह्य कर्मकी ही नही किन्तु सभी आन्तर और बाह्य प्रवृत्तियोंकी भी। परन्तु मनकी नीरवता या निष्क्रियतामें मनकी अचंचलता, पहले कदमके रूपमे प्राय. उपयोगी होनेपर भी, पर्याप्त नही होती। मनकी स्थिरता-को पहले तो गंभीरतर आध्यात्मिक शान्तिमें बदलना होगा, और फिर उच्चतर प्रकाश, बल और आनन्दमे परिपूर्ण अतिमानसिक स्थिरता और निश्चल-नीरवतामें। इसके साथ ही एक और बात यह भी है कि महज मनको निश्चल करना ही पर्याप्त नहीं है। प्राणिक और भौतिक चेतनाको उन्मुख करना होगा एवं वहां भी उसी आधारको प्रति-ष्ठित करना होगा। जिस भक्ति-भावके विषयमें उसने लिखा है वह एक मानसिक भाव मात्र ही नही होना चाहिये परन्तु गभीरतर हृदयकी अभीप्सा तथा उच्च सत्यके प्रति संकल्प भी होना चाहिये, जिससे सत्ता उसमें आरोहण कर सके और वह नीचे अवतरित होकर सब व्यापारोंको सचालित कर सके।

2 वह मनमे जिस शून्यताका अनुभव कर रहा है वह साधारणतया सामान्य व्यापारोंसे मनको खाली करनेके लिये आवश्यक अवस्था है जिससे वह उच्चतर चेतना और नवीन अनुभूतियोंकी ओर उद्घाटित हो सके, पर वह अपने-आपमें एक निरी निषेधा-त्मक वस्तु है, किसी भावात्मक वस्तुसे रहित मानसिक स्थिरता है, और यदि कोई वहीं रुक जाय तो जिस जड़ता और तमसकी उसने शिकायत की है वे उसमें अवश्य आयेंगे। जरूरत इस बातकी है कि वह मनकी शून्यता और नीरवतामें अपनेको मनसे ऊपर स्थित उच्चतर शक्ति, प्रकाश और शान्तिकी क्रियाके प्रति उद्घाटित करे, उसकी प्रतीक्षा करे या उसके लिये पुकार करे।

3 निद्रामे जो बुरी आदतें बची रह जाती है उसकी व्याख्या सरलतासे की जा सकती है और यह एक सर्वसामान्य अनुभवकी बात है। यह मनोविज्ञानका एक प्रसिद्ध नियम है कि सचेतन मनमे जिस वस्तुका दमन किया जाता है वह अवचेतन सत्तामें बनी रहती है और नियंत्रण हटा लेनेपर या तो जाग्रत अवस्थामें अथवा निद्रामें फिरसे आती है। स्वयं मानसिक नियन्त्रण किसी भी वस्तुका पूरी तरह उन्मूलन नही कर सकता। सामान्य मनुष्यके अवचेतनमें प्राण-सत्ताके और भौतिक-मनके अधिक बड़े भागका और साथ ही गुप्त शारीरिक चेतनाका भी समावेश होता है, सच्चे और पूर्ण परिवर्तनके लिये व्यक्ति-को इन सबको सचेतन बनाना होगा; उसे स्पष्टरूपसे यह देखना होगा कि अभी वहां

क्या शेष है और उसके वाद एकके वाद एक स्तरसे उनका परित्याग करना होगा जवतक कि वे व्यक्तिगत सत्तामेंसे पूरी तरहसे वाहर न फेंक दिये जाएं। उसके वाद भी वे वहां रह सकते हैं और चारों ओरकी वैश्वशक्तियों द्वारा सत्तामें फिर वापस लौट सकते हैं और जव चेतनाका कोई भी भाग निम्नस्तरकी इन शक्तियोंको कोई प्रत्युत्तर नहीं देता तभी विजय और रूपान्तर निःशेपरूपसे पूर्ण होते है।

4. उसका यह अनुभव कि जव भी वह मानसिक भूमिकापर कोई विजय प्राप्त करता है तो भूतकालके कर्मकी अर्थात् वस्तुतः पुरानी प्रकृतिकी — शक्तियां दुहरे उत्साहके साथ उसपर फिर टूट पड़ती है, यह भी एक सामान्य अनुभव है। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या इससे पहले पैरेमें पाई जा सकती है। सत्ताके रूपांतरके लिये किए गये सभी प्रयत्न उन विश्वशक्तियोंके साथ होनेवाले संग्राम जैसे हैं जिनका सत्ता-पर दीर्घकालसे अधिकार था और यह आशा करना व्यर्थ है कि प्रथम पराजयके साथ ही वे संघर्षका त्याग कर देंगी। वे यथाशक्ति अधिकसे अधिक समयतक अपने अधि-कारको कायम रखनेकी चेष्टा करती हैं और वाहर निकाल दिये जानेपर भी, तवतक वांपस आनेका और अपनी पकड़को फिरसे जमानेका यत्न करती रहती हैं, जवतक सचेतन या अवचेतन सत्तामेंसे प्रत्युत्तरका कोई अवकाश रहता है। इन धावोंसे निरु-त्साहित होनेका कोई लाभ नहीं। तुम्हें इस बातपर ध्यान देना चाहिये कि उन्हें अधि-काधिक वाह्य बना दिया जाय और उन्हें सहमति देनेसे तवतक इन्कार कर दिया जाय जवतक वे क्षीण होकर समाप्त न हो जायें। केवल चित्त और वुद्धिको ही नही किन्तु सत्ताके निम्न अंगों, प्राण और भौतिकप्राण, भौतिक-मन और शरीरचेतनाको भी उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिये।

5. ग्रहणशील मन और विवेकशील वुद्धिके जिन दोपोंके विपयमें तुम कहते हो वे वुद्धिके सर्वसामान्य दोष हैं और जवतक वौद्धिक क्रियाके स्थानपर उच्चतर अति-बौद्धिक और अन्तमें अतिमानसिक सत्ताका सामंजस्यकारी प्रकाश स्थापित नहीं किया जाता तवतक उनसे मुक्ति नही प्राप्त हो सकती।

अव चैत्य अनुभवोंके विपयमें। तुम्हें अपने सिरके शीर्प भागमें जिस तेजोमय क्षेत्रका अनुभव हुआ वह केवल मनके उच्चतर भागपर अतिमानसिक प्रकाशका स्पर्श या प्रतिविंव था। समग्र मन और सत्ताको इस प्रकाशकी ओर खुलना होगा और इस प्रकाशको सारे आधारको परिपूर्ण कर देना होगा। तडित् और विद्युत्का प्रवाह उस अतिमानस सूर्यकी (वैद्युत्) अग्नि-शक्ति है जो शरीरका स्पर्श करके उसमें अपनेको उंडेलनेकी चेष्टा कर रही है। अन्य चिह्न भविष्यमें होनेवाले चैत्य और अन्य अनुभवों-का आश्वासन देते है। किन्तु इनमेंसे कोई भी वस्तु अपनेको तवतक प्रतिष्ठित नहीं कर सकती जवतक ऊच्चतर शक्तिकी ओर उद्घाटन पूर्ण न कर लिया जाय। इस अधिक सच्चे श्रीगणेशके लिये मानसिक योग महज एक तैयारी रूप ही हो सकता है।

मैंने यह सव केवल इन अनुभवोंको समझानेके लिये ही कहा है किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि वह इतना आगे वढ़ गया है कि इस ऊच्चतर योगको प्रारंभ करनेके लिये आधार नही वना सकता। यदि वह उसे करना चाहता है तो उसे अपने मानसिक

संयमके स्थानपर मनसे ऊपर स्थित परमदेवकी उपस्थिति तथा शक्तिमें विश्वास और समर्पण भावको, हृदयमें अभीप्साको और उच्चतर मनमें चरम सत्यकी प्राप्तिके सकल्पको एवं उसके अवतरण और उसकी शक्ति द्वारा समग्र सत्ताके रूपांतरको स्थापित करना होगा। उसे अपने ध्यानमें नीरव भावसे उसके प्रति उद्घाटित होना होगा और सर्व प्रथम एक गभीरतर स्थिरता तथा निश्चल-नीरवताको नीचे पुकार लाना होगा और उसके बाद समग्र आधारमें कार्य करनेवाली शक्तिको ऊपरसे उतार लाना होगा तथा अन्तमें समग्र सत्तामें प्रवाहित होनेवाली और दिव्य-सत्य-क्रियासे उसे प्रकाशित करनेवाली उस ऊच्चतर ज्योतिको पुकार लाना होगा जिसकी उसने एक झलक पाई है।

*

हां, जबतक वृत्ति मानसिक स्तरपर होती है तबतक वह निरापद नहीं होती क्योंकि तब प्रकृतिपर — एक मानसिक निर्देश और नियंत्रणके रूपमें कोई वस्तु आरोपित की जाती है। पर आध्यात्मिक अनुभवके साथ ही स्वयं चेतनाके उपादान तत्वमे परिवर्त्तन होने लगता है और उसके स्थिर और दृढ़ होना शुरू होनेपर स्वभावतः वह वस्तु प्रारंभ होती है जिसे हम प्रकृतिका रूपांतर कहते हैं।

*

नही, (चेतनाका उपादानतत्व) इस वाक्यांशका एक मात्र आशय है "चेतनाका मूलतत्व", स्वयं चेतना।

योगकी अनुभूतियोंके विकासके साथ ही चेतनाका सूर्त रूपसे अनुभव होने लगता है, उसमें जो क्रियाए और रचनाएं होती हैं उन्हीको हम विचार, भाव इत्यादि कहते है।

*

तुम्हारी अनुभूति बिलकुल ठीक है। सब आध्यात्मिक अनुभवोंका स्वरूप ठोस होता है — चेतना और आनन्द तकको ठोस रूपमें अनुभव किया जाता है। यह भी सत्य है कि यह अनुभव मनसे अधिक गहरी कोई वस्तु करती है, मन स्वयं ठोस वास्तविकताओंको अमूर्त्त वस्तुमें बदल देता है।

*

निःसंदेह मानसिक ज्ञानमें यह असुविधा है। परन्तु मुझे सन्देह है कि कोई

व्यक्ति मानसिक रूपमें ऐसा ढोंग भी कर सके कि उसे सब जगह एकमेव भगवान्‌का अनुभव हो या उसमें शांति प्रवाहित होती हो। वह प्रारंभिक मानसिक साक्षात्कारको गभीरतर आध्यात्मिक साक्षात्कार समझ सकता है या यह समझ सकता है कि वह अवतरण उसके शरीरमें हुआ जब कि वस्तुतः वह उसके मनमें हुआ होता है जो सूक्ष्म-शरीरके मनोमयकोश द्वारा शरीरको प्रभावित करता है — परन्तु जिनमें मानसिक ज्ञान नहीं होता वे भी यह भूल कर सकते हैं। मानसिक ज्ञान रहित व्यक्तिको यह असुविधा होती है कि वह बिना समझे ही अनुभवको प्राप्त करता है और यह विकास-के लिये बाधक या कमसे कम उसमें विलम्ब करनेवाली वस्तु बन सकती है जब कि मानसिक रूपसे अधिक प्रबुद्ध व्यक्तिके समान वह भूलसे आसानीसे मुक्त नहीं हो सकता।

*

सामान्यतया वे (जिन्हें विश्वव्यापी पुरुषके विषयमें ज्ञान नहीं होता) पहले श्रीमाँके साथ तादात्म्य प्राप्त करके चैत्य केन्द्र द्वारा उसका अनुभव प्राप्त करते है और उसे पुरुष नहीं कहते — अथवा वे बस केवल सिर या हृदयमें विशालता और शांतिका अनुभव करते हैं। पहलेसे मानसिक ज्ञान होना अनिवार्य नहीं है। मैंने ऐसे एकसे अधिक उदाहरण देखे है जिनमें साधकोंने ब्रह्मका साक्षात्कार होनेके बाद पूछा "यह क्या है?" — वे उसका बहुत स्पष्ट और सुनिश्चितरूपसे वर्णन करते थे किन्तु किसी ज्ञात परिभाषामें नहीं।

यह लिखनेके ठीक बाद मैंने एक साधिकाका पत्र पढ़ा जिसमें वह लिखती हैं "मैं देखती हूँ कि मेरा सिर बहुत शान्त, शुद्ध, आलोकमय और विश्वमय हो रहा है।" अच्छा तो यह विश्वमय ब्रह्मके — मनमें स्थित पुरुषके साक्षात्कारका प्रारंभ है, परन्तु यदि मैं इसे इन शब्दोंमें कहूँ तो वह कुछ नहीं समझेंगी।

*

कल्पित (सचाईके साथ कल्पित) अनुभव भी मानसिक साक्षात्कारमें सहायता दे सकते हैं और मानसिक साक्षात्कार समग्र साक्षात्कारका एक सोपान बन सकता है।

*

स्थूल मनमें निवास करनेपर व्यक्तिके लिये उससे बचनेका एकमात्र उपाय होता है कल्पना। प्रसंगवश, इसीलिये कविता और कला इत्यादिकी पकड़ इतनी मजबूत होती है। परंतु प्रायः ये कल्पनाएं वस्तुतः अतिभौतिक अनुभवोंकी प्रतिच्छाया होती है और एकबार भौतिकमनका अवरोध टूटने अथवा हिलडुलकर थोड़ा खुल जानेपर, अनुभव

स्वयंमेव होने लगते है, वशर्ते कि स्वभाव अनुकूल हो। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्दर्शन और इस प्रकारके अन्य सव ऐसे दृश्योंका अनुभव होता है, जिन्हें चैत्य-दृश्योंका गलत नाम दिया जाता है।

जहातक प्रार्थनाका प्रश्न है उसके विपयमें कोई पक्का नियम नहीं वनाया जा सकता। कुछ प्रार्थनाओका ही उत्तर मिलता है, सवका नही। तुम पूछ सकते हो कि तो फिर सवका जवाव क्यों नही मिलता ? पर क्यों मिलना चाहिये ? यह कोई मशीन नही है कि छेदमें डालते ही प्रार्थनाका जवाब मिल जाय। इसके सिवाय मानव जाति एक ही समयमे जिन विरोधी वातोंके लिये प्रार्थना करती रहती है उन सवका विचार करनेपर यदि भगवान् सव प्रार्थनाओंको पूर्ण करने लगे तो उसकी स्थिति वहुत विपम हो जायगी, इससे काम नही चलेगा।

IV

हृदयकी शुद्धिध असंभव नहीं है जिसके लिये तुम प्रयत्न कर रहे थे, और जव हृदय शुद्ध हो जाता है तो असंभव लगनेवाली अन्य चीजें भी आसान हो जाती हैं — यहातक कि वह आंतरिक समर्पण भी जो तुम्हें इस समय दुष्कर प्रतीत होता है।

यह एक सर्व साधारण नियम है कि यदि हृदयमें विनम्रता और आत्मदान दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायें तो विश्वास जैसी अन्य चीजें सहज ही उनका अनुसरण करती है। यदि एक वार चैत्य ज्योति और आनन्द, जो विनम्रता और आत्म दानकी देन हैं, स्थापित हो जायें तो फिर अन्य शक्तियोंके लिये उस स्थितिको आच्छादित करना आसान नहीं होता और उसे नष्ट करना भी उनके लिये संभव नही होता। यही सामान्य अनुभव है।

शोधन और आत्मोत्सर्ग, ये दो साधनाकी महान् आवश्यक वातें हैं। जिन लोगोंको शोधनसे पहले ही आन्तरिक अनुभव होने शुरू हो जाते है वे वहुत वड़ा खतरा मोल लेते हैं· पहले हृदयको शुद्ध कर लेना कहीं अधिक अच्छा है क्योंकि तव मार्ग निरापद हो जाता है। इसीलिये मैं पहले प्रकृतिमें चैत्यके परिवर्तनकी सलाह देता हूँ — क्योंकि उसका अर्थ है हृदयका पवित्रीकरण: उसका पूरी तरह भगवान्‌की ओर मुड़ जाना, मन और प्राणका आन्तर सत्ताके, अन्तरात्माके शासनकी अधीनताको स्वीकार कर लेना। जव अन्तरात्मा सामने होता है तो मनुष्य, क्या करना चाहिये, किस चीजसे वचना चाहिये, विचार, अनुभव और कर्ममें कौनसी चीज गलत है और कौनसी ठीक है, इस सम्वन्धमें भीतरसे समुचित पथप्रदर्शन पाता है परन्तु यह आन्तरिक सुझाव उसी अनुपातमें वाहर व्यक्त होता है जैसे-जैसे चेतना अधिकाधिक शुद्ध होती जाती है।

क्षके मार्गमें रोडा अटकानेवाली चीज थी महत्वाकांक्षा, गर्व, मिथ्याभिमान — गुह्य शक्ति प्राप्त करके एक वड़ा योगी वननेकी कामना। अपवित्र मन, हृदय और शरीरमें गुह्य शक्तियोंको उतार लानेकी चेष्टा — हां, यदि तुम पहाड़की कगार-

पर खड़े होकर नाचना चाहो तो नाच सकते हो। अथवा यदि तुम्हारा उद्देश्य गुह्यवित् बनना हो न कि आध्यात्मिक, तो भी तुम यह कर सकते हो, क्योंकि तब तुम आवश्यक पद्धतियोंका अनुसरण करके गुह्य शक्तियोंकी सहायता पा सकते हो। दूसरी ओर सच्ची गुह्य आध्यात्मिक शक्तियों और रहस्योंका आवाहन किया जा सकता है या वे बिना आवाहनके भी आ सकती हैं, किन्तु तब इसे एकमात्र सच्चे लक्ष्य भगवान्‌की खोजके मुकाबले गौण स्थान ही देना होगा, और तभी जब कि यह तुम्हारे अन्दर भागवत योजनाका एक अंग हो। आध्यात्मिक व्यक्तिके लिये गुह्य शक्तिया केवल उस भागवत शक्तिका यंत्र हो सकती हैं जो उस व्यक्तिका उपयोग करती है: वे उसकी साधनाका मुख्य या कोई एक मात्र उद्देश्य नही हो सकती। बहुतसे लोगोंको अपने मनमाने विचारोंके अनुसार योग करनेकी आदत होती है और वे गुरुके पथ-प्रदर्शनकी कोई परवाह नहीं करते — तथापि उससे एक पूर्ण संरक्षण पानेकी और साधनामें सफल होनेकी तब भी आशा रखते हैं जब कि वे अधिकसे अधिक गलत रास्तोंपर उछल-कूद करते या इतराते हुए चलते है।

सूक्ष्म पद्धतियोंसे मेरा मतलब है मनोवैज्ञानिक, अयांत्रिक पद्धतियां, उदाहरणार्थ, हृदयमें एकाग्रता, आत्मसमर्पण, आत्मशुद्धि, आंतरिक साधनोंके द्वारा चेतनाको परिवर्तित करना आदि। इसका अर्थ यह नही है कि बाह्य परिवर्तनका कोई स्थान नही है; बाह्य परिवर्तन आवश्यक है पर आंतरिक परिवर्तनके एक अंगके रूपमें। यदि भीतर पवित्रता और सहृदयता न हो तो बाह्य परिवर्तन फलदायक नही होगा, परन्तु यदि भीतर सच्ची क्रिया हो तो बाह्य परिवर्तन उसमें सहायक होगा और वह प्रक्रियाको अधिक तेज कर देगा।......हृदयकी शुद्धिके लिये अत्यंत आवश्यक चीज है पूर्ण सचाई। स्वयं अपने साथ कोई छल-कपट नही करना चाहिये, भगवान्‌से या स्वयं अपनेसे, या गुरुसे कोई दुराव-छिपाव नही रखना चाहिये, अपनी गतिविधियोंपर एक सीधी नजर डालनी चाहिये और उन्हें सीधा करनेके लिये एक सीधा संकल्प करना चाहिये। यदि इसमें कुछ समय लगे तो इससे विशेष आता-जाता नहीं: भगवान्‌की खोजको अपने समूचे जीवनका कार्य बनानेके लिये हमें तैयार होना चाहिये, हृदयकी शुद्धिका अर्थ है एक बहुत ऊंची सिद्धि और उदास, निराश आदि होनेका कोई लाभ नही है, क्योंकि मनुष्य अपने अन्दर उन चीजोंको देखता है जिन्हें अभी परिवर्तित करना आवश्यक है। यदि कोई अपने सच्चे संकल्प और यथार्थ मनोभावको बनाये रखे तो भीतरसे अंत:प्रेरणाओं और संकेतोंका आना बढ़ने लगेगा, वे सुस्पष्ट, भूल रहित और यथार्थ बन जायेंगे तथा उन्हें अनुसरण करनेकी शक्ति भी बढ़ जायगी; और तब तुम्हारे स्वयं अपने-आपसे संतुष्ट होनेसे पहले ही भगवान् तुमसे संतुष्ट हो जायेंगे और उस पर्देको हटाना शुरू कर देंगे जिसके द्वारा वह स्वयं अपनी तथा अपनी खोज करनेवाले साधकोंकी रक्षा करते हैं जिससे मनुष्य जिन सब महान् वस्तुओंको अभीप्सा करता है उन्हें कोई अपरिपक्व अवस्थामें तथा खतरनाक तरीकेसे पकड़ न ले।

*

स्वयंस्फूर्त स्वप्न प्रवृत्ति एक अच्छा लक्षण है क्योंकि यह बताता है कि अन्तः-पुरुष उस सत्यके प्रति उद्घाटित हो रहा है जो आवश्यक परिवर्तनोंको आगे लानेके लिये दबाव डाल रहा है।

जैसा कि तुम कहते हो, प्रकृतिको बदलनेके लिये अग्नि-परीक्षाओंमेंसे गुजरनेमें सम्यक्-वृत्तिकी कमी ही रुकावट डाल रही है। इस समय योगका निर्णायक अनुभव प्राप्त करनेकी अपेक्षा भी कही अधिक चरित्रके इस प्रकारके परिवर्तनके लिये दबाव अधिकाधिक पड रहा है। क्योंकि अनुभवके आनेपर भी प्रकृतिमें आवश्यक परिवर्तन न होनेके कारण वह निर्णायक नही बन सकता। उदाहरणार्थ, मन सबमें व्याप्त उस एकमेवका अनुभव प्राप्त करता है परन्तु प्राण उसका अनुसरण नहीं कर सकता क्योंकि उसपर अहंकी प्रतिक्रिया और अहंका प्रेरकभाव हावी हो जाते है अथवा बाह्य प्रकृतिकी आदतें अपने ऐसे विचार, अनुभव, क्रिया और जीवन-निर्वाहके तरीकोंको बनाये रखती है जिसका अनुभवके साथ बिलकुल मेल नही खाता, अथवा चैत्य और मन तथा भावप्रधान पुरुषका एक अंश बारंबार माताजीके सामीप्यका अनुभव करता है, किन्तु प्रकृतिका शेष अंश समर्पित नही होता और उनके सामीप्यसे दूरीको बढाता हुआ अपने ही मार्गपर चलता रहता है। यह पर्याप्त नही है, और यह बहुत जरूरी है कि इसे बदला जाय।

*

मुझे मालूम नही 'क्ष' ने क्या कहा है या कहाँ लिखा है, वह लेख मेरे पास नहीं है परन्तु यदि उसकी स्थापना यह हो कि कोई भी व्यक्ति जबतक शुद्ध और पूर्ण न हो जाय तबतक सफल ध्यान या किसी वस्तुका साक्षात्कार नही कर सकता तो यह बात मेरी समझमे नही आती स्वयं मेरे अनुभव इसके विपरीत है। मुझे सदा ही ध्यान द्वारा साक्षात्कार प्राप्त हुआ है और शुद्धि पीछेसे उसके परिणामस्वरूप प्रारंभ हुई। मैंने देखा है कि बहुतसे लोगोंने महत्वपूर्ण, यहातक कि आधारभूत उपलब्धियां ध्यानके द्वारा प्राप्त की। उन लोगोके सम्बन्धमें यह नही कहा जा सकता कि वे आंतरिक रूपसे बहुत अधिक विकसित थे। क्या उन सब योगीयोंकी प्रकृति शुद्ध थी जिन्होंने अपनी आन्तरचेतनामें महान् उपलब्धिया प्राप्त की थी? मुझे ऐसा नही प्रतीत होता। मैं यह नही मान सकता कि इस क्षेत्रमें कोई चरम सर्वसामान्य नियम बनाये जा सकते है, क्योंकि आध्यात्मिक चेतनाका विकास एक अत्यंत विस्तृत और जटिल विषय है जिसमें सभी प्रकारकी कठिनाइयां हो सकती है। और व्यक्ति करीब करीब यह कह सकता है कि प्रत्येक व्यक्तिकी प्रकृतिके अनुसार उसका रूप भिन्न-भिन्न होता है और इसके लिये एक बात आवश्यक होती है कि व्यक्तिमें आंतरिक पुकार हो, अभीप्सा हो और उसका अनुसरण करनेका धैर्य हो, चाहे इसमें कितना ही समय लगे कितनी ही कठिनाइयां या अड़चने आये, क्योंकि हमारे अन्तरात्माको इसके सिवाय अन्य कोई वस्तु संतुष्ट नही कर सकती। यह बिलकुल सत्य है कि आगे बढ़नेके लिये शुद्धिकी

एक नियत मात्रा अनिवार्य होती है और शुद्धि जितनी पूर्ण हो उतना ही अच्छा, क्योंकि तब साक्षात्कार प्रारंभ होनेपर बिना किसी बड़ी कठिनाईके या भूलके और बिना पतन या असफलताकी सम्भावनाके वे अपनी साधना जारी रख सकते हैं। यह भी सत्य है कि बहुतसे लोगोंके लिये सर्वप्रथम शुद्धि आवश्यक होती है,—किसी क्रम-बद्ध आन्तर अनुभवको प्रारंभ करनेसे पहले व्यक्तिको किन्हीं वस्तुओंको रास्तेसे हटा देना पड़ता है। पर मुख्य आवश्यकता है चेतनाकी एक विशेष तैयारीकी जिससे वह उच्चतर शक्तिको उत्तरोत्तर मुक्तभावसे प्रत्युत्तर दे सके। इस तैयारीमें बहुतसी बातें उपयोगी होती हैं — कविता और संगीत जिनका तुम अनुसरण कर रहे हो, सहायक हो सकते हैं क्योंकि यह सब एक प्रकारके श्रवण और मननका और यदि इसके द्वारा उत्पन्न भाव तीव्र हो तो एक प्रकारके सहज निदिध्यासनका भी काम करता है। चैत्य तैयारी, मानसिक और प्राणिक अहंके असस्कृत रूपोंकी सफाई, मन और हृदय-को गुरुके सामने खोलना और अन्य बहुतसी बातें अत्यधिक सहायक होती है — प्रारंभमें पूर्णता या द्वन्द्वों या अहंसे पूर्ण मुक्ति अनिवार्य नही होती; परन्तु अन्तः पुरुषकी तैयारी और क्षमता ही आध्यात्मिक प्रत्युत्तर और प्राप्तिको सभव बनाती है।

इसीलिये इन मांगोंको वेदवाक्य मान लेनेका कोई कारण नही। "क्ष" जिस मार्गपर चला है उसके लिये ये ठीक हो सकती है, पर इन्हें सबपर नही लादा जा सकता. आत्माका नियम इतना कठोर और अटल नही होता।

*

'क्ष' को......एक या दो दिन पहले ऊपर आरोहणका और (देह-बोध और सीमासे मुक्त) शान्तिके विस्तार एवं असीमके आनन्दका अनुभव हुआ था साथ ही नीचे मूलाधारमें अवतरणका भी। वह इन वस्तुओंके नाम या परिभाषा नही जानती, किन्तु इस सम्बन्धमें उसका सूक्ष्म और सुविस्तृत वर्णन असंदिग्ध था। अन्य ऐसे तीन या चार व्यक्ति है जिन्हें हाल हीमें यह अनुभव हुआ है। तो इस प्रकार हम मान सकते हैं कि शक्तिकी क्रिया बिलकुल ही व्यर्थ नही गई क्योंकि यह अनुभव बहुत महत्वपूर्ण है और यदि इसे स्थिर किया जा सके तो यह प्राचीन योगका शिखर समझा जा सकता है, हमारे लिये तो यह आध्यात्मिक रूपांतरकी शुरुआत ही है। यद्यपि यह एक व्यक्ति-गत बात है तो भी मैंने यह इसलिये कही है कि प्रकृतिमें बाहरकी कमियां और बाधाएं अथवा यौगिक-अक्षमताकी प्रतीतिका अनिवार्य रूपसे यह अर्थ नहीं होता कि व्यक्ति साधना नहीं कर सकता या नही कर रहा है।

*

निम्नतर प्रकृति और उसकी बाधाओंके विषयमें बहुत अधिक विचार करते रहना एक भूल है, यह साधनाका निषेधात्मक पहलू है। इन्हें देखना और शुद्ध करना

चाहिये किन्तु एक महत्वपूर्ण वस्तुके रूपमे उनके विपयमें विचार करते रहनेसे कोई मदद नही मिलती। अवतरणके अनुभवका भावात्मक पक्ष ही अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। यदि कोई व्यक्ति भावात्मक अनुभवको नीचे बुलानेसे पहले यह प्रतीक्षा करे कि पहले निम्नतर प्रकृति पूरी तरह और सदाके लिये शुद्ध हो जाय तो उसे अनन्त कालतक प्रतीक्षा करनी पड सकती है। यह सत्य है कि निम्नतर प्रकृति जितनी अधिक शुद्ध की जायगी उच्चतर प्रकृति उतनी ही अधिक अवतरित होगी, किन्तु यह इससे भी अधिक सच है कि उच्चतर प्रकृति जितनी अधिक नीचे उतरेगी निम्नतर प्रकृति उतनी ही अधिक शुद्ध होगी। अकस्मात् न तो पूर्ण शुद्धि और न स्थायी और पूर्ण आविर्भाव ही हो सकता है, यह समय और धैर्यपूर्ण प्रगतिका विपय है। ये दोनों (विशुद्धि और आविर्भाव) साथ-साथ ही प्रगति करते जाते है और एक दूसरेकी सहायता करनेके लिये उत्तरोत्तर बलशाली होते जाते है — यही साधनाका साधारण मार्ग है।

*

प्रकृतिको बदलना आसान नही है और इसमें बराबर ही समय लगता है। पर, यदि कोई आंतरिक अनुभव न हो, जो दूसरी अधिक शुद्ध चेतना इन सब चीजोंसे ढकी हुई है जिसे कि अब तुम देख रहे हो, वह धीरे-धीरे ऊपर प्रकट न हो तो फिर अत्यंत प्रबल सकल्पके लिये भी इसे बदलना प्रायः असंभव सिद्ध होगा। तुम कहते हो कि तुम्हे पहले इन चीजोंसे मुक्त होना होगा और फिर आंतरिक अनुभव प्राप्त करना होगा; पर ऐसा भला कैसे किया जा सकता है? ये चीजें — क्रोध, ईर्ष्या, कामना आदि — सामान्य मानवीय प्राणिक चेतनाके एकदम उपादान-तत्त्व हैं। यदि अंतरमें कोई बिलकुल भिन्न स्वभाववाली गभीरतर चेतना न हो तो इनको परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता। तुम्हारे अन्दर एक चैत्य पुरुष है जो दिव्य, है, श्रीमाँका सीधा एक अंग है और इन सब दोपोंसे शुद्ध है। वह सामान्य चेतना और प्रकृतिसे ढका और छिपा हुआ है, किंतु जब उसका आवरण हट जाता है और वह आगे आनेमें तथा सत्तापर शासन करनेमे समर्थ होता है तो वह सामान्य चेतनाको परिवर्त्तित करता है, इन सारी अदिव्य वस्तुओको निकाल फेकता है और बाह्य प्रकृतिको एकदम परिवर्त्तित कर देता है। यही कारण है कि हम चाहते हैं कि साधकगण एकाग्र हों और इस छिपी चेतनाको उद्घाटित करे — चाहे किसी भी प्रकारकी एकाग्रता हो और उससे चाहे जो भी अनुभूतिया प्राप्त हों, उन्हींके द्वारा साधक उद्घाटित होता है और अंतरमें सचेतन होता है तथा नयी चेतना एवं प्रकृति विकसित होना और बाहर आना आरंभ करती हैं। निस्सदेह, हम यह भी चाहते है कि वे अपनी इच्छाशक्तिका व्यवहार करें और प्राणकी कामनाओ और गलत क्रियाओंका परिहार करें, क्योंकि ऐसा करनेसे सच्ची चेतनाका बाहर निकलना संभव होता है। किंतु मात्र परिहारसे सफलता नही मिल सकती; परिहारके साथ-साथ आतरिक अनुभूति और विकाससे ही ऐसा किया जा सकता है।

तुम कहते हो कि ये सब चीजें तुम्हारे अन्दर छिपी हुई थी। नहीं, वे तुम्हारे

अन्दर गहराईमें नहीं थी, वे वाहरी या उपरितलीय प्रकृतिमें थी, तुम महज उनके विषय-में पर्याप्त सचेतन नहीं थे, क्योंकि दूसरी सच्ची चेतना तुम्हारे अन्दर उद्‌घाटित और विकसित नहीं हुई थी। अव तुम्हें जो अनुभूतियां हुई हैं उनके कारण चैत्य पुरुष वि-कसित हुआ है और इस नयी चैत्य चेतनाके कारण ही इन सव चीजोंको, जिन्हें नही रहना चाहिये, तुम स्पष्ट देखनेमें समर्थ हो रहे हो। ये चीजें तुरत-फुरत नही जाती, क्योंकि भूतकालमें प्राणको इनका इतना अधिक अभ्यास हो गया था, पर अव उन्हें जाना होगा, क्योंकि तुम्हारा अंतरात्मा उनसे छुटकारा पाना चाहता है और वह तुम्हारे अन्दर अधिकाधिक प्रवल हो रहा है। अतएव इन चीजोंसे छुट्टी पानेके लिये तुम्हें दोनों चीजों-का उपयोग करना चाहिये — श्रीमाँकी शक्तिसे युक्त अपनी संकल्पशक्तिको लगाना चाहिये तथा साथ ही अपनी आंतरिक चैत्य अनुभूतियोंको भी जारी रखना चाहिये — एक साथ इन दोनोंकी सहायतासे ही सव कुछ किया जा सकता है।

*

ये अनुभव एक वार शुरू हो जानेपर प्रायः अपनेको दुहराते रहते हैं चाहे सामान्य स्थिति अच्छी हो या न हो। पर स्वभावतया वे तवतक कोई मूलगामी परिवर्तन नही कर सकते जवतक वे समग्र सत्तामें या कमसे कम उसके आंतरिक भागमें अपनेको स्थिर नहीं कर लेते और सामान्य नही वन जाते। सत्ताकी आंतरिक पुरानी क्रियाएं फिर भी आ सकती हैं किंतु तव ऐसा लगता है मानों वे विलकुल उपरी सतहकी चीजें हैं। और उनके वावजूद साधना आगे वढ़ती रहती है। यहां भले-वुरेका प्रश्न नहीं। यदि सत्ताका कोई एक अंग भी उद्‌घाटित हो जाय तो अनुभूतियां आने लगती हैं।

*

हां, क्रिया यथार्थतः ऐसी ही होती है। प्रारंभमें हमें जिस वस्तुको प्रतिष्ठित करना है वह मुश्किलसे आती है और ऐसा लगता है मानों वह अस्वाभाविक हो, इस अनुभवको व्यक्ति आसानीसे गंवा देता है — वादमें यह स्वयं आता है पर तव भी देरतक नही टिकता; अन्तमें यह वार-वार आकर सत्ताकी अन्तरंग स्थितिका रूप ले लेता है और अपनेको सतत और सामान्य वना लेता है। दूसरी ओर प्रकृतिकी वे सभी उलझनें और भूलें वाहर धकेल दी जाती हैं जिनकी वह आदी थी; पहले पहल तो वे लौट-लौटकर वार-वार आती रहती हैं; पर वादमें लौटनेपर वे प्रकृतिको अस्वा-भाविक और विजातीय लगने लगती हैं और वार-वार लौटनेकी शक्ति खो देती हैं और अन्तमें विलीन हो जाती हैं।

V

उतार-चढ़ावकी जिस गतिकी तुम चर्चा करते हो वह योगकी सभी प्रणालियोंमें समान रूपसे पाई जाती है। भक्ति-मार्गमें तो यह विद्यमान है ही, पर जब कोई ज्ञान-मार्गका अनुगमन करता है तब भी इसी प्रकार प्रकाशकी और अन्धकारकी अवस्थाएं, कभी कभी तो निरे और सुदीर्घ अधकारकी, बारी बारीसे आती है। जिन्हें गुह्य अनुभव प्राप्त होते है उनके सामने ऐसे काल भी आते है जब सभी अनुभव बन्द हो जाते हैं, यहातक कि सदाके लिये समाप्त हो गये जान पडते हैं। अनेक तथा स्थायी अनुभव प्राप्त हो चुकनेपर भी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वे पर्देके पीछे चले गये है और सामने नीरस शून्यके अतिरिक्त कुछ नही रहता, केवल पुनः पुनः होनेवाले आक्रमण तथा कठिनाइया ही होती हैं, जब कभी कुछ होता है तो। बारी बारीसे आनेवाली प्रकाश और अधकारकी ये अवस्थाए मानव चेतनाके स्वभावका परिणाम हैं; ये अयोग्यता या पूर्वनियत असफलताका प्रमाण नही है। मनुष्यको इनके लिये तैयार रहना तथा इनमें-से गुजरना पडता है। ये वैदिक गुह्यदर्शियोंके "दिन और रात" हैं।

जहांतक समर्पणका सबध है, इसमें प्रवेशका प्रारंभिक मार्ग हर एकका अपना अपना होता है। परंतु यदि यह भय, "बाह्याचार" या कर्तव्यभावनाके कारण किया जाता है तो निश्चय ही यह समर्पण तो बिलकुल ही नही है; इन चीजोंका समर्पणसे कोई संबंध नही है। अपिच, पूर्ण तथा समग्र समर्पण उतना सरल भी नहीं है जितना कुछ लोग इसे समझते दीखते हैं। सदा ही अनेकों तथा विस्तृत आरक्षित क्षेत्र (**Reservations**) या लुकाव-छिपाव होते है; चाहे कोई उनके प्रति सचेतन न भी हो तो भी ये वहां विद्यमान होते हैं। पूर्ण समर्पण तो पूर्ण प्रेम तथा भक्ति द्वारा ही सर्वोत्तम प्रकारसे साधित हो सकता है। इसके विपरीत, भक्ति बिना समर्पणके आरम्भ हो सकती हैं, पर जैसे ही यह स्थिर होती है यह स्वभावतः समर्पणकी ओर ले जाती है।

तुम्हारा यह विचार निश्चित रूपसे भ्रांत है कि बौद्धिक धारणाओंको त्यागनेकी कठिनाई दूसरोंकी अपेक्षा तुम्हारी विशिष्ट बाधा है। अपने विचारों तथा धारणाओंमें आसक्ति या उनपर आग्रह सर्वजनीन स्वभाव है। यह ऊपरसे आनेवाली उस ज्ञान-ज्योतिसे दूर किया जा सकता है जो मनुष्यको सत्यका साक्षात् संस्पर्श या प्रकाशमान अनुभव प्रदान करती है तथा निरी बौद्धिक सम्मति, विचारों या धारणाका समस्त मूल्य अपहृत कर लेती है और इसकी आवश्यकताका निवारण कर देती है, अथवा यह उस युक्त चेतना द्वारा दूर किया जा सकता है जो अपने साथ युक्त विचार, युक्त वेदन, युक्त कर्म तथा और भी प्रत्येक युक्त चीज लाती है। अथवा यह उस आध्यात्मिक एव मानसिक विनय द्वारा दूर होगा जो मानव प्रकृतिमें दुर्लभ है — विशेपकर मानसिक विनय, क्योंकि मनकी सदा ही ऐसा सोचनेकी प्रवृत्ति है कि उसके अपने विचार ही, चाहे वे सच्चे हों या झूठे, युक्त विचार हैं। अन्तमें चैत्य विकास इस समर्पणको भी संभव बना देता है और यह समर्पण भी भक्ति द्वारा अत्यंत सुगमतासे संपन्न होता है। कुछ भी हो, इस कठिनाईका अस्तित्व, स्वयं, योगमें असफलताका अनुमान करनेका

सवल कारण नहीं है।

*

इन अवस्थाओंके वारी-वारीसे आते रहनेके विपयमें जो तुम फरियाद करते हो कि ये क्यों आती हैं तो इसका कारण यह है कि चेतनाका स्वभाव ही ऐसा है; जागरणके एक छोटेसे मोहक दौरके वाद उसे थोड़ी नीदकी जरूरत होती है। प्रारंभमें वहुधा ये संक्षिप्त होते है और निद्राये लम्वी, आगे जाकर ये एक दूसरेके अधिक समान हो जाते हैं और वादमें निद्राके काल अधिक संक्षिप्त होते जाते हैं। इस परिवर्तनका दूसरा कारण यह है कि व्यक्तिकी प्रकृतिको वस्तुको अन्दर ग्रहण करते समय, उसे पचानेके लिये वन्द होनेकी जरूरत होती है। यह शायद वस्तुको वहुत मात्रामें अन्दर ले सकती है, किन्तु अनुभव होते समय उससे प्राप्त वस्तुको ठीक ढंगसे आत्मसात् नहीं कर सकती इसलिये इसे पचानेके लिये वन्द हो जाती है। तीसरा कारण रूपांतरकके समय आता है,—प्रकृतिका एक अश वदल जाता है और व्यक्तिको ऐसा अनुभव होता है मानो पूर्ण और स्थायी परिवर्तन हो गया हो। किन्तु इसकी समाप्तिपर उसे निराशा होती है और उसके वाद एक शुष्कताका या चेतनाके पतनका काल आता है। यह इस कारण होता है कि चेतनाका दूसरा अंश परिवर्तनके लिये ऊपर आता है और तैयारीका समय और गुप्त क्रिया उसका अनुसरण करते है जो अंधेरेका या उससे भी वुरा काल प्रतीत होता है। ये वातें साधककी उत्सुकता और अधीरताको चौंका देती हैं, निराशा करती हैं या उसे गड़वड़ा देती हैं; पर यदि कोई व्यक्ति उन्हें अचंचल रहकर ग्रहण करे और उनका उपयोग करना जाने या सम्यक्-वृत्ति धारण करे तो वह इन अंधकारभरे कालोंको भी सचेतन साधनाका अंग वना सकता है। इसलिये वैदिक ऋषि कहते है कि "दिन और रात दोनों" वारी-वारीसे आकर "दिव्य शिशुको स्तनपान कराते है"*। तुम अपने सिरमें जो कुछ अनुभव करते हो वह संभवतः शरीरमें ऊपरसे दिव्य शक्तिका प्रथम सचेतन अवतरण है। वह अवतक संभवतः हृदयके पीछे रहकर कार्य कर रही थी और तुम इसका अनुभव नहीं करते थे। यदि चेतना स्वभावतः सिरमें एकाग्र होती हो तो उसे ऐसा करने दो, परन्तु पहले हृदयमें की गई एकाग्रताके कारण ही यह संभव हो सका है, इसलिये इसे वन्द करनेकी जरूरत नहीं जवतक तुम्हारे अन्दर कार्य करनेवाली शक्ति केवल ऊपरकी ओर एकाग्र रहनेका आग्रह न रखे। इसी प्रकार अभीप्सा भी जारी रखी जा सकती है जव तक श्रीमाँकी शक्ति द्वारा साधनाके संचालनका स्पष्ट रूपसे अनुभव न हो और वह तुम्हारे लिये सामान्य वस्तु न वन जाय।

*

*नक्तोषासा वर्णमाम्येनाने धापयेते शिशुमेकं समीची। ऋ० १-९६-५.

हा, यह ठीक है। प्रत्येक व्यक्तिके सामने ये काल बारी-बारीसे आते हैं क्योंकि मपूर्ण चेतना ऊपर वर्णन किये गये अनुभवमें सदा स्थिर नही रह सकती। मुख्य बात यह है कि बीचके अन्तरालोंमे , कमसे कम आंतरिक सत्तामे, प्रशांति रहनी चाहिये, कोई चचलता, असंतोष या संघर्ष नही होना चाहिये। यदि इस लक्ष्यको प्राप्त कर लिया जाय तो साधना निर्विघ्न आगे बढ सकती है — यह नही कि कोई कठिनाई नही आयेगी परन्तु उसमे कोई अशांति या असंतोष आदि नही होगा।

*

वैष्णव भजन एक ऐसी चीज है जो प्राण सत्ताको सहज ही उत्तेजित कर देती है और यदि उस स्थानपर निम्न प्रकृतिके लोग हों, तो सब प्रकारकी अंधकारमय और निम्न कोटिकी शक्तियां उस उत्तेजनासे तृप्ति प्राप्त करनेके लिये या जुटती है।...... आध्यात्मिक परिपूर्णता सत्ता और प्रकृतिके स्थिर विकास द्वारा अपने समय पर आयेगी ही। यह इस या उस अवसरको बलात् पकड़नेपर आधारित नही होता।

एक दूसरी बात भी तुम्हे सीखनी होगी। यदि कोई साधनामें विघ्न डाले...तो तुम्हें बस अन्दरसे शांत रहना चाहिये और उस विघ्नको गुजर जाने देना चाहिये। यदि ऐसा करना तुम सीख जाओ, तो आगे जाकर आंतरिक अवस्था या अनुभव इस तरह जारी रहेंगे मानों कुछ हुआ ही नही। इसके विपरीत, यदि तुम इसे अनावश्यक महत्त्व दोगे और अशांत हो जाओगे तो तुम इस विघ्नको विक्षोभमें बदल दोगे और आंतरिक स्थिति या अनुभव बन्द हो जायगा। प्रत्येक परिस्थितिमें आंतरिक अचंचलता और विश्वासको हमेशा बनाये रखो; किसी भी वस्तुसे उसे विक्षुब्ध न होने दो या अपनेको उत्तेजित न होने दो। एक अटल आंतरिक स्थिरता और अचंचल संकल्प तथा चैत्य श्रद्धा और भक्ति तुम्हारी साधनाकी एकमात्र सच्ची नींव है।

*

अचंचल और सम आधारका आशय है साधनाकी एक ऐसी स्थिति जिसमें साधक अनुभवके उत्सुकतापूर्ण विस्फोट और अवसादपूर्ण तामसिक या अर्द्धतामसिक अवस्थाके बीचमें हचकोले नहीं खाता, पर प्रगतिमें या कठिनाईमें किसी भी अवस्थामें पृष्ठ भागमें एक ऐसी निश्चल चेतना विराजमान होती है जो विश्वास और श्रद्धाके साथ भगवान्की ओर उन्मुख होती है।

*

समय-समयपर चेतनाके अवसादकी घटना सभीके साथ होती है। इसके विभिन्न कारण हैं, किसी बाह्य प्रभावका अन्दर आना, प्राणमें, विशेषतया निम्न प्राणमें,

किसी वस्तुका अबतक भी पूरी तरह या पर्याप्त रूपसे न बदलना, प्रकृतिके भौतिक भागोंमेंसे जड़ता या तमस्‌का उभर आना। इस प्रभावके आनेपर निश्चल रहो, अपनेको श्रीमाँके प्रति उद्घाटित करो, सच्ची अवस्थाओंको वापस लानेके लिये पुकार करो और उस स्पष्ट और अक्षुब्ध विवेकके लिये अभीप्सा करो जो तुम्हारे अन्दर वस्तुके उस कारणको बतायेगा जिसे ठीक करनेकी आवश्यकता है।

*

दो क्रियाओंके बीचमें नित्य ही तैयारी और आत्मसात् करनेके विराम-काल आते है। तुम्हें साधनाके लिये अशुभ अन्तराल मानकर उन्हें खीज या व्यग्रताके साथ नहीं देखना चाहिये। इसके सिवाय, शक्ति अपने साथ प्रकृतिके किसी अगको लेकर ऊच्च स्तरपर आरोहण करती हैं और फिर उसका निर्माण करनेके लिये निम्नस्तरपर उतरती है; आरोहण और अवरोहणकी यह गति प्रायः बहुत अधिक कष्टदायक होती है क्योंकि बिलकुल सीधा ऊपर चढ़नेका पक्षपाती मन और तेजीसे कामको पूरा करनेके लिये उत्सुक प्राण इस जटिल गतिको नही समझ सकते या उसका अनुसरण नही कर सकते एवं इससे दुःखी और नाराज होनेके लिये तैयार रहते है। किंतु सपूर्ण प्रकृतिका रूपांतर कोई आसान बात नही और इसे संपादित करनेवाली शक्ति हमारी मानसिक अनभिज्ञता और प्राणिक अधीरतासे अधिक अच्छा जानती है।

*

एकबार प्राप्त हुई वस्तुका अस्तित्व बना रहता हे और उसे दूसरी बार प्राप्त किया जा सकता है। योग ऐसी चीज नहीं है जो एक ही निर्णायक झपाटेके साथ एक या दूसरी ओर चल पड़ती हैं — यह तो एक नवीन चेतनाका निर्माण है और उतार-चढ़ावोंसे भरा रहता है। परंतु यदि कोई इसमें लगा रहे तो चढ़ावोंका स्वभाव यह है कि वे इकठ्ठे हो कर एक निर्णायक परिवर्तन में परिणत हो जाते हैं — इसलिये हमें यही करना चाहिये कि हम उसके साथ चिपटे रहे। गिरनेके बाद रोकर यह मत कहो, "मैं खत्म हो गया," परन्तु उठ खड़े हो, अपनेको झाड़ लो और ठीक राह पर आगे बढ़ते जाओ।

*

अनुभवको पूरी तरह भूल जानेका अर्थ महज यह है कि उस आंतरिक चेतनाको जिसमें यह अनुभव एक प्रकारकी समाधिरूपमें प्राप्त हुआ है, और बाहरकी जाग्रत् चेतनाको जोड़नेवाला पुल अभी ठीक तरह नही बना है। इन दोनोंके बीचमें जब उच्चतर चेतना पुल बना लेती है तब बाह्य चेतना भी अनुभवको याद रखने लगती है।

*

इस प्रकारके उतार-चढ़ाव आये विना नही रह सकते, और उनके आनेपर व्यक्तिको वहुत निश्चल रहना चाहिये और उंपरी सतहकी अवस्थासे अपने आपको अलिप्त रखना चाहिये एवं श्रीमाँकी शक्तिको पुकारते हुए इसके गुजर जानेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकारकी उदासीन अवस्था शुद्धि और परिवर्तनके मितव्ययमें एक विशेष प्रयोजनको सिद्ध करती है — वह रूपांतर करने या अस्वीकार करने योग्य वस्तुओको ऊपर लाती है, सत्ताके किसी अंगको रूपांतरित करनेवाली शक्तिके सामने खोलनेके लिये उसे ऊपर उठाती है। यदि व्यक्ति समझ सके, निश्चल रहे और वाह्य क्रियाओसे अनासक्त रहे, उनके साथ एक न हो जाय तो यह अधिक तेजीसे चलती है, शक्ति उभरनेवाली वस्तुकी तेजीसे सफाई कर देती है और आगे जाकर पता चलता है कि हमें किसी वस्तुकी प्राप्ति हुई है और हमने प्रगति की है।

*

अभीप्साके वल और साधनाकी शक्तिमें जो यह उतार-चढ़ाव होता रहता है, यह सव साधकोंमें होता है और जवतक सारी सत्ता रूपांतरके लिये तैयार नही कर ली जाती तवतक इससे वचा नहीं जा सकता। जव चैत्य पुरुष सामने होता है या सक्रिय होता है और मन तथा प्राण सहमत होते है तव तीव्रता रहती है। जव चैत्य पुरुष कम प्रमुख होता है और निम्नतर प्राणमें उसकी सामान्य क्रियाएं चलती रहती है या मनमें उसकी अज्ञानपूर्ण क्रिया होती रहती है, तव यदि साधक वहुत सतर्क न हो तो विरोधी शक्तिया अन्दर घुस आ सकती हैं। तमस् साधारणतया आता है सामान्य भौतिक चेतनासे, विशेपतः जव कि प्राण साधनाको सक्रिय रूपसे सहारा नही देता। सत्ताके सभी अंगोंमें लगातार उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाको नीचे उतारते रहना ही इन चीजोको दूर करनेका एकमात्र उपाय है।

*

एकाग्रतामें ह्रासका अनुभव सवको होता है — इसे इस रूपमें न लो कि यह कोई दुःखपूर्ण वस्तु है अथवा यह न मानों कि उदासीका कारण यही है।

*

साधनामें दिनके समय चेतनाके इस प्रकारके हेरफेर प्रायः सव साधकोंके सामने सामान्यतया आते है। भौतिक चेतनामें साधनाकी क्रिया होते समय दुविधा और शिथिलताका तत्व, उस उच्चतर स्थितिसे जिसका अनुभव तो हुआ है पर जो अभी पूर्णतया स्थिर नहीं हुई, सामान्य अथवा भूतकालीन निम्नतर स्थितिमें पतनका तत्त्व वहुत वलशाली और महत्त्वपूर्ण हो उठता है। क्योंकि भौतिक प्रकृतिमें एक ऐसी

जड़ता है जो उच्चतर चेतनाकी स्वाभाविक तीव्रताको स्थिर रहने नहीं देती,—भौतिक प्रकृति हमेशा किसी सामान्यतर वस्तुमें फिरसे डूब जाती है, उच्चतर चेतना और उसकी शक्तिको भौतिक प्रकृतिमें निरंतर निवास करने और सामान्य बन जानेसे पहले लंबे समय तक कार्य करना होता है और वारंवार आना पड़ता है। इन परिवर्तनोंसे या इस विलम्बसे विक्षुब्ध या निरुत्साहित मत हो, चाहे ये कितने ही लम्बे और कष्टप्रद क्यों न हों; तुम अपने ऊपर अधिकार करनेके लिये आनेवाली किसी भी यथार्थ विरोधी शक्तिको अस्वीकार करते हुए आंतरिक निश्चलताके साथ सर्वदा निश्चल बने रहने और उच्चतर शक्तिके प्रति यथाशक्ति खुला रहनेके विषयमें सदा सावधान बने रहो। यदि साधनामें कोई विरोधी लहर न आये, तो शेष केवल न्यूनताओंका हठीलापन ही रहता है जो सबमें प्रचुरमात्रामें होता है; शक्तिको इस न्यूनता और हठीलेपन पर कार्य करके इन्हें बाहर निकाल देना होगा परन्तु निकालनेके लिये समयकी जरूरत होती है।

*

यह अनुभव वार-वार आता है, (यद्यपि मैं समझता हूँ कि यह सर्वसामान्य नहीं है) — इसमें केवल शान्ति ही नहीं, अन्य वस्तुए भी होती हैं; शामके समय चेतनामें नीचे उतरनेकी प्रवृत्ति होती है। दूसरी ओर अन्य लोगोंमें इससे उल्टा भी होता है। मुझे मालूम नहीं कि यह वस्तुत: व्यक्तिके काम और लोगोंसे मिलने-जुलनेपर आधारित है या नहीं, यद्यपि इससे वहुत क्लांतिका अनुभव हो सकता है — मैंने अधिकतर यह पाया है कि दिनभरमें चेतनाके उत्थान और पतनमें एक प्रकारकी तालबद्धता होती है। शान्तिके पूरी तरहसे प्रतिष्ठित हो जानेके बाद भी विकसित हुई अन्य वस्तुओंमें भी यह ताल बद्धता हो सकती है।

*

इसके (तमस्‌में पतनके) दोपहर दो बजे या मध्य रात्रिमें अथवा सवेरे न होकर शामके समय होनेमें मानसिक रूपसे निश्चित और स्थिर रूपसे प्रभाव शाली कोई कारण नहीं है। कुछ लोगोंको ऐसा शामके समय होता है, कुछको सवेरे और अन्य लोगोंको किसी दूसरे समयमें और इसी प्रकार उठनेके समय भी। पर अधिकांश लोगोंके साथ ऐसा वार-वार किसी न किसी प्रकारके तालबद्ध नियमके साथ होता है। ये समय विभिन्न लोगोंके अनुसार वदलते रहते हैं और एक व्यक्तिमें भी भिन्न हो सकते हैं इसके किसी खास समयमें होनेके लिये कोई ऐसा कारण नहीं जिसे समझाया जा सके, सिवाय इसके कि तमस् उस समयमें आनेका आदी हो गया हो। शेष तो उन शक्तियोंके संगका प्रश्न है जिसे हम देख तो सकते हैं किंतु जिसका कारण मनके द्वारा स्पष्ट नहीं कर सकते।

*

(साधनामें उतार-चढावके कारण:) मुझे मालूम नहीं। चेतनाकी स्थिरता और ज्वार-भाटेके अनुसार ही समय और ऋतुएं बदलते हैं। यह ऐसी वस्तु नही जिसके लिये तुम कोई बुद्धिसंगत और व्यवस्थित व्याख्या निश्चित कर सको। व्यक्ति उसका अनुभव कर सकता है और चेतनाके सार तत्वमें उसे समझ भी सकता है पर उसके यथार्थ कार्य-कारण भावको प्रतिपादित नही कर सकता।

*

पहलेकी तरह मैं केवल यही कह सकता हूँ कि (शक्तिकी क्रियाके उतार-चढ़ाव-का) ऐसा "कोई विशेष कारण" नहीं है जिसे मन निर्धारित कर सके। यह सब शक्तियों-की परिस्थिति और उनकी पारस्परिक क्रियापर निर्भर करता है। व्यक्तिको बस अभीप्सा पर अटल रहना चाहिये और इन विषमताओं और उतार-चढ़ावोंसे घबड़ाये बिना लक्ष्यकी ओर स्थिर दृष्टिसे देखना चाहिये।

*

(शक्तिकी क्रियाके उतार-चढावके विषयमें) कोई बंधे-बंधाये नियम नहीं है। है केवल प्रवृत्ति और शक्तियोंके समूह जिनके साथ व्यक्तिको परिचय प्राप्त करना होगा। यह कोई अटल मशीन नही है कि जिसे किसी न किसी युक्तिसे या इस या उस बटनको खीचकर चलाया जा सके। केवल आंतरिक संकल्प और सतत अभीप्सा द्वारा, उदासीनता और अस्वीकृत द्वारा, सच्ची चेतना, शक्ति इत्यादिको नीचे उतार कर यह कार्य सपादित किया जा सकता है।

*

चेतनाका अवपतन थकान अथवा केवल ढ़ील छोड़नेकी आदतके द्वारा चेतनामें आई किसी जड़ताके कारण होता है अथवा प्राणकी किसी जानी या अनजानी प्रति-क्रिया या मनकी किसी गलत क्रियाके कारणसे होता है। अवपतनके ये भावात्मक कारण हैं पर उनके पीछे तथ्य यह है कि ये हेर-फेर तबतक अनिवार्यसे होते हैं जबतक चेतना किसी भी रूपमें पुरानी प्रकृतिके आधीन रहती है। तथापि साधना-विरामके अन्तराल आन्तरिक परिस्थितियोंके अनुसार (मुख्यतया संकल्प शक्ति या चैत्य अथवा उच्चतर सत्ता, इन सबके सच्चे सन्तुलनको जल्दीसे स्थापित करनेकी सामर्थ्यके अनु-सार) लम्बे या छोटे हो सकते हैं।

*

अनुभवोंके रुक जानेका एकमात्र कारण विषाद ही नही है। इसके तमस् आदि जैसे अन्य कारण भी हैं। इन कारणोंके बावजूद यदि व्यक्ति निरन्तर अनुभव प्राप्त कर सके, तो इसका अर्थ है कि चेतनाका एक हिस्सा इसके शेष हिस्सेसे निश्चित रूपसे पृथक् हो गया है और बाह्य प्रतिरोध होनेपर भी आगे बढ़ सकता है।

*

हां, शांति प्रतिष्ठित हो जानेपर पतन सतहपर ही होते हैं और आंतर चेतनाको प्रभावित नहीं करते।

*

यदि कभी भौतिकरूपसे थकान अनुभव हो तो भी यह अनिवार्य नही कि वह साधनामें बाधा डाले ही। आंतरिक क्रिया हमेशा चालू रह सकती है।

*

साधारणत: जब मन और प्राणकी कोई वस्तु निम्नतर शक्तियोंको स्वीकार करती है या उन्हें संतुष्ट करती है तभी सच्ची चेतनामें फिरसे प्रवेश करना इतना दु:साध्य हो जाता है। भौतिक तमस् अंधकारमय चेतनाके मध्यावधि शासनकालको लम्बा कर सकता है, पर प्राय: इतने तीव्र अवरोधके साथ नही, पर सामान्यतया यह नीरस और हठीला होता है।

*

इस प्रकारकी तीव्रताएं तबतक स्थिर नहीं होती जबतक चेतना रूपांतरित नहीं हो जाती — आत्मसात् करनेके समयकी जरूरत होती ही है। जब सत्ता अचेतन होती है तो पाचनकी यह क्रिया परदेके पीछे या सतहके नीचे चलती रहती है और बीचके समयमें सतहकी चेतना केवल उपलब्ध वस्तुकी नीरसता और हानिको ही देखती है; पर सचेतन होनेपर व्यक्ति यह देख सकता है कि पाचन क्रिया हो रही है और यह जान लेता है कि किसी भी वस्तुकी हानि नहीं हुई और यह सब ऊपरसे अवतीर्ण हुई वस्तुका शांतिसे प्रतिष्ठित हो जाना मात्र है।

इस विशालता, अभिभूत करनेवाली स्थिरता और निश्चल-नीरवताको, जिसमें तुम अपने-आपको डूबा हुआ अनुभव करते हो, आत्मा या नीरव ब्रह्म कहते हैं। आत्मा या नीरव ब्रह्मके इस अनुभवको उपलब्ध करना और इसमें निवास करना बहुतसी योग पद्धतियोंका पूर्ण लक्ष्य है। हमारे योगमें भगवान्के साक्षात्कारकी और उच्चतर

या दिव्य चेतनामे हमारी सत्ताके उन्नत होनेकी — जिसे हम रूपांतर कहते हैं — यह पहली मंजिल है।

*

एक विशेष स्थितिको प्राप्त करनेके बाद उपलब्ध वस्तुएं कभी नष्ट नहीं होतीं — यह हो सकता है कि वे ढक जायें पर वे वापिस आती हैं — वे केवल अन्दर चली जाती हैं और फिर सतह पर लौट आती हैं।

*

जब भौतिक चेतनाका प्राबल्य होता है तो अनुभूतियोंके विद्यमान होनेपर भी व्यक्ति उनके चिह्न या प्रभावका अनुभव नहीं करता।

*

यदि अनुभव बारंबार न आये तो तुम भौतिक चेतना जैसी मूढ़ और भूलनेवाली वस्तुपर प्रभाव पडनेकी आशा कैसे कर सकते हो? यह ठीक वैसी ही बात है कि जब तुम पाठ सीखते हो, तो तुम्हें उसे तबतक दुहराना होता है जबतक भौतिकमन उसे पकड नही लेता — अन्यथा वह चेतनाका अंग नही बनता।

VI

कल अपने पत्रमें तुमने जिस शून्यताके विषयमें लिखा था वह कोई खराब वस्तु नहीं थी — योगमें यह आंतर और बाहर शून्यता ही प्रायः नई चेतनाकी ओर बढ़नेका पहला कदम बन जाती है। मनुष्यकी प्रकृति गदले पानीसे भरे प्याले जैसी है — पानीको बाहर फेंक देना होगा; प्यालेको सोमरससे भरनेके लिये स्वच्छ और खाली करना होगा। मुश्किल यह है कि मानवकी स्थूल चेतनाको इस रिक्तताको सहन करना कठिन लगता है। वह सब तरहकी उन छोटी-छोटी मानसिक और प्राणिक क्रिया-ओंमें लगे रहनेकी आदी होती है जो उसकी खुशी और दिलचस्पीको बनाये रखती है अथवा दुःख-कष्ट आनेपर भी उसे सक्रिय रखती हैं। इनकी समाप्ति उसके लिये असह्य हो जाती है। वह उदासी और बेचैनी अनुभव करने लगती है और पुरानी अभिरुचियों और क्रियाओंके लिये आतुर हो उठती है पर यह बेचैनी अचंचलताको विक्षुब्ध कर देती है और बाहर फेंकी गई वस्तुओंको फिर लौटा लाती है। यही चीज इस समय कठिनाई और अवरोधको पैदा करती है। तुम यदि इस शून्यताको सच्ची चेतना और सच्ची क्रियाओंकी ओर जानेका मार्ग मान सको तो बाधाओंसे छुटकारा

पाना अधिक आसान हो जायेगा।

आश्रमके सभी नहीं, किन्तु बहुतसे साधक उदासी और अरुचिकी इस भावनासे ग्रस्त है, क्योंकि जो शक्ति अवतरित हो रही है वह भौतिक और प्राणिक मनकी उन क्रियाओंको अनुत्साहित कर रही है जिन्हें लोग जीवन कहते हैं और वे लोग इनके त्याग-को अंगीकार करनेके अथवा शांति या निश्चलताके आनन्दको लानेके अभ्यस्त नही है।

*

शून्यता अपने-आपमें कोई बुरी स्थिति नही है यह बुरी केवल तभी होती है जब यह असंतुष्ट प्राणकी उदासी और बेचैनीसे भरी शून्यता होती है। साधनामे शून्यता बहुधा एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें एक आवश्यक संक्रमणके रूपमे आती है। जब मन और प्राण निश्चल हो जाते है एवं उनकी चंचल क्रियाएं, विचार और कामनाएं समाप्त हो जाती हैं तब व्यक्ति अपनेको रिक्त अनुभव करता है। सबसे पहले यह प्रायः एक उदासीन रिक्तता होती है जिसमें कुछ नही होता, कोई अच्छी या बुरी वस्तु, सुख-मय या दुःखमय स्थिति, कोई प्रवृत्ति या क्रिया नहीं होती। इस उदासीन अवस्थाके बाद प्रायः या साधारणतया भी आन्तरिक अनुभवके प्रति उद्घाटन होता है। एक शून्यता ऐसी भी होती है जो शांति और नीरवताकी बनी होती है, ऐसा तब होता है जब शांति और निश्चलता अंतस्थ चैत्यसे आती है अथवा ऊपर स्थित उच्चतर चेतनामेंसे अवतरित होती है। यह उदासीन अवस्था नही है क्योंकि इसमें शांतिका और प्रायः विशालता और मुक्तिका भी बोध होता है। एक प्रसन्नतायुक्त शून्यता भी होती है जिसमें समीप आती हुई किसी ऐसी वस्तुका बोध होता है जो अबतक वहां नहीं थी, उदाहरणके लिये श्रीमांकी समीपता अथवा कोई अन्य तैयार होता हुआ अनुभव। तुमने जिस अनुभवका वर्णन किया है वह उदासीन अचंचलता है। चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। ऐसा होनेपर व्यक्तिको केवल निश्चल रहना चाहिये और श्रीमांके प्रति तबतक उद्घाटित और उन्मुख रहना चाहिये जबतक अन्दरसे कोई वस्तु विकसित न हो जाय।

*

एक शून्य पात्र बनना बड़ी अच्छी बात है यदि कोई शून्यता उपयोग करना जाने तो।

*

यदि यह महज शून्यता हो तो इसमें कुछ खराबी नहीं। शून्यता और पूर्णताका बारी बारीसे आना साधनामें अनुभवका एक बिलकुल सामान्य लक्षण है।

*

खालीपन (यदि इससे तुम्हारा मतलब विचारों, क्रियाओं इत्यादिकी निश्चलता और शून्यतासे हो तो वह) एक ऐसी आधारभूत अवस्था है जिसमें उच्चतर चेतना प्रवाहित हो सकती है।

*

खालीपनकी स्थिति पूर्ण ग्रहणशीलताके लिये सर्वोत्तम स्थिति है।

*

खालीपन मन, प्राण या उससे ऊपरके किसी भी स्थानसे आ सकता है।

*

रिक्तता साधारणतया चेतना या उसके किसी अंशकी सफाईके रूपमें आती है। चेतना या उसका कोई अश एक खाली पात्र जैसा हो जाता है जिससे उसमें कोई नई वस्तु ड़ाली जा सके। सबसे ऊची रिक्तता है आत्माकी विशुद्ध सत्ता जिसमें सब आविर्भाव सपन्न हो सकते है।

*

इस प्रकारकी शून्यता उच्चतर चेतनाका स्वभाव नही है, यद्यपि मानव प्राणको यह प्राय इस रूपमे उस समय दीखती है जब किसीको आत्माका शुद्ध साक्षात्कार होता है, क्योकि इसमे सब कुछ अचल होता है, और प्राणको सब निष्क्रिय वस्तुएं खाली लगती है। किंतु मन, प्राण या शरीरमें आनेवाली शून्यता एक विशिष्ट वस्तु है जो ऊपरसे आनेवाली वस्तुओके लिये स्थान खाली करनेके प्रयोजनसे आती है।

*

मानसिक या प्राणिक शून्यता आध्यात्मिक हो सकती है, भले ही वह उच्चतर चेतनाका मूल लक्षण न हो। यदि वह मूल लक्षण होती तो उच्चतर चेतनामें शक्ति, प्रकाश या आनन्द हो ही न सकता। उच्चतर शक्ति उच्चतर चेतनाको अन्दर लानेके लिये सारे आधारपर एक विशेप क्रिया करती है, शून्यता उस क्रियाका एक परिणाम-मात्र है यह आध्यात्मिकतासे रहित पूर्ण तमसूकी शुष्क और जड़ शून्यतासे विपरीत एक आध्यात्मिक शून्यता है।

*

शून्यता मनकी या प्राणकी अथवा उस संपूर्ण चेतनाकी निश्चल स्थिति है जो मन या प्राणकी क्रियाओंके संसर्गमें नही आई पर विशुद्ध सत्‌की ओर उद्‌घाटित है और "वही सत्" वन जानेके लिये तैयार है अथवा उसकी ओर उन्मुख है या वह वन ही चुकी है परन्तु अभी अपनी सत्ताकी पूर्ण शक्तिके साथ चरितार्थ नही हुई है। इनमें यह कौनसी स्थिति है यह व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है। कभी कभी आत्मिक स्थिति या विशुद्ध सत्‌की स्थिति भी शून्यता कहलाती है, किन्तु केवल इसी अर्थमें कि वह पुरुपकी एकमात्र अचल विश्रामकी ऐसी स्थिति है जिसका चल (क्षर) प्रकृतिके साथ किसी प्रकारका संपर्क नहीं है।

*

"अभाव" जैसी कोई वस्तु नही है। "शून्य" का आशय है ऐसी रिक्तता जिसमें विशुद्धि और निरी सत्ताके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु नही है। उसके विना कोई नीरव ब्रह्मका साक्षात्कार नही कर सकता।

*

खालीपन मुक्त, व्यापक और निश्चल-नीरव आत्माकी स्थिति है। मनको यह खाली प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः वह केवल विशुद्ध सत्-चित्‌की, शांतिमय सत्-चित्-की स्थिति है।

*

खालीपन अनेक प्रकारका हो सकता है — एक विशेष प्रकारका आध्यात्मिक खालीपन अथवा ऐसी रिक्तता जो नये अनुभवकी तैयारीरूप होती है। किन्तु प्राणिक ऊर्जाका समाप्त हो जाना विलकुल अलग वस्तु है। ऐसा थकावटसे, प्राण शक्तिको खींचनेवाले किसी व्यक्ति या वस्तुके कारण या तमस्‌के आक्रमणसे हो सकता है। पर मुझे समझ नहीं आता कि इसे अंग्रेजी भाषाके अध्ययनके साथ क्यों जोड़ना चाहिये और अध्ययनके समय ही होनेवाला क्यों मानना चाहिये।

*

शून्यताका सामान्य परिणाम है किसी प्राणिक विक्षोभको शांत करना यद्यपि वह मनकी वारंवार होनेवाली यान्त्रिक क्रियाको तवतक नही रोकती जवतक स्वयं पूर्ण नही हो जाती।

*

यदि शून्यता यथार्थ हो तो व्यक्ति उसमें वर्षोतक एक साथ विश्राम कर सकता है.—क्योंकि प्राण चचल और कामनाओंसे परिपूर्ण होता है (खाली नही) इसलिये शून्यता स्थिर नही रहती। भौतिक मन भी सर्वथा शांत नही होता। यदि कामनाओं-को बाहर फेंक दिया जाय और अहं कम सक्रिय हो जाय तथा भौतिक मन स्थिर हो जाय तो ज्ञान भौतिक मनकी मूर्खताओंमेंसे आनेके स्थानपर ऊपरसे आयेगा, प्राणिक-मन स्थिर और शात हो सकता है और श्रीमांकी शक्ति कामको अपने हाथमें ले सकती है तथा उच्चतर चेतना नीचे आना शुरू हो सकती है। यही है शून्यताका समुचित परिणाम।

*

यह सभव नही कि मैंने यह लिखा हो "केवल तुम ही निश्चल-नीरवताको शून्यताके रूपमे अनुभव करते हो", क्योंकि ऐसे बहुतसे व्यक्ति है जो प्रारंभमें इसका इस रूपमें अनुभव करते हैं। मनुष्यको इसका अनुभव शून्यरूपमें इसलिये होता है कि वह जीवनको विचार, वेदन और क्रियाके साथ अथवा रूपों और पदार्थोंके साथ जोड़ने-का आदी होता है, और उसमें इनमेसे कोई वस्तु नही होती। किन्तु यह वस्तुत: शून्य नहीं होता।

*

तुमने शक्तिके अवतरणके — कभी इसके द्वारा सब अंगोंके परिपूर्ण होनेके भी — विपयमे लिखा है, तो फिर यह "कभी नही" क्यों ? मेरा आशय यह बिलकुल नही था कि एक ऐसी यान्त्रिक प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा प्रत्येक बार जब भी शून्यता आती है तो उसके साथ रिक्त स्थान भी पूरी तरहसे भर जाता है। यह साधनाकी स्थिति पर आधार रखता है। अवतरण होनेसे पहले शून्यता बारंबार आ सकती है या देरतक ठहर सकती है — उसे पूर्ण करनेवाली वस्तु निश्चल-नीरवता और शांति और शक्ति या ज्ञान हो सकते है और वे केवल मनको अथवा मन और हृदयको या मन, हृदय एव प्राणको अथवा सबको पूर्ण कर सकते हैं। किन्तु इन दो प्रक्रियाओंके विपयमें कोई वस्तु स्थिर और यंत्रवत् नियमित नही है।

*

योगका सर्वप्रथम स्वाभाविक लक्ष्य है सत्ताकी निश्चल-नीरवता। 'क्ष' और कुछ अन्य लोग इससे संतुष्ट नही हो पाते क्योंकि उन्होंने उस प्राणिक मनपर विजय प्राप्त नही की जो चाहता है सदा ही किसी प्रकारकी प्रवृत्ति, परिवर्तन, कुछ करना, किसी घटनाका होना। वह नीरव ब्रह्मकी अनादि अचलताका आस्वाद नही ले सकता।

इसलिये जब शून्यता आती है तो वह उसे शुष्क, जड़ और एकरस लगती है।

*

निश्चय ही, शून्य अवस्थामें प्राणकी अभिरुचि नही हो सकती। यदि तुम अपने प्राणपर आधार रखो तो इस अवस्थाको देरतक नहीं टिका सकते। मानसिक और अन्य प्रवृत्तियोंसे शून्य इस नीरवतामें आत्मा ही मुक्तिका अनुभव करता है, क्योंकि इस नीरवतामें ही उसे आत्म-ज्ञान होता है। "शून्यताकी यथार्थता" के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति पुरुष या साक्षी-चेतनामें प्रवेश कर चुका हो। तुम यदि उसे मन या प्राणसे देख रहे हो तो वह शून्यता है ही नही, क्योंकि कोई प्रकट विचार न होनेपर भी उसमें मानसिक वृत्ति या मानसिक स्पन्दन होते ही हैं — उदाहरणार्थ अरुचिका अनुभव।

*

इसका कोई कारण नही कि खालीपन एक नीरस या असुखकर अवस्था हो ही। साधारणतया यह मन और प्राणकी आदत है कि वे सुख या अभिरुचिको प्रवृत्तिके साथ जोड़ देते हैं, पर आध्यात्मिक चेतनामें ऐसी सीमाएं नहीं होतीं।

*

मैं वस्तुतः नहीं समझा कि तुम किस प्रकारका हर्ष चाहते हो। सभी अनुभवोंके साथ हर्ष नहीं रहता। रुचिकी बात दूसरी है।

*

स्थूलसत्ताकी यह प्रवृत्ति है कि वह शून्यताके स्थानपर अपनी जड़ताको ला बिठाती है। सच्ची शून्यता है अनादि आत्माकी विश्रांति, स्थिरता, शांति जिसे मैंने आर्यमें 'शम' कहा है जो अन्तमें तमस्, भौतिक जड़ताका स्थान ग्रहण करता है। जैसे तपस् अर्थात् दिव्य शक्ति विकृत होकर रजस् बन जाती है उसी प्रकार शम विकृत होकर तमस् बन जाता है। जैसे प्राण नित्य ही दिव्य शक्तिकी सच्ची क्रियाके स्थानपर अपने रजोगुणको लानेकी चेष्टा करता रहता है ठीक उसी प्रकार भौतिक चेतना सदैव सच्ची चेतनाकी स्थिरता, शांति अथवा विश्रांतिके स्थानपर अपनी जड़ताको स्थापित करनेका यत्न करती रहती है।

*

स्थूलसत्ता रिक्ततासे कभी ऊबती नही। जड़ताकी ओर स्वयं अपने झुकावके कारण वह अपनेको तामसिक तो अनुभव कर सकती है, पर साधारणतया उसे शून्यताके प्रति कोई आपत्ति नही होती। निश्चय ही यह प्राणमय स्थूलसत्ता हो सकती है। तुम्हे बस इसका पुरानी क्रियाओंके अवशेष के रूपमें त्याग करना होगा।

*

साधनाके मार्गमे ऐसी रिक्तताकी, "उदासीन अचंचलता" की स्थिति प्रायः आती है — विशेषत: जब साधना भौतिक चेतनामें हो रही होती है। यह नहीं कि अभीप्सा समाप्त हो जाती है पर कुछ समयके लिये वह प्रत्यक्ष नही होती, क्योंकि सब कुछ उदासीन होकर निश्चल हो जाता है। यह अवस्था मानवमन और प्राणके लिये कष्टदायक होती है क्योकि वे सदा ही किसी प्रवृत्तिमें लगे रहनेके आदी होते हैं और इसे एक निर्जीव स्थिति मान लेते हैं। किंतु इससे किसीको विक्षुब्ध या निराश नही होना चाहिये परन्तु उसे इस विश्वासके साथ स्थिर रहना चाहिये कि यह केवल एक ऐसी मंजिल है, ऐसा रास्ता है जिसे साधनामें पार करना होता है। चाहे जो भी स्थिति आये, हमें मनके सामने श्रद्धा और समर्पणका दृढ़ विचार बनाये रखना चाहिये। जहां तक चंचलताकी अल्पकालीन क्रियाओंका प्रश्न है, इस विचारको बनाये रखनेपर वे शांत हो जायेंगी और शांत मन तथा प्राण शीघ्र ही फिरसे अपने अधिकारपर दृढ़ हो जायेंगे।

*

रिक्तता साक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये एक अवस्था मात्र है। उसके लिये यदि अभी अभीप्साकी जरूरत हो तो उसका प्रयोग करना चाहिये; यदि साक्षात्कार स्वयं आये, तो अभीप्साकी आवश्यकता नही।

*

जिस "स्थिति" की बात मैं कह रहा था वह रिक्तता नही थी पर कोई अन्य वस्तु थी — तुम्हारे पत्रमें लिखे उद्धरणके संदर्भसे मैं समझ गया कि यह एक ऐसी "स्थिति है जिसमें अभीप्साकी जरूरत नही।" यह स्थिति शून्यता नही है परन्तु एक ऐसी स्थिति है जिसमें श्रीमाँकी शक्ति चेतनाके सामने उपस्थित है और सब कुछ कर रही है।

*

सब प्रकारके साक्षात्कार — असीम आत्मा, वैश्व-चेतना, श्रीमाँकी उपस्थिति, प्रकाश, शक्ति, आनन्द, ज्ञान, सच्चिदानन्दका साक्षात्कार, अतिमानसतक चेतनाके विभिन्न स्तर — उस निश्चल-नीरवतामें प्राप्त हो सकते है जो लगातार बनी रहती है पर शून्य नही होती।

*

शून्यताके हट जानेके बाद भी नीरवता स्थिर रह सकती है। सब तरहकी चीजों-के अन्दर आनेपर भी नीरवता बनी रह सकती है, यदि तुम शक्ति, प्रकाश, आनन्द, ज्ञान, इत्यादिसे परिपूर्ण हो जाओ तो फिर अपनेको शून्य नही कह सकते।

*

यदि यह आध्यात्मिक शून्यता है तो तुम इसे साधनामें बाधक नही अनुभव करोगे।

*

तुम जिस अवस्थाका वर्णन करते हो वह तुम्हारी वही उदासीन अवस्था है जो पहले भी आई थी। यह संक्रमणकी एक ऐसी स्थिति है जिसमें पुरानी चेतनाकी सक्रियता बन्द हो गई है, नई चेतना उदासीन अचंचलताके पीछे तैयार हो रही है। हमें इसे शांतिसे ग्रहण करना चाहिये और तबतक प्रतीक्षा करनी चाहिये जबतक वह उस आध्यात्मिक शांति और चैत्य-प्रसन्नतामें न बदल जाय जो प्राणिक हर्ष और शोक-से बिलकुल भिन्न होती है। न तो प्राणिक हर्ष हो और न प्राणिक शोक — यह एक ऐसी मुक्त अवस्था है जिसे योगीजन अति स्पृहणीय मानते हैं,—इसके द्वारा हमारे लिये सामान्य मानव प्राणके भावोंसे सच्ची और सतत आंतरिक शांति, हर्ष या सुखकी ओर जाना संभव हो जाता है। मैं समझता हूँ कि इस समय तुम्हारे पास ध्यानमें बैठनेके लिये समय नही है। यह निद्राका दबाव तुम्हें अंतर्मुख होनेको प्रेरित करता है और ध्यान करनेका अभ्यास आनेवाली निद्राको एक प्रकारकी ऐसी निद्रा-समाधिमें बदल सकता है जिसमें मनुष्य अनेक प्रकारके अनुभवों और आंतरिक सत्ताकी प्रगतियोंके विषयमें सचेतन होता है।

*

तुम जिस स्थितिका अनुभव करते हो वह साधनाकी एक सुपरिचित अवस्था है। यह एक प्रकारके मध्यवर्ती मार्ग या संक्रमणकी अवस्था है, एक अन्तर्मुख स्थिति है जो विकसित हो रही है किन्तु अभी पूरी नही हुई है — ऐसे समय बोलना या अपनी शक्ति-

को बाहर फेकना कष्टदायक होता है। आवश्यकता इस बातकी है कि व्यक्ति सारे समय अचचल और अन्तर्मुख रहे जबतक कि यह क्रिया पूर्ण न हो जाय,—व्यक्तिको उस समय बोलना नही चाहिये या केवल थोड़ा या शांत स्वरसे ही बोलना चाहिये, न ही मनको बाह्य वस्तुओंमें लगाना चाहिये। लोग क्या कहते हैं या क्या पूछते हैं इसकी भी परवाह नही करनी चाहिये, यद्यपि वे लोग साधना कर रहे हैं, तो भी वे इन अवस्थाओंके संबंध-मे कुछ नही जानते और यदि कोई व्यक्ति शांत हो जाए या अपनेको पीछे हटा ले तो वे सोचते हैं कि वह अवश्य उदास या बीमार है। माताजीको यह जरा भी नहीं लगा कि तुम उस प्रकार उदास या बीमार हो; यह केवल साधनाका एक पहलू या साधनाकी एक अस्थायी अवस्था है जिसका उन्हें अनुभव है और जिसे वे खूब अच्छी तरह जानती है

यह अवस्था प्राय कई दिनोंतक और कभी कभी तो बहुत दिनोंतक रहती है जबतक कोई निश्चित वस्तु प्रारंभ नही हो सकती। भरोसा रखो और शांत बने रहो।

VII

योगियोने जो सामान्य नियम बताया है वह यह है कि मनुष्यको साधनाकालमें अपने अनुभवोंके संबंधमें, निस्सन्देह गुरुके सिवाय, अन्य लोगोंको नहीं कहना चाहिये, क्योकि यह कथन अनुभवको व्यर्थ कर देता है, वे कहते हैं कि इससे तपस्याका क्षय होता है। वे केवल बहुत पुराने अनुभवोंकी ही चर्चा करते हैं और उनकी भी बहुत खुलकर नही।

*

जो प्रकाश तुम्हें मिला था उसके तिरोहित होनेका कारण यह है कि तुमने अपने इस अनुभवकी चर्चा किसी ऐसे व्यक्तिसे कर दी जो इसका अधिकारी नहीं था। सबसे अधिक सुरक्षित तो यह है कि गुरुको या जो तुम्हारी सहायता करनेमें समर्थ हो उसे छोड़कर और किसीसे इन अनुभवोंकी चर्चा न की जाय। ऐसा प्रायः होता है कि दूसरों-को बतानेके साथ ही अनुभवकी समाप्ति हो जाती है और इस कारण कई योगी यह नियम बना लेते हैं कि उनके भीतर जो कुछ हो रहा है वे उसकी चर्चा कभी किसीसे नहीं करते, जब तक कि वह भूतकालकी ही चीज न बन जाय, या ऐसी दृढ़ उपलब्धि न हो जाय, जो किसी तरह अपहृत न हो सके। सुप्रतिष्ठित स्थायी उपलब्धि बराबर टिकती है, परन्तु ये तो उस श्रेणीके अनुभव थे जिनके आनेका प्रयोजन चेतनाको किसी पूर्णतर अनुभवके प्रति खोलना, उसे उपलब्धिके लिये तैयार करना होता है।

मैं समझता था यह तो तुम समझते ही होगे कि लोगोंके विषयमें मैंने तुम्हें जो कुछ लिखा था वह गोपनीय है। यदि किसी व्यक्तिको अपने या अन्य किसीके अनुभव मालूम हों तो उसे उन अनुभवोंको बातचीत या गपशप का विषय नहीं बनाना चाहिये। यदि इससे अन्य लोगोंको आध्यात्मिक लाभ हो सकता हो और वह भी यदि अनुभव भूतकालके हो गये हों तभी व्यक्ति उनकी चर्चा कर सकता है अन्यथा वह चर्चा एबीसीनिया या स्पेनकी खबरोंकी तरह जनसाधारणके प्राणिक मनके लिये चाबने या जुगाली करने जैसी सामान्य और तुच्छ वस्तु बन जाती है।

*

यदि तुम हर्षको सुरक्षित रखना चाहते हो तो अन्य लोगोंसे इसकी चर्चा न करना ही बुद्धिमत्ता होगी। बाहर चर्चा करनेपर बातोंको पंख लग जाते हैं और वे निकल भागनेकी चेष्टा करती हैं।

*

तुम्हारे अनुभवोंके विषयमें क्या लिखा गया है यह बताना या अपने अनुभवोंको अन्य लोगोंसे कहते फिरना हमेशा खतरेसे भरा होता है। उन्हें अपने तक ही सीमित रखना अधिक अच्छा है।

*

सामान्यज्ञानकी बात दूसरी है, इसका सम्बन्ध बुद्धिसे है और बुद्धिको शिक्षणकी बौद्धिक प्रवृत्तिसे लाभ ही होता है। अपिच यदि योगमें विषयसंबंधी अपने मानसिक ज्ञानको बौद्धिक रूपसे प्रदान करनेकी ही बात होती तो शायद यह नियम लागू हो सकता, परन्तु, यह मानसिक पक्ष योगका एक छोटासा अंशमात्र है। योगमें एक अधिक जटिल वस्तु भी है जो इसका अधिक बड़ा हिस्सा है। दूसरोंको योग सिखाते समय व्यक्ति कुछ हदतक ऐसा गुरु बन जाता है जिसके अनेक शिष्य हों। योगी सदा यह कहते आये है कि शिष्यको ग्रहण करनेपर मनुष्य अपनी कठिनाइयोंके साथ-साथ शिष्योंकी कठिनाइयोंको भी अपने ऊपर ले लेता है — इसीलिये यह सलाह दी जाती है कि जबतक मनुष्य सिद्ध न हो जाय, उसमें भी जबतक उसे ऐसा करनेका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार, जिसे रामकृष्ण चपडास पाना कहते थे — न मिल जाय तबतक उसे शिष्योंको स्वीकार नहीं करना चाहिये। दूसरे अहंकारका भी एक खतरा है — जब कोई इससे मुक्त हो तब यह आपत्ति उसके साथ लागू नहीं होती। इसके अलावा और प्रश्न भी है और वह है अपने अनुभवोंके विषयमें दूसरोंसे चर्चा करना। इसके अंबंधमें भी योगियोंने अत्यधिक निरुत्साहित किया है — वे कहते हैं कि यह साधनाके लिये हानिकारक

विभाग दो

अन्तर्दर्शन और प्रतीक

अन्तर्दर्शन और प्रतीक

सभी सूक्ष्म दर्शनोंका एक-न-एक प्रकारका अर्थ होता है। सूक्ष्म दर्शनकी यह शक्ति योगके लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण है और इसका त्याग नहीं करना चाहिये, यद्यपि यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु नही है — क्योंकि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है चेतनाका परिवर्तन। इस सूक्ष्म दर्शनकी तरह अन्य सभी शक्तियोंको बिना किसी आसक्तिके योगके अंग और सहायकके रूपमें विकसित करना चाहिये।

*

अन्तर्दर्शन कोई अनिवार्य वस्तु नही है — यदि वे ठीक ढंगके हों तो सहायक होते हैं, बस इतना ही।

*

जब अन्तर्दर्शन विशुद्ध और वाणियां यथार्थ हों तो उनका अपना स्थान अवश्य होता है। स्वभावत: ही वे साक्षात्कार न होकर योगके रास्तेपर एक पगमात्र होते है, और मनष्यको उनमें बद्ध नही हो जाना चाहिये और उन सभीको मूल्यवान् नही समझना चाहिये।

*

तुमने जिन सूक्ष्म दर्शनोंका वर्णन किया है वे सब साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें प्राप्त होते है। इस अवस्थामें जो सब दृश्य ध्यानमें दिखायी देते हैं वे मानसिक स्तरकी रचनाएं होते हैं और उन्हें कोई सुनिश्चित अर्थ प्रदान करना सर्वदा संभव नहीं होता, क्योंकि वे साधकके व्यक्तिगत मनपर निर्भर करते हैं। उसके बादकी अवस्थामें जानेपर ही सूक्ष्म दर्शनकी शक्ति साधनाके लिये महत्त्वपूर्ण होती है; परन्तु आरंभमें — जबतक कि चेतना अधिक विकसित नहीं हो जाती — साधकको बस आगे बढ़ते जाना चाहिये, उसे ब्योरेकी बातोंको अत्यधिक महत्त्व नही देना चाहिये। योगके लिये सर्वदा एकमात्र आवश्यक बात है चेतनाको भागवत ज्योति, सत्य और उपस्थितिकी ओर खोले रखना।

*

जैसी ज्योतियोकी बात उसने अपने पत्रमें लिखी है वैसी ज्योतियोंको अक्सर देखना साधारण तौरपर इस बातका चिह्न होता है कि द्रष्टा अपनी बाह्य उपरितलीय अथवा जाग्रत् चेतनासे सीमित नही है बल्कि जिस आंतरिक चेतनाके विषयमें अधिकांश लोग अनजान होते है और जो योगाभ्यास करनेपर खुलती है, उसकी अनुभूतियोंके अदर पैठनेकी एक गुप्त क्षमता (जो प्रशिक्षण और अभ्यासके द्वारा पूर्ण बनायी जा सकती है) वह रखता है। यह उद्घाटन होनेपर साधक अनुभवके सूक्ष्म स्तरों तथा जड-स्थूलसे भिन्न लोकके अतिरिक्त सत्ताके अन्य जगतोंके विषयमें अवगत होता है। आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करनेके लिये अंतरतम चेतनाकी ओर होनेवाले एक और उद्घाटनकी आवश्यकता होती है जिससे मनुष्य आत्मा और ब्रह्म, शाश्वत परमतत्त्व और भगवान्के विषयमें सचेतन होता है।

*

अन्तर्दर्शन आध्यात्मिक भूमिकासे नही आते — परन्तु सूक्ष्म भौतिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्य अथवा मनसे ऊपरकी भूमिकाओंसे आते है। आध्यात्मिक भूमिकासे आनेवाले अनुभव भगवान्से सम्बद्ध होते हैं, उदाहरणार्थ, सर्वव्यापी आत्माका अनुभव, सबमें विराजमान भगवान्का अनुभव आदि आदि।

*

अंतर्दर्शन और अनुभव (विशेषकर अनुभव) अपने-आपमें बिलकुल ठीक है, परंतु तुम प्रत्येक अंतर्दर्शनसे यह आशा नही कर सकते कि वह अपने समानांतर भौतिक तथ्यको भी पैदा कर दे। कुछ करते है और अधिकाश नहीं। शेष पूर्णतया अतिभौतिक स्तरके होते है और उसीसे संबधित सत्यों, संभावनाओं एवं प्रवृत्तियोंका निर्देश करते है। ये कहांतक जीवनको प्रभावित करेंगे अथवा उसमें चरितार्थ होंगे अथवा वे ऐसा करेंगे भी या नही यह सब दर्शन-विशेषकी प्रकृति, उसकी शक्ति तथा कभी-कभी योगीके संकल्प अथवा उसकी सर्जन-शक्तिपर निर्भर करता है।

लोग इन दर्शनोका मान इसलिये करते है क्योंकि ये अन्य जगतोंसे एवं आंतरिक जगतोंसे और जो कुछ भी वहां है उससे संपर्क प्राप्त करनेकी एक कुंजी है यद्यपि इसके अतिरिक्त अन्य कुंजियां भी है। ये क्षेत्र हमारे वर्तमान भौतिक स्तरकी अपेक्षा अत्यधिक वैभवपूर्ण हैं। वहां व्यक्ति एक वृहत्तर तथा अधिक स्वतंत्र आत्मसत्तामें तथा एक अधिक नमनीय वृहत्तर संसारमें प्रवेश करता है। निश्चय ही इकले-दुकले अंतर्दर्शनोंसे केवल संपर्क ही प्राप्त होता है, वास्तविक प्रवेश नही, परतु दर्शनकी शक्ति अन्य सूक्ष्म इन्द्रियों (स्पर्श, श्रवण आदि) की शक्तिके साथ विकसित होकर प्रवेश भी करा देती है। अंत-र्दर्शनोंका प्रभाव केवल कल्पना का-सा नही होता (जैसा कि एक कवि अथवा कलाकार की कल्पनाका, यद्यपि वह काफी शक्तिशाली भी हो सकती है)। परंतु यदि उनका

पूर्णतया निर्वाह हो सके तो वे सत्ताका, चेतना तथा उनके अनुभवोंकी गतिका और उसकी क्षमताका निरंतर विकास करते हैं।

लोग अंतर्दर्शनोंका मान एक महत्तर हेतुसे भी करते हैं। ये भगवान् तथा उसके रूपों और शक्तियोंका पहला संस्पर्श प्रदान करते हैं, ये भगवान्के साथ अन्तर्भाषणका प्रारंभ होते हैं, उस पथ-निर्देशक वाणीका, हृदयमें उसकी उपस्थिति एवं उसके प्रतिबिंब और अन्य बहुत-सी वस्तुओंका, जिन्हें मनुष्य धर्म और योगद्वारा खोजता है, ये सूत्रपात करते हैं।

साथ ही अंतर्दर्शन इसलिये भी मूल्यवान् है क्योंकि बहुधा ये, जगतों तथा चैत्य चेतनाके स्तरोंको खोलनेके लिये भी पहली कुंजी होते हैं। यौगिक अनुभव बहुधा मस्तकमें एक तीसरे नेत्र (भौंहोंके बीचमें स्थित अंतर्दर्शनके केंद्र) के खुलनेसे अथवा एक सूक्ष्म दृष्टिके आरंभ एवं विकाससे शुरू होते हैं। यह दृष्टि आरंभमें भले ही अविशेष लगे पर यही गहनतर अनुभवोंकी प्रवेशभूमिका बनती है। जब ऐसा न भी हो —क्योंकि व्यक्ति इसके बिना भी अनुभव प्राप्त कर सकता है — तो यह दृष्टि बादमें अनुभवोंकी एक सशक्त सहायिकाके रूपमें प्रकट हो सकती है। यह उन निर्देशों एवं संकेतोंसे पूर्ण हो सकती है जो आत्म-ज्ञान तथा वस्तुओं एवं लोकोंके ज्ञानमें सहायक हो सकते हैं। यह तथ्य-ज्ञानयुक्त होकर पूर्वदर्शनों (previsions) एवं पूर्वसंकेतों (premonitions) तथा दूसरे अल्प महत्त्वके पर एक योगीके लिये अत्यंत लाभदायक सूत्रोंके प्रकट होनेका कारण बन सकती है। संक्षेपमें अंतर्दर्शन पूर्णतया अनिवार्य न होते हुए भी एक बहुत बड़ा साधन है।

किन्तु जैसा मैंने बताया है, अन्तर्दर्शन कई प्रकारके होते हैं, ठीक उसी तरह जैसे स्वप्न कई प्रकारके होते हैं। इनको पहचाननेके लिये व्यक्तिको अपने अन्दर विवेक और मूल्यांकनकी क्षमता उत्पन्न करनी पड़ती है और यह जानना और समझना पड़ता है कि वह इन शक्तियोंका उपयोग किस प्रकार करे। पर यह एक अत्यंत विस्तृत एवं गहन विषय है और यहां इसकी समीक्षाका अवसर नहीं।

•

अंतर्दर्शनका पथ रोककर उसने भूल की। अंतर्दर्शन और भ्रममूलक दर्शन (hallucination) एक चीज नहीं है। देहबद्ध मनके परे स्थित चेतनाके उच्चतर लोकोंमें यह अंतर्दृष्टि एक खुला दरवाजा है जो बृहत्तर सत्य और अनुभूतिको प्रवेशका और हमारे मन पर प्रभाव डालनेका अवकाश देता है। यही एकमात्र या सर्वश्रेष्ठ दरवाजा है ऐसी बात नहीं, परन्तु अधिकतरको नहीं तो बहुतसे लोगोंको यही सबसे ज्यादा शीघ्रतासे प्राप्त होता है और यह बहुत समर्थ सहायक हो सकता है। बुद्धिप्रधान व्यक्तियोंको यह उतनी आसानीसे नहीं मिलता, जितनी आसानीसे उन्हें मिलता है जिनकी प्राणशक्ति प्रबल है या जो भावप्रवण या कल्पनाप्रवण हैं। यह सही है कि मानव मनके अन्य प्रत्येक कार्यक्षेत्रकी भांति अंतर्दृष्टिका क्षेत्र भी एक मिश्र दुनिया

है; उसमें सत्य है तो अर्ध-सत्य और असत्य भी कम नहीं है। यह भी सही है कि यदि अधीर और अविवेकी व्यक्ति उसमें प्रवेश करे तो उसे विभ्रम हो सकता है और भ्रामक प्रेरणाएं, मिथ्या ध्वनियां आदि प्राप्त हो सकती है। ऐसी अवस्थामें उन लोगोंसे जिन्हें आध्यात्मिक और आंतरात्मिक अनुभूति प्राप्त है निश्चित निर्देश लेना अधिक सुरक्षित है। इस क्षेत्रकी ओर स्थिरता और विवेकपूर्वक देखना चाहिये परंतु इसके द्वार वन्द कर देने और इसे तथा इसी श्रेणीके अन्य अतिभौतिक अनुभवोंका वर्जन करनेका अर्थ अपनेको सीमाबद्ध करना और आंतरिक विकासकी प्रक्रियाको रोक देना होगा।

कर्मयोगकी राह ही उसके स्वभावके अनुरूप मालूम होती है। इसलिये उसका गीताकी शिक्षाके अनुसार चलनेका प्रयत्न सही है। क्योंकि इस राहमें गीता ही उत्कृष्ट पथप्रदर्शक है। वैयक्तिक इच्छा और अहंकारकी गतियोंसे मुक्ति, जो सर्वोत्तम प्रकाश अपने पास है उसका निष्ठापूर्वक अनुगमन इस यात्राकी प्रारंभिक तैयारी है, और जहांतक उसने इन दो बातोंको साधा है, वह सही मार्गपर है। परंतु अपने कार्यके लिये शक्ति और प्रकाशकी मांगको अहंकारमूलक चेष्टा नही मानना चाहिये, क्योंकि वे तो अपने आंतरिक विकासके लिये आवश्यक हैं।

नि.संदेह, अधिक विधिवद्ध और गभीरतर साधना अभीष्ट है, या, कम-से-कम सुस्थिर अभीप्सा तथा केंद्रीय उद्देश्यमें ही निरंतर नियुक्त रहनेका प्रयत्न तो चाहिये ही। इतना हुआ तो बाहरकी वस्तुओं और कार्योंमें व्यापृत रहनेपर भी सुप्रतिष्ठित तटस्थताकी प्राप्ति हो सकती है और बरावर पथका निर्देश मिलता रह सकता है। योगके इस मार्गमें,—मैं कर्म (या आध्यात्मिक कर्म) के पृथक् पथकी बात कह रहा हूँ — कर्मयोगमें सफलताका, सिद्धि या पूणताका आरंभ तो तब होता है जब साधकको अपने कर्मजीवनके नियंताकी और उसके निर्देशकी उज्ज्वल परिचिति होने लगे, और उसे यह अनुभूति हो कि काम तो भागवत शक्ति कर रही है; वह स्वयं तो यंत्रमात्र है, दिव्य कर्ममें सहयोगी है।

*

आध्यात्मिक वस्तुओंके विषयमें तुम्हारा दृष्टिबिंदु बहुत उपयोगितावादी है। साधनामें विकसित होनेवाली वस्तु यदि यथार्थ हो तो समग्र अनुभव और ज्ञानमे उसका अपना स्थान होता है। गुह्य जगतों और गुह्य शक्तियों तथा व्यापारोंके ज्ञानका भी अपना स्थान है। सूक्ष्मदर्शन और वाणियां गुह्य अनुभूतिके उस विशाल प्रदेशका एक छोटासा अंशमात्र हैं। जहांतक उपयोगिताका प्रश्न है, बुद्धि और विवेकवाले व्यक्तिके लिये अन्तर्दर्शन इत्यादि चीजोंके अनेक उपयोग हैं — किंतु जिन लोगोंके पास विवेक या बोधशक्ति नहीं होती उनके लिये यह बहुत कम उपयोगी हैं।

*

मुझे मालूम नही कि क्रियात्मक साधनासे तुम्हारा क्या अभिप्राय है। यदि कोई व्यक्ति गुह्य क्षमता और गुह्य-अनुभव एवं ज्ञानको विकसित कर ले तो ये चीजें उसके लिये बहुत उपयोगी, परिणामतः व्यावहारिक हो सकती है। अपने आपमें वे आंतर चेतनाके उद्‌घाटनका एक अंश होती हैं तथा उसे और अधिक खोलनेमें सहायक भी — यद्यपि वे उद्‌घाटनके लिये अनिवार्य नही है।

*

प्रगतिसे तुम्हारा क्या आशय है? श्रीमांने गुह्य लोकोंमें प्रवेश करने और वहां सीखने योग्य वस्तुओंको सीखनेमें अनेक वर्ष लगाये। इस सारे समय क्या वे प्रगति नही कर रही थी? माताजी जबतक समाधिमें होती है तो सदैव उन लोकोंकी वस्तुओंको देखती है। क्या उनकी इस क्षमताका कोई मूल्य नही? क्योंकि बहुतेरे लोग अपनी शक्तियोंका उपयोग करना नही जानते या उनका दुरुपयोग करते हैं अथवा उन्हें जरूरतसे ज्यादा महत्व देते है या उनके द्वारा अपने अहंकारको पुष्ट करते हैं तो क्या इसका यह परिणाम निकलता है कि स्वयं इन शक्तियोंका ही योगमें कोई उपयोग या मूल्य नहीं है?

*

यह (गुह्य शक्तिका विकास) स्वयं चेतनाके विकासकी प्रगतिका सूचक है यद्यपि यह संभव है कि उसमें प्रकृतिको आध्यात्मिक बनानेकी कोई क्षमता न हो।

*

जिन लोगोंमें गुह्य-शक्ति होती है उनमें सदा ही उसे बहुत बड़ा महत्व देनेकी प्रवृत्ति होती है।

*

वे (र०म०) अपने शिष्योंको (गुह्य शक्तिके साथ किसी प्रकारका संबंध रखनेसे) अनुत्साहित करते थे क्योंकि उनका लक्ष्य था आंतर आत्माका साक्षात्कार और संबोधिकी उपलब्धि — दूसरे शब्दोंमें आध्यात्मिक मनकी पूर्णता — सूक्ष्म दर्शन और अंतर्ध्वनियां आंतर गुह्य इन्द्रियसे संबंध रखती हैं, इसलिये वे चाहते थे कि शिष्यगण इसपर बल न दें। मैं भी कुछ लोगोंको अंतर्दर्शन और वाणियोंके साथ किसी प्रकारका संबंध रखनेसे निरुत्साहित करता हूँ क्योंकि मैं देखता हूँ कि वे मिथ्या दर्शन और मिथ्या वाणियोंके कारण भटक रहे हैं। इसका अर्थ यह नही कि सूक्ष्म दर्शनों और वाणियों-

का कोई महत्व नही।

*

अन्तर्दर्शन सब स्तरोंसे आते है और सब तरहके होते है और उनके मूल्य भी विभिन्न प्रकारके होते हैं। कुछ दर्शन अतीव मूल्यवान् और महत्वपूर्ण होते है, अन्य मन या प्राणकी लीलारूप होते है और केवल अपने विशेप प्रयोजनके लिये ही उपयुक्त होते है, अन्य कुछ मन और प्राणस्तरके सर्जन होते हैं। इनमेंसे कुछमें सत्य हो सकता है, जब कि अन्य मिथ्या और पथभ्रष्ट करनेवाले होते है अथवा उस भूमिकाकी अपनी एकप्रकारकी कारीगरीके नमूने होते है। प्रारभिक योग-चेतनाके, अर्थात् आंतरमन, आतरप्राण, आतरभौतिक चेतनाके विकासके लिये या विश्वके गुह्य-ज्ञानके लिये उनका पर्याप्त महत्व हो सकता है। यथार्थ अंतर्दर्शन आध्यात्मिक उन्नतिमे मदद दे सकते है, मेरा मतलब उन अन्तर्दर्शनोसे है जो आन्तरिक सत्य वस्तुओंको दिखलाते है: उदाहरणार्थ एक आतरिक 'यथार्थ' अंतर्दर्शनमें व्यक्तिका कृष्णसे मिलन हो सकता है, वह उनसे वातचीत कर सकता है एव उनकी आवज सुन सकता है ठीक उतने ही वास्तविक रूपमे जैसे वाह्य जगतमे किसीसे मिलन होता है। केवल उनकी मूर्तिका देखना वही वात नही है, ठीक वैसे ही जैसे कि दीवारपर लगे उनके चित्रको देखना उनसे प्रत्यक्ष मिलन नही है। परन्तु दीवारपर लगे चित्रका आध्यात्मिक जीवनके लिये अनुपयोगी होना जरूरी नही है। मनुष्य केवल यही कह सकता है कि भगवान्‌की दी हुई इस देनके साथ ओर इसके द्वारा दिखाई देनेवाली वस्तुओंके साथ व्यक्तिको वहुत अधिक आसक्त नही हो जाना चाहिये, किंतु इसे तुच्छ भी नही मानना चाहिये। इसका भी मूल्य है और कभी-कभी यह आध्यात्मिक रूपमें उपयोगी वस्तु होती है। किंतु स्वभावतया यह चरम वस्तु नहीं है -- चरम वस्तु है साक्षात्कार, भगवान्‌से संवंध, मिलन, भक्ति, प्रकृतिका परिवर्तन इत्यादि।

*

ये प्रकाश और अन्तर्दर्शन भ्रांतियां नही है। ये उस आंतरिक दृष्टिके खुलनेके द्योतक है जिसका केन्द्र माथेमें भौहोंके वीचमे है। सवसे पहले वहुधा ज्योतियां दीखती है। ज्योतियां सत्ताके विभिन्न स्तरोंसे सबंध रखनेवाली सूक्ष्मशक्तियोंकी क्रिया या गतिको सूचित करती है — शक्तिका स्वरूप प्रकाशके रंग और उसकी विशेप आभा-पर आधार रखता है। सूर्य आंतरिक या उच्च सत्यका प्रतीक या बल है; ध्यानमें इसे देखना एक अच्छा लक्षण है। समुद्र भी प्राय: प्रतीकात्मक होता है जो साधारणत: प्राणिक-प्रकृति, कभी-कभी गतिशील चेतनाके विस्तारका निर्देश करता है। दृष्टिके उन्मीलनको अवश्य विकसित होने देना चाहिये, किंतु व्यक्तिगत अंतर्दर्शनोंको तबतक वहुत महत्व नही देना चाहिये जवतक वे स्पष्ट ही प्रतीकात्मक या अर्थपूर्ण न हों अथवा

साधनामें आनेवाली वस्तुओंपर प्रकाश न डालते हों।

*

अन्तर्दर्शन और वाणियोंका उद्देश्य श्रद्धा पैदा करना नहीं, वे केवल तभी प्रभावोत्पादक होते है जब मनुष्यमें पहलेसे ही श्रद्धा हो।

*

नहीं, न यह दृष्टिभ्रम था न ही मतिभ्रम या दैव-योग अथवा स्वत: सूचन और न ही कोई भारीभरकम निस्सार शब्दाडम्बर जिसके द्वारा भौतिक विज्ञान उन वस्तुओंकी जैसे-तैसे व्याख्या करनेकी या बल्कि उनसे बचनेकी चेष्टा करता है जिनकी व्याख्या वैज्ञानिक रूपसे नहीं हो सकती। इन मामलोंमें वैज्ञानिक सदैव वही कुछ कर रहा है जिसके लिये वह प्राकृत जनको प्राय: दोष देता रहता है। सामान्य व्यक्ति जिन वस्तुओंके विषयमें गभीर रूपसे अनभिज्ञ होता है उनके संबंधमें बिना किसी खोज या परीक्षणके, बिना किसी निर्णीत ज्ञानके — केवल अपने मनमे उत्पन्न एक सिद्धांत या "प्रथम" विचारको विकसित करके और उसे उस व्याख्यासे परेके व्यापार पर लेबलके रूपमें चिपका कर नियम निर्धारित करता है।

जैसा मैंने कहा कि बाह्य व्यापारोंसे भिन्न संवेदनका वहन करनेवाले व्यापारोंकी एक पूरीकी पूरी शृंखला या अनेक असीम शृंखलायें है जिनके विषयमें हम या तो समाधिमें या निद्रामें अथवा उस अंतर्मुख अवस्थामें जिसे हम भूलसे निद्रा कहते हैं या केवल और सहज जाग्रत स्थितिमें सचेतन हो सकते हैं – नवीन प्रचलित अमरीकी मुहावरेका प्रयोग करें तो जिन्हें हम देख सकते है, सुन सकते है, अनुभव कर सकते है, सूंघ सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं, और जिनके साथ मानसिक रूपसे संपर्कमें आसकते है। अतिभौतिक वस्तुओंके आंतरिक संवेदनकी या उन्हे ऐसा बाह्य रूप प्रदान करनेकी क्षमता या देन जिससे वे आंख, कान और स्पर्शेन्द्रियके लिये भौतिक पदार्थोंके समान ही देखने सुनने और स्पर्शके योग्य हो जायें — कोई मानसिक तरंग या असामान्य वस्तु नहीं है; यह एक विश्वव्यापी क्षमता है जो मनुष्य मात्रमें विद्यमान है, पर अधिकतर लोगोंमें सोई पड़ी है, कुछमें बहुत कम या बीच-बीचमें सक्रिय, किन्हीमें ऐसी मानों अकस्मात घटनेवाली और विरले ही लोगोंमें बार-बार या सामान्य रूपसे सक्रिय होती है। पर जैसे कोई भी व्यक्ति थोड़े प्रशिक्षणके बाद विज्ञान सीख सकता है और ऐसी बातें कर सकता है जो उसके पुरखोंको चमत्कार लग सकती है, लगभग इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति यदि चाहे तो थोड़ी एकाग्रता और प्रशिक्षण द्वारा अतिभौतिक दर्शनकी शक्तिको विकसित कर सकता है। जब कोई व्यक्ति योग प्रारंभ करता है तो यह शक्ति निरपवाद रूपसे तो नहीं किंतु प्राय: — क्योंकि कुछ लोगोंको इसकी प्राप्ति कठिन लगती है है — प्रसुप्त पड़ी हुई शक्तियोंमें सर्वप्रथम बाहर आकर अपनेको बहुधा साधकके

किसी यत्न, इरादे या पूर्वज्ञानके बिना अभिव्यक्त करती है। खुली आंखोंकी अपेक्षा बन्द आंखोंसे इनका अनुभव अधिक सरलतासे होता है पर दोनों ही प्रकारसे होता अवश्य है। बाह्यरूपसे इसके उद्‌घाटनका प्रथम लक्षण बहुधा 'चिनगारियों' या छोटे चमकीले विन्दुओं, आकार इत्यादिके दर्शनके रूपमें होता है जैसा कि इसके साथ तुम्हारे प्रथम परिचयमे हुआ, दूसरा लक्षण जो बहुधा आसानीसे होता है जैसे गोल चमकीले पदार्थों-का दीखना जैसे तारा, रंगोंका देखना तीसरा प्रारंभिक अनुभव है —— परंतु वे हमेशा इसी क्रमसे नही आते। भारतमें योगीजन इस शक्तिको उन्नत करनेके लिये बहुधा 'त्राटक' की,—एक ही विन्दु या पदार्थपर खासकर चमकीले पदार्थपर दृष्टिको एकाग्र करनेकी — पद्धतिका प्रयोग करते थे। तुम्हारा तारेको स्थिर दृष्टिसे देखना निश्चय ही त्राटकका ही अभ्यास है और उसका वही सामान्य प्रभाव हुआ जो कोई भी भारतीय योगी तुम्हें बताता। सबके लिये यह कल्पना या भ्रांति नहीं है; यह गुह्य विज्ञानका एक अंग है जिसका अभ्यास ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक युगोंसे सब देशोंमें बराबर किया जाता रहा है और इसके परिणाम हमेशा केवल स्वयं सूचक और भ्रमात्मक नही पर यदि किसीको इसकी चाबी मिल सके तो ये सच्चे और प्रमाणयोग्य माने गये हैं। तुम्हारा संदेहवाद भूत, वर्तमान और भावीकी इन चीजोंमें गोता लगानेवाले "आधुनिक" मानवके लिये स्वभाविक हो सकता है — स्वाभाविकपर न्यायोचित नही क्योंकि वह बहुत स्पष्ट रूपसे निरीक्षित सत्योंके साथ संगत नहीं होता; पर एकबार यह समझ जानेपर सर्वप्रथम तुम्हें इस निर्जीव मिथ्या विज्ञानको पीछेकी ओर फेंक देना चाहिये, अतिभौतिक वस्तुओंकी भौतिक व्याख्या करनेके इस व्यर्थके प्रयाससे चिपटे नहीं रहना चाहिये एव इस एकमात्र बुद्धिसंगत पथको ग्रहण करना चाहिये। शक्तिको विकसित करो, अधिकाधिक अनुभव प्राप्त करो, उस चेतनाको उन्नत करो जिसके द्वारा वे वस्तुएं प्राप्त होती हैं; जैसे-जैसे चेतना उन्नत होगी वैसे-वैसे तुम इसे समझने लगोगे, इसके मर्मका अन्तर्बोध उपलब्ध करोगे। अथवा यदि तुम इनके शास्त्रको ही समझना चाहो तो गुह्य शास्त्रको सीखो और उसका प्रयोग करो, एकमात्र वही अतिभौतिक वस्तुओंसे व्यवहार कर सकता है। और जहांतक उन वस्तुओंका संबंध है जो तुम्हें दिखाई दी थीं, वे विलक्षण घटना मात्र न थी, न कोई प्रतीकात्मक रंग ही, पर वे पर्याप्त महत्व-पूर्ण वस्तुएं थी।

आंतरिक इन्द्रियकी इस शक्तिका और उन वस्तुओंका विकास करो जो उसके साथ आती है। साधनाके ये प्रारंभिक दर्शन तो बाहरी अचलमात्र हैं — उसके पीछे अनुभवके एक ऐसे पुरेके पूरे जगत है जो पार्थिव चेतना और अनादि-अनन्तके बीच-के खाली स्थानको (जिसे तुम्हारा रसैल आंतरिक शून्य कहता है) भर देते हैं।

*

वस्तुओंका एक भौतिक पक्ष है और एक गुह्य अतिभौतिक पक्ष भी — यह आवश्यक नहीं कि एक पक्ष दूसरे पक्षके मार्गमें बाधक बने ही। सभी भौतिक वस्तुएं

अतिभौतिक वस्तुओंकी व्यंजना है। भौतिक उपकरणों और प्रक्रियाओंसे युक्त शरीर की सत्ता, जैसे कि १९ वीं शताब्दीमें भूलसे कल्पना कर ली गई थी, उस अंतरात्माके अस्तित्वको असत्य सिद्ध नही करती जो उस शरीरके द्वारा सीमित किये जानेपर भी उसका उपयोग करता है। प्रकृतिके नियम भगवान्‌के अस्तित्वका खंडन नही करते। स्थूल जगत्‌के तथ्यात्मक सत्य जिसके साथ हमारे उपकरण मेल रखते है, उन कम भौतिक जगतोंके अस्तित्वको अप्रमाणित नही करते जिनका प्रत्यक्ष हमें कुछ सूक्ष्मतर उपकरण ही करा सकते है।

*

वह उपस्थिति स्थूल प्रकारकी है या कोई आध्यात्मिक तथ्य है? और क्या तुम्हारी भौतिक इन्द्रिय आध्यात्मिक वस्तुओंको — आध्यात्मिक उपस्थितिके अस्थूल रूपको देखने या अनुभव करनेमें अभ्यस्त या समर्थ है? ब्रह्मको सर्वत्र देखना तबतक संभव नही है जबतक हम अन्तर्दृष्टिको विकसित न कर लें — इसके लिये तुम्हें एकाग्रताका अभ्यास करना होगा। अस्थूल रूपोंको देखना वस्तुतः बहुत कम लोगोंके लिये संभव है क्योंकि यह देन उन्हें प्रकृतिसे प्राप्त होती है, किन्तु अधिकांश लोग सूक्ष्मदृष्टिका विकास किये बिना ऐसा नही कर सकते। भगवान्‌के दर्शनके लिये कोई कष्ट उठाये बिना उनकी उपस्थितिके प्रकट होनेकी आशा करना निरर्थक है, तुम्हें इसके लिये एकाग्र होना होगा।

इसका अभिप्राय केवल इतना है कि तुम्हारे अन्दर भगवान्‌की उपस्थितिके विषयमें एक आंतरिक भाव है। किन्तु क्या वस्तुओंके विषयमें आंतरिक भाव अनिवार्य रूपसे एक व्यर्थकी कल्पना ही होनी चाहिये? यदि यही बात हो, तो योगसाधना करना सम्भव ही न हो। मनुष्यको यह बात एक स्वयंसिद्ध सत्यके रूपमें माननी होगी कि आंतरिक वस्तुएं उतनी ही यथार्थ हो सकती है जितनी बाह्य वस्तुएं। निःसंदेह, मानसिक रचनाएं जैसी वस्तुएं हो सकती है और होती भी है — परन्तु, पहले पहल तो मानसिक रचनाएं ठोस परिणामोंको उत्पन्न करनेवाली और बहुत बलशाली होती है या हो सकती है; दूसरे, व्यक्ति जो देखता या सुनता है वह मानसिक रचना है या एक यथार्थ आत्मनिष्ठ पदार्थ इसका निर्णय केवल तभी हो सकता है जब इन भीतरी वस्तुओंके संबंधमें मनुष्यको पर्याप्त अनुभव हो।

व्यक्तिगत अंतर्दर्शन उतने ही सत्य हो सकते है, जितने बाह्य दृश्य। अंतर केवल यही है, कि एक स्थूल जगत्‌में वास्तविक पदार्थोंके होते है, जब कि दूसरे अन्य स्तरोंके —सूक्ष्म-भौतिक स्तरतकके — वास्तविक पदार्थोंके होते है। वैसे प्रतीकात्मक अंतर्दर्शन भी सत्य होते है, क्योंकि वे वास्तविकताओंके प्रतीक होते है। स्वप्नोंकी भी सूक्ष्म-जगत्‌में एक वास्तविकता होती है। अंतर्दर्शन तभी मिथ्या होते है जब वे काल्पनिक मानसिक रचनाएंमात्र होते है और किसी ऐसे तथ्यके द्योतक नही होते, जो सत्य है अथवा सत्य होनेवाला है।

अतर्दर्शनकी यह शक्ति कभी कभी बिना विकसित करनेके किसी परिश्रमके जन्म-से तथा स्वाभाविक रूपमें प्राप्त होती है। कभी-कभी यह अपने-आप जाग्रत होकर प्रचुर हो जाती है, अथवा विकसित होनेके लिये थोड़े ही अभ्यासकी अपेक्षा रखती है। यह जरूरी तौरपर आध्यात्मिक उपलब्धिका लक्षण नही है, किंतु बहुधा जब योगके अभ्याससे कोई अतरमे प्रवेश करने अथवा आतरिक जीवन व्यतीत करने लगता है, तब न्यूनाधिक मात्रामे सूक्ष्म अतर्दर्शनकी शक्ति जाग्रत होती है। किंतु यह बहुधा सुगमतासे घटित नही होता, विशेषतया यदि व्यक्ति अधिक बुद्धिमें या बाह्य प्राणगत चेतनामे रहनेका अभ्यासी रहा हो।

मेरा अनुमान है कि जिसके विषयमे तुम सोच रहे हो, वह दर्शन है — भक्तके आगे देवताका आत्म-प्रकटन। किंतु वह भिन्न होता है। वह है उनकी — स्थायी अथवा अस्थायी — सत्ताका अनावृत हो जाना। वह अंतर्दर्शनके रूपमें घटित हो सकता है, अथवा उनकी उपस्थितिके निकट अनुभवके रूपमें , जो उनके दर्शन अथवा उनसे बहुधा या सतत सलापसे भी अधिक आत्मीय होता है। सत्ताके अपनी अंतरात्मा-मे गहरे पैठने तथा चेतनाके विकाससे, अथवा भक्तिकी प्रगाढ़ताके बढ़नेसे यह होता है। निरतर बढ़ती और सर्वग्राही बनती हुई भक्तिके दबावसे जब बाह्य चेतनाकी पपडी काफी फट जाती है, तब सस्पर्श प्राप्त होता है।

*

उसे भौहोंके बीचमें जो सूक्ष्म दर्शन हुए है वे कल्पनाएं नहीं है — वे कल्पना तभी हो सकते यदि उनके सबंधमे उसने पहले विचार किया होता और उसके विचारोंने आकार ग्रहण किया होता, किंतु क्योंकि वे उसके विचारोंसे स्वतंत्र रूपमें आये इसलिये वे नेत्रेन्द्रियकी कल्पना नही बल्कि सूक्ष्मदर्शन है। यह शक्ति योगमें एक उपयोगी वस्तु है और इसे उन्नत होने देना चाहिये; इसे अनुत्साहित नही करना चाहिये। मुझे मालूम नही कि इनमें उसे श्रद्धा न होनेका आशय क्या है। वह इस समय जिन चीजों-को देख रहा है वे संभवतः सूक्ष्म दृश्यों और वस्तुओंके प्रतिरूप मात्र है; परन्तु, उन्नत होनेपर यह क्षमता वस्तुओंके सत्योंको या इस अन्य लोकोंकी यथार्थताको या भूत, वर्तमान या भावीके चित्रोंको बतानेवाली प्रतीकात्मक, प्रतिनिधि या यथार्थ दर्शनकी शक्ति बन सकती है।

यदि एकाग्रता स्वभावतः भौहोंके बीचमें केन्द्रित हो जो अंतर्मन और उसके विचार, सकल्प और दृष्टिका केन्द्र है, तो इसमें कोई हानि नही।

यदि वह अब यहां आये तो इससे उसे कोई लाभ नही होगा। उसे पहले प्रकृतिके शोधन और उसे तैयार करनेकी प्रक्रियामेंसे और कम-से-कम उस निश्चयात्मक यौगिक चेतनाके प्रारभिक विकासमेंसे गुजरना होगा जिसके बिना उसका यहा आना निरर्थक होगा।

*

तुम्हारे अन्दर जो वस्तु विकसित हुई है वह है सच्चे अन्तर्दर्शनकी शक्ति — इस शक्तिके द्वारा तुम्हें अन्दर प्रवेश करके भगवान्‌का स्पर्श पानेमें सहायता प्राप्त होगी। तुम्हें महज इसे विकसित होने देना होगा। तुम्हें अपने अन्दर अन्य दो वस्तुओंको भी विकसित होने देना होगा — अपने कर्मोंके पीछे भगवान्‌की उपस्थिति, शक्ति और अन्तःप्रेरणाका अनुभव, एवं मेरे और माताजीके साथ आंतरिक संपर्क। श्रद्धा और सचाईके साथ अभीप्सा करो और ये सब चीजें तुम्हें प्राप्त होंगी। मैं तुम्हें कोई अन्य अधिक सुनिश्चित निर्देश नहीं देना चाहता जबतक मैं यह न देख लूं कि यहां रहते हुए तुम्हें क्या अनुभव होता है, यद्यपि मार्ग सबका समान है किन्तु उसपर चलनेका सबका अपना-अपना तरीका है।

II

जब तुम प्रकाशको देखते हो तो इसे अन्तर्दर्शन कहते है। जब तुम प्रकाशको अपने अन्दर प्रवेश करता हुआ अनुभव करते हो तो यह अनुभव होता है, जब प्रकाश तुम्हारे अन्दर आकर स्थिर हो जाता है और अपने साथ आलोक और ज्ञानको लाता है तो यह साक्षात्कार कहलाता है। परतु सामान्यतया अन्तर्दर्शन अनुभव भी कहलाते हैं।

*

सूक्ष्मदर्शन प्रायः साक्षात्कारसे पहले आते है, एक तरहसे उसे तैयार करते है।

*

उच्चतर भूमिकाओंका अन्तर्दर्शन या वे क्या हैं इस बातका ख्याल रूपांतरसे बहुत पहले ही प्राप्त हो सकता है। यदि यह संभव न होता तो रूपांतर कैसे हो सकता ? निम्नतर प्रकृति अपने आप नहीं बदल सकती, वह उच्चतर लोकोंसे संबद्ध उच्चतर चेतनाके बढ़ते हुए अन्तर्दर्शन, प्रत्यक्षबोध एवं अवतरणसे बदलती है। अभीप्सा द्वारा एवं बढ़ते हुए उद्घाटन द्वारा ही ये अन्तर्दर्शन और प्रत्यक्षबोध आना शुरू होते हैं — उपलब्धि बादमें आती है।

*

हां, यह (उच्चतर चेतना) शांति, विशालता, वैश्व-चेतना, भगवान्‌का साक्षात्कार, वैश्व-शक्तियों और अन्य वस्तुओंके बोधको लाकर — परदेको भेदे बिना अन्तर्दर्शनके द्वारा ही मानसिक स्तरपर अवतरित हो सकती है। परन्तु साधारण-

तया अधिकतर लोगोंको अन्तर्दर्शन पहले होता है।

*

मैने मनमें भगवान्‌के साक्षात्कारकी बात कही थी। पर पूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करना हो तो आवरणका भेदन अनिवार्य है।

*

कभी-कभी अन्तर्दर्शन अनुभवके साथ ही आता है और ऐसा लगता है मानों वह उसका आखों देखा या उससे जुड़ा हुआ कोई रूप हो, पर अनुभव स्वयं एक भिन्न वस्तु है।

*

इससे यह परिणाम नहीं निकलता। गहराईमें जाकर कोई अन्तर्दर्शन प्राप्त कर सकता है, हो सकता है किसी औरको अधिक गहरी चेतनामें जानेपर भी अन्तर्दर्शन न हो इत्यादि इत्यादि। परिणाम प्रकृतिके अनुसार भिन्न भिन्न होता है।

III

आंतरिक दर्शन यथार्थ दृश्यके समान ही सजीव तथा सदा ही सुस्पष्ट होता है एव उसमें एक सच्चाई होती है। मानसिक दर्शनमें मन प्रतिमूर्तियोंको उपजाता है। और वे अंशतः सच्ची तथा अंशतः संभावनाओंका खेल होती है। अथवा एक मानसिक दर्शन प्राणिक दर्शनके समान महज एक सुझाव हो सकता है, अर्थात् मानसिक और प्राणिक स्तरकी किसी संभावनाका निर्माण, जो साधकके सामने इस आशासे आता है कि उसे स्वीकार कर लिया जाय और प्रत्यक्ष होनेमे उसे सहायता प्राप्त हो।

*

मानसिक अन्तर्दर्शनोंका प्रयोजन है मनमें उन वस्तुओंके प्रभावको लाना जिनके वे प्रतिरूप होते है।

*

वैश्व अन्तर्दर्शनका अर्थ है वैश्वक्रियाओंको देखना — अवश्य ही इसका चैत्यसे

किसी प्रकारका कोई संबंध नहीं है। यह वैश्वमन, वैश्वप्राण, वैश्वशरीरमें या और कहीं भी हो सकता है।

चैत्य अन्तर्दर्शनसे यहां तुम्हारा क्या मतलब है? अन्तर्दृष्टिका अर्थ है बाह्य दृष्टिके विपरीत अर्थात् ऊपरी मनकी सहायतासे बाहरी रूपमें ऊपरी आंखोंके द्वारा देखनेकी शक्तिके विपरीत अंतरकी दृष्टिसे देखना। इस योगकी भाषामें चैत्यका अर्थ महज अन्तरात्मा, चैत्यपुरुष होता है — किसी प्रेतके दिखाई देनेपर सामान्य भाषामें उसे "चैत्य दर्शन" कहा जाता है, पर हम वैसा नही कहते। हम तो अन्तर्दृष्टि या सूक्ष्म-दृष्टिकी बात कहते हैं न कि चैत्य दर्शन की।

*

समाधिमें होनेवाला अन्तर्दर्शन जाग्रत स्थितिके दर्शनसे कम महत्वपूर्ण नहीं है। भेद केवल ग्रहण करनेवाले व्यक्तिकी चेतनाकी स्थितिमें होता है। पहलेमें, जाग्रत चेतना सूक्ष्मदर्शनमें भाग लेती है, दूसरेमें, आंतर अनुभूतिकी अधिक सुविधा और अवकाशके लिये उसे बाहर निकाल दिया जाता है। पर दोनोंको देखती अन्तर्दृष्टि ही है।

*

अन्तर्दृष्टि पदार्थोंको देख सकती है, परन्तु वह उसके स्थानपर उनके द्वारा कार्य करने वाली शक्तियोंके स्पन्दनको अधिक देख सकती है।

*

सूक्ष्म दर्शन सब तरहके होते हैं — कुछ दर्शन, जो वस्तु होना चाहती है या होनेका यत्न कर रही है, उसके संकेत मात्र होते है, कुछ वस्तुके समीप जानेका अथवा उसकी दिशामें गतिका निर्देश करते हैं, कुछ इस बातका संकेत करते हैं कि वस्तु हो रही है।

*

अन्तर्दर्शनमें देखे प्रतिरूपोंको विकसित करनेके लिये हमें कुछ नहीं करना चाहिये। दर्शनका अभ्यास बढ़नेके साथ-साथ वे स्वयं विकसित होते हैं — उनमें जो अस्पष्ट होता है वह स्पष्ट हो जाता है और जो अपूर्ण होता है पूर्ण बन जाता है। सर्व-सामान्य रूपमें यह कोई नहीं कह सकता कि वे वास्तविक या अवास्तविक हैं। कुछ मनकी रचनाएं होते हैं, कुछ ऐसे प्रतिरूप होते हैं जो स्वयं आंखोंके सामने आ जाते हैं, कुछ

यथार्थ वस्तुओंके प्रतिरूप भी होते है जो अपनेको सीधे दृष्टिके सामने रख देते हैं — कुछ अन्य प्रतिरूप मात्र ही नही वल्कि सच्चे चित्र होते है।

*

यह प्रदेश (जिसका केन्द्र भौहोंके बीचमें है) आंतरिक विचार, संकल्प, और दिव्य दर्शनका प्रदेश है — मोटर कार चेतनाके इस भागमें तीव्र प्रगतिकी द्योतक है। मोटर कार एक प्रतीकात्मक मूर्ति है, ये मूर्त्तियां किसी भौतिक वस्तुका निर्देश नही करती।

ये वस्तुए आतरमन या आंतरप्राणमें घटित होती है और इनके पीछे एक सत्य होता है पर मनमें वे जिस रूपमें आती हैं वह रूप अपूर्ण हो सकता है — अर्थात् उसका कोई ऐसा अर्थ हो सकता है जो शव्दोंमें पूरी तरह प्रकट न होता हो।

*

ये मानस-प्रतिमायें नही है। एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जो साधना-कालमें खुलती है और उसके सामने सभी तरहके चित्र उभरते या गुजरते है। उनका आगमन तुम्हारे विचार या सकल्प पर आधार नही रखता; वह यथार्थ और स्वतः प्रेरित होता है। तुम्हारी भौतिक आंखें जिस प्रकार जगत्के पदार्थोंको देखती है ठीक इसी प्रकार आंतरिक नेत्र अन्य जगतोंसे संबंध रखनेवाली वस्तुओं और प्रतिरूपोंको एवं इस भौतिक जगत्के पदार्थोंके सूक्ष्म प्रतिरूपोंको भी देखते हैं।

*

अन्दरकी चीजें वाहरकी चीजोंके समानही स्पष्ट रूपमें देखी जा सकती है, या तो सूक्ष्म दृष्टि द्वारा एक प्रतिमूर्तिके रूपमें या एक ढंगकी और भी अधिक सूक्ष्म एवं शक्तिशाली दृष्टिके द्वारा अपने सार-रूपमें; पर इन सव वस्तुओंकी पूर्ण शक्ति और तीव्रताको प्राप्त करनेके लिये इन सवको विकसित होना होगा।

*

सूक्ष्म प्रतिमाएं सव लोकोंकी और सव पदार्थोंकी प्रतिमाएं हो सकती हैं।

*

ऐसी प्रत्येक वस्तु जो भौतिक नही होती, आंतर दृष्टि द्वारा देखी जा सकती है।

*

रंगोंका देखना उस अन्तर्दर्शनका एक प्रारंभ है जिसे "सूक्ष्म दृष्टि" कहते हैं। आगे जाकर, इस दृष्टिके खुल जानेपर व्यक्ति आकारों, दृश्यों या व्यक्तियोंको देखने लगता है। यह अच्छा ही हुआ कि दर्शनका श्रीगणेश श्रीमांकी प्रतिमासे हुआ।

*

आंतरिक दृष्टिके खुलनेपर जगत्के भूत या वर्तमान कालकी सभी वस्तुए उसके सामने उपस्थित हो सकती है, यहां तक कि वह दृष्टि भविष्यत् कालकी भी वस्तुओंके प्रति खुल सकती है –– इसलिये भूतकालीन आकारों और वस्तुओंको इस रूपमें देखना कोई असम्भव वात नही है।

*

ध्यान करनेकी चेष्टा करनेपर व्यक्तिके सामने प्रारभमे, सर्व प्रथम वाधा निद्राके रूपमें आती है। उस वाधाको लांघ जानेपर एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें तुम बन्द आखोंसे भी सव प्रकारके पदार्थो, लोगों और दृश्योके देखने लगते हो। यह कोई खराब वस्तु नही है, यह एक अच्छा लक्षण है और इसका अर्थ है कि तुम योगमें उन्नति कर रहे हो। हमारे अन्दर वाह्य पदार्थोंको देखनेवाली वाह्य भौतिक दृष्टिके अतिरिक्त एक आंतरिक दृष्टि भी है जो हमारे लिये अवतक अनदेखी और अनजानी वस्तुओंको, दूरस्थ, दूसरे देशकाल या अन्य लोकोंसे संवंध रखने वाली वस्तुओंको देख सकती है। यह आंतरिक दृष्टि ही तुम्हारे भीतर खुल रही है। श्रीमाँकी शक्तिकी क्रिया ही तुम्हारे अन्दर इसे खोल रही है, और तुम्हें इसे रोकनेकी चेष्टा नही करनी चाहिये। नित्य श्रीमांका स्मरण करो, उन्हें पुकारो और अन्तरमें उनकी उपस्थिति एवं शक्तिकी क्रियाके लिये अभीप्सा करो; किंतु इसके लिये तुम्हें उनकी क्रियासे भविष्यमें तुम्हारे अन्दर होनेवाली इस या अन्य प्रगतियोंको रोकनेकी आवश्यकता नहीं। तुम्हें केवल कामना, अहंकार, चंचलता और अन्य अशुद्ध क्रियाओंका ही त्याग करना होगा।

*

दीपककी ज्वाला या किसी चमकते विन्दुको टकटकी लगाकर देखना एक ऐसा परंपरागत साधन है जिसका प्रयोग योगियोंने ध्यानको एकाग्र करने या आंतर चेतना या दृष्टिको जाग्रत करनेके लिये किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने एकटक देखनेके द्वारा हलकी (गहरी नही) समाधिको ही प्राप्त किया है, जो वस्तुतः उसके प्रारंभिक परिणामोंमेंसे केवल एक है और जिसके द्वारा तुमने संभवतः प्राणिक भूमिकापर वस्तुओंको देखना शुरू किया है। तुमने जो "भयानक चीजें" देखी है वे क्या हैं, मैं नहीं जानता,

पर इस भूमिकापर पहलेपहल दीखनेवाली बहुतसी वस्तुओंका स्वरूप ऐसा ही भयंकर होता है, विशेषत ऐसे साधनों द्वारा उसकी ड्योढ़ीको पार करते समय तुम्हें इन साधनों-को काममें लानेकी जरूरत नही, क्योंकि वे बिलकुल अनुपयोगी हैं और इसके सिवाय वे तुम्हें ऐसी निष्क्रिय एकाग्रताकी ओर ले जा सकते हैं जिसमें व्यक्ति उस तरहकी सभी वस्तुओंके प्रति खुल जाता है और सही वस्तुओका चुनाव नही कर सकता।

*

मैं तुम्हारे पत्रसे ठीक तरह नही समझ पाया कि तुम्हारे सामने चित्रपटकी तरह गुजरनेवाले इन दृश्यो और पदार्थोंका क्या स्वरूप है। यदि ये वस्तुएं अन्तर्दृष्टि द्वारा देखी गई हो तो उन्हें दूर भगानेकी जरूरत नही — मनुष्यको उन्हें केवल गुजर जाने देना चाहिये। जब कोई साधना करता है तो उसमें भीतरी मन जाग जाता है और इस जगत्‌की और अन्य जगतोंकी वस्तु और प्रतिमूर्तियोंको अन्तर्दृष्टि द्वारा देखता है — दृष्टिकी इस शक्तिका अपना उपयोग है, यद्यपि व्यक्तिको उससे आसक्त नहीं होना चाहिये, मनको शांत रखते हुए व्यक्तिको उन्हे चले जाने देना चाहिये, न उनपर ध्यान जमाना चाहिये न उन्हें खदेड़ना ही चाहिये। वे है बाह्य मनके विचार जिन्हें हमें अस्वीकार करना चाहिये तथा ऐसे सुझाव और भाव जो अन्तत: साधनाको अस्त-व्यस्त करके ही रहते है। साथ ही सभी तरहके ऐसे अनेक विचार भी हैं जिनका साधना-से कोई सरोकार नही पर जिन्हे मन स्वभाववश या यन्त्रवत् अन्दर आने देनेका आदी होता है,—जब व्यक्ति निश्चल होनेकी चेष्टा करता है तो कभी-कभी ये उभर आते हैं। उनपर ध्यान न देकर उन्हें गुजर जाने देना चाहिये जबतक कि वे बन्द न हो जायें और मन शांत न हो जाय; उनसे संघर्ष करने और उन्हें रोकनेसे कोई लाभ नहीं, उन्हें केवल स्थिर होकर अस्वीकार करना चाहिये। दूसरी ओर यदि श्रीमांके दिव्य प्रेम और उल्लासके, सत्यके प्रत्यक्ष बोध इत्यादि जैसे विचार अन्दरसे, चैत्यसे उठें तो उन्हें अवश्य स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि वे चैत्यको सक्रिय होनेमें मदद देते है।

*

प्राणिक स्तरके स्वप्न या सूक्ष्म दर्शन साधारणतया इनमेंसे किसी एक प्रकारके होते हैं:—

1. प्रतीकात्मक प्राणिक सूक्ष्मदर्शन;
2. प्राणिक स्तरकी वास्तविक घटनाएं;
3. प्राणिक मनकी रचनाएं जो या तो स्वप्न लेनेवालेकी या किसी अन्यकी जिसके साथ निद्रामें उसका संपर्क हुआ हो अथवा उस लोककी शक्ति और सत्ताओंकी होती है। इस प्रकारके अनुभव पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता, यहांतक कि इनमेंसे पहलेका भी केवल सापेक्ष या सांकेतिक ही मूल्य होता है, जब कि दूसरा और

तीसरा वहुधा सर्वथा पथभ्रष्ट करनेवाले होते हैं।

*

ये प्राणिक जगत् और प्राणिक स्तरोंके सूक्ष्मदर्शन हैं और व्यक्ति वहां सैकड़ों दर्शनोंको देखता है।...चेतनाके सभी भाग ऐसे क्षेत्रोंके समान है जिनमें वैश्व प्रकृतिकी चेतनाके उन्हीं स्तरोंकी नाना शक्तियां प्रवेश कर रही हैं या गुजर रही हैं। सर्वोत्तम वात यह होगी कि किसी भी रूपमें उनसे प्रभावित हुए विना उनका अवलोकन किया जाय और उन्हें वहुत अधिक महत्व न दिया जाय — क्योंकि ये छोटे-मोटे अनुभव हैं और व्यक्तिका अपना ध्यान प्रधान अनुभवोंका आवाहन करनेकी ओर एकाग्र होना चाहिये।

*

क्योंकि तुम अपना ध्यान विजलीके प्रकाशकी ओर एकाग्र कर रहे थे इसलिये तुमने जिस देवताको देखा वह "वैद्युत-अग्नि" रहा होगा। उसके अनेक मुख होनेका कोई कारण नही है — अनेक सिरों या अनेक भुजाओंवाली आकृतियां साधारणतः प्राण स्तरकी होती हैं — और हो सकता है कि वह अपने प्राणिक रूपमें अभिव्यक्त न हुआ हो। जहांतक रंगोंका प्रश्न है, रंग शक्तियोंके प्रतीक हैं और अग्निका रंग शुद्ध लाल होना जरूरी नही — अग्नि-तत्व सभी रंगोंको व्यक्त कर सकता है और शुद्ध श्वेत अग्निमें सव रंग समाविष्ट होते हैं।

*

अधिमानस भूमिका पर रहनेवाले देवताओंके अनेक सिर और भुजाएं नहीं होतीं —यह प्राणिक प्रतीक है, ऐसा होना अन्य स्तरोंमें आवश्यक नहीं है। संभव है यह आकार सूक्ष्म भौतिक स्तरसे संवद्ध रहा हो।

*

जिस लोकको तुम देख रहे हो वह एक ऐसे सूक्ष्म भौतिक स्तरमें अवस्थित है जहां लोग अपने विचारके अनुसार देवोंको और उनकी प्रतिमूर्त्तियोंको देखते हैं।

*

यह प्राणिक भूमिका है — संभवतः प्राणिक-भौतिक। अधिकतर उसी भूमि-

जब तुम एक वर्ग (चौकोर आकृति) देखते हो तो वह पूर्ण सृष्टिका प्रतीक होता है; जब तुम एक भैंसेको अपने ऊपर टूटते हुए और असफल होते हुए देखते हो तथा यह अनुभव करते हो कि तुम एक बहुत बड़े खतरेसे बच गये हो तो वह किसी चीजकी प्रतिलिपि होता है। वास्तवमें कुछ घटित हुआ जिसकी नकल तुम्हारे मनने भैंसेके असफल आक्रमणके रूपमें उतारी — वह आक्रमण किसी विरोधी शक्तिका रहा होगा जिसका प्रतिरूप भैंसा था।

*

जो वस्तु बन्द आंखोंसे दीख सकती है वह खुली आंखोंसे भी देखी जा सकती है; इसके लिये इतना पर्याप्त है कि आंतरदृष्टि सूक्ष्म भौतिक चेतनातक अपना विस्तार करे।

*

(1) यह अंतर्दर्शन भौतिक आंखोंसे देखा गया था, परंतु इसे देखा था सूक्ष्म भौतिक चेतनाने; दूसरे शब्दोंमें, यहां एक चेतनाने अपनेको दूसरी चेतनापर आरोपित किया था। विकासकी एक विशेष अवस्थाके बाद, सामान्य भौतिक-चेतनामें निवास करनेकी क्षमताके साथ ही उसमें एक अन्य सूक्ष्मतर इंद्रियको और जोड़ देनेसे, सूक्ष्म-दर्शन एवं अनुभव बिलकुल सामान्य हो जाता है। इसे प्राप्त करनेके लिये थोड़ीसी एकाग्रता ही पर्याप्त होती है; अथवा बिना एकाग्रताके भी स्वतः ही ऐसा होता है।

क्योंकि फूल एक सूक्ष्म भौतिक पदार्थ था, इस शब्दके सामान्य अर्थके अनुसार पूर्णरूपसे स्थूल पदार्थ नहीं (यद्यपि अपने स्तरमें वह बिलकुल ठोस और स्थूल था, भ्रम नहीं) इसलिये कैमरेके द्वारा वह देखा नही जा सकता था, उन असामान्य दखल देनेवाली वस्तुओंकी बात दूसरी है जिनमेंसे किसीके द्वारा भी सूक्ष्मरूपको भौतिक फलकपर फेंक दिया जाता है।

अंधेरे कमरेमें उसका अनुभव हो सकता है, यद्यपि इतनी सरलतासे नहीं, परन्तु तब उसकी आकृति इतनी सजीव न होती — जबतक तुम सूक्ष्म भौतिक स्तरके प्रकाश जैसी किसी वस्तुसे आच्छादित कर इसे अपना स्वाभाविक माध्यम प्रदान नही करते।

बन्द आंखोंसे देखनेपर यह सूक्ष्म-भौतिक रूप नहीं रहता किन्तु प्राण,मन या किसी अन्य स्तरकी वस्तु या रचना बन जाता है — वस्तुतः ऐसा तबतक होता है जबतक आंतरिक चेतना इतनी उन्नत न हो जाय कि अपनेको भौतिक स्तरोंपर प्रक्षिप्त कर सके, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है और अधिकतर दृष्टांतोंमें बहुत देरमें विकसित होता है।

(2) साधारणतः पदार्थ लुप्त नहीं होता, केवल चेतना बदलती है। एक अविच्छन्न क्षमता या प्रशिक्षणके अभावके कारण मनुष्य सूक्ष्म-भौतिक दृष्टिको कायम नही रख

चेतना वस्तुतः वही पदार्थोंको देख रही थी। यह सूक्ष्म भौतिक दृष्टि हालकी निद्रा और जागृतिके बीचके कालमें सर्वाधिक सुगमतासे प्राप्त होती है — या तो जब व्यक्ति नींदसे जागता है या जब वह सोनेकी तैयारी करता है। किन्तु मनुष्य बिलकुल जाग्रत अवस्थामें भी इसे प्राप्त करनेके लिये अपनेको प्रशिक्षित कर सकता है।

प्रारम्भमें जब व्यक्ति इसे देखना शुरू करता है तो प्रायः साधारण रूपसे ऐसा होता है कि अनिर्धारित और यथार्थ आकार तो देरतक स्थिर रहते हैं जब कि सफल, पूर्ण और ब्यौरे एवं रूपरेखामें सुनिश्चित आकार सर्वथा क्षणिक होते हैं और पलभरमें ही मिट जाते हैं। सूक्ष्मदृष्टिके अच्छी तरह विकसित हो जानेपर ही सुनिश्चित और पूर्ण-दर्शन देरतक टिकते हैं। यह इस असामान्य चेतनाको और इस उदाहरणमें क्षण-भरके लिये अध्यारोपित दो चेतनाओंको एक साथ बनाये रखनेकी कठिनाईका ही परिणाम है।

(3) प्रत्येक स्तरमें सब प्रकारके अनुभव होते हैं — प्रतीकात्मरूप, सांकेतिक आकृतियां, विचारोंके आकार, कामनाकी या संकल्पकी रचनाएं, सभी तरहके निर्माण, उस स्तरसे सम्बद्ध वास्तविक और स्थायी एवं बनावटी और भ्रामक वस्तुएं। इस अस्तव्यस्तताका सम्बन्ध उस चेतनासे है जो अन्य लोकोंके संगठनको अपने सीमित और अपूर्ण ढंगसे देखती है, स्वयं घटनाओंके साथ इसका संबंध नहीं है। प्रत्येक स्तर एक लोक या लोकपुंज अथवा लोकमाला होता है, हरेक अपने ही ढंगसे व्यवस्थित होता है परन्तु होता है व्यवस्थित ही अस्तव्यस्त नहीं; हां, इतना अवश्य है कि सूक्ष्मतर भूमिकाएं, अपने संगठनमें स्थूल भूमिकाकी अपेक्षा अधिक नमनीय और कम कठोर रूपसे संगठित होती हैं।

•

गुह्य-दर्शनकी शक्ति प्रत्येक मनुष्यमें विद्यमान है, वह अधिकांशमें प्रच्छन्न होती है, बहुधा ऊपरी सतहके समीप होती है, कभी-कभी पर विरल लोगोंमें एकदम ऊपरी तलपर होती है। यदि कोई त्राटकका अभ्यास करे तो, देरसे हो या जल्द, उसका प्रकट होना बहुत कुछ सुनिश्चित है,—यद्यपि किसी-किसीको थोड़ी कठिनाई होती है और उन्हें इसे प्राप्त करनेमें थोड़ा समय लगता है। जिन लोगोंमें यह शक्ति तुरत प्रकट हो जाती है उनमें गुह्य दर्शनकी यह शक्ति ऊपरी सतहके पास सर्वदा ही विद्यमान होती है और जरा सीधा दबाव पड़ते ही उभर आती है।

तुमने जो वृक्षोंसे निकलती हुई किरणें देखीं, वे बराबर ही वहां होती हैं, केवल साधारण स्थूल दृष्टिसे वे छिपी होती हैं। मैंने कहा था कि एक साथ नीला और सुनहला रंग कृष्ण और दुर्गा — महाकालीकी सम्मिलित उपस्थितिको सूचित करते हैं; परन्तु सुनहला और पीला रंग अलग अर्थ रखते हैं। शक्तियोंके रंगोंके अन्दर पीला रंग चिन्तनशील मन अर्थात् बुद्धिको सूचित करता है, और गुलाबी रंग (यहां इसके सिंदूर वर्णमें परिवर्तित) चैत्य रंग है, जिसका साधारण मनके अन्दर चैत्यको

सूचित करता था।

इन सब बातोंका अर्थ करते समय तुम्हें यह अवश्य याद रखना चाहिये कि किसी विशिष्ट प्रसंगमें रंग वस्तुओंके जिस क्रमको सूचित करते हैं उस क्रमके ऊपर ही सब कुछ निर्भर करता है। अर्थोंका एक क्रम ऐसा है जिसमें वे (रंग) विभिन्न मनोवैज्ञानिक शक्तियोंको सूचित करते हैं, जैसे, श्रद्धा, प्रेम, सरक्षण इत्यादि। अर्थोंका एक दूसरा क्रम है जिसमें वे दिव्य सत्ताओंके, जैसे कृष्ण, महाकाली, राधा या अन्यान्य अलौकिक सत्ताओंके प्रभामंडल या कार्यावलीको सूचित करते हैं; फिर एक और क्रम है जिसमें वे वस्तुओं या जीवंत व्यक्तियोंके चारों ओर विद्यमान प्रभामंडलको सूचित करते हैं — और यहींपर संभावनाओंकी तालिका शेष नही हो जाती। प्रत्येक प्रसंगमें यथार्थ आशय समझनेके लिये एक प्रकारके विशेष ज्ञान, अनुभव तथा वर्द्धमान अंतर्ज्ञानकी आवश्यकता होती है। निरीक्षण करना और ठीक-ठीक वर्णन करना भी बहुत आवश्यक होता है; क्योंकि बहुत बार लोग कहते पीला हैं और उनका मतलब होता है सुनहला अथवा कहते सुनहला हैं और उनका मतलब होता है पीला; इसके अलावा, एक ही रंगके विभिन्न आभाके भी अलग-अलग अर्थ होनेकी सभावना है। फिर, यदि तुम कोई रंग किसी व्यक्तिके समीप या इर्द-गिर्द देखो अथवा किसी पुरुष या स्त्रीकी ओर ताकते समय देखो तो वह निश्चित रूपसे उस व्यक्तिके प्रभामंडलको ही सूचित नही करता; वह उसके पास या उसके इर्द-गिर्दकी कोई दूसरी वस्तु भी हो सकता है। किसी-किसी प्रसंगमें यह भी संभव है कि उसका उस व्यक्ति या वस्तुके साथ कोई भी संबंध न हो जिसकी ओर कि तुम ताकते हो; वह व्यक्ति या वस्तु उस समय महज एक पृष्ठ-भूमि अथवा एकाग्रताके लिये एक बिंदुका काम करती हो जैसे कि तुम किसी दीवालपर या किसी उज्ज्वल वस्तुपर दृष्टि जमानेपर रंग देखते हो।

*

शरीरके (कमसे कम अपने शरीरके) अन्दरके अंगोंको देखना एक यौगिक-शक्ति है जिसे राजयोगी और हठयोगी विकसित करते हैं — मैं समझता हूँ कि इसे दूसरोंके शरीरतक भी विस्तृत किया जा सकता है। एक सूक्ष्म गन्धोंको ग्रहण करने-वाली इन्द्रिय भी है और मैंने देखा है कि कभी कभी कोई गंध देर तक स्थित रहती है।

IV

घंटे-घड़ियालोंके शब्द और प्रकाशों एवं रंगोंको देखना आंतरिक चेतनाके खुलनेके चिह्न हैं जिसके साथ ही भौतिक स्तरसे भिन्न अन्य स्तरोंमें दृश्यों और शब्दों-को देखने और सुननेकी शक्ति भी खुल जाती है। इनमेंसे घंटे-घड़ियाल, झींगुरों इत्यादि-के शब्द जैसी कुछ वस्तुएं भी उद्घाटनमें सहायता देती प्रतीत होती हैं। उपनिषद् उनके विषयमें "ब्रह्मव्यक्तिकराणि योगे" (अर्थात् ये योगमें ब्रह्मको अभिव्यक्त करने-

वाली हैं), ऐसा कहती है।

ज्योतियां शक्तियोंकी प्रतिनिधि है — अथवा कभी कभी आकारयुक्त प्रकाश, जैसा कि तुमने देखा है, अतिभौतिक स्तरोंकी सत्ताका प्रकाश हो सकता है।

*

जिन शब्दों या आवाजोंको तुम सुनते हो वे उन दृश्यवस्तुओं (व्यक्तियों, पदार्थों) जैसे हैं जिन्हें तुम सामान्यत देखते हो। जैसे भौतिक दृष्टिसे भिन्न एक आंतरिक दृष्टि है, वैसे ही बाह्य श्रवणसे भिन्न एक आतरिक श्रवणशक्ति भी है, और वह अन्य लोकोंकी, और अन्य कालों एव देशोंकी या अतिभौतिक सत्ताओंसे आनेवाली आवाजों, ध्वनियों और शब्दोंको भी सुन सकती है। पर इस विषयमें तुम्हें सावधान रहना चाहिये। यदि परस्पर विरोधी आवाज तुम्हें यह बतानेका यत्न करे कि तुम्हें क्या करना चाहिये या क्या नहीं, तो तुम्हें सुनना या उत्तर देना नहीं चाहिये। केवल मैं और श्रीमां ही तुम्हें किसी बातको करने या न करनेके विषयमें बता सकते है या तुम्हें मार्गदर्शन या सलाह दे सकते हैं।

*

जब आतरिक इन्द्रियां या उनमेंसे कोई एक खुलती है तो मनुष्य स्वत: अन्य लोकों-से संबंध रखनेवाली वस्तुओंको देखता या सुनता है। अन्य लोकोंके विषयमें व्यक्ति क्या सुनता या देखता है यह आतरिक इन्द्रियके विकासपर निर्भर करता है। यह इस बातपर निर्भर करता है कि जो शब्द तुम सुनते हो वे साधनासे ही संबंध रखनेवाले सांकेतिक शब्द मात्र हैं या केवल सामान्य प्रकारके शब्द।

*

यह आवाजोंकी प्रकृति पर आधार रखता है। कुछका सबंध (साधनासे) होता है, और दूसरे महज अन्य स्तरोंके शब्द होते है।

*

वे (साधनासे सबद्ध सूक्ष्म शब्द) इस बातके सूचक है कि किसी वस्तुको तैयार करनेके लिये क्रिया जारी है — पर क्योंकि वह एक सर्वसामान्य वस्तु है इसलिये स्वयं शब्दोंके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि वह तैयारी क्या है।

*

आंतरिक आवाज केवल एक आवाज है — यह निर्देश दे सकती है, पर शक्ति नहीं। आवाज बोलती है, कार्य नही करती। किसी पुस्तकको पढनेमें और आंतरिक निर्देश ग्रहण करनेमें बहुत अधिक अन्तर है।

*

यह (सूक्ष्म गंध और स्वाद) गुह्य ज्ञान और शक्तियोंका उद्‌घाटन नही, किन्तु केवल आंतरिक चेतनाका उन्मीलन है।

*

(व्यक्तिके शरीरमेंसे आनेवाली) इस (सूक्ष्म) गंधका कारण व्यक्तिकी कोई प्राणिक-भौतिक वस्तु होती है। यह हो सकता है कि वह वस्तु सब समय उभरी न रहे। जब वह उभरी होती है, तो गंध आती है।

......यह वस्तु विभिन्न व्यक्तियोंमे विभिन्न प्रकारकी हो सकती है और इस संबंधमें कोई नियम नही बनाया जा सकता कि वह अमुक अमुक है। सबसे अधिक घिनौनी गंध यौन-वृत्तिकी होती है।

V

प्रतीक, मेरी समझमें, एक स्तरका एक रूप है, जो दूसरे स्तरके किसी सत्यको दर्शाता है। उदाहरणार्थ, झंडा राष्ट्रका प्रतीक है। किंतु साधारणतया, सभी रूप प्रतीक होते है। हमारा यह शरीर हमारी यथार्थ सत्ताका प्रतीक है, और प्रत्येक पदार्थ किसी उच्चतर सत्यका प्रतीक होता है। हां, प्रतीक बेशक विभिन्न प्रकारके होते हैं।

(1) रूढ़ प्रतीक: वे जो वैदिक ऋषियोंने अपने आसपासके पदार्थोंसे गढ़े थे। गाय प्रकाशका अर्थ देती थी, क्योंकि एक ही शब्द 'गो' रश्मि और गाय — दोनों-का द्योतक था, और क्योंकि गाय उनकी अमूल्यतम संपत्ति थी, जो उनका भरण-पोषण करती थी और जिसके चुराये अथवा छिपाये जानेका सदैव भय रहता था। किन्तु इस प्रकारका प्रतीक एक बार सृष्ट हुआ नही कि जीवन्त हो उठता है। ऋषियोंने उसमें प्राण फूंके और वह उनकी उपलब्धिका एक अंग बन गया। वह उनके अंतर्दर्शन-में आध्यात्मिक प्रकाशकी मूर्त्तिके रूपमें प्रकट हुआ। अश्व भी उनके प्रिय प्रतीकोंमें था — और उससे अधिक सुगमतासे अनेक प्रयोग हो सकते थे — क्योंकि उसके बल और शक्ति स्पष्ट थे।

(2) जिन्हें हम जीवन-प्रतीक कह सकते हैं, जो कृत्रिमतया नही चुने जाते अथवा जो जानबूझकर मन द्वारा गढ़े-समझे नही जाते, वरन् जो दैनन्दिन जीवनसे अथवा

इन परिस्थितियोंसे स्वाभाविकतया विकसित होते है, जो हमारे जीवनके साधारण मार्गको प्रभावित करती है। प्राचीनोंके लिये पर्वत योगमार्गका प्रतीक था — स्तरके ऊपर स्तर, शिखरके ऊपर शिखर। यात्रा भी, जिसमें नदियोंको पार करना होता है, पशु और मानव, दोनो प्रकारके छिपे हुए शत्रुओंका सामना करना होता है, इसी प्रकार-का भाव व्यक्त करती थी। आजकल, मैं समझता हूँ, हम लोग योगकी मोटरकी सवारी या रेलयात्रासे समता करेंगे।

(3) वे प्रतीक जिनमें एक अपना सहज औचित्य होता है। आकाश अथवा आकाशरूपी देश निःसीम, परिव्याप्त सनातन ब्रह्मका प्रतीक है। किसी भी जातिमें वह यही अर्थ व्यक्त करेगा। इसी प्रकार सूर्य अखिल विश्वमें अतिमानसिक प्रकाशका, दिव्य विज्ञानका अर्थ व्यक्त करता है।

(4) मानसिक प्रतीक, जिनके उदाहरण है अंक अथवा वर्ण। ये भी एक बार मान्य हुए नही कि काम करने लगते हैं, और उपयोगी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, ज्यामितिकी आकृतियोंके विभिन्न अर्थ लगाये गये हैं। मेरे अनुभवमें वर्ग अतिमानस-का प्रतीक है। मै कह नही सकता, ऐसा क्यो होने लगा। संभव है, मेरे मनमें आनेसे पहले किसी व्यक्ति अथवा किसी शक्तिने उसका निर्माण किया हो। त्रिकोणके भी विभिन्न अर्थ बताये जाते है। एक अवस्थामें वह निम्न तीन स्तरोंका प्रतीकत्व कर सकता है, दूसरी अवस्थामे वह उच्चतर तीन स्तरोंका प्रतीक होता है; इस प्रकार दोनो एक ही चिह्न मे सम्मिलित किये जा सकते है। प्राचीन लोग अंकोंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करनेमें सुख मानते थे, किंतु उनकी प्रणालियां बहुधा मानसिक होती थी। यह निःसंदेह सत्य है, कि अतिमानसिक सत्ताओंका — जिन्हें हम कर्म, चैत्य विकास आदि जैसे मानसिक सूत्रोमें रूपांतरित कर लेते है — अस्तित्व है। किन्तु वे, एक प्रकारसे, निःसीम सत्ताएं हैं, जो इन प्रतीक-रूपों द्वारा सीमित नही की जा सकती, यद्यपि कुछ कुछ व्यक्त की जा सकती है। अन्य प्रतीकों द्वारा भी वे उतनी ही अच्छी तरह व्यक्त की जा सकती है, और एक ही प्रतीक विभिन्न कई भावोंको भी व्यक्त कर सकता है।

•

ये सब विचार किसी न किसी रूपमे भूतकालमें विद्यमान थे। ईसासे पांच शताब्दि पहले पाईथागोरसकी शिक्षामें संख्याओंका महत्त्व शिक्षाका एक प्रमुख तत्व था।

•

अग्नि, ज्योतिषा, सूर्य, चन्द्र ये सब सामान्य प्रतीक है और अधिकांश लोग इन्हें साधनाके समय देखते है। ये आन्तरिक शक्तियोंकी गति या क्रियाको सूचित करते

हैं। सूर्यका अर्थ है आंतरिक सत्य।

*

व्यक्ति ज्योतियोंको कभी पुँजोके रूपमें और कभी आकारोंके रूपमें देखता है — और सूर्य, चन्द्र, तारा या अग्निके आकार अत्यन्त सर्वसामान्य आकार है।

*

साधनाकी एक विशेप स्थितिमें जव अन्दर शक्तियोकी क्रिया चल रही होती है तो हमेशा ही प्रकाश, वर्ण, फूल दीखते है। निःसंदेह प्रकाश चेतनाके आलोकित होनेको सूचित करता है, और रग मानसिक (पीला), भौतिक और प्राणिक शक्तियोंकी लीलाको, किन्तु उन शक्तियोंको जो सत्ताके इन भागोंको आलोकित करनेमें मदद देती है। फूल साधारणतया चैत्य क्रियाके द्योतक है।

*

ज्योतियोंको देखनेके लिये मनका निश्चल होना आवश्यक नही है — यह केवल सूक्ष्म दृष्टिके उस केन्द्रके उद्घाटनपर निर्भर करता है जो माथेपर भौंहोंके बीचमें स्थित है। वहुत लोग साधना शुरू करते ही इसे प्राप्त कर लेते हैं। जिन लोगोंमें यह उद्घाटन एक सहज शक्तिके रूपमें कुछ हदतक विकसित होता है वे विना साधनाके प्रयत्न और एकाग्रता द्वारा भी इसे विकसित कर सकते हैं। मनकी अचंचलता अन्य वातोंके लिये जरूरी है, जैसे कि श्रीमांके सामीप्यका अनुभव इत्यादि।

*

प्रकाशको देखनेके लिये मनका एकाग्र होना सदा आवश्यक नही — चेतनामें किसी स्थानपर उद्घाटन हो जाय यही पर्याप्त है।

*

वाहर प्रकाशके अनुभव होनेका अर्थ है प्रकाश द्वारा द्योतित शक्तिका (सुनहरा प्रकाश सत्यका प्रकाश है, नीला उच्चतर भूमिकाकी किसी आध्यात्मिक शक्तिका) स्पर्श या प्रभाव जव कि अन्दर प्रकाशके अनुभवका अर्थ है कि वह स्वयं प्रकृतिमें प्रविष्ट या प्रतिष्ठित हो गया है अथवा वार वार सक्रिय होने लगा है। ऊपर प्रकाशके अनुभवका अर्थ है शक्ति मनपर अवतरित हो रही है, चारों ओर प्रकाश होनेका अर्थ है चारों ओर

छाया हुआ एक सामान्य प्रभाव।

*

दीप्तिका आशय है एक संयत परन्तु समृद्ध प्रकाश अथवा एक प्रकारका ज्योतिर्मय ढगका ऊष्मायुक्त उल्लास।

*

प्रकाश प्रायः अग्रभागमें आंतर दृष्टि, मन और संकल्पके उस केंद्रके सामने दीखता है जो ललाटमे भौहोंके बीचमे स्थित है। सूर्यका अर्थ है दिव्य सत्यका मूर्त्त प्रकाश, तारोंका प्रकाश सामान्य चेतनापर छाई हुई शक्तिके रूपमें कार्य करनेवाला वही प्रकाश है जो चेतना अज्ञान-रात्रिके रूपमें दीखती है। पुकार इस प्रकाशको आंतरिक सत्तामें प्रवाह रूपमें खींच लाई।

*

सूर्य सत्यके घनीभूत प्रकाशका प्रतीक है।

*

सूर्य ऊपरसे आनेवाला सत्य है, अन्ततोगत्वा वह अतिमानस-सत्य है।

*

अतिमानस मन बिलकुल नहीं, यह कोई भिन्न वस्तु है। सूर्य, किसी भी भूमिकामें, सीधे प्रत्यक्ष बोधसे प्राप्त सत्यका द्योतक है। यह अतिमानसका प्रतीक है, किन्तु सत्य नीचेकी अन्य भूमिकाओं तक भी अवतरित हो सकता है और तब वह फिर अतिमानसिक नहीं रहता किन्तु अन्य भूमिकाओंके सारतत्वके अनुसार थोड़ा बहुत बदल जाता है — फिर भी वह सत्यका सीधा प्रकाश तो होता ही है।

*

विभिन्न भूमिकाओंमें विभिन्न सूर्य होते हैं और प्रत्येकका अपना रंग होता है। किन्तु ऊपर भी उसी रंगके सूर्य हैं, केवल उनका रंग अधिक चमकीला होता है, ये सामान्य सूर्य अपना प्रकाश और शक्ति उन्हींसे प्राप्त करते हैं।

*

लाल सूर्य सच्ची, आलोकित भौतिक-चेतनाका प्रतीक है। वह चेतना उस अंधकारमय और अज्ञानपूर्ण भौतिक चेतनाका स्थान लेगी जिसमें मनुष्य आज निवास करते हैं। लाल रंग भौतिक तत्वका रंग है; लाल हीरा है भौतिक स्तरमें श्रीमांकी चेतनाकी उपस्थिति।

*

चन्द्रमा आध्यात्मिकताका, कभी कभी आध्यात्मिक आनन्दका भी द्योतक होता है।

*

सूक्ष्मदर्शनमें एक प्रतीकके रूपमे चन्द्र साधारणतया मनोगत आध्यात्मिकताको या केवल, आध्यात्मिक चेतनाको सूचित करता है। यह आध्यात्मिक आनन्दके प्रवाह-का भी द्योतक हो सकता है (प्राचीन परम्पराके अनुसार चन्द्रमामें अमृत (आनन्द) का निवास है)।

*

यह (चन्द्रमा द्वारा प्रतिरूपित आध्यात्मिक मन) ऐसा मन है जो आत्मिक सत्योंके संपर्कमें रहता है और उन्हें प्रतिबिंबित करता है। सूर्य सत्यका आलोक है, चन्द्र केवल उस सत्यके आलोकको प्रतिबिंबित करता है — दोनोंमें यह भेद है।

*

सुनहरे प्रकाशका अर्थ है उच्चतर सत्यका प्रकाश — चन्द्र आध्यात्मिकताका प्रतीक है। सुनहरे चन्द्रका अर्थ है उच्चतर सत्यके प्रकाशसे परिपूर्ण आध्यात्मिकताकी शक्ति।

*

तारेका अर्थ होता है सर्जन या निर्माण अथवा सर्जन या निर्माण करनेका आश्वासन या सामर्थ्य।

*

तारा हमेशा भावी प्रकाशके आगमनकी आशाका सूचक है; प्रकाशका अवतरण होनेपर तारा बदल कर सूर्य बन जाता है।

*

तारे अज्ञानमय मानसिक चेतनामें प्रकाश बिन्दुओंके द्योतक है।
चन्द्र = आध्यात्मिक प्रकाश।
सूर्य = उच्चतर सत्य-ज्योति।

*

एक सुनिर्मित और आलोकित विचार प्रकाशके स्फुलिंगके रूपमें दृष्टिगोचर हो सकता है।

*

प्रकाशकी चिनगारिया अथवा प्रकाशकी गतियां चेतनामें या उसके चारों ओर शक्तियोंकी लीलाकी द्योतक है।

*

अग्नि शक्तिशाली क्रियाको सूचित करती है।

VI

रंग और प्रकाश हमेशा एक दूसरेके आसपास रहते है — रंग अधिक सांकेतिक होता है और प्रकाश अधिक गतिशील। रंग उत्तप्त होकर प्रकाश बन जाता है।

स्वर्ण अत्यधिक सघन होनेपर अतिमानसिक लोककी किसी चीजको सूचित करता है या फिर ऐसे अधिमानससत्य अथवा संबोधिजन्य सत्यको सूचिक करता है, जो अन्ततः अतिमानसिक सत्यचेतनासे उत्पन्न होता है।

*

रंगोंके ठीक-ठीक आध्यात्मिक अर्थका जहांतक संबंध है, उसका ठीक-ठीक वर्णन करना सर्वदा आसान नहीं होता, क्योंकि यह विषय उतना सुनिश्चित और नियम-बद्ध नहीं है, बल्कि थोड़ा जटिल है, रंगके स्थान, मिश्रण, गुण और आभाके अनुसार

तथा शक्तियोंकी क्रीड़ाके अनुसार अर्थ बदल जाता है। उदाहरणार्थ, बहुतसे गुह्यवादी यह मानते हैं कि एक प्रकारका पीला रग बुद्धिको सूचित करता है और बहुधा उसका वह अर्थ होता भी है, पर जब वह रंग प्राणगत शक्तियोंकी किसी क्रीडाके बीच प्रकट होता है तब सर्वदा उसका वैसा अर्थ नही किया जा सकता — वैसा करनेपर वह एक अत्यधिक कठोर नियम बन जायगा। यहां हम अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि नीले रंगका (प्रत्येक नीले रंगका नही, बल्कि जो नीला रंग दीखा था उसका) अर्थ था सत्यके प्रति प्रत्युत्तर; हरे रंग — अथवा इस विशिष्ट हरे रंग — का संबंध जीवनी-शक्तिके साथ और शक्तियोंके — बहुधा भावप्रधान प्राणशक्तिके एक उदार निःसरण या क्रियाके साथ होता है और संभवत इसी चीजको वह यहां सूचित करता है।

*

सत्ताओंके अलग रंग नही होते। मनका अपना लाक्षणिक रग है पीला; चैत्य-का गुलाबी या हल्का गुलाबी; प्राणका बैंगनी; पर ये रंग मन, चैत्य और प्राणकी प्रमुख शक्तियोंके अनुरूप होते है — स्वयं सत्ताओंके रंग नही होते। अन्य रंग भी अपनी अपनी लीला कर सकते हैं, उदाहरणके लिये प्राणमें हरा और गहरा लाल इसी प्रकार बैंगनी भी, उधर विरोधी प्राणिक शक्तियोंके भी दूसरे रंग होते हैं।

*

ध्यानमें मनुष्य जिन ज्योतियोंको देखता है वे विभिन्न शक्तियोंकी ज्योतियां होती हैं और बहुधा उच्चतर चेतनासे नीचे आनेवाली ज्योतियां होती हैं।

बैंगनी ज्योति भागवत करुणा (कृपा-शक्ति) की ज्योति है — श्वेत ज्योति श्रीमाताजी (भागवत चेतना) की ज्योति है जिसमें अन्य सभी ज्योतियां निहित हैं और जिसमेंसे प्रकट हो सकती हैं।

धूम्रवर्ण प्राणशक्तिका रंग है। "लाल" निर्भर करता है रंगके प्रकारपर, क्योंकि लाल रंग कई प्रकारका होता है — यह रंग भौतिक चेतनाका रंग हो सकता है।

*

ये चार ज्योतियां सत्यकी ज्योतियां थी, — सफेद थी दिव्य सत्यकी विशुद्धि और शक्ति, हरी उसकी कार्य करनेकी गतिशील ऊर्जा, नीली दिव्य सत्यकी आध्यात्मिक चेतना, और सुनहरी उसका ज्ञान।

तीर अपने लक्ष्यकी ओर जानेवाली शक्तिका प्रतीक है।

नीला रंग उच्चतर मन है।

तुमने जो घटे-घड़ियालकी आवाज सुनी वह साधारणत: साधनामें उन्नतिका, भावी उन्नतिका चिह्न है।

सापकी आकृति शक्तिकी प्रतीक है और सफेद-नीला प्रकाश उच्चतर मनमें श्रीमाकी चेतनाका प्रकाश हो सकता है, अथवा यदि ये दोनों रंग पृथक् पृथक् न हों परन्तु सफेदी लिये हुए नीला रग हो तो यह श्रीअरविन्दका प्रकाश है। प्रकाश शक्तिकी ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसमें शक्तिका स्वरूप प्रकाशके रंग द्वारा सूचित होता है।

*

नीला रग आध्यात्मिक भूमिकाओंका सामान्य रंग है; चांदनी आध्यात्मिक मनका और उसके प्रकाशका संकेत करती है।

*

ज्योतिया किन्ही शक्तियोंकी क्रियाको सूचित करती है, साधारणतया वे प्रकाश-के रंगो द्वारा द्योतित होती है। श्वेत-नीला प्रकाश श्रीअरविन्दका या कभी कभी श्रीकृष्णका प्रकाश माना जाता है।

*

नीले प्रकाशका अर्थ रंगके सही स्वरूप, उसकी अपनी विशेष आभा और प्रकृति पर आधार रखता है। चांदनी जैसा सफेद-नीला प्रकाश श्रीकृष्णके या श्रीअरविन्दके प्रकाशके रूपमें प्रसिद्ध है —— हल्का नीला प्राय: आलोकित मनका प्रकाश होता है —— दूसरा अधिक गहरा नीला उच्चतर मनका प्रकाश है; एक और, जामनी-सा प्रकाश प्राणकी शक्तिका प्रकाश है।

*

फीका सफेद आभाववाला नीला प्रकाश "श्रीअरविन्दका प्रकाश" है —— श्रीमांके सफेद प्रकाशने नीले प्रकाशको थोड़ा हल्का कर दिया है।

*

हल्का नीला प्रकाश मेरा है, श्वेत प्रकाश श्रीमांका है। तुमने अपने सिरके ऊपर जिस जगत्को देखा था वह आलोकित मनका जगत् था, चेतनाका यह स्तर मानव बुद्धिसे बहुत अधिक ऊंचा है। दिव्य प्रकाश और शक्ति मानव चेतनामें संक्रांत होनेके

लिये इसी स्तरपर अवतरित होते हैं और वहींसे कार्य करके वे मानव चेतनाके और भौतिक प्रकृतिके भी, रूपांतरकी तैयारी करते है।

*

यदि नीली ज्योतियोंकी आभाएं भिन्न भिन्न हों तो इसका अर्थ हो सकता है अधि-शीर्ष भूमिकाएं, अधिमानस, संबोधि, आलोकित मन, ऊच्चतर मन।

*

कृष्णके प्रकाश भिन्न भिन्न प्रकारके होते है —— हीरे जैसा फीका नीला, लवेन्डर जैसा नीला, गहरा नीला इत्यादि। यह प्रकाश उस भूमिकापर निर्भर करता है जिस पर प्रकट होता है।...

एक और नीला रंग है जो उच्चतर मनका है, अधिक गहरे नीले रगका संबंध मनसे,——मनके भीतर कृष्णके प्रकाशसे है।...

सभी नीले रंग कृष्णका प्रकाश नहीं होते।...

हीरे जैसा नीला प्रकाश, अधिमानसमें — लवेन्डर जैसा नीला संबोधि मनमें कृष्णका प्रकाश है।

नीला रंग राधाका भी है।

*

धवल प्रकाश दिव्य चेतनाको सूचित करता है।

*

उन सबका सदा एक ही अर्थ होता है। श्वेत प्रकाश उस विशुद्ध सचेतन शक्ति-का प्रकाश है जिसमेंसे बाकी सब वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। सुनहरा प्रकाश ऊच्चतर स्तरोंपर स्थित दिव्य सत्यका प्रकाश है।

*

सफेद प्रकाश शोधनकी शक्तिका निर्देश करता है।

*

हीरे श्रीमाके सघनतम प्रकाशके सूचक हो सकते हैं, क्योंकि वह प्रकाश हीरेका-सा सफेद प्रकाश होता है।

*

सूर्यका प्रकाश स्वयं सत्यका प्रकाश है — चाहे यह सत्यकी कोई भी शक्ति हो — जब कि अन्य ज्योतियां सत्यसे उत्पन्न होती है।

*

सूर्यका प्रकाश सीधा सत्यका प्रकाश है; वह जब प्राणमें मिल जाता है तब मिश्रित रंगका हो जाता है — यहां वह सुनहरा और हरा है — ठीक ऐसे ही जैसे कि भौतिक स्तरपर वह सुनहरा लाल या मनमें सुनहरा पीला बन जाता है।

*

सुनहरा प्रकाश दिव्य सत्यका वह प्रकाश है जो अतिमानसिक सूर्यके प्रकाशसे आता है और जिस स्तरमेंसे होकर गुजरता है उसके अनुसार बदलता जाता है, और इस प्रकार अतिमानससे लेकर ऊच्चतर मन तककी शृंखलाओंका निर्माण करता है।

*

सुनहरा प्रकाश है किंचित् परिवर्तित (अधिमानसीकृत) अतिमानसका प्रकाश, अर्थात् अतिमानसका वह प्रकाश जो अधिमानस, संबोधि इत्यादिमेंसे गुजरता है और इनमेंसे प्रत्येक स्तरमें सत्यका प्रकाश बन जाता है। जब वह सुनहरा लाल होता है तो इसका अर्थ वही किंचित् परिवर्तित अतिमानस-भौतिक प्रकाश,—भौतिक स्तरमें दिव्य सत्यका प्रकाश होता है।

*

सुनहरे प्रकाशका अर्थ सदैव सत्यका प्रकाश होता है — परंतु सत्यका स्वरूप, जिस स्तरसे वह संबंध रखता है उसके अनुसार बदलता रहता है। प्रकाश है चेतना, सत्य और ज्ञानका प्रकाश — सूर्य प्रकाशका संकेन्द्रण या उसका उद्गम है।

*

यह फिर दिव्यसत्यके प्रकाशसे आलोकित मनके किसी उच्चतर स्तरमें चेतना-का आरोहण है। पीला है मनका प्रकाश जो व्यक्तिके ऊपर चढ़नेके साथ उत्तरोत्तर चमकीला होता जाता है और अन्तमे वह दिव्यसत्यके सुनहरे प्रकाशके साथ मिल जाता है।

*

आध्यात्मिक शक्ति स्वभावत· शरीरकी अपेक्षा अपने स्तरमें अधिक स्वतंत्र होती है। यहां सुनहरा रंग महाकालीकी शक्तिका द्योतक है जो शरीरमें कार्य करने वाली सबसे अधिक सबल शक्ति है।

*

यह अभी स्पष्ट नही हुआ। सुनहरा लाल रग अतिमानसिक-भौतिक प्रकाशका रंग है — इसलिये सभव है कि यह पीला-लाल रग अधिमानसके किसी स्तरको सूचित करता हो जिसका उसके साथ एक निकटतर विशेष संबंध है। सुनहरे लाल प्रकाशमे रूपांतरकी प्रबल शक्ति है।

*

प्रसंगवश नारंगी या लाल-सुनहरा प्रकाश भौतिक स्तरमें अतिमानसका प्रकाश माना जाता है।

*

नारंगी प्रकाश भौतिक चेतना और सत्तामें प्रकट हुआ सच्चा प्रकाश है।

*

गहरा लाल प्रकाश वह प्रकाश है जो नीचे भौतिक सत्तामें उसके परिवर्तनके लिये उतरता है। उसका संबंध सूर्यके प्रकाश और सुनहरे प्रकाशके साथ होता है।

*

गहरा लाल उस शक्तिका प्रकाश है जो भौतिक सत्ताके रूपांतरके लिये २४ (नवम्बर १९३३) से पहले अवतरित हुई थी।

*

हा, हरा प्रकाश है प्राणकी शक्ति, उस भावप्रधान प्राणकी क्रियाशील शक्ति जिसमें शोधन, सामंजस्य या रोग-निवारणकी शक्ति है।

*

हरा रंग कर्म और क्रियाकी प्राणिक ऊर्जा है।

VII

आकाश मानसिक चेतना (या चैत्य) का प्रतीक है अथवा मनसे ऊपर स्थित अन्य चेतनाओंका — उदाहरणके लिये, उच्चतर मन, संबोधि, अधिमानस, इत्यादि-का। महाव्योम (Ether) के रूपमे आकाश असीमका भी द्योतक है।

*

उच्चतर चेतना अपने किसी भी स्तरपर साधारणतया आकाश या महाव्योम (Ether) के रूपमें दिखाई देती है, परन्तु प्राणके द्वारा अनुभव होनेपर इसका बहुधा समुद्रके रूपमे बोध होता है।

*

वेदमे सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, और अन्न (जड़तत्व) इन सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है — परन्तु इस योगमें व्यक्ति चेतनाकी ऐसी अनेक भूमिकाएं देखता है जो आकाशों या फिर समुद्रोंके रूपमें दिखाई देती है।

*

नीला आकाश उस उच्चतर मनका आकाश है जो मानवमन और अतिमानस-के बीचकी भूमिकाओंमें सर्वाधिक निकट है। चन्द्र यहां मानसिक भूमिकाओंकी आध्यात्मिकताका प्रतीक है। उच्चतर मनका लोक सीधे शरीरचेतनासे जुड़े हुए लोकोंसे ऊपर स्थित है।

*

आकाश सर्वदा कोई मानसिक स्तर होता है। तारे प्रकाशके प्रारंभों या आश्वासनोंके सूचक हैं — विभिन्न प्रकाश चेतनाकी विभिन्न शक्तियोंके द्योतक है;

सुनहरा = सत्य, नीला = उच्चतर आध्यात्मिकतापन्न मन, बैंगनी = सहानुभूति, एकता या वैश्वकरुणा।

*

पहला सागर सामान्य चेतना है, दूसरा सागर वह उच्चतर चेतना है जिसके ऊपर सत्यका सूर्य विराजमान है। पर्वत है उच्चतर चेतनाके आरोहण करनेवाले स्तरोंका प्रतिनिधि। रेल-यात्रा एक चेतनासे दूसरी चेतनामें प्रयाणका पथ है।

*

समुद्रपर यदि सूर्य चमकता हो तो वह सत्य द्वारा प्रकाशित चेतनाका स्तर है। किरणोंमें प्रवेश करनेका अर्थ पहलेकी तरह उनसे प्रकाशित होना मात्र नहीं है परन्तु अपनी सचेतन सत्तामें सत्यका अंग बनने लगना है।

*

नीला सागर प्रायः उच्चतर मनमें एक और अखण्ड आध्यात्मिक चेतनाका प्रतीक है।

*

उषाका अर्थ नित्य ही किसी प्रकारका उद्‌घाटन होता है अर्थात् एक ऐसी वस्तु-का आगमन जो यहां इस समय पूरी तरह विद्यमान नहीं है।

*

जैसे प्रकाश सत्य और ज्ञानका प्रतीक है ठीक उसी प्रकार रात्रि उस अज्ञान या अविद्याकी प्रतीक है जिसमें मानव निवास करते हैं।

*

पर्वत उस देहबद्ध चेतनाका प्रतीक है जिसका आधार पृथ्वी है किन्तु जो भग-वान्‌की ओर ऊपर उठ रही है।

*

पर्वत सदैव सत्ताकी आरोहणशील पहाड़ीका द्योतक है जिसके शिखरोंपर चढ़-कर हमे भगवान्को प्राप्त करना है।

*

पर्वत ऊपर चढते हुए स्तरोंवाली चेतनाका अति सामान्य प्रतीक है। शिखरसे गिरनेवाला पानीका प्रवाह किसी उच्चतर चेतनासे आनेवाले प्रवाहको सूचित करता है।

*

तुम्हें जो बर्फका अन्तर्दर्शन हुआ है वह संभवत: बर्फीली जमीन जैसी विशुद्धि, निश्चल-नीरवता और शातिसे युक्त अवस्थावाली चेतनाका प्रतीक है; उसमें उन पुराने मनोमय और प्राणमय जीवनके स्थानपर जो बर्फकी सफेदीसे ढंका हुआ है, एक नया जीवन (चैत्य, आध्यात्मिक, जैसा कि पुष्पों द्वारा प्रकट हो रहा है) उत्पन्न हो रहा है।

*

नदी चेतनाकी किसी गतिकी द्योतक है।

*

जल चेतनाकी एक अवस्था या भूमिकाका प्रतीक है।

*

जब जल (चेतनाकी भूमिकाका) प्रतीक होता है तो वह पानीका एक बड़ा विस्तार होता है — किंतु नदी या तालाब इतने विस्तृत नही होते कि वे किसी भूमि-काके प्रतीक बन सकें।

*

कभी कभी चेतनाका एक भाग तालाब, झील या समुद्रके रूपमें दिखाई देता है। मछली अवश्य ही प्राणिक मन है।

*

झील एक ऐसी सत्ता है जो अपनी व्यक्तिगत चेतनामें सीमित है, समुद्र भी वही सत्ता है किन्तु एक ऐसी विश्वमय चेतनासे युक्त है जो विश्व और उसकी शक्तियोंको अपने अन्दर धारण कर सकती है — पहली (व्यक्तिगत) चेतना दूसरी (वैश्व) चेतनामें विलीन हो जाती है। नौका तुम्हारे अन्दर माकी चेतनाकी एक ऐसी रचना है जिसके द्वारा तुम इस समुद्रमें यात्रा करनेकी तैयारी कर रहे हो।

*

वर्षा भगवान्‌की उस कृपा अथवा उच्चतर चेतनाके अवतरणकी प्रतीक है जो वैभव अर्थात् आध्यात्मिक समृद्धिकी उद्‌गम है।

*

इन्द्रधनुष शांति और मुक्तिका चिह्न है।

*

बादल अन्धकारके प्रतीक है।

*

पातालका अर्थ केवल पृथ्वीके नीचे स्थित अवचेतना ही है — क्योंकि पृथ्वी सचेतन भौतिकलोक है।

*

जंगल प्राण-प्रकृतिका कोई असंस्कृत भाग होना चाहिये और सर्प उसमेंसे निकलती हुई कोई गलत ढंगकी शक्ति।

*

वृक्ष अवचेतन प्राणका प्रतीक है।

*

पक्षी अन्तरात्माका एक अति सामान्य प्रतीक है और वृक्ष विश्वकी स्थिर प्रति-

मूर्ति अर्थात् जीवन वृक्ष है।

*

अश्वत्थ साधारणत: वैश्व अभिव्यक्तिका प्रतीक है।

*

फूल चेतनाके खिलनेके द्योतक होते है कभी कभी वे विशेष रूपसे चैत्य या चैत्य-भावापन्न प्राणमय, मनोमय और देह चेतनाका सकेत करते है।

*

साधारणतया जब चैत्य सक्रिय होता है तभी फूलोंका दर्शन प्रचुरतामे होता है।

*

लाल फूल अपनी आभाके अनुरूप साधारणतया भौतिक सत्तामे या प्राणके किसी भागमे चेतनाके उद्घाटनको सूचित करते है।

*

'शाश्वत स्मित' (नामके फूल) का अर्थ है परम-आत्माका स्वयभू हर्ष और प्रसन्नता।

*

साधनामें प्राणिक अन्तरगता (नामके फूल) का साधारणत. अर्थ होगा प्राणमय भूमिकापर भगवान्‌के साथ आतरिक घनिष्टता।

*

फल साधनाके परिणामके द्योतक हैं।

*

गुह्य प्रतीकवादमें गाय प्रकाश अथवा चेतनाकी द्योतक है — सफेद गाय विशुद्ध या आध्यात्मिक चेतनाको — श्वेत प्रकाशको सूचित करती है।

*

यह बिलकुल स्पष्ट है; यह वैदिक रूपक है। वेदमें गायका अर्थ है दिव्य प्रकाश — सफेद गाय है प्रकाशयुक्त शुद्ध चेतना। दूध है भागवत चेतनासे उतरता हुआ ज्ञान और बल।

*

सामान्यत: गायका अर्थ उच्चतर चेतना है। (लाल) बछड़ा शायद भौतिक चेतनाके और (सफेद) उच्चतर चेतनाके सत्यको सूचित करता है।

*

गायोंका दर्शन तुम्हें अवश्य ही चैत्यलोकमें हुआ होगा। इसका भी एक प्रतीकात्मक अर्थ है। सूर्य भागवत सत्यका प्रतीक है, गायें इसकी शक्तिया, हैं, सूर्यकी किरणे सत्य ज्ञान, सत्य वेदन और सत्य अनुभवका मूल स्रोत है।

जिस अवतरणका तुम्हें अनुभव हुआ है वह अवश्य ही प्रकाशके किसी गहरे स्तरमें, संभवत: चैत्य प्रकृतिमें हुआ होगा।

*

दूध हमेशा उच्चतर चेतनाकी धाराका प्रतीक होता है।

*

घोड़ा है शक्ति, साधारणतया जीवन-शक्ति, परन्तु क्रियाशील और गतिशील होनेपर इसका अर्थ मानसिक-शक्ति या तपस् भी हो सकता है।

*

काले घोड़ेका अर्थ है एक ऐसा घोड़ा जिसके गुण — अर्थात् वह अच्छा है या बुरा, जीतेगा या हारेगा — ज्ञात नही है — वह एक अस्पष्ट और अज्ञात तत्त्व है।

*

१ मईके अति संक्षिप्त पत्रमें लिखे तुम्हारे दो स्वप्नोंका जहांतक संबंध है, उसमें घोड़ोंसे सबंध रखनेवाला पहला स्वप्न उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि सफेद बछड़ेसे संबंध रखनेवाला दूसरा स्वप्न। परन्तु घोड़ा सदा ही शक्तिका प्रतीक होता है; इसलिये यहां यह अवश्य ही एक ऐसी शक्ति रही होगी जिसे तुम पकड़नेकी और अपना बनानेकी चेष्टा कर रहे थे जब कि कभी कभी वह तुम्हारे साथ ऊपर आनेका, शायद तुम्हारा उपयोग करनेका यत्न कर रही थी। प्राणिक स्तरपर ऐसा ही होता है जहां ये अनिश्चित गतियां निवास करती है। ऊंची वेदी स्पष्ट ही उस उच्चतर चेतनाका स्तर था जिसने इस चचल गतिको शांत कर दिया और इसके शांत और स्पष्ट होनेके साथ ही शक्तिके नियत्रणको अधिक संभव बना दिया।

सफेद बछड़ा शुद्ध और स्वच्छ चेतनाका चिह्न है — क्योंकि गाय या बछड़ा चेतनामें प्रकाशका प्रतीक है, इसलिये यह कोई चैत्य या आध्यात्मिक वस्तु है जिसे तुमने स्वाभाविक, आत्मीय और अविच्छेद्य अनुभव किया।

*

घोड़ा है प्रगतिके लिये कार्य करनेवाली शक्ति। पूरी रफ्तारसे चलती हुई रेल-गाडीका अर्थ है तीव्र प्रगति।

*

गधा शरीरमें तमस् और अवरोधका प्रतीक है। घोड़ा शक्ति या बलका प्रतीक है। पानीकी सुरंग अवश्य ही कोई प्राणिक-भौतिक वस्तु है, और महराब है निकलनेका रास्ता, जिसके द्वारा यदि गधा उसे पार कर सके या बल्कि खींचकर पार कराया जा सके तो वह घोड़ा बन जाता है। दूसरे शब्दोंमें भौतिक सत्ताके तमस् और अवरोध तब प्रगतिके बल और शक्तिमें बदल जायेंगे।

*

हाथी है बल — कभी कभी बुद्धिसे आलोकित बल।

*

सिंहका अर्थ है प्राणिक शक्ति, बल, साहस — यहां प्रकाशसे पूर्ण और आध्यात्मिक चेतनासे आलोकित बल।

*

सिंह शक्ति और साहस, और सामर्थ्य एवं बलका प्रतीक है। निम्नतर प्राण सिंहकी तरह नहीं होता।

*

यह सब बाघकी वृत्तिपर आधार रखता है। यदि यह भयंकर और वैरपूर्ण हो तो यह विरोधी शक्तिका रूप हो सकता है, अन्यथा यह केवल प्राण-प्रकृतिका ऐसा बल है जो मैत्रीपूर्ण हो सकता है।

*

वृषभ सामर्थ्य और शक्तिका प्रतीक है। यह वेदमें देवताओंकी प्रतिमूर्त्तिका और प्रकृतिमें पौरुषका भी द्योतक है। और फिर वृषभ शिवका वाहन है। यह इन प्रतीकोंमेंसे किसी एकका स्वप्न या अनुभव हो सकता है, परन्तु यहां वह बहुत संभवत स्वप्न है।

*

यह (सूवर) है राजसिक सामर्थ्य और प्रचंडता। तथापि यह बहुत कुछ प्रकरण पर निर्भर करता है,—इन आकारोंके और अर्थ भी हो सकते है।

*

हां, भैंसे अविचारी और अंधकारमय प्राणिक शक्तियोंके द्योतक हैं।

*

भैंसा प्रायः स्वभावकी तामसिक उग्रताके भावको सूचित करता है — यहां यह बंधा हुआ मालूम होता है — अर्थात् नियंत्रित पर निष्कासित नहीं। परन्तु, यदि वह प्रतीकात्मक हो तो भी यह स्पष्ट नहीं कि यह किस वस्तुका निर्देश करता है।

*

सूक्ष्मदर्शनमें बकरा प्रायः कामुकताका प्रतीक होता है।

*

कुत्ता स्वामिभक्तिसे भरे अनुराग और आज्ञाकारिताका प्रतीक है।

*

कुत्ता साधारणतया विश्वास पात्रताको सूचित करता है और क्योंकि यह पीला है इसलिये यह भगवान्‌के प्रति मनोगत निष्ठा होगी — किन्तु दूसरे चितकबरे कुत्ते-की व्याख्या करना कठिन हैं — यह कोई प्राणकी वस्तु है, परन्तु काली चित्तियोंका अर्थ स्पष्ट नही है।

*

हिरन शायद आध्यात्मिक उन्नतिके वेगका प्रतीक है।

*

हनुमान = पूर्ण भक्ति।
हिरन = आध्यात्मिक पथमें द्रुत गति।

*

मेंढक = विनम्र उपयोगिता।

*

मछली है हमेशा सब प्रकारकी रचनाएं करनेवाला चंचल प्राणिक मन।

*

(मक्खियां) क्षुद्रतर प्राणकी कोई छोटी-सी वस्तु है।

*

यहां प्रत्यक्ष ही (दीमकें) निम्नप्राण या भौतिक सत्तामें क्षुद्र परन्तु विनाशक शक्तियोंकी प्रतीक होनी चाहिये।

*

उपनिषदोंमें ब्रह्मके लिये मकड़ीका रूपक प्रयुक्त किया गया है जो जगत्‌को अपने अन्दरसे बाहर निकालता है, उसमें निवास करता है और उसे अपने अन्दर लीन कर लेता है। परन्तु प्रतीक तुम्हारे लिये क्या अर्थ रखता है यही महत्वकी वस्तु है। तुम्हारे लिये इसका अर्थ सफलता या सफल रचनाएं हो सकता है।

*

सर्प सदैव किसी न किसी प्रकारकी ऊर्जाका द्योतक है — बहुत करके बुरी, किन्तु यह किसी प्रकाशमयी या दिव्य शक्तिका भी द्योतक हो सकता है। इस अनुभवमें यह किसी शक्तिका भौतिक स्तरसे ऊपरकी ओर आरोहण है। अन्य ब्यौरे स्पष्ट नहीं हैं।

*

सांप एक शक्तिका प्रतीक है, बहुधा वह प्राण लोककी किसी विरोधी या अशुभ शक्तिको सूचित करता है।

समुद्र चेतनाके किसी स्तरका निर्देश करता है।

सफेद प्रकाश उस विशुद्ध दिव्य शक्तिकी अभिव्यक्ति है जो अतिमानसिक लोककी ओर ले जानेवाले सत्य लोकोंमेंसे किसी एकसे अवतरित होती है।

*

फनका फैलना सर्प द्वारा लक्षित होनेवाली ऊर्जाकी विजयी या सफल क्रियाका द्योतक है।

*

सिरके ऊपर फन फैलाये हुए सांप साधारणतः भावी सिद्धिको सूचित करता है।

*

नाग प्रकृतिमें ऊर्जाका प्रतीक है — उठा हुआ फन और प्रकाश प्रकट हुई ऊर्जा-की दीप्ति और विजयी स्थितिके द्योतक हैं।

*

तुम्हारी अभीप्साके प्रत्युत्तरमें ही महाकालीकी शक्ति अवतरित हुई — सांप है ऊपरकी एक ऐसी ऊर्जा जो प्राणमें क्रिया कर रही है और नीचेसे ऊपर उठनेवाली कुंडलिनी शक्तिको प्रत्युत्तर दे रही है। श्वेत अग्नि अभीप्साकी अग्नि है, लाल अग्नि त्याग और तपस्याकी, नीली अग्नि उस आध्यात्मिकता एवं आध्यात्मिक ज्ञानकी अग्नि है जो अज्ञानको शुद्ध-पवित्र करके दूर कर देता है।

*

साप ऊर्जाका प्रतीक है — विशेषकर कुंडलिनी शक्तिका जो दिव्य शक्तिके रूपमें निम्नतम (भौतिक) केन्द्र मूलाधारमें कुंडली मारकर सोई पड़ी है और जब उठती है तब मेरुदण्डमेंसे होती हुई ऊपर उच्चचेतनाके साथ जा मिलती है। ऊर्जाएं सब तरहकी होती है और सांप असंस्कृत प्राण-प्रकृतिकी अशुभ शक्तियोंको भी सूचित कर सकते है — परन्तु यहा ऐसी बात नही है।

*

कमल है प्रकाशके प्रति केंद्रोंके खुलनेका प्रतीक। हंस व्यक्तिगत अन्तरात्माका, केंद्रीय सत्ताका, उस दिव्य अंशका भारतीय प्रतीक है जो भगवान्‌की ओर उन्मुख है, उसमेंसे अवतरित होता है और उसीकी ओर आरोहण करता है।

परस्पर गुंथे हुए दो सांप मेरुदण्डकी ऐसी दो प्रणालियां है जिनमें होकर शक्ति ऊपर और नीचे गति करती है।

*

छह फनवाले सांप कुण्डलिनी शक्ति है, निम्नतम भौतिक केन्द्रमें सोई हुई वह दिव्य शक्ति है जो, योगमें, जाग्रत होनेपर, प्रकाश-मार्गसे खुलते हुए केन्द्रोंमें होती हुई उच्चतम केन्द्रमें स्थित भगवान्‌से मिलनेके लिये आरोहण करती है और इस प्रकार आत्मा और स्थूलतत्वको जोड़ती हुई व्यक्त और अव्यक्तको संयुक्त करती है।

*

1. साधारणतया नारायण विष्णुका एक नाम माना जाता है — वैष्णवोंके लिये वह परमपुरुष है जैसे कि शैवोंके लिये शिव। दोनों भगवान्‌के वैश्व व्यक्तित्व हैं और ब्रह्माके समान दोनोंका उत्पत्ति-स्थान अधिमानस है, यद्यपि मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म भौतिक भूमिकाओंमें वे मानवचेतनाके सामने भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं।

2. लक्ष्मी सामान्यत: सुनहरी होती है, श्वेत नहीं, सरस्वती श्वेत होती है।

3. सांप महज ऊर्जा या बलका प्रतीक है। तुम्हारे सूक्ष्म दर्शनमें नारायण स्पष्ट ही विष्णु हैं जैसा कि लक्ष्मी और अनेक फनवाले सापकी उपस्थितिसे सूचित होता है।

4. इस रूपकमें जो एक सामान्य पौराणिक रूपक है, विष्णु या नारायण देश-काल रूपी समुद्रका स्वामी है — उस सृष्टि तत्वका पालक है जिसे वह अपने अन्दर, दो सृष्टियोंके बीचके अन्तरालोंमें बीज रूपसे धारण किये रहता है। उस बीजमेंसे उसकी नाभिसे (नाभि है प्राण एवं जीवन तत्त्वका केन्द्रीय पीठस्थान) सृष्टिकर्ता ब्रह्मा उस कमल (वैश्वचेतना) मेंसे उद्भूत होते हैं जो उस नाभिसे विष्णुकी युगांत निद्रासे जागनेपर उत्पन्न होता है। अनन्त नामका सांप है असीमकी देशकालमें वैश्व अभिव्यक्तिकी ऊर्जा।

*

अनन्त नाग असीम दिक्कालमें नि:सीम ऊर्जा है जो विश्वको थामे रखती है।

*

अपने ध्यानमें तुमने जो सर्प देखा है उसके विषयमें — सर्प सदैव प्रकृतिकी ऊर्जा-ओंके द्योतक होते हैं और बहुधा प्राण जगत्‌की बुरी ऊर्जाओंके; पर वे विष्णुके शेष-नागकी तरह ज्योतिर्मय अथवा दिव्य शक्तियोंके भी द्योतक हो सकते हैं। तुमने जिस सांपको देखा है वह प्रत्यक्ष ही — इनमेंसे पिछले प्रकारकी — ज्योतिर्मय दिव्य शक्ति थी और इसलिये भयका कोई कारण नही है, यह एक अच्छा चिह्न है।

*

कमलका फूल खुली हुई चेतनाको सूचित करता है।

*

लाल कमल है पृथ्वीपर भगवान्‌की उपस्थिति; सूर्य दिव्य सत्य है। यह पृथ्वी पर भगवान्‌के एक ऐसे आविर्भावका द्योतक है जो पार्थिव चेतनाको सत्यकी ओर उठा ले जाता है।

*

श्वेत कमल श्रीमांकी चेतनाका प्रतीक है — यह व्यक्तिगत चेतनाके किसी अंगको नहीं प्रकट करता।

*

मैं समझता हूँ कि तुम्हारी अनुभूतिमें कमलोंके खिलनेका अर्थ है उस सच्ची प्राणिक और भौतिक चेतनाका खुलना जिसमें आध्यात्मिक सत्ता (हंस) उद्घाटन-के सभी परिणामों सहित अभिव्यक्त हो सकती है।

*

हंस उच्चतर भूमिका पर स्थित अन्तरात्माका प्रतीक है।

*

हंस मुक्त अन्तरात्मा है, कमल या तो भागवत-प्रेमके रंगमें रंगी चेतना है या पृथ्वीपर भगवान्‌की उपस्थितिका प्रतीक है।

*

हंस पुरुषका प्रतीक है — वह जैसे जैसे ऊंचा उठता है वैसे वैसे अपनी मूल पवित्रता फिरसे प्राप्त करता जाता है और अन्तमें सर्वोच्च सत्यमें पहुँचकर ज्योतिर्मय हो जाता है।

*

बत्तक अन्तरात्माका प्रतीक है; उसका रुपहला रंग आध्यात्मिक चेतना है; सुनहरे पंख भागवत सत्यकी शक्ति।

*

बत्तक साधारणतया अन्तरात्मा या आन्तरिक सत्ताका प्रतीक है — तुमने जिन्हें देखा था वे शायद मानसिक, चैत्य, प्राणिक और भौतिक, ये चार सत्ताएं थीं।

*

(कलहंस और राजहंस) दोनों मानवमे स्थित 'पुरुषों' के प्रतीक है — परन्तु कलहंस या सामान्य हंस साधारणतया "मनोमय पुरुष" को सूचित करता है।

*

पक्षी व्यष्टिगत अन्तरात्माका प्रतीक है।

*

पक्षी स्वयं अन्तरात्माका प्रतीक न होनेपर सामान्यतया आत्मिक शक्तिका प्रतीक होता है,—यहांपर वह श्वेत-नीली ज्योति अर्थात् श्रीअरविन्दकी ज्योतिकी (अन्तरात्मामें जाग्रत) शक्ति है।

*

पक्षी प्रायः या तो मानसिक शक्तियोंके या आंतरात्मिक शक्तियोंके द्योतक होते हैं।

*

पंडुकका अर्थ है शांति। रंग प्राणको सूचित करते हैं — हरा होगा प्राणमें आत्म-समर्पणका, नीला प्राणमें उच्चतर चेतनाका। तो यह शांति होनी चाहिये जो ऊपरसे प्राणपर अपना प्रभाव डाल रही है।

*

सफेद कबूतर निश्चय ही शांति है।

*

मोर विजय-सूचक पक्षी है।

*

मयूर आध्यात्मिक विजयका प्रतीक है।

*

मय है।

*

(वीणा) सामंजस्य।

*

मुकुट पूर्ण चरितार्थताका सूचक है।

*

मुकुट उच्चतर चेतनाकी अचल अवस्थाको सूचित करता है, चक्र उसकी गतिशील क्रियाको। लाल प्रकाश है भौतिक सत्ताको बदलनेके लिये भेजी गई शक्ति।

*

पुस्तक किसी प्रकारके ज्ञानकी द्योतक है।

*

साधारणतया कान अन्तः प्रेरित ज्ञानका या अन्तःप्रेरित अभिव्यक्तिके स्थानको सूचित करते हैं — लाल और सुनहरे रंगका अर्थ है परस्पर संयुक्त सत्य और बल।

*

भवन नवसर्जनका प्रतीक है।

*

पिरामिड सामान्यतया अभीप्साका प्रतीक है — लाल आभावाला शायद इसलिये है कि वह अभीप्सा भौतिक सत्तामें है।

*

स्फिन्क्स उस अनन्त खोजका प्रतीक है जिसका उत्तर गुह्यज्ञान द्वारा ही प्राप्त

हो सकता है।

*

क्रूस (सलीब) परात्पर, वैश्व और व्यष्टिगत – त्रिविध सत्ताओंका चिह्न है।

*

क्रूस त्रिविध भगवान् (परात्पर, विश्वगत और व्यष्टिगत लोकों) को सूचित करता है; ढालका अर्थ है सरक्षण।

*

हां, चक्राकार गति और चक्र नित्य ही क्रियारत ऊर्जाके, साधारणतया सर्जन-शील क्रियाके चिह्न होते हैं।

*

(सुदर्शन) चक्र श्रीकृष्णकी शक्तिकी क्रियाका द्योतक है।

*

घूमते हुए चक्रका अर्थ है प्रकृतिपर क्रिया करती हुई कोई शक्ति। श्वेत-नीला प्रकाश कृष्णके प्रकाशके रूपमें प्रसिद्ध है, श्रीअरविन्दके प्रकाशके रूपमें भी। श्वेत श्रीमांका है। शायद यहां दोनोंका संमिश्रण है।

*

चक्र शक्तिकी क्रियाका चिह्न है (प्रतीकके स्वरूप द्वारा जो कोई भी शक्ति सूचित हो उसकी क्रियाका) और क्योंकि वह ऊपरकी ओर उमड़ रही थी इसलिये वह अभीप्सा-की ऐसी अग्नि होनी चाहिये जो प्राण (अर्थात् नाभि केन्द्र) से ऊपर उच्चतर चेतनाकी ओर उठ रही है।

*

बाण अपने लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये फेंकी गई शक्तिका प्रतीक है।

*

धूपबत्ती आत्म-निवेदनकी प्रतीक है।

*

तमाखूका संबंध तमस्से है और धूपबत्तियोंका आराधनासे।

*

यात्राका रूपक सदा ही जीवनमें गतिका अथवा साधनामें प्रगतिका निर्देश करता है।

*

नावमें या अन्य किसी वाहनमें यात्रा करना योगमें सदैव गतिका — प्रायः विकास या उन्नतिका द्योतक होता है।

*

घोड़े पर या किसी वाहनमें यात्रा करना, प्रतीकात्मक होनेपर, जीवन, कर्म या साधनामें प्रगति या गतिको सूचित करता है।

*

गाड़ी, रेलगाड़ी, मोटर, जहाज, नाव, हवाई जहाज इत्यादिमें यात्रा साधनामें गतिका निर्देश करती है। सफेद घोड़ा सात्विक मन हो सकता है एवं लाल घोड़ा ऊर्जा प्रदान करनेवाला प्राणिक रजस्, तथा दोनों प्रगतिके लिये संयुक्त हो गये है।

*

वायुयान, जलयान और वाष्पयान (रेलगाड़ी) नित्य ही तीव्र प्रगति या अग्र-गतिको सूचित करते है।

*

रेलकी पटरी तीव्र प्रगतिका प्रतीक है।

*

तुम्हें जब यह लगता है कि तुम उड़ रहे हो तो यह उड़ान सदा ही प्राण जगत्‌में सूक्ष्मशरीर-स्थित प्राणिक सत्ता ही भर रही होती है।

*

मांसका टुकड़ा भौतिक सत्तामें किसी ऐसी चंचल वस्तुका सूचक है जो अपनी चंचलता और अतिशय उत्तेजनशीलताके कारण आनन्दके पूर्ण प्रवाहमें बाधा डालती है। यह स्वप्नोंमें सक्रिय हुआ था और चैत्य दबावके द्वारा बाहर निकाल दिया गया था।

*

हां, लुटेरे वेदके पणियोंकी तरह ऐसी प्राणिक सत्ताएं है जो शुभ अवस्थाको चुपचाप हर ले जाती हैं अथवा साधनाकी उपलब्धियोंको चुरा ले जाती हैं।

*

जबतक कोई स्पष्ट सुराग न मिले तबतक प्राणिक स्वप्नकी व्याख्या नहीं की जा सकती। चाची या मां सामान्यतया भौतिक प्रकृतिको सूचित करती है, बन्द कमरा भौतिक प्रकृतिका एक ऐसा भाग होगा जो प्रकाशके प्रति नहीं खुला, चिमगादड़का अर्थ होगा अन्धकारकी शक्तियां अर्थात् वे अज्ञानकी क्रियाएं जो प्रकाशहीन प्रकृतिके अंधकारमें शरण लेती है।

*

स्वप्नके प्रतीकात्मक होनेपर दांतोंके गिरनेका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि भौतिक मनसे संबंध रखनेवाली पुरानी या बद्धमूल आदतें लुप्त हो गई हैं।

*

सूक्ष्मदर्शन या स्वप्न-अनुभवमें मृत्युका बोध तब आता है जब सत्तामें किसी वस्तुको निश्चल-नीरव बनाकर पूरा निष्क्रिय बना देना होता है और उसका प्रकृतिके

एक अगके रूपमे कोई अस्तित्व नही रह जाता, हो सकता है कि यह अंग बहुत छोटा हो, किन्तु क्योंकि प्रक्रियाके समय चेतना उसपर अपनी क्रिया करनेके लिये उसमें एकाग्र और उसके साथ तदाकार हो जाती है इसलिये ऐसा बोध होता है कि "मैं मर गया"। जब तुमने यह कहा कि "मै मर गया अब मुझे उठकर जाने दो" तो इसका केवल यही अर्थ था कि "काम हो गया और प्रक्रिया पूरी हुई। अब मुझे इस अंगके साथ अपना तादात्म्य करनेकी आवश्यकता नहीं रही"। इस अनुभवमें इस बातका कोई सकेत नही कि इस अनुभवमेसे होकर गुजरनेवाली वस्तु क्या थी।

*

जलनेकी क्रियाके प्रतीक द्वारा साधारणतया भौतिक शोधनकी क्रिया ही सूचित होती है।

*

तुम्हे जो सूक्ष्मदर्शन हुआ है वह सामान्य व्यापारों (बादलों) से आच्छादित बाह्य भौतिक चेतनाका प्रतीक था, किन्तु फिर उसके साथ ही आध्यात्मिकता (चन्द्रमा) सामान्य मानव अज्ञानके पीछे रहकर अपने प्रकाशको चारों ओर फैला रही थी। कुत्ता स्थूलसत्तामें (अर्थात् उस अगमें जो विश्वासपात्र और आज्ञापालक है) किसी ऐसी वस्तुका सूचक है जो भावी प्रकाशकी विश्वास पूर्वक प्रतीक्षा कर रही है।

जिस अग्निका तुमने अनुभव किया वह विशुद्धिकरणकी अग्नि थी और उसमें गर्मीका अनुभव इसलिये हुआ कि वह किसी प्रतिरोधको जला रही थी;—उसके जल जानेके बाद वहां शीतलता, शांति और निस्तब्धता फैल गई। इस अनुभवमें 'क्ष' सत्ताकी आवाजें, ध्वनियां और प्रभाव प्राणमें उस गुह्य इन्द्रियकी अव्यवस्थित प्रवृत्तिका सकेत करते हैं जो भौतिक स्तरसे भिन्न भूमिकाओंकी वस्तुओंको सुनती है। ऐसी घटना होनेपर सत्तामें एक शांत अस्वीकृतिका भाव रखना चाहिये तो वह चली जायेगी। कुछ लोग इसमें रस लेने लगते हैं और बहुत परेशान हो जाते हैं क्योंकि उन्हें ऐसी आवाजोंको सुनने और ऐसी वस्तुओंको देखने तथा अनुभव करनेकी आदत पड़ जाती है जो केवल आंशिक रूपसे या कभी कभी सच्ची भी होती है पर ऐसी बहुत वस्तुओंसे मिश्रित होती है जो मिथ्या और भ्रामक होती हैं। यह अच्छा है कि तुम्हारी प्राणसत्तामें कोई ऐसी वस्तु है जो इसे स्वीकार नही करती।

*

अलग अलग प्रतिमूर्तियां आंतरिक अनुभवके अति सामान्य प्रतीक हैं, पर वे यहां बड़े उलझे रूपमें परस्पर संमिश्रित हो गये हैं। अग्नि निःसंदेह वह चैत्य अग्नि

है जो प्रच्छन्न चैत्य स्रोतमेंसे भभक उठती है। पक्षी अन्तरात्मा है और वह फूल है प्रेम और समर्पणका प्रतीक गुलाब। चन्द्रमा आध्यात्मिकताका प्रतीक है और क्योंकि तारा उसके भीतर स्थित है इसलिये उसका यों वर्णन किया गया है कि वह आंतरिक अंधकारकी ग्रंथियोंको भेद रहा है और चारों ओर घिरे हुए बादलों जैसी प्राणिक घास फूसको उखाड़ रहा है। अंतर्दर्शनमें नाव भी एक सामान्य प्रतीक है। हाथी उस आध्यात्मिक सामर्थ्यका सूचक है जो विघ्नोंको हटाता है एवं घोड़ा तपस्याकी वह शक्ति है जो तेजीसे दौड़कर आध्यात्मिक साक्षात्कारके शिखरोंतक जा पहुँचती है। सूर्य उच्चतर सत्यका द्योतक है। कमल आंतरिक चेतनाका निर्देश करता है।

*

यह स्वप्न स्पष्ट ही उस कठिनाईका निर्देश देता है जो तुम अनुभव कर रहे हो। समुद्र प्राण प्रकृतिका एक ऐसा सागर है जिसकी बाढ़ साधनाके पथपर तुम्हारा पीछा कर रही है (कामनाएं हैं सागरका पानी)। श्रीमां तुम्हारे हृदयमें हैं पर प्रसुप्त रूपमें अर्थात् उनकी शक्ति तुम्हारी आंतरिक चेतनामें जाग्रत नहीं हुई है क्योंकि वे त्वचाकी बारीक झिल्ली (भौतिक प्रकृतिके तमस्) से घिरी हुई हैं। यही वह वस्तु है (यह अब उतनी मोटी नहीं रही है परन्तु अब भी श्रीमाको तुमसे छिपा रख सकती है) जिसे दूर होना होगा, जिससे वे जाग सकें। यह तो संकल्प और प्रयत्नमें अडिग रहनेका प्रश्न है — अन्दरसे जवाब आयेगा ही, हृदयमें श्रीमांका जागरण होगा ही।

*

बहुत संभव है कि यह (अनुभव) आध्यात्मिक जीवनकी तीन अवस्थाओं या प्रगतियों या भूमिकाओंका प्रतीक हो। तारेका अर्थ है सृष्टि, त्रिकोण है त्रिविध तत्व। वृक्ष नवीन सृष्टिमें जीवनका प्रतीक है। हरा रंग भावमय प्राणका सूचक है, चन्द्रमा अध्यात्मभावापन्न भावप्रधान जीवनको संचालित करता है; नीला उच्चतर मनका रंग है, चन्द्रमा अध्यात्मभावापन्न उच्चतर मानसिक जीवनपर शासन करता है; सुनहरा रंग भागवत सत्यका रंग है वह चाहे संबोधिमय हो या अधिमानसिक — चन्द्रमा यहां आध्यात्मिकतापन्न सत्यजीवन् है। क्योंकि स्तम्भ स्फटिकके रंगका है इसलिये संभव है कि त्रिकोण सच्चिदानन्द तत्वका द्योतक हो। तितलियां और पक्षी, नि.संदेह, प्राण शक्तियां और आंतरात्मिक शक्तियां, बल या सत्ताएं हैं। उनके बाद ही अतिमानस पूरी तरह शासन कर सकता है या फिर यह उन तीन अवस्थाओंको सूचित करता है जो अतिमानसकी ओर ले जाने वाले तीन सोपानोंके रूपमें अस्तित्व रखती है।

* * * * *

विभाग तीन

आंतरिक और वैश्वचेतनाकी अनुभूतियां

आंतरिक और वैश्वचेतनाकी अनुभूतियां

वाह्य चेतना और अन्त:पुरुषके वीचके आवरणका भेदन योगकी निर्णायक गतियोंमेंसे है। क्योंकि, योगका अभिप्राय है भगवान्‌से मिलन, पर साथ ही इसका अभिप्राय है जागरण — पहले अपनी अन्तरात्माके प्रति और फिर अपनी ऊर्ध्वस्थित आत्माके प्रति, अर्थात् अन्तर्मुख गति और ऊर्ध्वमुख गति। वास्तवमें अन्त:पुरुषके जागने और सामने आ जानेपर ही तुम भगवान्‌से मिलन प्राप्त कर सकते हो। वाह्य भौतिक मनुष्य यंत्रात्मक व्यक्तित्वमात्र है, और अपने वल-बूतेपर वह मिलन प्राप्त नहीं कर सकता वह केवल कभी-कभार स्पर्श, धार्मिक अनुभव तथा अपूर्ण संदेश ही प्राप्त कर सकता है। और, ये भी वाह्य चेतनासे नही वल्कि हमारी आभ्यंतर सत्तासे प्राप्त होते है।

आवरणका भेदन दो प्रकारकी गतियोंसे होता है जो परस्पर-पूरक है। एकमे अन्त:पुरुष सामने आ जाता है और अपनी स्वाभाविक चेष्टाएं वाह्य चेतनापर वल-पूर्वक लागू करता है। वैसे वे चेष्टाएं वाह्य चेतनाके लिये असाधारण एवं अस्वाभाविक होती हैं। दूसरी गति है वाह्य चेतनासे पीछेकी ओर हटना, भीतर आंतरिक स्तरोंमें जाना, अपनी अन्तरात्माके लोकमें प्रवेश करना और अपनी सत्ताके प्रच्छन्न भागोंमे जाग्रत होना। जव एक वार तुम ऐसी डुवकी लगा चुकते हो तो तुमपर यौगिक एव आध्यात्मिक जीवनकी मोहर लग जाती है और जो मोहर तुमपर लगाई गई है उसे कोई भी वस्तु मिटा नही सकती।

यह अन्तर्मुख गति अनेक विभिन्न तरीकोंसे होती है और कभी कभी ऐसा जटिल अनुभव होता है जिसमें पूर्ण निमज्जन के सभी चिह्न एक साथ उपस्थित होते है। भीतर या गहरे तलमें जानेका भान तथा आंतरिक गहराइयोंकी ओर गतिका अनुभव होता है; प्राय: अंगोंकी नि:स्तब्धता, मधुर जड़िमा और अकड़ाहट अनुभूत होती है। यह इस बातका चिह्न है कि ऊपरसे किसी शक्तिका दवाव पड़नेके कारण चेतना शरीरसे पीछे हटकर भीतर जा रही है। वह दवाव शरीरको अन्तर्जीवनके अचल आधारके रूपमें या एक प्रकारके दृढ़-स्थिर स्वत:सिद्ध आसनके रूपमें स्थितिशील बना देता है। ऐसा अनुभव होता है कि तरंगें उठकर सिरकी ओर आरोहण कर रही है और इसमे हम वाहरकी सुधवुध खोकर आंतरिक जागरण प्राप्त करते हैं। यह है आधारस्थ निम्न-तर चेतनाका ऊर्ध्वस्थित महत्तर चेतनासे मिलनेके लिये आरोहण। यह गति उस गति जैसी है जिसपर तांत्रिक पद्धतिमें इतना अधिक वल दिया गया है, अर्थात् शरीरमें कुण्डलित तथा प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्तिका जागरण और उसका मेरुदण्ड तथा चक्रों एवं ब्रह्मरंध्रमेंसे होते हुए ऊपर भगवान्‌से मिलनेके लिये आरोहण। हमारे योगकी विशिष्ट विधि यह नही वल्कि संपूर्ण निम्नतर चेतनाका कभी तो धाराओं या तरंगोंके

रूपमे, कभी कम स्थूल गतिके रूपमें सहज ऊर्ध्व-प्रवाह और दूसरी तरफ भागवत चेतना एव उसकी शक्तिका देहमें अवतरण है। इस अवतरणका अनुभव इस रूपमें होता है कि स्थिरता और शातिका, वल और शक्तिका, प्रकाशका, हर्ष और आनन्दोद्रेकका, विशालता, स्वतत्रता और ज्ञानका, भागवत सत्ता या उपस्थितिका — कभी तो इनमें-से केवल एकका और कभी इनमेंसे कई एकका या एक साथ सभीका अंत:प्रवाह हो रहा है। आरोहण-गतिके नाना परिणाम होते हैं। यह चेतना को इस प्रकार मुक्त कर सकती है कि व्यक्ति अव अपनेको शरीरमें नही वल्कि उसके ऊपर अनुभव करे अथवा वह अपने-आपको विशालतामें इस प्रकार फैला हुआ अनुभव करे कि शरीर या तो लगभग अ-सत् रह जाय या व्यक्तिके विनिर्मुक्त विस्तारमें विंदुमात्र। यह जीवको या जीवके किसी भागको शरीरसे वाहर निकल अन्यत्र विचरनेका सामर्थ्य प्रदान कर सकती है। इस विचरणमें जीव वहुधा किसी प्रकारकी आंशिक समाधि किंवा पूर्ण समाधिमें रहता है। अथवा इस आरोहणका यह परिणाम हो सकता है कि यह चेतना-को, जो अव शरीरसे और वाह्य प्रकृतिकी आदतोंसे पूर्ववत् वद्ध नहीं, इस प्रकारकी शक्ति दे कि वह भीतर जाय, आतर मानसिक गहराइयों, आंतर प्राण, आंतर (सूक्ष्म) शरीर तथा अन्तरात्मामे प्रवेश करे, अपने अन्तरतम हृत्पुरुष या अपने आंतर मनोमय, प्राणमय एवं सूक्ष्म अन्नमय पुरुषसे सचेतन हो और यहांतक कि प्रकृतिके इन भागोंसे संवद्ध प्रदेशो, स्तरों एवं लोकोंमें संचार और निवास करे। निम्नतर चेतनाका पुन: पुन और सतत आरोहण ही मन, प्राण एवं शरीरको अतिमानसिक स्तर पर्यन्त सभी उच्चतर स्तरोका संस्पर्श पाने और उनकी ज्योति, शक्ति एवं प्रभावसे परिपूरित होनेके योग्य वनाता है। अथच भागवत चेतना एवं उसकी शक्तिका पुन:पुन: और सतत अवरोहण ही संपूर्ण सत्ता तथा संपूर्ण प्रकृतिके रूपांतरका साधन है। जव एक वार यह अवरोहण स्वाभाविक वन जाता है, तव भागवत वल एवं माताकी शक्ति पहलेकी तरह केवल ऊपरसे या पर्देके पीछेसे नही वल्कि सचेतन रूपसे स्वयं आधारमें कार्य करने लगती है, वह इसकी कठिनाइयों तथा संभावनाओंके साथ निपटती और योग चलाती है।

अतमें सीमा पार करनेकी वात आती है। वह चेतनाका प्रसुप्त या लुप्त हो जाना नही है, क्योंकि चेतना तो वहां वरावर उपस्थित रहती है। हां, वह वाह्य और भौतिक सत्तासे सरक जाती है, वाह्य पदार्थोंके लिये वन्द हो जाती है और सत्ताके आंतर चैत्य तथा प्राणमय भागके अन्दर पीछेकी ओर हट जाती है। वहां वह अनेक अनुभवों-मेंसे गुजरती है और इनमेसे कुछ एक जागरित अवस्थामें भी प्राप्त हो सकते हैं और होने चाहियें। क्योंकि दोनों गतियां आवश्यक हैं, आंतर सत्ताका वाहर सामनेकी ओर आना और आतर आत्मा तथा प्रकृतिसे सज्ञान होनेके लिये चेतनाका अन्दर जाना। पर अन्तर्मुखी गति तो और भी वहुतसे अनुभवोंके लिये आवश्यक है। कारण, वाह्य चेतना अन्त:पुरुषको प्रकट करनेकी वहुत ही कम चेष्टा करती है, अन्तर्गति का फल यह होता है कि हम वाह्य इन्द्रिय-चेतना और अन्त:पुरुषके वीचकी दीवार तोड़कर या कम-से-कम उसमें एक द्वार खोलकर भीतर घुस सकते है और फिर आगे चलकर हम संभावना

और अनुभूतिके तथा नए अस्तित्व एवं नए जीवनके अशेष अनन्त ऐश्वर्योका सचेतन ज्ञान प्राप्त कर सकते है। वे ऐश्वर्य आज इस क्षुद्र, अत्यध एवं सीमित स्थूल व्यक्तित्वके पर्देके पीछे अवरुद्ध पड़े है जिसे हम भ्रातिवश अपना सर्वस्व समझते हैं। अदर डुबकी लगाने और इस अन्तर्लोकसे जागरित अवस्थाकी ओर लौटनेके बीचके कालमे इसी गभीरतर, समग्रतर एवं समृद्धतर चेतनाका प्रारंभ और सतत विस्तार साधित होता है।

साधकको समझ लेना होगा कि ये अनुभूतिया केवल कल्पनाए या स्वप्न नही बल्कि यथार्थ घटनाएं है। क्योंकि जब कभी ये केवल गलत या भ्रामक या विरोधी ढंगकी रचनाएं होती हैं — जैसा कि बहुधा होता है — तब भी रचनाओंके तौरपर इनकी अपनी विशेष शक्ति होती है और इन्हें समझ लेनेपर ही इनका निराकरण या विनाश किया जा सकता है। प्रत्येक आतर अनुभव अपने ही ढंगसे पूर्णतया वास्तविक होता है,—यद्यपि विभिन्न अनुभवोंके मूल्य अतीव भिन्न भिन्न होते हैं,—किंतु अन्तरात्मा और आंतर स्तरोंके सत्यसे युक्त होनेके कारण वे वास्तविक होते है। यह समझना गलत है कि हम केवल शारीरिक तौरपर, बाह्य मन और प्राणके द्वारा ही, जीते है। चेतनाके अन्य स्तरोंपर भी हम हर समय जी रहे और कार्य कर रहे है, वहा दूसरोंसे मिल रहे और उनपर प्रभाव डाल रहे है। वहां हम जो कार्य, अनुभव एव विचार करते हैं, जो जो सामर्थ्य संचित करते तथा जो जो परिणाम तैयार करते है उनका हमारे बाह्य जीवनपर, हमारे बिना जाने ही, अपरिमेय प्रभाव एवं फल होता है। वह सारेका सारा बाहर प्रकट नहीं होता। जो कुछ प्रकट होता भी है वह स्थूल सत्तामें अन्य रूप ग्रहण कर लेता है — यद्यपि कभी कभी पूर्ण सारूप्य होता है। किंतु यह स्वल्पांश भी हमारी बाह्य सत्ताका आधार होता हैं। भौतिक जीवनमें हम जो कुछ भी बनते, करते और भोगते हैं वह सब हमारे भीतर पर्देके पीछे तैयार होता है। अतएव जीवनके रूपांतरको लक्ष्य माननेवाले योगके लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि वह इन स्तरोके भीतर होनेवाली प्रत्येक घटनासे सचेतन हो, इनका स्वामी बने और उन गुह्य शक्तियोंको अनुभव करने, जानने तथा उनसे बरतनेके योग्य बने जो हमारा भविष्य और आंतर एवं बाह्य विकास या ह्रास निर्धारित करती हैं।

यह अंतर्मुख गति भगवन्मिलनके अभिलाषियोंके लिये भी इतनी ही आवश्यक है क्योंकि ऐसे मिलनके बिना उनका रूपांतरका ध्येय सिद्ध नही हो सकता। यदि तुम अपनी बाह्य आत्मासे बद्ध और स्थूल मन तथा उसकी तुच्छ चेष्टाओंमें ग्रस्त रहोगे तो तुम्हारी अभीप्सा फलवती नही हो पायगी। बाह्य सत्ता आध्यात्मिक संवेगका स्रोत कदापि नहीं होती; वह तो केवल पर्देके पीछेसे प्राप्त आंतर प्रेरणाकी अनुगामिनी होती है। तुम्हारे अन्दर जो भक्त है, मिलन और आनन्दका अन्वेषक है, वह तो तुम्हारा आतर हृत्पुरुष ही है। स्वयं अकेली बाह्य प्रकृतिके लिये जो असंभव है वह भी तब पूर्णतः संभव हो जाता है जब आवरण दूर होकर अन्तरात्मा सामने आ जाती है। क्योंकि ज्यों ही यह दृढ़तापूर्वक आगे आ जाती है अथवा चेतनाको प्रबलतासे अपने अन्दर खींचती है त्यों ही शांति, हर्षातिरेक, स्वातंत्र्य एवं विशालताका उदय तथा प्रकाश

और उच्चतर ज्ञानके प्रति उद्घाटन सहज-स्वाभाविक रूपसे और प्रायः तुरन्त ही होने लगता है।

एक वार किसी न किसी गतिसे आवरण दूर होते ही तुम्हें अनुभव होने लगता कि योगके लिये आवश्यक सभी प्रक्रियांए और गतियां तुम्हारी पहुँचके भीतर हैं और वे वैसी कठिन या असंभव नही जैसी वे वाह्य मनको प्रतीत होती है। तुम्हारे अन्तरतम हृत्पुरुषमे योगी एवं भक्त पहलेसे ही विद्यमान है और यदि वह पूर्ण रूपेण प्रकट होकर नेतृत्व ग्रहण कर सके तो, तुम्हारे बाह्य जीवनका आध्यात्मिक परिवर्तन अनिवार्य एव अटल हो जाना है। जो साधक प्रारंभमें ही सफलता लाभ करता है उसका यौगिक एव आध्यात्मिक गभीर अन्तर्जीवन पहलेसे ही अन्तरात्मा द्वारा गठित हुआ रहता है। वह केवल किसी ऐसी प्रवल वाह्य प्रवृत्तिके कारण ही ढका होता है जिसकी ओर हमारा चितनात्मक मन और हमारे निम्नतर प्राणमय भाग शिक्षा तथा अतीत कर्मोके द्वारा झुक जाते है। इस वहिर्मुख झुकावको ठीक करने और आवरण हटानेके लिये ही तो व्यक्तिको योगाभ्यास करनेकी आवश्यकता होती है। एक बार जव अन्त.पुरुप चाहे अन्दर जाने या वाहर आनेकी गतिसे प्रवलतापूर्वक व्यक्त हो जायगा तो वह अपने वलको पुन:प्रतिष्ठित करके अपने पथको प्रशस्त कर लेगा और अन्तमें अपना राज्य अधिगत करके रहेगा। इस प्रकारका उपक्रम उस चीजका चिह्न है जो वादमें वहुत वड़े पैमाने-पर होनेवाली है।

*

पहले पहल चैत्य सत्ताको पहचानना संभव नही होता। हमें करना यह चाहिये कि हम आंतरिक सत्ताके प्रति सचेतन बनें जो वाह्य व्यक्तित्व और प्रकृतिसे भिन्न है अर्थात् एक ऐसी चेतना या पुरुप है जो शांत, स्थिर और प्रकृतिकी वाह्य क्रियाओंसे अलिप्त रहता है।

तुमने जिन अनुभूतियोंका वर्णन किया है वे चैत्य-भौतिक है। इनमेंसे एकमात्र महत्वपूर्ण अनुभूति हैं (चैतन्य) धाराका ऊपरकी ओर जाना जो मस्तकमें स्थित मान-सिक केन्द्र (आंतरिक मन, संकल्प, दृष्टि) एवं ऊर्ध्वके उच्चतर केन्द्रको जोड़नेवाले मार्गके निर्माणके प्रयासका प्रारंभ है।

केवल एक अटल साधनाके द्वारा ही व्यक्ति क्रमशः वाधाओंसे मुक्त हो सकता है। अंधकार और प्रकाशकी अवस्थाओंका वारी वारीसे आना स्वाभाविक और अनिवार्य है।

तुम्हारी अनुभूतिमें प्रकाश शक्तिकी क्रियाका द्योतक है (संभवतः नीली आभा-वाला प्रकाश आध्यात्मिक मानस-शक्तिका निर्देश करता है)—शेप उच्चतर आध्या-त्मिक केन्द्र (सहस्रदल)को खोलनेकी क्रिया थी।

*

यह वल्कि दुःखकी वात है कि भय भीतर घुस आया और उसने अंतर्मुखी क्रियाको नष्ट कर दिया — क्योंकि यह अंतर्मुखी क्रिया साधनाके लिये अत्यत महत्त्वपूर्ण है। तुम्हारे अन्दर चैत्य चेतनाका अधिक बार और अधिक संपूर्णताके साथ आना तथा सामान्य चेतनाका स्थान ग्रहण करना अवतक प्रगतिका सवसे अधिक आशाप्रद चिह्न रहा है — किंतु अंतर्मुखी गतिकी यदि स्थापना हो जाय तो वह एक और भी वड़ी चीज होगी; क्योंकि उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि अन्दर अंतरात्मा मुक्त हो जायगा और आंतरिक सत्तामें तुम्हें एक आधार प्राप्त हो जायगा जिसमें कि तुम वाह्य चेतनाके किसी भी उतार-चढ़ावको उसके अधीन हुए विना देख सको और वह तुम्हारी आंतरिक स्थिति और स्वतंत्रतामें कोई हस्तक्षेप न करे। किंतु यह निश्चित है कि वह गति वापस आयेगी और अपने-आपको चरितार्थ करेगी। यह वहुत अच्छा है कि तुम्हारी पुकारपर सहायता आती है और तुम बंधनसे निकल जाते हो — यह चैत्य विकासका दूसरा चिह्न है।

*

तुम जो कहते हो वह तुम्हारे अन्दरकी वस्तु नही थी, किन्तु प्राण प्रकृतिकी वस्तुओंका प्रतीक थी। विच्छू और साधारणतया सांप भी अनिष्टकारी शक्तियोंके प्रतीक हैं; पार्थिव प्राण-प्रकृति इन शक्तियोंसे भरी हुई है और इसीलिये मानवकी वाह्य प्रकृतिका शोधन भी इतना कठिन है और उसमें इतनी अधिक गलत क्रियाएं और घटनाएं होती हैं,—क्योंकि उसका प्राण इन सव पार्थिव गतियोंके प्रति सरलतासे खुल जाता है। इनसे मुक्त होनेके लिये, आंतरिक सत्ताको जाग्रत और विकसित होना होगा और वाह्य प्रकृतिके स्थानपर उसे अपनी प्रकृतिको स्थापित करना होगा। कभी कभी सांप केवल शक्तियोंके द्योतक भी हो सकते हैं जो हानिकर नहीं होती; पर वहुधा इससे उल्टा ही होता है। दूसरी ओर, जो मोर तुमने देखे वे विजयकी शक्तियां थे अर्थात् वे अंधकारकी शक्तियोंके ऊपर प्रकाशकी शक्तियोंकी विजयके प्रतीक थे।

तुमने जो वाह्य सत्ताके विषयमें कहा है वह सही है, उसे वदलना होगा और आंतरिक प्रकृतिकी वस्तुको प्रकट होना होगा। किंतु इसके लिये व्यक्तिको आंतरिक प्रकृतिके अनुभव होने चाहिये और इनके द्वारा आंतर प्रकृतिकी शक्ति तवतक वढ़ती जाती है जवतक वह वाह्य सत्ताको पूरी तरह प्रभावित करके अपने अधिकारमें न ले लें। इस आंतरिक चेतनाको विकसित किये विना वाह्य चेतनाको पूरी तरहसे वदलना वहुत कठिन होगा। इसीलिये ये आंतरिक अनुभव आंतरिक चेतनाके विकासको तैयार करनेके लिये हो रहे हैं। हमारे अन्दर एक आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर-भौतिक-चेतना है जो वाह्य चेतनाकी अपेक्षा अधिक आसानीसे ऊपरकी ऊच्चतर चेतनाको ग्रहण कर सकती है एवं चैत्य पुरुषके साथ अपनेको सुसमंजस वना सकती है; यह कार्य हो जानेके वाद वाहरी प्रकृति हमें ऊपरी सतहकी किनारी भर प्रतीत होती है, न कि अपना शुद्ध स्वरूप और अधिक सरलतासे पूरी तरह रूपांतरित हो जाती

है ।

तुम्हारी बाह्य प्रकृतिमें अभी जो भी कठिनाइयां हों, उनके कारण इस तथ्यमें कोई फर्क नहीं आता कि तुम्हारा अन्तर जाग गया है, श्रीमांकी शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है और तुम उनके सच्चे पुत्र हो और तुम्हारे भाग्यमें यह लिखा है कि तुम पूरी तरह उनके पुत्र बन जाओगे। अपनी श्रद्धा और अपने विचारको पूरी तरह उनपर एकाग्र करो और तुम सब कठिनाइयोंमेंसे सुरक्षित रूपसे पार हो जाओगे।

*

रूपातर सतह पर ही हुआ है। व्यक्ति गहराइयोंमें जो कुछ पाता है उसे लेकर वह सतहको बदलनेके लिये ऊपर आता है। संभव है कि तुम्हें फिर अन्दर जानेकी जरूरत पड़े और तेजीसे लौटनेकी क्रियामें कठिनाई अनुभव हो। जब समग्र सत्ता नमनीय हो जाती है तब तुम किसी भी आवश्यक गतिको अधिक तेजीसे करनेमें समर्थ होंगे।

*

नि.संदेह चेतनाकी एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें संक्रमण करनेमें समय लगता है। ज्यों-ज्यो तुम्हारी चेतना अपने ऊपर बाह्य वस्तुओंके दावेसे हाथ खींचती जायेगी और हृदय प्रदेशमें अधिक गहरे भीतर जायगी तथा प्रकाश एवं प्रेरणाके लिये चैत्यको सामने रखकर वहींसे सब कुछ देखने और अनुभव करने लगेगी त्यों त्यों अनुभवमें अधिकाधिक गहराई आती जायगी। इस क्रियाके साथ श्रद्धा भी बढ़ेगी — क्योंकि केवल बाह्य बुद्धि ही श्रद्धांके संबंधमें दुर्बल या अधूरी होती है, हृदयस्थ अंत:सत्तामें श्रद्धा सदा विद्यमान होती है।

*

तुमने अपने पत्रमें जो लिखा है वह विचारने और समझनेका सही तरीका है। मनकी मनमानी जो वस्तुओंको भगवान्के ढंगसे नहीं किंतु अपने ढंगसे होते देखना चाहती थी, एक बड़ी बाधा थी। उसके हट जानेपर रास्ता कम ऊबड़-खाबड़ और कम कठिन हो जाना चाहिये।

बाह्य सत्तामें श्रद्धा, भगवान्के प्रति निष्ठा, आदरभाव, प्रेम, पूजाभाव, भक्ति और आराधना बढ़ सकती है, ये अपने आपमें बड़ी बाते है,—यद्यपि ये चीजें भी वस्तुत: अन्दरसे आती है,—किन्तु साक्षात्कार तो केवल तभी होता है जब आंतरिक सत्ता अगोचर वस्तुओंके विषयमें अपने अन्तर्दर्शन और अनुभवके साथ जाग्रत होती हैं। तब तक, व्यक्ति भगवान्की सहायताके परिणामोंका अनुभव कर सकता है, और श्रद्धा

होनेपर समझ सकता है कि यह सब भगवान्‌का काम है; किन्तु मनुष्य केवल तभी कार्य करती हुई शक्तिको, भगवान्‌के सामीप्यको, उसके प्रत्यक्ष अन्तः संपर्कको स्पष्ट-रूपसे अनुभव कर सकता है।

*

निश्चल-नीरवताका अर्थ अनुभवोंका अभाव नही है। आंतरिक नीरवता और प्रशांतिमें ही सब कुछ अनुभव बिना किसी विक्षोभको उत्पन्न किये हो सकते है। तुम्हारे अन्दर जो प्रतिमूर्त्तियां उठ रही है उनमें हस्तक्षेप करना बडी भूल होगी। वे मानसिक है या चैत्य इसका कोई महत्व नही। मनुष्यको केवल सच्चे चैत्य लोकोंका ही नही किन्तु चेतनाके आंतर-मानसिक, आंतर प्राणिक और सूक्ष्म भौतिक लोको अथवा भूमिकाओंका भी अनुभव होना चाहिये। प्रतिमूर्तियोंका आविर्भूत होना इस बातका सूचक है कि ये चीजें खुल रही हैं और उनके निरोधका अर्थ होगा चेतना और अनुभवके विस्तारको रोकना, जिनके बिना योग-साधना नही की जा सकती।

*

सब अनुभव निश्चल-नीरवताकी स्थितिमें ही आते हैं किन्तु प्रारंभमें सभी भीड-भाड़ करते हुए असंबद्ध रूपमें नहीं आते। पहले आंतर नीरवता और शांतिको प्रति-ष्ठित करना होगा।

*

अपने अन्तिम (लम्बे) पत्रमें तुमने जिस कठिनाईका संकेत किया है वह इस बात-की सूचक है कि तुम आंतर सत्तामें प्रवेश करते हो और अनुभव प्राप्त करने लगते हो, परन्तु उन्हें व्यवस्थित करनेमें अथवा संबद्ध रूपमें समझनेमें तुम्हें कठिनाई होती है। यह कठिनाई इसलिये होती है कि आंतर मन अभी आंतरिक वस्तुओंपर कार्य करने और उन्हें देखनेके लिये पर्याप्त अभ्यस्त नही हुआ है और इसलिये साधारण बाह्य मन बीचमें हस्तक्षेप करके उन्हें व्यवस्थित करनेकी चेष्टा करता है; परन्तु बाह्य मन आंत-रिक वस्तुओंके अर्थ समझनेमें असमर्थ है। जब बाह्य मनको बिलकुल बाहर छोड़ दिया जाता है तो अन्दरकी चीजें सजीव और स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगती हैं; परन्तु आंतरिक मनके सक्रिय न होनेपर, या तो उनकी संबद्धता दिखाई नही देती या चेतना निम्नतर प्राणकी भूमिकाके अव्यवस्थित अनुभवोंमें लटकती रहती है और उन्हें पार कर अधिक गहरे, अधिक संबद्ध और महत्वपूर्ण अनुभवोंतक नही पहुँच पाती। एक आंतरिक चेतनाके विकासकी आवश्यकता है — उसके विकसित होनेपर सब बातें अधिक स्पष्ट और संबद्ध हो जायेंगी। यह विकास तब होगा जब तुम बिना विक्षुब्ध

हुए शात भावसे अभीप्सा करोगे और आवश्यक क्रिया करनेके लिये श्रीमांकी शक्तिका आवाहन करते रहोगे।

*

तुम्हारी पुकार सदा ही श्रीमांके पास पहुँचेगी। यदि तुम शांत और आश्वस्त रहो तो तुम्हें समय आनेपर उत्तर भी मालूम हो जायगा। मन जितना अधिक अचंचल होगा यह बात तुम्हारे सामने उतनी ही अधिक स्पष्ट होती जायगी और तुम श्रीमांके कार्यको अनुभव करने लगोगे। समय समयपर तुम अपने अनुभवोंके विषयमें लिख सकते हो, जहां भी, आवश्यकता होगी, मै उत्तर दूँगा।

*

संपर्कका आशय यही है और इसी प्रकार यह स्थापित होता है।

जहांतक इस बातका संबंध है कि यह सदा नहीं प्राप्त होता, इसका कारण यह है कि सत्ताके ऐसे अनेक भाग हैं जो अभी तक अचेतन हैं अथवा यह कि शायद अचेतनाकी अवस्थाएं बीचमें आ जाती है। उदाहरणके लिये, लोग एक दूसरेको पत्र लिखते हैं, परंतु वे इसके विषयमे बिलकुल अचेतन होते हैं कि ऐसा करते हुए वे परस्पर शक्तियोंका आदान-प्रदान कर रहे हैं। तुम इस संबंधमें इसलिये सचेतन हो गये हो कि योगके द्वारा तुम्हारी आतरिक चेतना विकसित हो चुकी है — और फिर भी ऐसे समय आ सकते हैं जब कि तुम केवल बाह्य ज्ञानके द्वारा ही लिखते हो, और तब तुम केवल शब्दों-के पीछे रहनेवाले अर्थको जाने बिना महज शब्दोंको ही देखते हो। सो, आंतरिक चेतनाके विकासके परिणामस्वरूप तुम यह समझनेमें समर्थ होते हो कि संपर्क क्या चीज है और सच्चे संपर्कको प्राप्त कर सकते हो। पर कभी कभी जब बाह्य चेतना आतरिक चेतनाकी अपेक्षा अधिक बलवान् होती है, तब फिर तुम (तत्काल) संपर्क प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं रह जाते।

*

यह बात नही कि तुमसे कोई वस्तु ले ली गई है किन्तु जैसे कि तुमने अन्तमें कहा है कि तुम्हें अपनी सत्ता दो भागोंमें बंटी दिखाई दी है। यह ऐसी वस्तु है जो साधना-की प्रगतिके साथ साथ होती है और होनी ही चाहिये जिससे व्यक्तिको अपने स्वरूप और सच्ची चेतनाका पूरी तरह ज्ञान हो सके। ये दो भाग है आंतरिक सत्ता और बाह्य सत्ता। बाह्य सत्ता (मन, प्राण और शरीर) अचंचल रहनेमें समर्थ हो गई है और यह ध्यानमें ऐसी मुक्त, सुखमय, शून्य अचंचलतामें प्रवेश कर जाती है जो सच्ची चेतनाकी ओर पहला कदम है। आंतरिक सत्ता (आंतरमन, प्राण, शरीर) खो नहीं

गई है पर अन्दर चली गई है — बाहरका भाग नही जानता कि कहां — किन्तु बहुत संभव है कि वह अन्दर जाकर चैत्यके साथ एक हो गई है। केवल एक वस्तु संभवतः चली गई प्रतीत होती है वह है पुरानी प्रकृतिकी आदतें जो इस अनुभवके मार्गमें बाधक थीं।

*

एक आंतरिक सत्ता है और एक अंतरतम सत्ता जिसे हम चैत्य कहते है। जब हम ध्यान करते हैं तो हम आंतरिक सत्ताके अन्दर जानेकी चेष्टा करते है। ऐसा करने-पर हम भली भांति अनुभव करते हैं कि हम अन्दर चले गये हैं। ध्यानमें हम जिस वस्तुका साक्षात्कार कर सकते हैं वह एक ऐसी सामान्य चेतना भी बन सकती है जिसमें हम निवास करते है। तब मनुष्यको वर्तमान सामान्य चेतना एक बिलकुल बाह्य और ऊपरि सतहकी वस्तु लगती है न कि अपना वास्तविक आत्मा।

*

तुम जो नवजीवनका अनुभव करते हो उसका कारण है तुम्हारे भीतर अन्तःसत्ताका विकास; आंतरिक सत्ता ही सच्ची सत्ता है और उसके विकासके साथ साथ समग्र चेतना बदलने लगती हैं। यह अनुभव और लोगोंके प्रति तुम्हारी नई वृत्ति, इस परिवर्तनके चिह्न है। आंतरिक वस्तुओंका दर्शन भी साधारणतया आंतरिक-सत्ता और चेतनाके इस विकासके साथ ही आता है, यही आंतरिक-दृष्टि अनेक साधकों-में इस अवस्थाको प्राप्त करनेपर जागती है।

इस आंतरिक चेतनाका यह स्वभाव भी है कि जब यह सक्रिय होती है तब भी हमें क्रियाके पीछे रहनेवाली अथवा उसे धारण करनेवाली पूर्ण अचंचलता अथवा नीरवताका अनुभव होता है। मनुष्य जितना अधिक एकाग्रता करता है यह अचंचलता और नीरवता उतनी ही अधिक बढ़ती है। इसीलिये अन्दर सब तरहकी वस्तुओंके घटित होनेपर भी अन्तरमें सब कुछ शांत प्रतीत होता है।

यह भी बिलकुल सामान्य वस्तु है कि आंतर चेतनामें जो हो रहा है उसे इस समय अपनेको बाह्य भौतिक सत्तामें नही प्रकट करना चाहिये। यह पहले बाहर परिवर्तन उत्पन्न करती है किन्तु बाह्य उपकरणोंको बादमें ही अपने अधिकारमें लेती है।

*

यह बड़ा अच्छा लक्षण है कि जब विचार और विक्षुब्ध करनेवाली चेष्टा उत्पन्न होने लगती है तो आधारमें कोई वस्तु ऐसी होती है जो स्थिर और शांत रहती है — क्योंकि यह, अन्तरके अन्दरसे आनेवाले चैत्य उत्तरके समान यह बताती है कि आंतरिक

चेतना सत्ताके किसी अगमे स्थिर हो गई है अथवा अपनेको स्थिर कर रही है। साधना-मे आतरिक परिवर्तनकी यह सुपरिचित अवस्था है। बाह्य वस्तुओंपर आधार न रखनेवाले अन्दरसे उत्पन्न हुए स्वयंभू आनन्दका प्रकट होना भी उतना ही अच्छा है। यह तथ्य है कि यह आंतरिक प्रसन्नता और सुख कोई ऐसी चीज है जो एक साथ शांति और सुखसे परिपूर्ण है — यह प्राणके बाह्य आमोद-प्रमोद जैसी कोई उत्तेजना पूर्ण क्रिया नही है, यद्यपि यह (आतरिक प्रसन्नता एवं सुख) अधिक तीव्र और सघन हो सकता है। दूसरा अच्छा परिणाम है इस अनुभवका नष्ट हो जाना कि "यह काम मेरा है" और बाह्य चेतना द्वारा इस कार्यको करनेवाली शक्ति आंतरिक सत्ताको काममें व्यस्त नही करती।

चैत्यपुरुषके आविर्भावके अथवा ऊर्ध्वस्थित आत्माकी उपलब्धिके साथ हमेशा ऐसा अनुभव होता है मानों जेलसे छुटकारा मिल गया हो। इसीलिये इसे मुक्ति नाम दिया गया है। यह शातिमें, हर्षमें मुक्त होना है; यह अंतरात्माकी ऐसी मुक्ति है जो बाहरी अज्ञानमय जीवनके हजारों बन्धनों और दुश्चिन्ताओंसे बद्ध नही है।

तुमने अपने अन्तर्दर्शनमें जो मुख देखा था वह निःसंदेह माताजीका ही था पर अधिक सभव यह है कि वह उनके भौतिक नही पर अतिभौतिक आकारों और मुखोंमेंसे कोई एक ही — यह भी उस महान् ज्योतिके द्वारा सूचित होता है जिसने उस आकारमें-से उद्भूत होकर उसे अदृश्य बना दिया।

*

विचारका अभाव बिलकुल ठीक वस्तु है — क्योंकि सच्ची आंतरिक चेतना ऐसी नीरव चेतना है जिसे वस्तुओंके विचारके द्वारा नहीं जानना पड़ता, पर जिसे भीतरसे ही सच्चा बोध, समझ और ज्ञान स्वयं स्फूर्त रूपमें हो जाता है और जो उसके अनुसार बोलती या कार्य करती है। केवल बाह्य चेतनाको ही बाहरकी वस्तुओंपर आधार रखना और उनके विषयमें सोचना पड़ता है क्योंकि उसे स्वयं सहज पथ-प्रदर्शन प्राप्त नही है। इस आंतर चेतनामें स्थिर हो जानेपर मनुष्य संकल्पके प्रयत्न द्वारा पुरानी क्रियाओंकी ओर वस्तुतः लौट सकता है, पर तब यह स्वाभाविक क्रिया नही रह जाती और, लम्बे समयतक जारी रखनेपर थकानेवाली बन जाती है। सपनोंकी बात दूसरी है। पुरानी एवं अतीत वस्तुओंके विषयमें स्वप्न अवचेतनमेंसे उठते है जो पुराने संस्कारो और पुरानी चेष्टाओं और आदतोंको, जाग्रत चेतना द्वारा बहुत पहले छोड दिये जानेके बाद भी, अपने अन्दर बीजरूपमें धारण करता है। जाग्रत चेतना द्वारा छोड़ दिये जानेपर भी वे फिर स्वप्नोंमें उभर आते हैं; क्योंकि निद्रामें बाह्य भौतिक चेतना नीचे अवचेतनमें अथवा उसकी ओर चली जाती है और बहुतसे स्वप्न वहीसे ऊपर उठते हैं।

पूर्ण निश्चल-नीरवता वही है जिसमें सब अचंचल होता है और व्यक्ति साक्षीके रूपमें स्थित होता है जबकि चेतनामें कोई वस्तु सहज भावसे उच्चतर वस्तुओंको

नीचे पुकार लाती है और वह तब प्राप्त होती है जब ऊच्चतर चेतनाकी पूर्ण शक्ति मन, प्राण और शरीरपर सक्रिय होती है।

अन्दरकी वस्तुएं सूक्ष्म दृष्टि द्वारा मूर्त्त रूपमें अथवा उससे भी अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली दर्शनके तरीकेसे साररूपमें, बाह्य वस्तुओं जितनी ही स्पष्टतासे देखी जा सकती है; पर इन वस्तुओंको अपना पूर्ण बल और तीव्रता प्राप्त करनेके लिये विकसित होना होगा।

II

साधनाकी एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें आतरिक सत्ता जागने लगती है। इसके प्रथम परिणाम स्वरूप प्रायः जो अवस्था उत्पन्न होती है वह निम्नलिखित तत्वोंसे बनी होती है :

1. एक प्रकारका साक्षी-भाव जिसमें आंतरिक चेतना सब घटनाओंको द्रष्टा या प्रेक्षकके रूपमें देखती है, वह वस्तुओंका निरीक्षण करती है पर उनमें सक्रिय रूपसे रुचि या आनन्द नहीं लेती।

2. उदासीन समताकी एक अवस्था जिसमें न सुख होता है न दुःख, होती है केवल एक अचंचलता।

3. जो कुछ हो रहा है उस सबसे पृथक् कोई ऐसी वस्तु होनेका बोध, जो उसका निरीक्षण करती है किन्तु उसका अंग नहीं होती।

4. वस्तुओं, लोगों, या घटनाओंके साथ आसक्तिका अभाव।

ऐसा प्रतीत होता है मानों यह अवस्था तुम्हारे अंदर आनेकी चेष्टा कर रही थी; पर है यह भी अपूर्ण। उदाहरणके लिये, इस अवस्थामें (1) लोगोंके साथ बातचीत करते समय किसी विरक्ति या अधीरता या क्रोधका नहीं, किन्तु केवल एक तटस्थता और आंतरिक शांति एवं नीरवताका भाव होना चाहिये। और (2) एकमात्र उदासीन अचंचल और तटस्थ वृत्ति ही नही किन्तु स्थिरता अनासक्ति और शांतिका दृढ़ भाव भी होना चाहिये। और फिर (3) इस अवस्थामें शरीरसे बाहर नही निकलना चाहिये जिससे ऐसा न हो कि तुम यह न जान पाओ कि क्या हो रहा है या तुम क्या कर रहे हो। उस समय "मैं शरीर नहीं हूँ पर कोई अन्य वस्तु हूँ" यह भाव हो सकता है — यह ठीक भी है; किन्तु तुम्हारे अन्दर अथवा चारों ओर जो कुछ हो रहा है उस सबके विषयमें तुम्हें पूर्ण सचेतन भी रहना चाहिये।

इसके सिवाय, यह अवस्था पूर्ण हो जानेपर भी एक संक्रमणकी ही स्थिति होती है — इसका प्रयोजन स्वतन्त्रता और मुक्तिकी एक विशेष स्थितिको लाना है। परंतु उस शांतिमें भगवान्‌की उपस्थितिकी अनुभूतिका, तुम्हारे अन्दर होनेवाली श्रीमांकी शक्तिकी क्रियाका, हर्ष या आनन्दका बोध भी उत्पन्न होना चाहिये।

यदि तुम हृदयमें तथा सिरमें एकाग्रता कर सको तो ये वस्तुएं अधिक आसानीसे आ सकती हैं।

*

सत्ताके विभक्त होनेका जो अनुभव तुम्हें हुआ है जिसमें सत्ता अन्दरसे खाली और उदासीन हो गई है — दुःखी नहीं पर तटस्थ और उदासीन — वह एक ऐसा अनुभव है जिसमेंसे बहुतेरे लोग गुजरते हैं और जिसे संन्यासी लोग बहुत अधिक महत्व देते हैं। हमारे लिये तो यह अधिक विशाल और भावात्मक वस्तुके लिये एक मार्गमात्र है। इसमे पुराने तुच्छ मानव-भाव हट जाते हैं और एक प्रकारकी स्थिर उदासीन शून्यताका निर्माण किया जाता है जिससे उच्चतर प्रकृति अभिव्यक्त हो सके। इसे परिपूर्ण करके इसके स्थानपर एक ऐसी विशाल नीरवता और मुक्तिके भावको लाना होगा जिसमे श्रीमाकी चेतना ऊपरसे प्रवाहित हो सके।

*

वह अवस्था जिसमे सब व्यापार ऐसे उथले और शून्य हो जाते हैं कि उनका अन्तरात्माके साथ कोई संबंध नही रह जाता, एक ऐसी स्थिति है जो उपरी चेतनासे आतरिक चेतनाकी ओर जाते हुए आती है। जब मनुष्य आंतरिक चेतनामें जाता है तो उसे उसका अनुभव एक स्थिर विशुद्ध सत्ताके रूपमें होता है जो गतिहीन परन्तु शाश्वत रूपसे प्रशांत और बाह्य प्रकृतिसे अविचल और पृथक् है। यह चेतना अपनेको क्रियाओंसे अनासक्त रखने और उनसे पृथक् रहनेके परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है और यह साधनाकी बहुत महत्वपूर्ण क्रिया है। इसका पहला फल है पूर्ण अचंचलता परतु बादमें जाकर वह अचंचलता (अपने आप बिना हटे) चैत्य एवं अन्य ऐसी आंतरिक क्रियाओंसे परिपूर्ण होने लगती है जो बाह्य जीवन और प्रकृतिके पीछे सच्चे आंतरिक और आध्यात्मिक जीवनकी सृष्टि करती है। तब बाह्य जीवन और प्रकृतिको नियंत्रित करना और बदलना अधिक सरल हो जाता है।

इस समय तुम्हारी चेतनामें उतार-चढ़ाव आ रहे हैं क्योंकि यह आंतरिक अवस्था अभी पूरी तरह विकसित और प्रतिष्ठित नही हुई। ऐसा हो जानेपर भी बाह्य चेतनामें उतार-चढ़ाव आते रहेंगे, परन्तु आंतर अचंचलता, शक्ति, प्रेम आदि उसमें सतत विद्यमान रहेंगे और आतरिक सत्ता सतहपर होनेवाले उतार-चढ़ावोंका स्वयं विचलित या विक्षुब्ध हुए बिना तबतक निरीक्षण करती रहेगी जबतक वे पूर्ण बाह्य परिवर्तन द्वारा हटा नही दिये जाते।

जहांतक 'क्ष' का प्रश्न है, उसके लिये यही सर्वोत्तम होगा कि वह इसे गुजर जाने दे और अन्दरसे स्थिर और अनासक्त रहे; व्यक्ति अपनेको सब संपर्कोंसे अलग नही रख सकता, उसे बस उनकी अभ्यस्त प्रतिक्रियाओंसे अधिकाधिक ऊंचे उठना होगा।

*

कामके समय होनेवाली अपनी स्थितिका जो तुमने वर्णन किया है उसका अर्थ यह है कि अन्तःसत्ता जाग्रत हो गई है और तुम्हारी चेतना अब दुहरी बन गई है। अंत.-

सत्तामें ऐसा आंतरिक सुख, स्थिरता, शांति और ऐसी नीरवता होती है जिसमें विचारोंकी कोई लहर नहीं होती, केवल अन्दर ही अन्दर मौन नाम-जप (अजपा-जप) चलता रहता है। इस स्थितिमें 'मन्त्र'का जप स्वतः होता रहता है — मंत्रके विषयमें ऐसा ही होना चाहिये कि यह एक ऐसी सचेतन किंतु सहज वस्तु बन जाय जो स्वय चेतनाके मूलतत्वमें अपनेको दुहराता रहे और जिसमें मानसिक आयासकी ओर अधिक जरूरत न रहे। मनके ये सारे संदेह तथा प्रश्न निरर्थक हैं। होना यह चाहिये कि यह आतरिक चेतना वहां सदैव बनी रहे और किसी विक्षोभ द्वारा विक्षुब्ध न हो जाय तथा सतत नीरवता, आंतरिक सुख और शांति इत्यादिको कायम रखे, जब कि बाह्य चेतना उसके द्वारा कर्म इत्यादिके लिये आवश्यक या अधिक श्रेष्ठ वस्तु करवाये — तुम्हें कुछ दिनों तक यह पिछला अनुभव हुआ, मानों कोई तुमसे अविराम शक्तिके साथ कार्य करवाता रहा और तुम्हें जरा भी थकानका अनुभव नहीं हुआ।

यदि तुम यह अनुभव करते हो कि तुम अधिक शात हो गये हो और समर्पणका भाव अधिक सघन हो गया है तो यह बुरी नहीं बल्कि एक अच्छी स्थिति है और यदि इसके द्वारा मन प्रकाशको ग्रहण करनेवाला एक शून्य कक्ष बन जाय तो और भी अधिक अच्छा। अनुभव और अवतरण तैयारीके लिये बहुत अच्छे हैं, परन्तु आवश्यक चीज है चेतनाका परिवर्तन — यह इस बातका प्रमाण है कि अनुभवों और अवतरणोंका कोई प्रभाव हुआ है। शांतिके अवतरण भी अच्छी चीजें हैं, किन्तु मनकी निरन्तर बढ़ती हुई स्थिर शांति और नीरवता और भी अधिक मूल्यवान है। एकबार उनके आधारमें आ जानेपर दूसरी चीजें आ सकती हैं — साधारणतया एक समयमें एक ही, प्रकाश या बल और शक्ति या ज्ञान अथवा आनन्द। हमेशा तैयारीकी इन्हीं अनुभूतियोंको प्राप्त करते रहना आवश्यक नहीं है — एक समय ऐसा आता है जब कि चेतना एक नया संतुलन और दूसरी स्थितिको ग्रहण करना प्रारंभ करती है।

*

इसका एकमात्र कारण यह है कि तुम प्राण और मनकी प्रवृत्तियों और संबंधोंमें पूरी तरह उलझे हुए हो। मनुष्यको, पहले पहल यदि सारे समय नहीं तो जब भी चाहे तब, मन और प्राणको अचंचल बनानेकी शक्ति प्राप्त करनी होगी — क्योंकि मन और प्राण ही चैत्य सत्ता एवं आत्माको ढक देते है और इनमेंसे किसी एक तक पहुँचनेके लिये मनुष्यको उनपर ढके आवरणमें होकर प्रवेश करना होगा, परन्तु यदि मन और प्राण हमेशा सक्रिय बने रहें और तुम उनकी क्रियाओंके साथ सदा एक बने रहो तो आवरण हमेशा बना रहेगा, यह भी संभव है कि अपनेको इन प्रवृत्तियोंसे अलग कर इन्हें इस रूपमें देखो मानों वे तुम्हारी अपनी क्रिया नहीं पर प्रकृतिकी वह यांत्रिक क्रिया है जिसे तुम एक तटस्थ साक्षीके रूपमें देखते हो। तब व्यक्ति एक ऐसी आंतरिक सत्ताके विषयमें सचेतन हो सकता है जो पृथक्, स्थिर और प्रकृतिमें आसक्त नहीं होती। यह आंतरिक मनोमय या प्राणमय पुरुष हो सकता है न कि चैत्य-पुरुष, किंतु आंतरिक

मनोमय और प्राणमय पुरुषकी चेतनाको प्राप्त करना सदा ही चैत्य सत्ताके अनावरण-की ओर बढ़नेका एक कदम होता है।

हा, वाणीका पूर्ण सयम प्राप्त करना अधिक अच्छा होगा — भीतर जानेके लिये और सच्ची आंतरिक एवं यौगिक चेतनाके विकासके लिये यह एक महत्वपूर्ण कदम है।

*

आंतरिक सत्ता आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर शरीरकी बनी है, चैत्य अन्तर्तम सत्ता है जो अन्य सबको सहारा देती है। साधारणतया यह पार्थक्य पहले पहल आतरिक मनमें ही होता है और आंतरिक मनोमय पुरुष प्रकृतिको अपनेसे पृथक् रूपमें देखते हुए निश्चल नीरव बना रहता है पर यह आंतर प्राणपुरुष आंतरिक अन्नमय पुरुष भी हो सकता है अथवा यह किसी नियत स्थानसे रहित केवल समग्र पुरुषचेतना भी हो सकती है जो संपूर्ण प्रकृतिसे पृथक् होती है। कभी कभी इसका अनुभव सिरके ऊपर होता है पर तब इसे साधारणतया आत्मा कहा जाता है और उससे होनेवाला साक्षात्कार नीरव आत्माका साक्षात्कार होता है।

*

तुम जिस चेतनाके विषयमें कहते हो गीतामें उसे साक्षी पुरुष कहा गया है। पुरुष या मूल चेतना ही सच्ची सत्ता है या कमसे कम, किसी भी भूमिकामें प्रकट होने-पर वह उसका प्रतिनिधित्व करती है। पर मनुष्यकी सामान्य प्रकृतिमें वह अहंकारसे और प्रकृतिकी अज्ञानमयी क्रीड़ासे ढकी होती है और अज्ञानकी क्रीडाको सहारा देने वाले अगोचर साक्षीके रूपमें पीछेकी ओर छिपी रहती है। जब यह चेतना प्रकट होती है तो तुम इसे पृष्ठ भागोंमे स्थित एक स्थिर और केंद्रीय चेतनाके रूपमें अनुभव करते हो, यह बाहरी क्रीड़ासे एकाकार नहीं होती जो क्रीड़ा स्वयं इसपर निर्भर करती है वह ऊपरसे ढंकी हो सकती है, पर सदा वहां होती अवश्य है। पुरुषका बाहर प्रकट होना मुक्तिका श्रीगणेश है। पर यह धीरे-धीरे महेश्वर भी हो सकता है — धीरे धीरे क्योंकि अहंकारका पूराका पूरा स्वभाव और निम्नतर शक्तियोंकी क्रीड़ा इसके विरोधमें खड़ी होती है। फिर भी वह आदेश दे सकता है कि किस उच्चतर क्रीड़ाको इस निम्नतर गतिका स्थान लेना है और उसके बाद यह परिवर्तनकी प्रक्रिया होती है और उच्चतर क्रिया आ जाती है, निम्नतर क्रिया बने रहने और उच्चतर क्रियाको धकेल देनेके लिये संघर्ष करती रहती है। तुम ठीक ही कहते हो कि भगवान्‌के प्रति आत्मदान इस सारी प्रक्रियाको संक्षिप्त कर देता है और अधिक प्रभावशाली होता है, किन्तु सामान्यतया इसे पुरानी आदतके कारण एक बारगी पूरी तरह संपन्न नहीं किया जा सकता और दोनों ही पद्धतियां तबतक साथ साथ चलती रहती है जबतक पूर्ण

समर्पण संभव न हो जाये।

*

पुरुष अपने आपमें निर्व्यक्तिक है, पर प्रकृतिकी क्रियाओंके साथ अपनेको मिश्रित करके वह अपने लिये अहं और व्यक्तित्वकी एक परत चढ़ा लेता है। जब वह अपनी पृथक् प्रकृतिमें प्रकट होता है तब अनासक्त और साक्षी पुरुषके रूपमें दृष्टिगोचर होता है।

*

साक्षी सत्ता सर्वदा विन्दु रूपमें ही नही रहती। यह एक ऐसी विस्तृत वस्तुका रूप ले लेती है जो शेष सारी सत्ताको सहारा देती रहती है।

*

भीतर साक्षी चेतनाका भाव — मैं यह नही समझता कि इसमें बाह्य चेतनाका वहिष्कार अनिवार्य रूपसे निहित है ही, यद्यपि व्यक्ति यह भी कर सकता है — प्रगति-में एक बहुत आवश्यक स्थिति है। यह भाव सामान्य प्रकृतिकी क्रियाओंमें उलझे बिना निम्न प्रकृतिसे मुक्त होनेमें सहायता देता है; यह अन्दर पूर्ण स्थिरता और शांतिकी स्थापनामें मदद करता है, क्योंकि उस अवस्थामें सत्ताका एक ऐसा अंश होता है जो अनासक्त रहता है और सतहकी हलचलोंको बिना विक्षुब्द हुए देखता है; यह उच्च-चेतनाकी ओर आरोहणमें और उच्चतर चेतनाके अवतरणमें भी सहायता देता है, क्योंकि इस स्थिर, अनासक्त और मुक्त हुई आंतरिक सत्ताके द्वारा ही आरोहण और अवरोहणकी क्रिया आसानीसे की जा सकती है। और साथ ही, अन्य लोगोंमें हो रही प्रकृतिकी क्रियाओंपर वही साक्षी दृष्टि बनाये रखना, इन क्रियाओंको देखना, समझना पर उनसे किसी भी प्रकार विचलित न होना, सत्ताको मुक्त करने और विश्वमय बनानेकी दिशामें बहुत भारी सहायता है। संभवतः इसलिये मैं साधकमें इस क्रियाके होनेके विषयमें आपत्ति नही कर सकता।

समर्पणकी बात यह है कि वह साक्षी भावके साथ असंगत नही है। इसके विप-रीत सामान्य प्रकृतिसे मुक्त करके यह भाव उच्चतर या दिव्य शक्तिके प्रति समर्पणको अधिक सरल बना देता है। बहुधा जब व्यक्तिने इस साक्षी भावको न अपनाया हो, किन्तु अपने अन्दर कार्य करनेके लिये शक्तिके आवाहनमें सफल हुआ हो तो शक्ति उसके अन्दर सर्वप्रथम जो कार्य करती है वह है साक्षी भावको स्थापित करना जिससे वह निम्नतर प्रकृतिकी क्रियाओंके अपेक्षाकृत कम हस्तक्षेप या मिलावटके साथ अपना कार्य कर सके।

अब दूसरोके साथ संपर्कसे बचनेका प्रश्न बाकी रहता है और उसमें थोड़ी कठिनाई या अनिश्चितता है। तुम्हारी प्रकृतिके एक अंगमें अन्य लोगोंसे संबंध बांधने, दूसरोपर कार्य करने और उनके साथ आदान प्रदान करनेकी ओर तीव्र झुकाव है, यहातक कि यह आवश्यकता तुम्हें लगभग अनिवार्य लगती है। यह वस्तु आंतरिक एकलताकी ओर अभिमुख होने और संपर्क एवं कार्यकी दिशामें मुड़नेके बीचमें एक डावाडोल स्थिति उत्पन्न करती है, यहां 'क्ष'के समान अन्य साधकोंमें भी वही दुहरी और उतार-चढाववाली क्रिया देखनेमें आती है। ऐसे व्यक्तियोंमें मैं साधारणत: दोनोंमेंसे किसी एक प्रवृत्तिपर ही भार नही देता पर चेतनाको अपना संतुलन खोज लेनेके लिये छोड देता हूँ क्योंकि मैंने देखा है कि प्रकृतिके प्रधानत: चिन्तनशील न होनेपर एकात-सेवनकी वृत्तिपर बहुत अधिक भार देना भलीभांति सफल नही होता — निश्चय ही, यह बात तभीतक सत्य है जबतक साधक स्वयं उस प्रकारका दृढ़ और अटल निश्चय नही कर लेता। तुमने जो अनुभव किया उसका कारण यही हो सकता है। किन्तु साक्षीभाव और समर्पणके बीच कोई प्रश्न नहीं उठता, इसका कारण मैंने स्पष्ट कर दिया है — इनमेंसे एक भाव दूसरेकी भली प्रकार सहायता कर सकता है अथवा उसकी दिशामें प्रेरित कर सकता है क्योंकि हमारा योग ऐसा है जो इन दोनों वस्तुओंको साथमें जोड़े रहता है और उन्हें सदा ही अलग अलग नहीं रखता।

*

उच्चतर चेतनासे अन्य वस्तुओंकी भांति निश्चल नीरवता भी सबसे पहले आंतरिक सत्तामें ही उतरती है। व्यक्ति स्थिर, नीरव, प्रकृतिकी क्रियाओंसे अछूती, ज्ञान और प्रकाशसे परिपूर्ण इस आंतर सत्ताके विषयमें सचेतन हो सकता है और उसके साथ ही दूसरी अल्पतर सत्ताके अर्थात् उपरितलके उस लघु व्यक्तित्वके विषयमे भी जो प्रकृतिकी क्रियाओंसे बना है अथवा उनके अधिकारमें है या अधिकारमें न होनेपर भी उनके आक्रमणके प्रति खुला है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसका अनगिनत साधकों और योगियोंने अनुभव किया है। आंतर सत्ताका अर्थ है चैत्य आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर शरीर। वर्तमान अवस्थामें इनमेंसे किसीका भी स्पर्श तक नही प्राप्त हो सकता, इसलिये इसमें शोधनकी क्रिया अनिवार्य रही है। यह आवश्यक नही कि सब लोग इन दो चेतनाओंके विभाजनका अनुभव करें ही, पर अधिकतर लोग करते है। जब यह अनुभव होता है तो क्रियाका निर्धारण करनेवाला संकल्प आंतर सत्तामें होता है बाह्यमें नहीं — इसलिये बाह्य सत्तापर प्राणिक क्रियाओं द्वारा होनेवाला आक्रमण इस क्रियाको चालू होनेके लिये किसी भी प्रकार बाध्य नहीं कर सकता। इसके विपरीत रूपातरमें यह एक बहुत अनुकूल स्थिति है क्योंकि यह आंतर सत्ता स्वभावको पूरी तरहसे बदलनेके लिये प्रकृतिकी क्रियासे प्रभावित हुए बिना उसका निरीक्षण करते हुए, जहां भी आवश्यक हो वहां परिवर्तनके लिये शक्तिका प्रयोग करते हुए और मशीनकी तरह समग्र सत्ताको ठीक स्थितिमें रखते हुए उच्चतर प्रकृतिकी संपूर्ण शक्तिको

नीचे ला सकती है। यह बात तभी होती है जब कोई रूपांतरकी कामना करे। क्योंकि बहुतसे वैदांती इसे आवश्यक नहीं समझते – वे कहते हैं कि आंतर सत्ता मुक्त है, शेष तो केवल देह प्रधान मानवमें प्रकृतिकी बलवती प्रेरणाकी यंत्रवत् अविराम गति है और वह शरीरके साथ ही समाप्त हो जायगी जिससे व्यक्ति निर्वाणको प्राप्त कर सके।

*

अन्दरसे मुक्त और अलिप्त रहना और प्रकृतिको अपने ऊपर छोड़ देना — यह पुराना वैदांतिक विचार है, जब हम मरते है तब पुरुष स्वर्ग जायेगा और प्रकृति, शायद नरकमें जा गिरेगी। यह सिद्धांत अतिमात्र आत्म-वंचना और आत्म-रतिका उद्गम हैं।

*

निश्चय ही, तुम ऊपर-स्थित साक्षी पुरुषकी चेतनाको विकसित कर सकते हो, पर वह यदि केवल एक साक्षी ही हो और निम्नतर प्रकृतिको अपने निजी पथपर ही चलने दिया जाय तो फिर ऐसा कोई कारण नहीं रह जायगा जिससे कि ये अवस्थाएं कभी बन्द हो सकें। बहुतसे लोग इस भावको ग्रहण करते है — यह भाव ग्रहण करते है कि पुरुष पीछे हटकर अपनेको मुक्त कर ले, और प्रकृतिको जीवनका अंत हो जानेतक अपना निजी व्यापार ज्यों-का-त्यों चलाते रहने दिया जाय — यह तो 'प्रारब्ध कर्म' है; जब शरीरपात हो जायगा तब प्रकृति भी रुक जायगी और पुरुष निराकार ब्रह्ममें समा जायगा! यह एक सुखदायी सिद्धांत है, पर इसके सत्यके विषयमें संदेह ही अधिक है। मैं नहीं समझता कि मुक्ति इतनी अधिक सरल और सहज वस्तु है। जो हो, हमारे योगका उद्देश्य जो रूपांतर है वह इसके द्वारा कभी संपन्न नही होगा।

ऊपर-स्थित पुरुष केवल एक साक्षी ही नही है, वह अनुमति देनेवाला (या रोक रखनेवाला) भी है; अगर वह प्रकृतिकी किसी क्रियाके लिये अनुमति देना लगातार अस्वीकार करता रहे, अपने-आपको अनासक्त बनाये रखे तो, यदि वह अपने पुराने वेगके कारण कुछ समयतक चलती भी रहे तो भी, कुछ समय बाद वह साधारणतया अपना अधिकार खो बैठती है, अधिकाधिक शक्तिहीन, कम आग्रहशील, कम ठोस हो जाती है और अन्तमें निष्प्राण हो जाती है। यदि तुम पुरुष-चेतनाको ग्रहण करो तो वह केवल साक्षी ही नही होनी चाहिये बल्कि अनुमंता भी होनी चाहिये, उसे विक्षोभ उत्पन्न करनेवाली क्रियाओंको स्वीकृति नहीं देनी चाहिये, केवल शांति, स्थिरता, पवित्रता तथा अन्य जो कुछ दिव्य प्रकृतिका अंग है उसे ही अनुमति देनी चाहिये। अनुमति अस्वीकार करनेकी इस बातका निश्चय ही यह अर्थ नहीं है कि निम्नतर प्रकृतिके साथ संघर्ष किया जाय; यह एक अचंचल, सुदृढ़, अनासक्त अस्वीकृत हो सकती है जो प्रकृति-के विरोधी कार्यको, कोई अर्थ या समर्थन दिये बिना, कोई सहारा, कोई अनुमति दिये

बिना छोड़ दे।

*

जब कोई मनुष्य नैर्व्यक्तिक आत्माकी खोज करता है तब वह नैर्व्यक्तिक निष्क्रिय आत्माकी नीरवता और पवित्रता तथा अज्ञ प्रकृतिकी क्रियाशीलता इन दो विपरीत तत्त्वोंके बीच विचरण करता है। मनुष्य अज्ञानमयी प्रकृतिको छोड़कर अथवा उसे निश्चल-नीरव बनाकर उच्चतर आत्मामें चला जा सकता है। अथवा, मनुष्य उच्चतर आत्माकी शांति और स्वतन्त्रतामें निवास कर सकता तथा साक्षीरूपमें प्रकृतिके कार्यका निरीक्षण कर सकता है। फिर मनुष्य प्रकृतिकी क्रियाके ऊपर, तपस्याके द्वारा, कुछ सात्त्विक नियंत्रण भी लागू कर सकता है, पर नैर्व्यक्तिक आत्मामें प्रकृतिको बदलने या दिव्य बनानेकी कोई शक्ति नहीं है। वैसा करनेके लिये मनुष्यको नैर्व्यक्तिक आत्माके परे जाना पड़ता है और भगवान्‌की खोज करनी पड़ती है जो साकार और निराकार दोनों है तथा इन दोनों रूपोंसे परे हैं। फिर भी, तुम यदि नैर्व्यक्तिक आत्मामें निवास करनेका अभ्यास करो और एक प्रकारकी आध्यात्मिक नैर्व्यक्तिकता प्राप्त कर सको तो समता, शुद्धि, शांति अनासक्ति आदि गुण तुममें बढ़ जाते हैं, तुम एक प्रकारकी आंतरिक मुक्तिकी अवस्थामें वास करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हो जो ऊपरी हलचल या मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके संघर्षसे अछूती रहती है, और जब तुम्हें निर्व्यक्तिकके परे जाना होता तथा विक्षुब्ध प्रकृतिको भी किसी दिव्य सत्तामें परिवर्तित करना होता है तब इस अवस्थासे तुम्हें बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

अब भगवान्‌को अपने कर्म अर्पित करने तथा उससे उत्पन्न प्राणिक कठिनाईकी बातपर आवें। उस कठिनाईसे बचना संभव नहीं है — तुम्हें उसमेंसे गुजरना और उसे जीतना ही होगा। अभी तुम यह प्रयास कर रहे हो और परिवर्तनको रोकनेके लिये प्राण अपनी समस्त चंचल अपूर्णताओंके साथ खड़ा हो रहा है। परन्तु तीन बातें है जिन्हें तुम इस कठिनाईको हलका करने या घटानेके लिये कर सकते हो:

(1) इस प्राणिक-भौतिक स्तरसे अपनेको पृथक् कर लो — इसे एक ऐसी चीजके रूपमें देखो जो तुम नहीं हो; इसे त्याग दो, इसकी मांगों और प्रेरणाओंको अपनी सम्मति देना अस्वीकार कर दो, पर करो खूब स्थिरताके साथ, उस साक्षी पुरुषके रूपमें जिसकी असम्मति अंतमें अवश्य विजयी होती है। यदि तुमने अधिकाधिक नैर्व्यक्तिक आत्मामें निवास करना सीख लिया है तो ऐसा करना तुम्हारे लिये कठिन नहीं होना चाहिये।

(2) यदि तुम इस नैर्व्यक्तिक भावमें न होओ तब भी अपने मानसिक संकल्प और सम्मति या असम्मति देनेकी उसकी शक्तिका व्यवहार करो,—एक दुःखपूर्ण संघर्षके साथ नहीं, बल्कि उसी रूपमें, शांतिके साथ, कामनाकी मांगोंको अस्वीकार करते हुए करो, जबतक कि समर्थन और सम्मतिके अभावके कारण ये मांगें वापस आनेकी अपनी शक्ति ही न खो दें और धीरे-धीरे क्षीण और बाह्य वस्तु न बन जायं।

(3) यदि तुम अपने ऊपर या अपने हृदयमें भगवान्‌को अनुभव करो तो स्वयं प्राणको बदलनेके लिये आवश्यक साहाय्य, ज्योति और शक्ति प्रदान करनेके लिये वहांसे उन्हें पुकारो, तथा उसके साथ-ही-साथ तबतक इस प्राणपर भी बार-बार दबाव डालते रहो जबतक कि वह स्वयं भी अपने परिवर्तनके लिये प्रार्थना करना न सीख जाय।

अंतमे, जब तुम भएवान्‌के निमित्त अपनी अभीप्साकी सच्चाई और आत्मसमर्पणके द्वारा अपने अन्दर चैत्य पुरुष (हृदयगुहामें स्थित पुरुष) को जाग्रत कर लोगे जिसमें कि वह आगे आ जाय, बराबर सामने बना रहे तथा मन, प्राण और भौतिक चेतनाकी सभी गतिविधियोंपर अपना प्रभाव डालता रहे, तब यह कठिनाई कम हो जायगी और अपनी सबसे कम मात्रामें ही रहेगी। परन्तु रूपांतरका काम उसके बाद भी करना होगा, उसके बाद वह कार्य उतना कठिन और दुःखदायी नही होगा।

*

स्पष्ट ही नहीं। साक्षि-भावका प्रयोजन यह नही है कि उसे अपने दोषोंके उत्तरदायित्वको स्वीकार करनेका और इसी कारण उन्हे सुधारनेसे इनकार करनेका सुविधाजनक साधन बनाया जाय। इसका अस्तित्व आत्मज्ञानके लिये और, हमारे योगमें, एक सुविधाजनक (पृथक् और अनासक्त, होनेके कारण प्रकृतिसे स्वतंत्र) एक ऐसे केन्द्रके रूपमें अभिप्रेत है जहांसे व्यक्ति गलत क्रियाओंको स्वीकृति देनेसे इनकार करके और उनके स्थानपर अन्दर या ऊपरसे सच्ची चेतनाके व्यापारोंको स्थापित करके उनपर अपना कार्य कर सके।

III

व्यक्तिके योगमें एक बहुत गंभीर कठिनाई है एक ऐसे केन्द्रीय संकल्पका अभाव जो प्रकृतिकी शक्तियोंकी लहरोंसे सदा ही ऊपर रहे और प्रकृतिपर अपने केन्द्रीय लक्ष्य एवं अभीप्साको आरोपित करते हुए सदा ही श्रीमांके साथ स्पर्शमें रहे। इसका कारण यह है कि तुमने अपनी केन्द्रीय सत्तामें जीना नहीं सीखा है; तुम अपनेपर आक्रमण करनेवाली शक्तिकी किसी भी प्रकारकी लहरके साथ दौड़ पड़नेके और तत्काल ही उसके साथ तदाकार होनेके आदी रहे हो। यह एक ऐसी वस्तु है जिसे भूलना होगा; तुम्हें चैत्यके आधारपर स्थित अपनी केन्द्रीय सत्ताको खोजना और उसमें निवास करना होगा।

*

जबतक मन उछलकूद करता रहता है अथवा बाहरकी वस्तुकी ओर दौड़ता रहता है तबतक अन्तर्मुख, अन्तरमें समाहित और सचेतन होना संभव नही है।

*

अपनी केन्द्रीय-चेतनाके विषयमें सचेतन होना और शक्तियोंकी क्रियाको जानना आत्म-प्रभुत्वकी ओर पहला निश्चित कदम है।

इसके (चेतनाके) दोनों ही अर्थ हैं। व्यक्तिको अपनी सारी अवस्थाओं, क्रिया-ओ और उन्हें उत्पन्न करनेवाले कारणों और प्रभावोंके विषयमें सचेतन होना चाहिये एवं भगवान्के — उनकी स्मृति, उपस्थिति, शक्ति, शांति, प्रकाश, ज्ञान और प्रेम, आनन्द-के विषयमे भी सज्ञान होना चाहिये।

*

अनासक्ति प्रभुत्वका प्रारंभ है, किन्तु पूर्ण प्रभुत्वके लिये सत्तामें कोई भी प्रति-क्रियाएं नही होनी चाहिये। अन्दर जब कोई वस्तु प्रतिक्रियाओंसे अविचल रहती है तो इसका अर्थ यह है कि आंतर सत्ता मुक्त और अपनी स्वामिनी हो गई है, परन्तु अभी समग्र प्रकृतिकी स्वामिनी नही। जब वह स्वामिनी हो जाती है तो वह किन्हीं अशुद्ध प्रतिक्रियाओंको अन्दर नही आने देती — यदि इनमेंसे कोई प्रतिक्रियाएं आती भी हैं तो उन्हें तुरन्त धकेलकर बाहर फैंक दिया जाता है और अन्तमें फिर उनमेंसे कोई भी नही आती।

*

तुम्हें अपनेको अपने अन्दर अधिक दृढ़ताके साथ समेटना चाहिये। तुम यदि अपनेको निरन्तर बिखेरते रहो, अन्दरके घेरेसे बाहर निकलते रहो तो तुम सामान्य बाह्य प्रकृतिकी क्षुद्रतामें और उन प्रभावोंके आधीन जिनके प्रति वह खुली हुई है, विचरते रहोगे। अन्तरमें निवास करना सदा ही अंतरसे अर्थात् श्रीमांके साथ लगातार संबंध-में रहते हुए कार्य करना सीखो। पहले पहल इसे नित्यप्रति और पूर्ण रूपसे करना कठिन हो सकता है पर यदि हम लगे रहें तो इसे संपादित किया जा सकता है — और इसी कीमतपर, ऐसा करना सीख कर ही, हम इस योगमें सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

*

अवश्य ही तुमने किसी कारणवश अपनेको बहुत अधिक बहिर्मुख कर लिया है। एकमात्र आंतर चेतनामें निवास करते हुए और वहीसे सब कुछ करते हुए सच्ची चैत्य स्थिति कायम रखी जा सकती है। अन्यथा यह अन्दर चली जाती है और बाह्य चेतना उसे ढंक देती है। वह खो नही जाती, पर छिप जाती है — इसे फिरसे पानेके लिये हमें अन्तर्मुख होना होगा।

*

प्राणकी भूतकालीन आदत कारण ही तुम्हें वारंवार सत्ताके वाहरी हिस्सोंमें जाना पड़ता है; तुम्हें अडिग रहना चाहिये और इससे उलटी अपनी सच्ची सत्तारूप आंतर सत्तामें निवास करनेकी और वहींसे प्रत्येक वस्तुका अवलोकन करनेकी आदत डालनी चाहिये। उसीमेंसे तुम वस्तुओंके एवं स्वयं अपने और अपनी प्रवृत्तिके संवंध-में सच्चा विचार, सच्ची दृष्टि और सच्ची समझ प्राप्त करते हो।

*

हां, जव व्यक्ति सही चेतनामें निवास करता है, तव ठीक क्रिया ही होती है, सच्चा सुख प्राप्त होता है, प्रत्येक वस्तु सत्यके साथ सुसंगत होती है।

गलत चेतना होनेपर, मांग, असंतोष, संदेह, सव प्रकारका विसंवाद उत्पन्न होता है।

*

भेद तव उत्पन्न होता है जव कोई वस्तु आन्तर मनसे और केवल वाहरी मस्तिष्कसे की जाती है। तुम जो अनुभव कर रहे हो तो वह है आन्तर मनका कार्य-को अपने हाथमें लेना — तव यह चेतनाका अंग वन जाता है और तुम्हे वस्तुओंका वास्तविक वोध प्राप्त हो जाता है — वाह्य मनका कार्य हमेशा कठिन और उथला होता है।

यह प्रत्यक्ष है कि तुम्हारे अन्दर आंतर सत्ता अधिकाधिक आगे आ रही है। ज्यों ज्यों यह आगे आयेगी त्यों त्यों कठिनाइयां उत्तरोत्तर वाहर धकेल दी जायेंगी और चेतना शांति और शक्तिको पहले इसके अधिक विस्तृत भागमें और वादमें सारी-की सारी सत्तामें कायम कर देगी।

*

हां, यह सव ठीक है। प्रधानतः वाह्य पद्धतिपर भरोसा रखनेसे वहुत अच्छी सफलता नही मिलती। केवल आंतर संतुलन प्राप्त करनेपर ही वाह्य क्रिया वस्तुतः असरकारक होती है और तव यह क्रिया स्वयं ही संपन्न हो जाती है।

*

यह अच्छा है। सच्ची वस्तुपर अर्थात् आंतर सत्ता और आंतर जीवनमें अपनी एकाग्रता लगाये रहो। ये सव वाह्य वस्तुएं कम महत्वकी हैं और आंतर जीवनके भली प्रकार प्रतिष्ठित होनेपर ही उन अवरोध करनेवाली कठिनाइयोंका सच्चा समाधान प्राप्त

हो सकता है। तुमने इस बातको अन्तर्मुख होनेपर कितनी ही बार देखा है। बाह्य वस्तुओंके विषयमें मानसिक रूपसे अत्यधिक व्यस्त रहना मनको बहिर्मुख बनाये रखता है। आतरमे निवास करनेपर तुम श्रीमांको अपने पास पाओगे और उनकी इच्छा और क्रियाका साक्षात् अनुभव कर सकोगे।

*

कठिनाई यह है कि तुम ऐसी वस्तुओंको बहुत महत्व देते हो जिनका बहुत कम मूल्य है। तुम इस प्रकार व्यवहार कर रहे हो मानों मेज मिलना या न मिलना कोई अत्यधिक महत्वकी बात है और इस मामलेके सही या गलत होनेके विषयमें तुम अपनेको चिंतित और उत्तेजित कर लेते हो जिनसे तुम अपने मनकी संपूर्ण शांतिको गड़बड़ा देते हो और अपनेको सच्ची स्थितिसे गिरा देते हो। ये बातें तुच्छ हैं और सापेक्ष महत्व ही रखती हैं — तुम्हें नई मेज मिल सकती है या नहीं भी, इन दोनोंमें किसीका भी कोई बहुत बड़ा महत्व नही है और तुम्हारे अन्दर भगवान्के उद्देश्यकी दृष्टिसे, इससे कोई फर्क नही पड़ता, एक ही वस्तु अर्थात् हियरता, शांति और दिव्य शक्तिके अवतरणको बढ़ाना, समता एवं आतरिक प्रकाश एवं चेतनामें उन्नत होना महत्वपूर्ण है। बाह्य वस्तुओंको अत्यन्त शांतभावसे करना चाहिये, आवश्यक कार्योंको करते रहना चाहिये पर किसी वस्तुके विषयमें अपनेको विक्षुब्ध या उत्तेजित नहीं करना चाहिये। केवल इसी तरह तुम स्थिरता और तेजीसे आगे बढ़ सकते हो। जब तुम अपने आसपास श्रीमाकी शक्तिका, अपने चारों ओर बहुत ही निकट, शांतिका अनुभव करते हो तो वह एक महत्वपूर्ण वस्तु है — बाहरकी इन छोटी छोटी बातोंको सैकड़ो विभिन्न तरीकोंसे निबटाया जा सकता है, वस्तुतः इसका कोई महत्व नहीं।

IV

'क्ष' संबंधी स्वप्न अवश्य ही अवचेतन प्राणमेंसे पुरानी क्रियाके बचे खुचे अंशोंकी सफाईकी प्रक्रियाके सतत जारी रहनेका सूचक था।

जिस अनुभव अर्थात् निस्तब्धता मन और प्राणकी शून्यता तथा विचारों और अन्य क्रियाओंके बन्द होनेका तुम वर्णन करते हो वह समाधिकी उस स्थितिका प्रारंभ था जिसमें चेतना अन्दरकी ओर एक गहरी निस्तब्धता और निश्चल-नीरवतामें चली जाती है। यह अवस्था आंतर अनुभूति, साक्षात्कार और वस्तुओंके अगोचर सत्यके दर्शनके लिये अनुकूल है, यद्यपि इन्हें कोई शक्ति जाग्रत अवस्थामें भी प्राप्त कर सकता है। यह निद्रा नहीं बल्कि एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपनेको पहलेकी तरह बाहर नहीं पर अन्दर अनुभव करता है।

तुमने अपने हृदयमें जो हीरा देखा वह श्रीमांकी चेतनाके प्रकाशकी एक रचना था — क्योंकि श्रीमांका प्रकाश सफेद और बहुत अधिक तीव्र होनेपर हीरे जैसा चम-

कीला होता है। प्रकाश तुम्हारे हृदयमें श्रीमांकी उपस्थितिका सूचक है और तुमने उसे ही एक बार देखा और क्षणभर अनुभव किया।

पुस्तक या समाचार पत्र पढ़नेकी अक्षमताका प्राय: तब अनुभव होता है जब चेतना में अंतर्मुख होनेकी वृत्ति पैदा हो रही होती है।

*

तुम्हें जो अनुभव हुआ है वह अवश्य ही चेतनाका अन्तर्मुख होना है जिसे साधारणतया "समाधि" कहा जाता है। तथापि इसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण अग है मन और प्राणकी वह नीरवता जो शरीरकी ओर भी पूरी तरह फैली हुई है। इस नीरवता और शांतिको समा लेनेकी क्षमता प्राप्त करना साधनाका सबसे अधिक महत्वपूर्ण कदम है। यह अनुभव सबसे पहले ध्यानके अन्दर आता है और चेतनाको अन्दरकी ओर समाधिमें फैंक देता है, परन्तु आगे जाकर इसे जाग्रत अवस्थामें भी लाना होगा और संपूर्ण जीवन और कार्यके स्थायी आधारके रूपमें अपनेको प्रतिष्ठित करना होगा। आत्माके साक्षात्कार और प्रकृतिके आध्यात्मिक रूपातरकी यही शर्त है।

*

1. नही, यह निद्रा नही थी। तुम अन्दर आंतरिक चेतनामें चले गये थे; इस आंतर चेतनामें हम अन्दरसे जाग्रत होते है, बाहरसे नही, केवल आंतरिक वस्तुओंसे ही सचेतन होते है बाह्य वस्तुओंसे नहीं। तुम्हारा बाह्य मन जिस कार्यको करने अर्थात् चंचलता उत्पन्न करनेवाले विचारों और सुझावोंपर क्रिया करके उन्हें ठीक करनेकी, चेष्टा कर रहा था, उसी कार्यमें तुम्हारी आंतरिक चेतना भी व्यस्त थी; यह कार्य बाह्य मनकी अपेक्षा आंतरिक चेतना द्वारा बहुत ही अधिक सरलतासे किया जा सकता है।

2. जहांतक करने योग्य आवश्यक कार्योका प्रश्न है, वे तुम्हारे अपने मानसिक प्रयासकी अपेक्षा अवतरित होती हुई (ठोस शक्तिको लाती हुई) शक्ति कौर शांतिके द्वारा बहुत आसानीसे किये जा सकते है।

*

इसका कोई कारण नहीं कि तुम्हारे अन्दर निद्राके समय ज्वलन्त अभीप्सा न हो, बशर्ते कि तुम नींदमें सचेतन रहो। वास्तवमें तुम जिस अवस्थाकर वर्णन करते हो वह निद्रा नही थी — बात केवल इतनी थी कि चेतना (अन्दर) एक प्रकारकी अंतर्मुख अवस्था (एक प्रकारकी अर्द्धसमाधि) में भीतर जानेका यत्न कर रही थी जब कि बाह्य मन निरन्तर उसमेंसे बाहर निकलता रहता था। यदि तुम इस अंतर्मुख अवस्थामें

प्रवेश करो तो तुम्हें जो प्राप्त होता है वह स्वप्न नही किंतु आध्यात्मिक अनुभूतियां अथवा सूक्ष्मदर्शन या चेतनाके अन्य अतिभौतिक स्तरोंके अनुभव हैं। तुम्हारी ज्वलंत अभीप्सा ठीक ऐसी ही आध्यात्मिक अनुभूति थी।

*

तुम्हारे अनुभवोंके संबंधमें :

1 ध्यान करते समय तुम्हे जो निद्राका अनुभव हुआ वह निद्रा नहीं परन्तु चेतनाकी अनर्मुख अवस्था थी। जब यह अवस्था बहुत गहरी नही होती तो मनुष्य ऐसे विभिन्न दृश्यो, आवाजो इत्यादिके विषयमें सचेतन हो सकता है जिनका संबंध भौतिक भूमिकासे नही किंतु चेतनाकी आतरिक भूमिकासे होता है — उनका महत्व या सत्य उस भूमिका पर निर्भर करता है जिसपर व्यक्ति पहुँचता है। सतहपर आनेवाली इन वस्तुओंका कोई महत्व नही और व्यक्ति जब तक अधिक गहराईमें न पहुँच जाय तब तक उसे उनमें-से गुजर भर जाना होगा।

2 भय, क्रोध, अवसाद, आदि जो भाव नाम जप करते समय ऊपर आ जाया करते थे वे उस प्रकृतिके प्राणिक प्रतिरोधसे (यह प्रतिरोध हरेकमें पाया जाता है) उत्पन्न होते थे। यह प्रकृति इन्हें प्राणिक भागपर उसे बदलनेके लिये डाले गये उस दबावके कारण ऊपरकी ओर फेंकती थी जो साधनामें स्वभावतः ही आया करता है। ये प्रतिरोध ऊपर आते हैं और फिर व्यक्तिके सच्चा भाव ग्रहण करनेपर देर या सवेरमें दूर हो जाते हैं। व्यक्तिको एकाग्रता और साधनामें दृढ़तापूर्वक लगे रहकर तबतक उनका निरीक्षण करना और अपनेको उनसे पृथक् रखना होता है जबतक प्राण शांत और निर्मल न हो जाय।

3 जिन (चन्द्र, आकाश, आदि) वस्तुओंको तुमने देखा उनका कारण है अंतर्दर्शनका उद्घाटन ; यह साधारणतया तब होता है जब एकाग्रता उस आंतर चेतनाको खोलना शुरु करती है जिसका यह सूक्ष्म दर्शन एक अंग है। आंतर सत्ताके विकासमें सूक्ष्मदर्शनकी इस क्षमताका अपना महत्व है, और इसे अनुत्साहित नहीं करना चाहिये, यद्यपि आरंभिक अवस्थामें देखी गई चीजोंको बहुत अधिक महत्व नहीं प्रदान करना चाहिये।

4. तो भी कुछ ऐसी चीजें हैं जो बढ़ते हुए आध्यात्मिक अनुभवके अंग है, जैसे कि वह सूर्य जिसका तुमने सिरके ऊपर दर्शन किया और सुनहरे प्रकाशका पिण्ड भी —क्योंकि ये आंतरिक उद्घाटनके चिह्न हैं और प्रतीकात्मक हैं। दोनों ही दिव्य सत्य एवं प्रकाशके तथा उनके प्रभावकी एक ही क्रियाके प्रतीक हैं।

5. तथापि सबसे अधिक महत्वपूर्ण अनुभव उस शांति और अचंचलताका है जो सम्यक् एकाग्रतासे आती है। इसे ही मन, प्राण और शरीरमें विकसित और स्थिर होना होगा — क्योंकि ये शांति और अचंचलता ही साधनाके लिये दृढ़ आधारका निर्माण करती हैं।

*

ये सारे विचार और प्रभाव वस्तुतः बाहरसे, वैश्व-प्रकृतिमेंसे आते हैं—वे हमारे अन्दर कुछ रचनाएं बनाते हैं अथवा व्यष्टिगत सत्तासे अभ्यस्त उत्तर पाते है। अस्वीकार कर दिये जानेपर वे बाह्य प्रकृतिमें वापिस चले जाते हैं और यदि कोई सचेतन हो जाय तो वह उन्हें बाहरसे आते हुए और अन्दर फिरसे स्थान पानेकी या पुराने उत्तरको फिरसे उकसानेकी चेष्टा करते हुए अनुभव कर सकता है। व्यक्तिको दृढ़तापूर्वक उनका तबतक अस्वीकार करना होगा जबतक और अधिक जवाबकी संभावना न रहे। यदि कोई ऐसी आंतरिक शांति, विशुद्धि और नीरवता स्थापित की जा सके जिससे ये वस्तु उसे छूनेमें समर्थ हुए बिना ही पीछे हट जाये तो इसका वेग बढ़ सकता है।.

2. जो लोग योग करते हैं प्रारंभमें उन सभीके सामने यह बाधा समान रूपसे आती है। निद्रा वृत्ति इन दो तरीकोंसे क्रमशः दूर हो जाती है: (अ) अभीप्साकी अग्निको तीव्र बनानेके द्वारा (ब) निद्राके स्वय ऐसी स्वप्न-समाधि बननेके द्वारा जिसमें व्यक्ति उन आंतरअनुभवोंके विषयमें सचेतन होता है जो स्वप्न नही होते (अर्थात् जाग्रत चेतना थोड़े समयके लिये खो जाती है पर उसका स्थान निद्रा नही परन्तु एक ऐसी आंतरिक सचेतन स्थिति ले लेती है जिसमें व्यक्ति अतिभौतिक या मानसिक या प्राणिक सत्तामें विचरण करता है)।

3. निद्रामें आनेवाली अचेतनाके विषयमें: यह सर्वथा सामान्य अवस्था है। निद्रामें सचेतनता केवल जाग्रत स्थितिमें सच्ची चेतनाके विकासके द्वारा ही क्रमशः स्थापित की जा सकती है।

4. हृत्पद्म और हृदयकेन्द्र एक ही हैं।

5. वह मूर्त रूपकमाला जिसका तुम प्रयोग करते हो, अवतरणके लानेमें सहायता दे सकती है।

*

जहांतक इस स्वप्नका प्रश्न है, यह स्वप्न नहीं था पर सचेतन स्वप्नावस्थामें "स्वप्न समाधि" में आंतर सत्ताका एक अनुभव था। सुन्न हो जाना और चेतनाको लगभग खोने जैसा अनुभव, दोनों सदा ही उस शक्तिके दबाव या अवतरणके कारण होते है जिसका शरीर आदी नहीं होता पर जिसे वह प्रबलरूपसे अनुभव करता है। जिसपर सीधा दबाव पड़ रहा था वह भौतिक शरीर नहीं था, किंतु वह सूक्ष्म शरीर था जिसमें आंतर सत्ता अधिक अन्तरंग रूपमें निवास करती है और जिसमें वह निद्रा या समाधिमें अथवा मृत्युके समय बाहर जाती है। परन्तु भौतिक शरीर इन सजीव अनुभवोंमें ऐसा अनुभव करता है मानों यह अनुभव वह स्वयं कर रहा हो; इसमें सुन्न होना दबावका प्रभाव था। समग्र शरीरपर दबावका अर्थ होगा समग्र आंतर चेतनापर दबाव, शायद किसी ऐसे छोटे या बड़े परिवर्तनके लिये जो इसे ज्ञान या अनुभवके लिये अधिक तैयार कर देगा; तीसरी या चौथी पसली ऐसे प्रदेशको सूचित करती हैं जिसका संबंध प्राण-प्रकृतिके, प्राण-शक्तिके प्रदेशके साथ है, वहां परिवर्तन करनेके लिये थोड़ा

प्रभाव पड़ रहा है।

*

इस प्रश्नकी आवश्यकता नहीं है। इस स्थितिमें तुम्हें केवल अनुभवोंका निरीक्षण और उनके तात्पर्यका अवलोकन करना चाहिये। अनुभवोंके केवल प्राणिक क्षेत्रमें होनेपर ही संभवतः उनमेंसे कुछ अनुभव मिथ्या रचनाएं हो सकते हैं। जिनके विषयमें तुम लिखते हो वे खुलती हुई यौगिक चेतनाके सामान्य अनुभव मात्र हैं और तुम्हें उन्हें सीधे-सरल रूपमें समझना होगा।

इस अनुभवमें तुच्छ उपरितलीय प्राण टूटकर उस सच्चे या आंतरिकप्राणके विस्तारमें फैल गया है जो तुरन्त उच्चतर चेतना, उसकी शक्ति, प्रकाश और ते आनन्द-की ओर उद्घाटित हो सकता है। इसी प्रकार तुच्छ भौतिक मन और इन्द्रिय भी टूटने लगे हैं और आन्तरभौतिक चेतनामें विस्तृत होने लगे हैं। आंतरिक भूमिकाएं नित्य ही विस्तृत होती हैं और वैश्व-भूमिकाकी ओर खुली होती हैं, बाह्य उपरितलीय भाग अपने अन्दर बन्द होते हैं एवं संकीर्ण और अज्ञानयुक्त व्यापारोंसे भरे होते हैं।

*

तुम्हारे अनुभवोंकी बीच बीचमें अन्तराल युक्त शृंखला जिस सतत विकासको प्रदर्शित करती है उसके कारण बहुत रोचक लगती है। ये दो नये महत्वपूर्ण तत्व अनुभवके पहले तत्वमें और जुड़ गये हैं। पहला है पेटके गड्ढेसे — अर्थात् नाभिके ऊपरसे, स्वयं यह क्रिया ठीक नाभिमेंसे, उसके नीचेके भागमेंसे भी, प्रारंभ होती है — चेतनाके ऊपर चढ़ आनेका स्थान सुनिश्चित हो जाना। नाभिकेन्द्र (नाभिपद्म) केन्द्रित हुई प्राणिक चेतनाका प्रधान पीठस्थान (सक्रिय केन्द्र) है जिसका विस्तार हृदयके (भावमय) स्तरसे लेकर नाभिके नीचेके केन्द्रतक (निम्नतर प्राण, संवेदनामय कामना-केन्द्रतक) है। ये तीनों प्राणिक सत्ताके प्रदेश हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि तुम्हारी आन्तर प्राणिक सत्ताको ही यह अनुभव हुआ, और बहुत करके इस समय समग्र (अथवा अधिकांश) प्राणिक सत्ता जाग्रत थी और इसमें हिस्सा ले रही थी इसीलिये उसमें इतनी तीव्रता और उत्कटता थी। स्वयं अनुभव मूलतः अन्तरात्मिक था, परन्तु प्रकट होते समय उसे तीव्र भावप्रधान प्राणिक रूप दे दिया गया। इसे पूरा करनेके लिये, मैं इसमें और यह कहता हूँ कि चैत्यका केन्द्र हृदयके पीछे है और विशुद्ध आवेगोंके द्वारा ही चैत्य बाहर आनेका मार्ग बहुत आसानीसे प्राप्त कर सकता है। हृदयसे ऊपरका [illegible] मनोमय-प्राणिक प्रदेशसे जुड़ा हुआ है और उसमें ऊपर मन अपने तीन केन्द्रोंके साथ स्थित है। एक तो है कण्ठमें (बाहर आनेवाला या बहिर्मुख करनेवाला मन), दूसरा आंखोंके बीचमें या [illegible] मध्यमें (सूक्ष्मदर्शन और संकल्पका केन्द्र) और तीसरा उसके ऊपर, मस्तिष्कके साथ संपर्क करनेवाला यह केन्द्र जो सहस्रदलपद्म कहलाता है, और जिसमें ऊपरकी सारी मानसिक भूमिकाओंके साथ (आन्तरिक

मन, संबोधि, और अधिमानसके साथ) संबंध बांधनेवाले सर्वोच्च विचार और वुद्धि क्रेंद्रित हैं।

दूसरी नवीन महत्वपूर्ण विशेपता है आंतर मनकी आत्माभिव्यक्ति; क्योंकि तुम्हारा आंतर मन ही प्राणिक सत्ताके चैत्य अनुभवकी निगरानी, निरीक्षण और समीक्षा कर रहा था। अपनी सत्तामें यह स्पष्ट विभाजन तुम्हें आश्चर्यजनक लगा, परन्तु एक वार यह पूरी तरह जान लेनेपर कि सत्ताके विभिन्न भागोका इस प्रकार विभक्त हो सकना बिलकुल सामान्य बात है तो फिर यह तुम्हें विचित्र नही लगेगा। उपरि-तलीय प्रकृतिमें, मन, चैत्य, प्राण, भौतिक भाग सब खिचड़ी हो गये है। और हमारी प्रकृतिकी गठनको तथा इन भागोंके पारस्परिक एव अन्त क्रियाको खोजनेके लिये अंत:निरीक्षण आत्मविश्लेषण और सूक्ष्म अवलोकनकी एव विचार-सूत्र, भाव और प्रवृत्तिके सुलझानेकी तीव्र शक्तिकी आवश्यकता है। परन्तु जव व्यक्ति तुम्हारी तरह अन्दर जाना है तो हम सतहपर ही इस सारी क्रियाके उद्गमको पा लेते हैं और यह देखते हैं कि उसमें हमारी सत्ताके अग बिलकुल पृथक् और एक दूसरेसे स्पष्टतया भिन्न हैं। हम उन्हें अन्दर वस्तुतः पृथक् सत्ताओके रूपमे अनुभव करते है और जैसे किसी समूहवद्ध काममें दो व्यक्ति कर सकते है वैसे ही वे भी एक दूसरेका अवलोकन, आलो-चना, सहायता या विरोध और दमन करते देखे जाते है; यह ऐसा है मानों हम समूह-सत्ता हैं, समूहके प्रत्येक सदस्यका अपना अलग स्थान और कार्य है, और सव उस केंद्रीय सत्ताके द्वारा संचालित होते हैं जो कभी तो अन्य सत्ताओंसे ऊपर स्थित होकर सामने आ जाती है और कभी परदेके पीछे चली जाती है। तुम्हारी मानसिक सत्ता प्राणका निरीक्षण कर रही थी और उसकी उग्रताके विपयमें बिलकुल निश्चिन्त नहीं थी, क्यों-कि मानसिक सत्ताका स्वाभाविक आधार है स्थिरता, चिंतनशीलता, संयम, नियंत्रण और समता, जवकि प्राणकी स्वाभाविक वृत्ति है सक्रियता, भावावेग, संवेदन और क्रियासे ऊर्जाको झोंक देना। इसलिये सव कुछ पूरी तरह स्वाभाविक और व्यव-स्थित था।

*

तुम्हारे अनुभवकी व्याख्या सीधीसी है। निम्नतर (प्राणिक और भौतिक) सत्ता चिंतनशील मन और उच्चतर प्राणसे उस प्रभाव (पीले मानसिक प्रकाश) को प्राप्त कर रही थी जो पुरानी अभ्यस्त निम्नतर प्राणकी प्रतिक्रियाओंको उसमेंसे साफ कर रहा था: साधनामें वहुधा मनुष्य आन्तरिक सत्ताको वाह्य सत्ताके साथ अथवा मन या उच्चतर प्राणको निम्नतर मन या प्राणके साथ वातचीत करते हुए अनुभव करता है जिससे कि वह उसे आलोकपूर्ण कर सके।

*

महत्वपूर्ण अनुभव है हृदयमें श्वेत किरणका आना — श्वेत प्रकाश और प्रकाश द्वारा हृदयका आलोकित होना इस साधनामें एक महान् शक्तिसंपन्न वस्तु है। जिन अन्त· स्फुरणाओंके विपयमें वह कहती है वे उसमें विकसित होती हुई आंतर चेतनाके चिह्न है — उस चेतनाके जो योगके लिये आवश्यक है।

*

जिन तीन अनुभवोंका तुमने वर्णन किया है वे सवके सव तुम्हारे आध्यात्मिक जीवनकी एक ही गति या एक ही अवस्थासे संवध रखते हैं। वे तुम्हारे अन्त:पुरुपसे सज्ञान होनेके लिये चेतनाकी प्रारंभिक गतियां हैं। जैसा कि अधिकतर मनुष्योंमें होता है, यह अन्त:पुरुष तुममें वाह्य जागरित पुरुपके पीछे छिपा था। हम कह सकते हैं कि हममें दो पुरुष हैं, एक तो उपरितलपर, हमारा साधारण वाह्य मन, प्राण और शरीर-चेतना, दूसरा पर्देके पीछे, आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर शारीरिक चेतना जो एक अन्य या आंतर पुरुप है। यह आंतर पुरुष एक वार जागरित होकर यथाक्रम हमारी सच्ची वास्तविक सनातन आत्माकी ओर खुलता है। एक तो यह खुलता है भीतर, अन्तरात्माकी ओर जिसे इस योगकी भापामें चैत्य पुरुप कहते हैं और जो हमारे क्रमिक जन्मोका आधार है तथा प्रत्येक जन्ममें नया मन, प्राण एवं शरीर ग्रहण करती है। दूसरे, यह खुलता है ऊपरकी ओर,—अज आत्मा या आत्मतत्वकी ओर। उसकी सचेतन प्राप्तिसे हम परिवर्तनशील व्यक्तित्वका अतिक्रम कर अपनी प्रकृतिपर पूर्ण प्रभुत्व एवं स्वातंत्र्य अधिगत कर लेते है।

तुमने जो पहले पहल सात्त्विक गुणोंका विकास तथा अन्तरीय ध्यानात्मक शम-की प्रतिष्ठा की सो विलकुल ठीक ही किया। इस प्रारंभिक आत्मानुशासनको पूरा करने अथवा शुरू करनेसे भी पहले आयासपूर्ण ध्यानसे या कतिपय उत्कट-प्रयत्नशाली विधियोसे अंत:पुरुपके किवाड़ खोलना अथवा आंतर और वाह्य आत्माके वीचकी कुछ एक दीवारें तोड़ गिराना भी संभव है। किंतु ऐसा करना सदा वुद्धिमत्तापूर्ण नही होता, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप साधनामें ऐसी अवस्थाएं आ सकती हैं जो अत्यंत कलुपित, अस्तव्यस्त और वृथा सकटपूर्ण होती हैं। तुम अधिक धीर पथ अपना करके ऐसी अवस्थामें पहुँच गये हो जिसमें अन्त:पुरुपके द्वार लगभग स्वयमेव खुलने लग पड़े है। अव दोनों प्रक्रियाएं साथ साथ चल सकती है। किंतु यह आवश्यक हैं कि तुम सात्त्विक अचंचलता, धीरता तथा जागरूकता वनाये रखो,—किसी चीजके लिये जल्दी मत मचाओ, किसी चीजके लिये जवर्दस्ती न करो, जो मध्यवर्ती अवस्था इस समय प्रारंभ हो रही है उसके किसी प्रवल प्रलोभन या पुकारके कारण मार्गसे विचलित न होओ जव तक तुम्हें यह निश्चय ही न हो जाय कि यह सही पुकार है। कारण,आंत-रिक स्तरोंकी शक्तियोंसे ऐसे अनेक प्रवल आकर्पण प्राप्त होते है जिनका अनुसरण करना निरापद नही होता।

तुम्हारे प्रथम अनुभवका अभिप्राय है आंतर मनोमय पुरुपकी ओर उद्घाटन।

भ्रूमध्य-प्रदेश आंतर मन, दृष्टि और संकल्पका केंद्र है और तुमने जो नीले रंगका प्रकाश देखा वह उच्चतर मानसिक स्तरका प्रकाश था; अथवा यों कह सकते हैं कि वह उस आध्यात्मिक मनका प्रकाश था जो साधारण मानवीय मानसिक बुद्धिसे परे है। इस उच्चतर मनकी और उद्घाटनके साथ ही वहुधा साधारण मानसिक विचारकी निस्तब्धता भी प्राप्त होती है। हमारे विचार वास्तवमें हमारे भीतर स्वतंत्र रूपसे हमारी इस मन-नामक छोटीसी संकीर्ण चिंतनशील मशीनमें पैदा नही होते। असलमें वे हमारे पास विशाल मानसिक व्योम या आकाशसे मानस-तरंगों या मानस-शक्तिकी तरंगोंके रूपमें आते हैं। वे तरंगें कोई भाव धारण किये होती हैं जो हमारे व्यक्तिगत मनमें आकर रूप ग्रहण कर लेता है। अथवा वे विचार ऐसी तैयार विचार-रचनाओंके रूपमें आते हैं जिन्हें हम अंगीकार कर लेते हैं और फिर अपनी मानने लगते हैं। हमारे बाह्य मनको प्रकृतिकी इस प्रक्रियाका कुछ पता नही होता; परंतु आंतर मनके जाग जानेपर हम इससे अभिज्ञ हो सकते हैं। तुमने जो देखा वह यही कि विचारोंके सतत आक्रमणका प्रभाव क्षीण हो रहा है तथा वे पीछे हट रहे हैं और विचार-रचनाएं मनोमय विश्व प्रकृतिके विस्तृत प्रदेशके क्षितिजसे दूर भाग रही हैं। तुमने यह क्षितिज कहीं अपने अन्दर ही अनुभव किया किंतु स्पष्ट ही यह उस विस्तीर्णपर आत्म-प्रदेशमें था जिसे तुमने उसके अधिक सीमित भ्रूमध्य-प्रदेश भरमें भी सत्संबंधी स्थूल स्थान की अपेक्षा अधिक वड़ा अनुभव किया। वस्तुतः आंतर मनके प्रदेशोंके भी क्षितिज होते हैं पर वे प्रदेश उन क्षितिजोंसे परे — अनन्त दूरी तक — फैले होते हैं। आंतर मन अतिविशाल वस्तु है। वह अपनेको अनन्तके भीतर प्रसारित करता और अंतमें विश्वव्यापी परम मनकी अनंतताके साथ अपने आपको एकाकार कर लेता है। जब हम बाह्य स्थूल मनकी तंग चौहद्दीसे बाहर निकलते हैं तो हम भीतर देखने तथा इस प्रकारकी विशालता अनुभव करने लगते हैं और अंतमें मानस आकाशकी ऐसी विश्वमयता एवं अनंतता भी। विचार मानस-सत्ताका सार नही, बल्कि मानसिक प्रकृतिकी क्रियामात्र है। यदि वह क्रिया बन्द हो जाय तो जो कुछ उसके स्थानपर प्रकट होता है और विचार-निर्मुक्त सत्ताके रूपमें प्रतीत होता है वह रिक्तता या शून्य नहीं होता वरन् एक अत्यंत वास्तविक एवं सारभूत तत्त्व होता है। हम कह सकते हैं कि वह मूर्त्त पदार्थ होता है — वह होता है मनोमय पुरुष जो अपने आपको व्यापक रूपसे विस्तृत करता है और आप ही अपनी प्रशांत या सक्रिय सत्ताका क्षेत्र हो सकता है एवं उस क्षेत्र तथा उसके कार्यका साक्षी, ज्ञाता और स्वामी भी। अवश्य ही कुछ लोग इसे पहले पहल शून्य के रूपमें अनुभव करते हैं, पर वह इस कारण कि उनका निरीक्षण अनभ्यस्त और अक्षम होता है और क्रियाका विलोप उनमें रिक्तताका भान पैदा करता है। रिक्तता वहां होती अवश्य है, पर वह साधारण क्रिया-ओंकी रिक्ततता होती है, न कि सत्ताका अत्यंताभाव।

विचारोंके दूर हटनेके अनुभवका बार बार होना, विचारोत्पादिका यांत्रिक प्रक्रियाका बन्द हो जाना और इसके स्थानपर मनके अपने आकाशका प्रतिष्ठित होना —यह सब सामान्य नियमके अनुसार है तथा ऐसा है जैसा होना चाहिये। क्योंकि

इस निश्चलनीरवताको या कम-से-कम एतदर्थ क्षमताको तबतक बढ़ते जाना होगा जबतक व्यक्ति इसे स्वेच्छानुसार प्राप्त करनेमें समर्थ न हो जाय या, इससे भी बढ़कर, जब तक वह इसे सहज स्वयं-स्थायिताकी अवस्थामें प्रतिष्ठित न कर ले। कारण, यह आवश्यक है कि मनकी साधारण यंत्रसम क्रिया शात हो जाय ताकि उच्चतर मन आविर्भूत एवं अवतरित हो सके और क्रमशः वर्तमान अपूर्ण मनका स्थान लेकर इसकी क्रियाओंको अपनी परिपूर्णतर गतियोंमें रूपांतरित कर सके। यह जो कठिनाई है कि जब तुम काम कर रहे होते हो तब निश्चलनीरवता आ उपस्थित होती है यह प्रारंभमे ही है। बादमें इस निश्चलनीरवताके अधिक दृढ़ हो जानेपर व्यक्तिको अनुभव होता है कि वह जीवनके समस्त कार्य सर्वव्यापिनी साक्षात् निश्चलनीरवतामें ही या कमसे कम उसे आधार और पीठिका बनाकर जारी रख सकता है। निश्चलनीरवता पीछे रहती है और आवश्यक कार्य उपरितलपर चलता रहता है अथवा निश्चलनीरवता हमारी विशाल आत्मा होती है और इसीमें कही एक ओर सक्रिय शक्ति निश्चलनीरवतामे बाधा डाले बिना विश्व प्रकृतिके कार्य करती है। अतएव जब तक अनुभव उपस्थित रहे तबतक कर्म स्थगित रखना बिलकुल ठीक है। इस अंतरीय निश्चलनीरव चेतनाका विकास काफी महत्त्वपूर्ण है, यहांतक कि यह अल्पकालीन कर्म-निरोध या निवृत्तिको उचित ठहरा सकता है।

इसके विपरीत, अन्य दो अनुभवोंकी बात इससे भिन्न है। ऐसा कभी नही होने देना चाहिये कि स्वप्नानुभव जागरितावस्थापर अधिकार करके चेतनाको भीतरकी ओर खीचे। इसे अपनी क्रिया निद्राके समयतक ही सीमित रखनी चाहिये। इसी प्रकार आंतर पुरुष और बाहरी "मै" के बीचकी दीवार तोड़ गिरानेके लिये कोई धकापेल या जोर-जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये — एकीकरणको विकासशील आतर क्रिया द्वारा अपने स्वाभाविक समयमें होने देना चाहिये। इसके कारणकी व्याख्यामें मैं दूसरे पत्रमें करूँगा।

*

तुम्हारा दूसरा अनुभव निद्रामें अन्तःपुरुषके जागरणकी प्रारंभिक गति है। साधारणतया जब कोई सोता है तो एक जटिल घटना घटित होती है। जागरित चेतना तब वहां नही रहती, क्योकि सब कुछ भीतर उन अंतर्लोकोंमें लौट गया होता है जिनसे हम जागरित अवस्थामें सचेतन नही रहते, यद्यपि उनका अस्तित्व तो तब भी होता है। कारण, उस समय जाग्रत मन उन सबको पर्देकी आडमें छिपा देता है, बहुत कुछ वैसे ही जैसे रवि-रश्मियोंका पर्दा अपनी आड़में विद्यमान बृहत् नक्षत्रलोकोंको हमसे छिपाये रखता है। फलतः तब उपरितलीय आत्मा तथा बाह्य जगत्के सिवा और कुछ भी नहीं रहता। निद्राका अभिप्राय है अन्दरकी ओर जाना जिसमें उपरितलीय आत्मा और बाह्य जगत् हमारे इन्द्रियानुभव तथा दृष्टिशक्तिसे ओझल हो जाते है। परन्तु साधारण निद्रामें हमें आभ्यंतर जगतोंका ज्ञान नही होता; हमें अपनी सत्ता गहरी

अवचेतनामें डूबी प्रतीत होती है। इस अवचेतनाके उपरितलपर एक धुंधली सतह तैरती रहती है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि स्वप्न हमें इसी सतहमें आते हैं, किंतु असलमें वे वहां केवल अंकित ही होते हैं। जब हम बहुत गाढ़ी नींदमें चले जाते हैं, तब हमें एक इस प्रकारकी नींद आती है जो हमें निःस्वप्न निद्रा प्रतीत होती है। परंतु वास्तवमें स्वप्न आ तो रहे होते हैं पर वे इतने गहरे तलमें होते हैं कि अंकित करनेवाली सतहपर पहुँच ही नहीं पाते अथवा वे भूल जाते हैं। जाग्रत चेतनाकी अवस्था तक हमारे पहुँचते पहुँचते उनके आ चुके होनेकी स्मृति भी सारी-की-सारी मिट जाती है। साधारण स्वप्न अधिकांशतः बे-सिर-पैरके होते हैं या, कमसे कम, वे प्रतीत ऐसे ही होते हैं, क्योंकि अवचेतन सत्ता इनकी रचना उन गहरे जमे संस्कारोंसे करती है जो हमारे व्यतीत बाह्यांतर जीवनसे इसपर पड़ते हैं। यह रचना वह ऐसे मनमौजी ढंगसे करती है कि जाग्रत मनकी स्मृतिको स्वप्नके अर्थका कुछ भी अता-पता आसानी-से नहीं मिलता। अथवा ये स्वप्न निद्राके पर्देके पीछे होनेवाले अनुभवोंके आंशिक अंकन होते हैं और सो भी अधिकतर विरूप। निश्चय ही ये दोनों चीजें परस्पर अत्य-धिक मिल-जुल जाती हैं। वास्तवमें निद्राके समय हमारी चेतनाका एक बडा भाग इस अवचेतन अवस्थामें निमज्जित नहीं होता। यह पर्देको पारकर सत्ताके उन अन्य स्तरोंमें चला जाता है जो हमारे आंतरिक स्तरोंसे संबद्ध हैं, अर्थात् अतिभौतिक (Supraphysical) सत्ताके उन स्तरों, और विस्तीर्णतर प्राण, मन या चैत्य (psychic) के उन लोकोंमें जो पर्देके पीछे हैं और जिनके प्रभाव हमें बिना पता चले ही हमतक पहुँचते हैं। कभी कभी हम इन लोकोंसे स्वप्न प्राप्त करते हैं, एक ऐसी चीज प्राप्त करते हैं जो स्वप्नसे अधिक कुछ होती है,—एक ऐसा स्वप्न अनुभव जो उन लोकोंमें हमारे साथ या हमारे चारों ओर होनेवाली घटनाका साक्षात् या प्रतीका-त्मक अंकन (record) होता है। जैसे जैसे अंतश्चेतना साधना द्वारा बढ़ती है वैसे वैसे इन स्वाप्न अनुभवोंकी संख्या, स्पष्टता, संगति एवं यथार्थतामें वृद्धि होती जाती है। अनुभव तथा चेतनाके कुछ विकासके बाद, यदि हम निरीक्षण करें तो हम उनको तथा अपने अंतर्जीवनके लिये उनके महत्त्वको समझने लग सकते हैं। यहां तक कि हम अभ्याससे इतने सचेतन बन सकते हैं कि अपनी अनेक स्तरोंमेंसे होकर जानेकी क्रियाको, जो साधारणतया हमारी सजगता और स्मृतिसे छिपी रहती है, तथा जागरित अवस्थामें वापिस आनेकी प्रक्रियाको भी जान सकें। इस आंतरिक सजगताकी विशेष ऊंची अवस्थामें इस प्रकारकी निद्रा, अनुभवोंकी निद्रा, साधारण अवचेतन तंद्राका स्थान ले सकती है।

इस प्रकार — साधारणरीत्यनुसार निद्राके पर्देके पीछे नहीं, बल्कि स्वतः निद्रामें ही — जो तत्त्व विकसित होता है वह निःसंदेह आंतर पुरुष या चैतन्य, या अन्तरात्माका ही कोई अंश होता है। जिस अवस्थाका तुमने वर्णन किया है उसमें अंतःपुरुष अभी निद्रा और स्वप्नसे सज्ञान होकर उनका निरीक्षण कर रहा है — किंतु अभी तक इससे अधिक कुछ नहीं — यदि तुम्हारे स्वप्नोंके स्वरूपमें कोई और ऐसी चीज नहीं जो तुम्हारी स्मृति से छूट गई हो। परंतु यह अंतःपुरुष इतना काफी जागरित

है कि उपरितलीय चेतना इस अवस्थाको स्मरण रख सकती है, अर्थात् इसका वृत्तांत प्राप्त करके, निद्रासे जागरित अवस्थाकी ओर लौटती हुई भी, उसे स्थिर रख सकती है, चाहे साधारणतया इस लौटनेकी क्रियामें स्वाप्न घटनाओंके अंकनके कुछ एक अंशोंके सिवा शेष सब विस्मृतिके गर्भमें विलीन हो जाते हैं। तुम्हारा यह अनुभव ठीक है कि जाग्रत चेतना और निद्रामें जागरित रहनेवाली चेतना एक ही नहीं हैं — ये सत्ताके भिन्न-भिन्न भाग हैं।

जब आंतरिक निद्रा-चेतनाका यह विकास आरंभ होता है तब चाहे नींदकी जरूरत या थकावट न भी हो तो भी भीतर जाकर विकाससाधनमें लगे रहनेका आकर्षण प्राय ही होता है। एक और कारण भी इस आकर्षणका साथ देता है। साधारणतया अन्त:पुरुषका प्राणमय भाग ही निद्रामें सर्वप्रथम जागता है और साधारण स्वप्नोंके विपरीत प्रारंभिक स्वाप्न अनुभव प्राय: अधिकांशमें प्राणमय स्तरके होते है। प्राणमय स्तरका अभिप्राय है अतिभौतिक जीवनका लोक जो विविधता तथा रोचकतासे पूर्ण है और प्रकाशमय या अन्धकारमय, मनोहर या भयंकर और प्राय: अतीव आकर्षक, अनेक प्रदेशोंसे युक्त है। इन प्रदेशोंमें हम अपनी प्रकृतिके प्रच्छन्न भागोंका और साथ ही पर्देके पीछे हमारे साथ घटनेवाली घटनाओंका एवं हमारी प्रकृतिके अंगोंके विकाससे संबद्ध बातोंका बहुत कुछ ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। सुतरां, हमारे अन्दरका प्राणमय पुरुष अनुभवके इस क्षेत्रके प्रति अत्यधिक आकृष्ट हो सकता है, उसकी ऐसी इच्छा हो सकती है कि वह इसमें अधिक निवास करे और बाह्य जीवनमें कम। इसी आकर्षणके कारण किसी रोचक और मोहक वस्तुकी ओर लौट जानेकी कामना होती है और फिर इसके लिये हम सो जाना चाहते हैं। किंतु निश्चय ही जागरित अवस्थामें इस कामनाको उत्साहित नहीं करना चाहिये, इसे निद्राके उन नियत घंटोंके लिये रख छोड़ना चाहिये जिनमें यह अपना स्वाभाविक क्षेत्र प्राप्त करती है। अन्यथा एक प्रकारका असंतुलन पैदा हो सकता है, अतिभौतिक लोकोंके दृश्योंमें अपेक्षाकृत अधिक तथा अतीव अधिक निवास करनेकी प्रवृत्ति और बाह्य वास्तविकताओंपर अधिकारकी कमी पैदा हो सकती है। आंतर विश्वप्रकृतिके इन क्षेत्रोंका ज्ञान और इनके संबंधमें हमारी चेतनाका विस्तार अतीव वांछनीय है, पर इसे इसके अपने स्थान और सीमाओंमे ही मर्यादित रखना होगा।

*

अपने पिछले पत्रमें मैंने तुम्हारे तीसरे अनुभवकी व्याख्या स्थगित रखी थी। तुमने जिस चीजका संस्पर्श अनुभव किया है वह आत्मा ही है,—आत्मा अर्थात् अन्त:पुरुष या आंतर मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय पुरुषको धारण करनेवाला चैत्य पुरुष जिसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। परन्तु यह ऊर्ध्वस्थित अज आत्मा या उपनिषदुक्त आत्मा नहीं है,—क्योंकि उसका अनुभव तो भिन्न प्रकारसे, अर्थात् चिन्तनात्मक मनकी निश्चलनीरवता द्वारा होता है। पूर्ण आत्मज्ञानके प्रत्येक जिज्ञासुके जीवनमें एक

ऐसी घड़ी अवश्य आती है जब वह अपनेको इस प्रकार एक ही समय दो लोकों, दो चेतनाओं या एक ही सत्ताके दो भागोंमें रहता हुआ अनुभव करता है। इस समय वह बाह्य चेतना, बाह्य सत्तामें रहता है और भीतर अन्तरात्माको देखता है। परन्तु उसे अधिकाधिक अन्दरकी ओर जाना होगा, ताकि यह अवस्था पलट जाय और वह भीतर इस नई आंतरिक चेतना एवं आंतरिक आत्मामें निवास करने लगे तथा बाह्य चेतनाको इस रूपमें अनुभव करे कि यह उपरितलकी कोई चीज है जो स्थूल जगत्में आंतर पुरुष-के आत्मप्रकाशके लिये साधनभूत व्यक्तित्वके तौरपर गठित है। तदनन्तर भीतरसे एक परमा शक्ति बाह्य व्यक्तित्वको सचेतन तथा सुनम्य यंत्र बनानेके लिये इसपर प्रभाव डालती है ताकि अंतमें आंतर और बाह्य घुल-मिलकर एक हो जायं। जिस दीवारका तुम्हें अनुभव होता है वह निश्चय ही अहंकी दीवार है। इसका आधार है — बाह्य व्यक्तित्व एवं उसकी चेष्टाओंके साथ अपने आपको आग्रहपूर्वक एकाकार करना और अपनेको वही कुछ समझना। यह एकाकारता ही विस्तार, आत्मज्ञान तथा आध्यात्मिक स्वातन्त्र्यमें बाधा डालती है; यही उन बाधाओं और बंधनोंकी आधार-शिला है जिनके कारण बाह्य सत्ता दुःख भोगती है। तथापि दीवार को समयसे पूर्व कदापि नहीं ढाहना चाहिये क्योंकि संभवतः उसका परिणाम होगा — दो पृथक् लोकोंकी गतियों द्वारा किसी एक भाग (आंतर या बाह्य) का ऐसे समयमें विदारण या अस्तव्यस्तीकरण या उसपर आक्रमण जब कि वे लोक समस्वर होनेके लिये अभी तैयार नही हुए। जब व्यक्तिको सत्ताके इन दो भागोंका इस रूपमें ज्ञान हो जाय कि ये दोनों एक साथ विद्यमान् हैं उसके बाद भी थोड़े समयके लिये कुछ पार्थक्य आवश्यक होता है। योगशक्तिको अवकाश देना होगा ताकि वह आवश्यक सुव्यवस्थाएं और उद्‌घाटन संपन्न करके सत्ता-को अन्दरकी ओर ले जाय और फिर इस अंतर्मुख स्थितिसे बाह्य प्रकृतिपर प्रभाव डाल सके।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति चेतनाको यथाशीघ्र सत्ताके आंतरिक जगत्में निवास करने और वहांसे सब कुछ नयी दृष्टिसे देखनेके लिये भीतर जानेका अवसर ही न दे। यह अन्तर्मुख गति तो अत्यंत वांछनीय एवं आवश्यक है और वैसे ही दृष्टि-का यह परिवर्तन भी। मेरा आशय इतना ही है कि यह सब बिना जल्दी मचाये सहज गतिसे करना चाहिये। भीतर जानेकी गति शीघ्र ही प्रारंभ हो सकती है, किंतु उसके बाद भी अहंभावकी दीवारका कुछ भाग विद्यमान रहेगा ही और इसे स्थिरता एवं धैर्यपूर्वक भूमिसात् करना होगा, यहांतक कि इसका एक भी पत्थर गड़ा न रहने पाय। मेरी जो यह चेतावनी है कि निद्रा-लोकको जागरित अवस्थापर बलपूर्वक आक्रमण और अधिकार नहीं करने देना चाहिये उसका तात्पर्य बस यही है, और सजग एकाग्रता या साधारण जाग्रत चेतनामें होनेवाली अन्तर्मुख गतिसे उसका कुछ संबंध नहीं। जाग्रत गति हमें अन्ततः अन्तरात्मामें ले जाती है और अन्तरात्माके द्वारा अतिभौतिक लोकों-से हमारा संबंध बढ़ता है और साथ ही उनके विषयमें हमारा ज्ञान भी। किंतु इस संबंध और ज्ञानके कारण हमें उनमें अतिमात्र व्यस्त या उनकी सत्ताओं तथा शक्तियों-के अधीन हो जानेकी आवश्यकता नहीं और न ही हमें इस प्रकार व्यस्त या अधीन

होना चाहिये। निद्रामें हम सचमुच ही इन लोकोंमें प्रवेश करते हैं और यदि निद्रा-चेतनाका आकर्षण अतीव महान् हो तथा जाग्रत चेतनापर वलपूर्वक अधिकार कर ले तो इस अतिमात्र व्यस्तता और प्रभावपरवशताका भय है।

यह सर्वथा सत्य है कि आंतरिक पवित्रता और सचाई, जिसमें व्यक्ति केवल उच्चतर पुकारसे ही प्रेरित होता है, मध्यवर्ती अवस्थाके प्रलोभनोंसे वचनेके लिये व्यक्तिका सर्वोत्तम रक्षासाधन है। यह व्यक्तिको सदा सही मार्गपर चलाता है और पथभ्रष्ट होनेसे वचाता रहता है। अन्ततोगत्वा चैत्य पुरुष पूरी तरह जागकर सामने आ जाता है और, जव एक वार ऐसा हो जाता है तव आगे कोई भय नही रहता। यदि इस पवित्रता और सचाईके साथ-साथ मनमें विवेक-शक्ति और स्पष्टता भी हो तो वह प्रारभिक अवस्थाओमे सुरक्षाको और भी वढ़ाती है। प्रलोभन या आकर्षण क्या क्या रूप धारण कर सकता है इसका पूरे विस्तारसे या ठीक ठीक वर्णन करना, मेरे विचारमे, न तो आवश्यक है और न ही मुझे ऐसा करना चाहिये। इन शक्तियोंकी ओर ध्यान देकर, जिसकी शायद कोई जरूरत भी नही होती, इन्हें जगाया ही न जाय तो अधिक अच्छा होगा। मै नही समझता कि तुम किसी वहुत वड़े भय संकुल आकर्षण-के कारण पथसे च्युत हो सकते हो। जहां तक मध्यवर्ती अवस्थाकी छोटी-मोटी कठि-नाइयोंका प्रश्न है वे भयानक नही होती और जैसे जैसे व्यक्ति चेतनाके विकास, विवेक और असदिग्ध अनुभवके सहारे अग्रसर होता है वैसे वैसे वे आसानीसे दूर की जा सकती है।

जैसा मै कह चुका हूँ, आंतरिक आकर्षण अर्थात् भीतर जानेके लिये आकर्षण अवाछनीय नही है और इसका प्रतिरोध करनेकी आवश्यकता नही। एक विशेष अवस्थामें यह अपने साथ अनेकानेक दिव्यदर्शन भी ला सकता है, क्योंकि तव एक ऐसी अंतर्दृष्टि विकसित हो जाती है जो सत्ताके सभी स्तरोंकी वस्तुओंका साक्षात्कार करती है। यह आकर्षण एक अमूल्य शक्ति है जो साधनामें सहायक है; इसे दवाना नही चाहिये। परतु अन्तःस्थ परम आत्मा और भगवान्के साक्षात्काररूपी मुख्य लक्ष्यको सदा समक्ष रखते हुए व्यक्तिको आसक्तिके विना अवलोकन एवं निरीक्षण करना चाहिये। इन चीजोंको केवल ऐसा समझना चाहिये कि ये चेतनाकी वृद्धि में प्रासंगिक और सहायक हैं, ऐसा नही कि ये अपने-आपमें अपनी ही खातिर अनुसरणीय लक्ष्य हैं। अपिच, व्यक्तिको एक ऐसे विवेकशील मनकी भी आवश्यकता है जो प्रत्येक वस्तुको उसके अपने अपने स्थानपर सन्निविष्ट कर उसका क्षेत्र तथा स्वभाव समझनेके लिये प्रतीक्षा कर सके। ऐसे भी कुछ लोग होते है जो इन सहायक अनुभवोंके लिये इतने उत्सुक हो जाते है कि वे सद्वस्तुके विभिन्न क्षेत्रोंके वास्तविक तारतम्य और सीमाका समस्त विवेक भी खोने लगते है। इन अनुभवोंमें जो कुछ भी घटित होता है वह सवका सव सत्य नही समझ लेना चाहिये। व्यक्तिको विवेक करनेकी आवश्यकता होती है, यह देखना होता है कि कौनसी चीज मानसिक आकृति या आंतरिक रचना है और कौन-सी चीज सत्य है, कौनसी चीज ऐसी है जो विस्तीर्णतर मनोमय और प्राणमय स्तरों-से प्राप्त निर्देशमात्र है अथवा किस चीजका केवल वही वास्तविक अस्तित्व है और किस

चीजका आंतरिक साधना या बाह्य जीवनमें सहायता या पथप्रदर्शनके लिये महत्त्व है।

*

'क्ष' के अनुभव ऐसे हैं जो साधारणत: बाह्य चेतनासे अनुभवकी आंतरिक भूमिकामें पीछे हटनेके साथ आया करते हैं। प्रथम अनुभवमें शरीरके ठंडा हो जानेका वेदन — 'य' के अनुभवोंमें शरीरके निश्चेष्ट और अकड़ जानेकी तरह — उन चिह्नोंमेंसे एक है इसीलिये चेतना बाह्य अथवा अन्नमय कोषसे पीछे हटकर भीतरकी ओर जा रही है। स्फटिकीकरण एक ऐसा रूप था जिसमें उसने उस आंतर चेतनाके संगठनका अनुभव किया जो ऊपरसे आनेवाली वस्तुको दृढ़ता और साथ ही स्वतंत्रता पूर्वक ग्रहण कर सकती थी। स्फटिक संगठित रचनाके साथ साथ उस स्थायी पारदर्शिताको भी सूचित करते हैं जिसमें उच्चतर भूमिकाओंसे अवतरित होते हुए वृहत्तर सूक्ष्मदर्शन और अनुभव स्पष्ट रूपसे प्रतिबिम्बित हो सकें।

जहांतक दूसरे अनुभवका प्रश्न है, उसने जाग्रत चेतनाका जो परित्याग किया उसका प्रत्यक्ष ही यह परिणाम हुआ कि उसने उसे एक ऐसी आंतरिक चेतनामें फैंक दिया जिसमें वह अतिभौतिक भूमिकाओंके संपर्कमें आने लगा। लाल रंगके समुद्र और तारोंका क्या आशय है यह तो लाल रंगके स्वरूपपर निर्भर करता है। यदि यह किरमिजी रंगका था तो उसने जो कुछ देखा वह भौतिक चेतना और भौतिक जीवनका समुद्र था जैसा कि वह आंतर प्रतीकात्मक सूक्ष्मदृष्टिके सामने प्रस्तुत हुआ है; यदि यह जामनी-लाल था तो यह प्राणिक चेतना और प्राणिक जीवन शक्तिका सागर था। यदि उसने श्रीमांके सामीप्यके भावको रोक न दिया होता तो शायद और भी अच्छा होता — वल्कि हो सके तो उसे इस सामीप्यको अपने साथ आंतर भूमिकाओंमें भी ले जाना चाहिये, तब उसे भयका कोई अवकाश न रहता।

जो भी हो, यदि वह आंतर चेतनामें जाना और आंतर भूमिकाओंमें विचरना चाहता हो — जिसका होना अवश्यंभावी है यदि वह अपने ध्यानमें जाग्रत चेतनासे आंखें मीच लें — तो उसे भयको त्याग देना होगा। बहुत संभवत: वह गीताके निर्देशका अनुसरण करके दिव्य चेतनाकी नीरवता या उसका स्पर्श पानेकी आशा करता था। किन्तु दिव्य चेतनाकी नीरवता या उसका स्पर्श श्रीमांकी उपस्थिति और ऊपरके स्तरसे चेतनाके अवतरणके द्वारा (पूर्वोक्त विधिके समान ही) और कुछ लोगोंको तो उससे भी अधिक आसानीसे जाग्रत अवस्थाके ध्यानमें ही प्राप्त हो सकता है। तथापि अंतर्मुख क्रिया संभवत: अनिवार्य है और उसे समझनेका एवं, झिझके या भयभीत हुए बिना जाग्रत (अवस्था) के ध्यानमें श्रीमांके लिये जो श्रद्धा और विश्वास था उसीके साथ इसके पास जानेका उसे यत्न करना चाहिये। नि:संदेह, उसके अनुभव आंतर (प्राणिक) स्तरके हैं; मुझे 'य' के लिये पहले ही किये जा चुके स्पष्टीकरणको दुहरानेकी आवश्यकता नहीं।

पुनश्च :—महादेवकी मूर्तिके संबंधमें हुए स्वप्नका यह अर्थ हो सकता है कि (निःसंदेह, इस जगत्‌से भिन्न) कोई व्यक्ति इसे पथभ्रष्ट करना चाहता था और उसके मनमें जिस बृहत्तर जीवन्त सत्यको वह खोज रहा था उसके साथ भूत कालके किसी अधिक संकीर्ण परम्परागत रूपको उलझा देना चाहता था।

*

जिन चीजोंका तुम अनुभव कर रहे हो उनका कारण यह तथ्य है कि चेतना अन्दर चली जाती है, इसलिये भौतिक वस्तुएं ऐसी लगती हैं मानों वे दूरीपर स्थित हों। यही प्रतीति तब हो सकती है जब कोई चेतनाके अन्य स्तरमें जाकर वहांसे भौतिक पदार्थोंको देखता है। पर बहुत करके यह घटना तुम्हारे साथ पहलीबार हुई है। बिलकुल अंदर जानेपर स्थूल चीजें अदृश्य हो जाती हैं,—उनके साथ कोई संबंध कायम करनेपर, वे दूर हो जाती हैं। किंतु यह अस्थायी परिवर्तन है। आगे जाकर तुम दोनों चेतनाओंको एक साथ धारण कर सकोगे — अपने एक अंगमें तो तुम चैत्य पुरुष और प्रकृतिके सारे अनुभव और क्रियाओंके साथ अपने चैत्यमें रहोगे और तो भी इसके साथ ही तुम्हारा उपरितलीय आत्मा स्थूल वस्तुओंके विषयमें बाह्य क्रियाके पीछे चैत्यके आश्रय और प्रभावके साथ ही पूर्ण जाग्रत और सक्रिय रहेगा।

*

स्पष्ट ही तुम भौतिक जगत्‌में नहीं पर सूक्ष्म जगत्‌में विचरण कर रहे हो; यह वस्तुओंकी भिन्न प्रकारकी व्यवस्थासे प्रत्यक्ष है पर ऐसे ब्यौरे जैसे कि तीसरी भुजा और पुस्तक-पर्णी जो हटाई जानेपर भी वहीं स्थित है, यह बताते हैं कि यह ऐसा सूक्ष्म जगत् है जो स्थूल भौतिक प्रदेशके निकट है; या तो यह सूक्ष्म भौतिक जगत् है या अति स्थूल प्राणिक क्षेत्र। सब सूक्ष्म क्षेत्रोंमें स्थूलको थोड़ा परिवर्तित करके फिरसे आकार दिया जाता है, जैसे जैसे व्यक्ति और अधिक आगे जाता है यह परिवर्तन अधिकाधिक मुक्त और नमनीय होता जाता है। ऐसे ब्यौरे जैसे कि लंगड़ापन आदि इसी बातको बताते हैं,—कि उसपर अब भी स्थूलकी पकड़ है। स्थूल जगत्‌में इधर उधर विचरण करना संभव है, पर यह भी साधारणतया रूपको अधिक बलशाली स्थूल आकार देनेके लिये केवल अन्य स्थूल सत्ताओंके वातावरणसे पोषण प्राप्त करनेके द्वारा ही किया जा सकता है — जब यह होता है तो व्यक्ति उनमें विचरता है और उन्हें और आसपासकी चीजको ठीक उसी रूपमें देखता है जैसी कि उस समय वे स्थूल जगत्‌में होती हैं और व्यक्ति ब्यौरेकी यथार्थताकी जांच कर सकता है यदि शरीरमें लौटनेके तुरंत बाद (जो सामान्यतया इससे लौटनेकी संपूर्ण प्रक्रियाके विषयमें स्पष्ट ज्ञान होनेपर ही किया जाता है) उसी दृश्यको स्थूल शरीरसे भी फिरसे आरपार देख सके। किंतु ऐसा बहुत कम ही होता है; इसके विपरीत सूक्ष्म विचरण एक ऐसी घटना है जो प्रायः होती है,

केवल इतना है कि जब वह भौतिक जगत्के बहुत निकट होती है तो सब बहुत अधिक स्थूल और ठोस प्रतीत होता है और सूक्ष्म घटनाओंके साथ स्थूल आदतों और स्थूल मानसिक-क्रियाओंका साहचर्य अधिक निकट होता है।

*

यह चेतनाका आंशिक बहर्गमन था, चेतनाका एक भाग बाहर निकल कर उस दृश्य एवं परिवेशमें चला गया जिसका तुमने वर्णन किया है जब कि शेष भाग शरीरमें ही रहा और वह सामान्य परिवेशसे और, संपर्क अथवा अप्रत्यक्ष भाग लेनेके द्वारा दूसरा अंश जो अनुभव कर रहा था उससे भी अभिज्ञ था। यह बिलकुल संभव है और इसके लिये किसी प्रकारकी समाधि या बाह्य चेतनाको खो देना आवश्यक नहीं है। जहांतक इस प्रकारके अनुभवके कारणका प्रश्न है, यह व्यक्तिकी अपनी साधारण मानसिक या अन्य रुचियोंपर जरा भी निर्भर नहीं करता; यह एक प्रकारके आकर्षणसे या किसी ऐसे व्यक्तिके स्पर्श द्वारा आता है जो उस घटनास्थलपर होता है और जो सहानुभूतिकी, किसी प्रकारके सहारे या सहायताकी आवश्यकताका अनुभव करता है, एक ऐसे तीव्र आवश्यकताका जो एक पुकारका रूप धारण कर लेती है; प्रायः बहुत करके यह कोई बिलकुल अज्ञात व्यक्ति होता है और यह बात बस उस व्यक्तिपर निर्भर करती है जिसे हमारी पुकार स्पर्श करती है क्योंकि वह उस समय उद्घाटित होता है और स्पन्दनको ग्रहण करता है एवं उसमें उसका उत्तर देनेकी क्षमता भी होती है। इसमें साधारणतया पुकार करनेवाले पुरुषकी चेतनाके साथ हमारी चेतनाका एक प्रकारका तादात्म्य होता है जिसके कारण वह दूसरे व्यक्तिके परिवेश और उसके द्वारा होनेवाली घटनाओंको भी देख सकता है। इन अनुभवोंसे स्थूल सत्ता घबरा जाती है। इसपर हमें विजय प्राप्त करनी होगी; ज्योंही आंतर मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक चेतना मोटे भौतिक-आवरणके पीछेकी वस्तुओंके प्रति उद्घाटित होती है त्योंही सभी तरहके ऐसे अनुभव प्रकट हो सकते हैं जो स्थूल मनको विलक्षण लगें और इन वस्तुओंसे डरने और अधीर होनेकी उसकी प्रवृत्तिको हटना ही होगा। इसे (स्थूल चेतनाको) भयानक वस्तुओंका भी बिना किसी भयके मुकाबला करनेमें समर्थ होना होगा।

जहांतक आंखोंका प्रश्न है, उस अनुभवको एक विशेष पकड़ प्राप्त हो गई थी और यह आशा नहीं थी कि यह एकबारगी बिलकुल हट जायगा। ये वस्तुएं चिपटे रहनेकी चेष्टा करती हैं; पर अस्वीकृतिके दृढ़ और अटल रहनेपर कुछ समय बाद मन्द पड़ जाती हैं या नष्ट हो जाती हैं। आनन्दकी तीव्रताका कम हो जाना इस बातका पूर्व चिह्न है कि अस्वीकृतिका अपना प्रभाव हो रहा है। तुम्हें केवल डटे रहना चाहिये और कुछ समयके बाद प्राणिक चेतना मुक्त हो जायगी।

*

तुम जिस स्थानपर गये थे वह स्थूल जगत् जितना ही यथार्थ और वास्तविक जगत् है — और उसकी घटनाओंका कभी कभी इस जगत्पर भारी प्रभाव पड़ता है। कितने अज्ञानी शिष्य हो तुम सब। अत्यधिक आधुनिकता और युरोपीयपनकी हद ही हो गई।

ये वस्तुए प्राणिक भूमिका पर होनेवाले सम्मिलन है, परन्तु बहुधा जो घटना होती है उसके प्रतिलेखमें कुछ ऐसे विवरण घुस आते है जो अवचेतनकी देन होते है। बाकी सब ठीक लगता है। माथेपर अंकित लिपिका नि:संदेह यह अर्थ है कि कोई वस्तु तुम्हारे अदर प्राणिक स्तरमें स्थिर हो गई है और वह आगे चलकर स्थूल चेतनामें आकर रहेगी।

*

भौतिक रूपसे तुम अत्यन्त यथार्थवादी हो। इसके सिवाय तुम गुह्य वस्तुओंके विषयमे बिलकुल अज्ञान हो। प्राण वह भाग है जिसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक कभी कभी प्रच्छन्न सत्ता कहते हैं और प्रच्छन्न सत्ता, जैसा कि प्रत्येकको जानना चाहिये, ऐसे कार्य कर सकती है जिसे स्थूल सत्ता नही कर सकती — उदाहरणके लिये जिस प्रश्नको हल करनेमें भौतिक सत्ता वृथा ही अनेक दिन लगा चुकी होती है उसे कुछ ही मिनिटोंमें हल करना आदि आदि।

दोनों स्तरोंपर एकसी वस्तुओंके होनेका क्या लाभ ? यह निष्प्रयोजन और बेकार होगा। प्राणिक स्तर एक ऐसा स्तर है जहां वे कार्य किये जा सकते हैं जो इस समय एक या अन्य कारणवश भौतिक स्तरपर नही किये जा सकते।

नि:संदेह प्राणमें सैकड़ो प्रकारकी नानाविध वस्तुएं है क्योंकि चेतनाका यह प्रदेश स्थूल चेतनाकी अपेक्षा कही अधिक समृद्ध और नमनीय प्रदेश है, और उन सब वस्तुओंकी प्रामाणिकता और महत्ता समान नही होतीं। मै ऊपरकी उन्ही वस्तुओंके विषयमें कह रहा हूँ जो प्रामाणिक है। प्रसंगवश, इस प्राणिक भूमिकाके बिना कोई कला, कविता या साहित्यका कोई अस्तित्व न होता — ये चीजें यहां अभिव्यक्त हो सकनेके पहले प्राणमें होकर आती हैं।

*

तुम जो विभिन्न प्राणिक लोकोंकी बात करते हो वह नि:संदेह रोचक है और उसमें कोई सत्य है, परन्तु तुम्हें याद रखना चाहिये कि ये लोक जो सच्चे या दिव्य प्राणिक लोकोंसे भिन्न हैं, सम्मोहन और भ्रांतियोंसे भरे होते हैं और सौदर्यके ऐसे आभासोंको प्रस्तुत करते हैं जो पथभ्रष्ट करने या नष्ट करनेके लिये ही प्रलोभित करते हैं। वे 'राक्षसीमाया' के लोक है और उनके स्वर्ग उनके नरकोंसे भी अधिक खतरनाक होते हैं। हमें उन्हें जानना चाहिये एवं आवश्यकता पड़नेपर उनकी शक्तियोंका सामना

करना चाहिये पर उन्हें स्वीकार नही करना चाहिये; हमे केवल अतिमानससे ही सरोकार है और प्राणसे केवल तभी जब यह अतिमानसिक हो जाय और जबतक ऐसा न हो जाय तबतक हमें सदा ही अन्य स्थानसे आनेवाले प्रलोभनोसे अपनी रक्षा करनेमे तत्पर रहना होगा। मैं समझता हूँ तुम जिन लोकोके सबन्धमे कहते हो वे ऐसे लोक हैं जिनमें विशेष आकर्षण है और जिनमे कवियो, कल्पनाशील लोगो और कुछ कलाकारोंके लिये विशेष आकर्षण एव विशेष सकट भी होता है। इनमे विशेष रूपसे उस सौन्दर्यभावापन्न प्राणिक सवेदनशीलता या भावुकता यहातक कि रसात्मकता पर भी भार दिया जाता है जिसके द्वारा वे सत्ताको प्रभावित करते है और वह उन वस्तुओंमेंसे एक है जिनका सर्वोच्च कविता, कला या कल्पनाशील सर्जन तक उन्नत हो सकनेसे पहले शोधन कर लेना आवश्यक होता है।

*

जब प्राणिक सत्ता बाहर निकल जाती है तो यह प्राणके स्तरपर और प्राणिक चेतनामें विचरण करती है और, स्थूल दृश्यो और पदार्थोंके विषयमे सचेतन होनेपर भी उन्हें स्थूल दृष्टि द्वारा नही जानती। यह केवल उसीके लिये सभव है जिसने प्राणिक शरीरमें विचरण करते हुए भी, अन्दर स्थूल वस्तुओके स्पर्शमे आने, उन्हे ठीक ठीक रूपमें देखने और अनुभव करने, यहातक कि उनपर क्रिया करने और उन्हे भौतिक रूपसे परिचालित करनेकी क्षमताओंको सधा लिया। किंतु वह सामान्य साधक जिसे इन वस्तुओंका ज्ञान, व्यवस्थित अनुभव या प्रशिक्षण प्राप्त नही है, ऐसा नहीं कर सकता। उसे यह समझना होगा कि प्राण जगत् स्थूल जगत्से भिन्न है और यह भी कि उस जगत्में होनेवाली घटनाएं स्थूल नही होती, यद्यपि, यदि वे ठीक प्रकारकी हों और उन्हें सही ढंगसे समझा और प्रयोगमें लाया जाय, तो उनका पार्थिव जीवनके लिये कोई अर्थ और मूल्य हो सकता है। पर प्राणचेतना मिथ्या रचनाओंसे और बहुत उलझनोंसे, भी भरी हुई है तथा बिना ज्ञानके और बिना सीधे संरक्षण या पथ प्रदर्शनके उनमें विचरण करना निरापद नही होता।

*

तुम शरीरको अरक्षित छोड़कर उससे बाहर निकल गये होगे और उसपर आक्रमण हुआ जिससे तुम शरीरमें आनेके बाद ही अपना पिंड छुड़ा सके। कानोंसे लेकर नीचे गर्दनतक सिरका यह भाग स्थूल मनका स्थान है — स्थूल मनका या बाह्य रूप देनेवाले मनका केंद्र गलेमें है जो पीठमें मेरुदण्डसे जा मिलता है। यह आक्रमण स्थूल मनपर हुआ था।

तुम्हारे पत्रमें उल्लिखित तुम्हारी तीन अनुभूतियोंका यह अर्थ था कि तुम अपने प्राणिक शरीरको लेकर प्राण लोकोंमें जाते रहे हो और उन लोकोंकी सत्ता और रचनाओंके सपर्कमें आते रहे हो। तुमने जो मन्दिरका बूढ़ा आदमी और लड़कियां देखी वे प्राण लोककी विरोधी सत्ताएं हैं।

जवतक मनुष्यको भौतिक रूपमें किसी ऐसे व्यक्तिका संरक्षण न प्राप्त हो जिसे प्राण लोकका ज्ञान हो और उसपर अधिकार प्राप्त हो, तवतक इस मार्गमें न जाना ही अधिक अच्छा है। क्योकि वहां कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो तुम्हारे लिये यह काम कर सके इसलिये तुम्हें इस क्रियासे पीछे हट जाना चाहिये। हृदय और मनमें पूर्ण समर्पण, स्थिरता, शाति, प्रकाश, चैतन्य और सामर्थ्यके लिये अभीप्सा करो। जव इस प्रकार मानसिक और आंतरात्मिक सत्ता उद्घाटित, आलोकित और समर्पित हो जाय तव प्राण उद्घाटित होकर उसी आलोकको ग्रहण कर सकता है। तवतक प्राणिक लोकमें असामयिक अभियान करनेकी सलाह नही दी जा सकती।

यदि यह क्रिया न रोकी जा सके तो निम्न निर्देशोंका पालन करो :

1. किसी भी भयको कभी भी अपने अन्दर न आने दो। इस जगत्में तुम जिससे भी मिलो या जिन्हें भी देखो उन सवका अनासक्त भावसे और साहस पूर्वक सामना करो।

2. निद्रा या ध्यानसे पहले हमारे संरक्षणको प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करो। जव भी तुमपर आक्रमण हो या तुम्हें प्रलोभन दिया जाय तव हमारे नामका जाप करो।

3 मंदिरके बूढ़े व्यक्तिके लिये किसी प्रकारकी सहानुभूति रखते हुए इस जगत्में आसक्त न हो जाओ। न ही ऐसे सुझावोंको स्वीकार करो कि वह तुम्हारा आध्यात्मिक गुरु था। यह वात स्पष्ट ही मिथ्या थी क्योंकि तुम हमारे सिवाय अन्य किसीको गुरुके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकते। इस सहानुभूति और सुझावकी स्वीकृतिके कारण ही वह तुम्हारे अन्दर प्रवेश करके उस पीडाको उत्पन्न कर सका जिसका तुमने अनुभव किया।

4. एकमात्र ऊपरके प्रकाश, शक्ति इत्यादिके सिवाय अन्य किसी विजातीय व्यक्तित्वको अपने अन्दर मत घुसने दो।

*

ऐसा लगता है कि यह शरीरसे वाहर निकलनेकी क्रिया है जिसमें वह अपने प्राणिक शरीरको लेकर वाहर जाती है। जव व्यक्ति सचेतन होकर अपनी इच्छासे ऐसा करता है, तो सव ठीक चलता है पर अचेतन होकर किया गया इस प्रकारका वहिर्गमन हमेशा निरापद नहीं होता। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इसका उसपर क्या प्रभाव पड़ा। यदि यह उसमेंसे वलवान् और ताजी होकर या विलकुल सामान्य अवस्थामें लौट आती है तो फिर कष्ट या चिन्ताकी वात नहीं; यदि वह उसमेंसे थककर या खिन्न होकर वाहर आती हो तो इसका अर्थ है कि कुछ ऐसी शक्तियां हैं जो उसके प्राणिक

आवरणको क्षति पहुँचाकर उसे प्राण जगत्‌में खींच ले जाती है और ऐसा नही चलने देना चाहिये।

*

'क्ष' के अनुभवोंमें एक लेखका शीर्षक है "सतहकी चेतना"। उसमे जिसका उल्लेख है वह है स्नायविक या भौतिक-प्राणिक आवरण। सम्मोहनके माध्यम इसी वस्तुको देखते हैं और इस अल्पाधिक सीमातक बाह्यरूप प्रदान करके वे अपने चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। 'क्ष' को इसके संबंधमें कैसे मालूम हुआ? क्या यह अंतर्बोध द्वारा, सूक्ष्म दर्शनसे या व्यक्तिगत अनुभवके कारण हुआ? यदि इनमेंसे पिछला कारण हो, तो उसे सावधान करो कि वह इस प्राणिक आवरणको बाह्यरूप न दे, क्योंकि इन वस्तुओंसे परिचित और उस समय शारीरिक रुपसे उपस्थित व्यक्ति द्वारा दिये गये पर्याप्त संरक्षणके बिना ऐसा करनेसे स्नायविक सत्ता और शरीरपर गंभीर चैत्य संकट आ सकते हैं, वे क्षत-विक्षत भी हो सकते हैं या इससे भी बड़े दुष्परिणाम आ सकते हैं।

*

ऐसे अनुभवोंकी कोई उपयोगिता नही है; वे प्राणिक भूमिकापर तबतक हो सकते हैं जबतक व्यक्तिको अनुभवोंके प्राणिक प्रदेशमेंसे गुजरना अभी भी आवश्यक हो, किंतु लक्ष्य तो इससे भी आगे जानेका और एक विशुद्ध आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभवमें निवास करनेका होना चाहिये। अपनी सत्तामें अन्य लोगोंके बलात् प्रवेशको होने देना या उसे बुला लानेका अर्थ है हमेशा ही मध्यवर्ती क्षेत्रकी उलझनोंमें फंसे रहना। मनुष्यको अपने व्यक्तिगत आधारमें केवल भगवान्‌को ही बुलाना चाहिये — जिसका मतलब यह नहीं कि व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सत्ताको खो दे और भगवान् बननेका विचार करने लगे, क्योंकि इस बातसे बचना चाहिये। अहंकारको जीतना होगा, पर केंद्रित व्यक्तिगत सत्ताको (जो अहंकार नहीं पर व्यक्तिगत पुरुष, अन्तरात्मा, भगवान्‌का अंश है) भागवत-शक्तिका माध्यम और यन्त्र बनकर रहना होगा। जहांतक अन्य लोगों, साधकों आदिका प्रश्न है, व्यक्ति उन्हें अपनी विश्वभावापन्न चेतनामें अनुभव कर सकता है, उनके व्यापारोंके संबंधमें जान सकता है, सर्वमय भगवान्‌में उनके साथ सामंजस्य पूर्वक रह सकता है, किंतु उसे उनकी उपस्थितिको अपने व्यक्तिगत आधारमें नहीं आने देना चाहिये या न बुलाना ही चाहिये। बहुधा यह उन प्राणिक शक्तियों अथवा उपस्थितियोंको चेतनापर आक्रमण करनेके लिये प्रेरित करता है जो इस प्रकार अन्दर प्रवेश करने दी गई सत्ताओंके रूपोंको धारण कर लेती है — और यह बात अत्यंत अवांछनीय है। साधकको अपनी आधारभूत चेतनाको नीरव, स्थिर, विशुद्ध और शांत बनाना होगा और जिस वस्तुको उसे अन्दर आने देना या रोकना है उसपर संपूर्ण नियंत्रण बनाये रखना या प्राप्त करना होगा — अन्यथा, यदि वह यह नियंत्रण न

रखे तो वह अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित अनुभवोंका क्षेत्र बननेका अथवा सब प्रकारकी मानसिक और प्राणिक सत्ताओं और शक्तियोंका खिलौना बननेका खतरा मोल लेगा। व्यक्तिको अपने (आधिपत्य या प्रभावके) सिवाय अन्य केवल एक ही आधिपत्य या प्रभावको, अर्थात् आधारपर दिव्य शक्तिके शासनको ही स्वीकार करना चाहिये।

*

अनुभवोंके संबंधमें तुम्हारे मित्रने जो विवरण दिया है उसके अर्थ एवं महत्व-के विषयमें मुझे बहुत विश्वास नहीं। 'दुहरी' आवाज एक ऐसी घटना है जो प्रायः घटती रहती है; बहुधा यह तब होता है जब व्यक्तिको एक मन्त्रका जाप करते हुए इतना लम्बा समय बीत गया हो कि अन्तरमें कोई वाणी या चेतना उसे स्वतः ही दुहराने लगे — व्यक्ति इसी ढंगसे प्रार्थनाको भी अपने अन्तरमें आत्मसात् कर सकता है। ऐसा साधारणतया आंतर चेतनाके जाग्रत होनेपर या चेतनाके अपनी बहिर्मुख स्थितिसे अन्दर अधिक गहराईमें जानेपर ही होता है। उसके मामलेमें यह इस तथ्य द्वारा पुष्ट होता है कि वह अपनेको समाधिके अधबीच पहुँचा हुआ अनुभव करता है, उसे लगता है कि शरीर पिघल गया है, एवं पुस्तकका भार अनुभव नहीं होता इत्यादि, ये सब इस बातके सुपरिचित लक्षण हैं कि, आंतर चेतनाने जाग्रत होकर बाह्य चेतनाका विस्तृत रूपसे स्थान ले लिया है। उसकी इस नई अवस्थाके नैतिक प्रभाव भी आंतर चेतनाके अर्थात् चैत्य या शायद चैत्य-मानसिक चेतनाके जागरणको सूचित करते है। किंतु दूसरी ओर वह इस अन्य वाणीको मानो अपनेसे बाहरकी वस्तु अनुभव करता है और सत्ताको अपनेसे भिन्न किसी दूसरी सत्ताके अर्थात् कमरेमें एक अन्य अदृश्य उप-स्थितिके रूपमें मानता प्रतीत होता है। आंतरसत्ताका प्रायः इस रूपमें अनुभव होता है मानों वह सामान्य सत्तासे पृथक् या भिन्न कोई अन्य सत्ता है, पर साधारणतया वाणी कहीं बाहर स्थित नहीं अनुभूत होती। इसलिये यह संभव है कि अन्तर्मुख स्थितिमें वह अन्य भूमिका या जगत्के संपर्कमें आता हो और वहांकी किसी ऐसी सत्ताको अपनी ओर आकृष्ट करता हो जो उसकी साधनामें हिस्सा लेना और उसे नियंत्रित करना चाहती है। इनमेंसे अन्तिम स्थिति बहुत निरापद नहीं होती क्योंकि ज्ञात तथ्योंके आधारपर यह कहना कठिन है कि यह किस प्रकारकी सत्ता है और भगवान्, गुरु या अपने चैत्य पुरुषसे भिन्न किसी सत्ताको अपने आंतर विकासके संचालनको सौंपना गंभीर खतरा पैदा कर सकता है। हालमें तो मैं बस यही कह सकता हूँ।

*

तुम्हारे वर्णनसे यह स्पष्ट है कि कोई प्राणिक शक्ति शरीरपर बलात् अधिकार करनेका प्रयास कर रही है। इस प्रकारके नियंत्रणके अभाव या विजातीय प्रभावके अनधिकार हस्ताक्षेपके लिये अनुमति देनेसे अधिक खतरनाक कोई बात नहीं हो सकती।

तुम्हारी वर्तमान अज्ञानावस्थामें जब कि प्राणसत्ता पर्याप्त उद्‌घाटित नही हुई, चैत्य सत्ता पर्याप्त जाग्रत नही हुई, ऐसे समय कोई विरोधी शक्ति आसानीसे घुसपैंठ कर सकती है और दिव्य शक्तिका स्वांग भर सकती है। याद रखो कि किसी भी व्यक्तित्व या शक्तिको अपने ऊपर अधिकार करनेकी अनुमति नही देनी चाहिये। भगवान्‌की शक्ति इस ढंगसे काम नही करती; वह पहले शोधनके लिये, चेतनाको विशाल और आलोकमय बनानेके लिये, इस प्रकाश और सत्यके प्रति खोलनेके लिये, हृदय और चैत्य सत्ताको जाग्रत करनेके लिये कार्य करती है। बादमें जाकर ही वह विशुद्ध और सचेतन समर्पण द्वारा क्रमशः और शांतिसे अधिकार ग्रहण करती है।

तुम्हें यह भी समझे रखना होगा कि एकमात्र एक ही शक्ति कार्य कर रही है और न तुम्हारा, न उसका और न किसी अन्य व्यक्तिका ही कोई महत्व है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरको उस शक्तिके क्रियाकलापके प्रति खोल दे और साधकोंका एक ऐसा संघ बनानेका प्रयास न किया जाय जिसमें कोई एक व्यक्ति नेतृत्व करे या एकमेव शक्ति और साधकोंके बीचमे मध्यस्थका काम करे।

*

तुम जिन अन्य परिस्थितियोंका उल्लेख करते हो वे सब सामान्य हैं और समग्र यन्त्ररूप सत्ताको अधिकृत करनेवाले आनन्दके आक्रमणकी एक घटना विशेष है जब कि निश्चल-नीरव आंतर सत्ता अन्दर उससे इसी तरह पृथक् रहती जैसे वह साधारणतया बाहरसे आनेवाली सब वस्तुओंसे पृथक् रहती है। यहां जो वस्तु स्पष्ट नहीं है वह है उपस्थिति। इसमें कोई ऐसी वस्तु नही है जो सूचित करे कि यह (उपस्थिति) क्या और किस प्रकारकी है। यदि यह प्राणिक हर्षको उत्पन्न करनेवाली कोई अवांछनीय प्राणिक उपस्थिति हो तो साधारणतया इसमें कोई ऐसे प्राणिक व्यापार होंगे जिनके द्वारा तुम उनके मूल ढूँढ़ निकालनेमें समर्थ होगे, पर ये घटनाएं यहां स्पष्ट नही है। इन परिस्थितियोंमें एक ही मार्ग है कि तुम जो भी घटे उसके, द्वारा सत्ताकी दखल किये जानेको स्वीकार किये बिना अनुभवका निरीक्षण भर करो, उसे केवल एक ऐसे अनुभवके रूपमें ग्रहण करो जिसपर अन्तःसत्ता साक्षीके रूपमें दृष्टिपात करती है जबतक परदेके पीछे छिपा विषय स्पष्ट न हो जाय।

पुनश्चः— इसकी अनेक व्याख्याएं हो सकती हैं किंतु मैं उनका उल्लेख नही करता क्योंकि वह मानसिक सुझावको अन्दर लाकर तथा अनुभवके विशुद्ध निरीक्षणको प्रभावित करके उसमें हस्तक्षेप कर सकता है।

*

मैने तुम्हारा पत्र पढ़ा है और श्रीमांको भी पढ़कर सुनाया है। अनुभवके संबंधमें मेरा निष्कर्ष वही है जो उनका है —— मैंने अपना निर्णय अबतक रोक रखा था।

हम मानते है कि तुम्हारे लिये यह अधिक समझदारीकी बात होगी कि तुम भविष्यमे इस विषयमें सतर्क रहो। पहली बात तो यह है कि वह बुद्ध नहीं हो सकता —बुद्धकी उपस्थिति शांति लाती है पर वह इस तरहका आनन्द कदापि नहीं दे सकती। दूसरे, तुम्हारी पुरानी व्यक्तिगत भावना पर आधारित यह सुझाव तुमपर इसलिये फैंका गया प्रतीत होता है कि तुम किसी शक्तिका प्रभुत्व स्वीकार कर लो जिस प्रभुत्वको तुमपर बलात् थोपनेके लिये यह अनुभव एक साधन मात्र है। और फिर तुम्हें जो लगता है कि यह आनन्द तुम्हारी सहन शक्तिके लिये असह्य है, अनुभव प्राप्तिके लिये अनुकूल लक्षण नही है; तुम कल्पना करते हो कि अनुकूल होनेकी वृत्तिके अभावके कारण तुम्हे ऐसा लगता है किन्तु यह अधिक सभव है कि यह कोई विजातीय वस्तु हो जो उस प्राण द्वारा तुमपर फेंकी गई है जिसके साथ तुम्हारी अन्दरकी चैत्य सत्ता आत्मीयता नही अनुभव करती। अन्तमे, यहांपर योग करते समय ऐसे "किसी भी" प्रभावको अपने अन्दर आने देना निरापद नही है जो हमारा या इस साधनाकी क्रियाका अग न हो। यदि यह घटित हो तो कुछ भी हो सकता है और हम इसके विरुद्ध तुम्हारा रक्षण नही कर सकेंगे क्योंकि तुम संरक्षणके घेरेमेसे बाहर निकल गये होते हो। अब तक तुम विकासके बहुत ठोस मार्गपर अग्रसर हो रहे थे; इस प्रकार राह भटक जाना जो कि प्राणिक स्तरपर हुआ प्रतीत होता है, एक गंभीर बाधा सिद्ध हो सकता है। आंखों या चेहरेके सौंदर्यपर विश्वास नही किया जा सकता। निम्नतर भूमिकाओंकी ऐसी अनेक सत्ताएं है जिनका सौदर्य मोहक होता है एवं उसके द्वारा वे वशीभूत भी कर सकती हैं तथा वे ऐसा आनन्द भी दे सकती हैं जो सर्वोच्च प्रकारका न हो और इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि वे अपने प्रलोभन द्वारा मनुष्यको मार्गसे बिलकुल च्युत कर दें। जब तुमने शुद्ध विवेककी वह स्थिति प्राप्त कर ली होती है जिसमें अनुभवमें आनेवाली सभी वस्तुओंपर सर्वोच्च प्रकाश डाला जाता है, तो नानाप्रकारके अनुभवोका सुरक्षित रूपसे मुकाबला किया जा सकता है, परंतु अब अत्यधिक सतर्कताको उपयोगमें लाना होगा और सब विचलनोंको अस्वीकार करना होगा। अपने कदमोंको परमोच्च सत्ताकी ओर ले जानेवाले सीधे मार्गपर दृढ़ता पूर्वक जमाना आवश्यक है; अन्य सब बातोंको उपयुक्त समयतक रोके रखना होगा।

*

मुझे इसमें सदेह नही है कि एक बार अस्वीकार किये जानेपर शक्तिकी क्रिया यथा समय समाप्त हो जायेगी। यह कोई ऐसी वस्तु है जिसके साथ तुम्हारा संबंध कराया गया है, न कि कोई ऐसी अन्तरंग वस्तु जिसे तुम्हारी सत्ताका कोई अंग स्वाभाविकरूपसे प्रत्युत्तर देता है। यह बात इससे स्पष्ट होती है कि प्रकट हुई सत्ता तुम्हें जो कुछ बताना चाहती थी तुम उसे हृदयगम नही कर सके। ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रचंड आक्रमण, तुम्हारे कथानुसार, बल और छल पूर्वक घेरनेका एक प्रयत्न किया गया है। यह बिलकुल सच है कि जब प्रकाशके प्रति उद्घाटन होता है, तो विरोधी

शक्तियां और साथ ही निम्न शक्तियां मौका मिलनेपर सक्रिय हो जाती हैं। साधककी चेतना अपनी सामान्य सीमाओंसे बाहर आ गई है और वैश्व चेतनाके साथ साथ उसकी और उच्च आत्माके प्रति खुल रही है और वे बल पूर्वक प्रवेश करनेके लिये इसका लाभ उठाती हैं। तथापि इस तरहके प्रचंड आक्रमण अवश्यम्भावी नहीं हैं और तुम सम्भवत: ठीक ही सोचते हो कि तुमने इसे 'क्ष' के वातावरणमेंसे ग्रहण किया है; उसने गुह्य क्षेत्रमें अनेक प्रकारके परीक्षण किये हैं और उसमें व्यक्ति आसानीसे निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियों और सत्ताओंके संपर्कमें आ जाता है तथा उसे उनका सामना करने एवं पराजित करनेके लिये बड़ी भारी सामर्थ्य, प्रकाश और पवित्रताकी —स्वयं अपनी या सहायता देनेवाली शक्तिके सामर्थ्य आदिकी आवश्यकता होती है। मनुष्यकी अपनी प्रकृतिमें भी कमियां या भूलें होती हैं जो इन सत्ताओंके लिये द्वार खोल सकती हैं पर यदि व्यक्ति यह कर सके कि वह इनसे कोई सरोकार न रखे तो यह सबसे उत्तम बात होगी; क्योंकि निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियोंपर विजय प्राप्त करना इस गड़बड़ीके बिना भी काफी भारी काम है। व्यक्तिको जो काम करना है उसके कारण यदि उनके साथ संपर्क और संघर्ष आवश्यक हो जाय, तो फिर यह दूसरी बात है। तुम्हारे उदाहरणमें मैं समझता हूँ कि यह कोई ऐसी वस्तु रही है जो अकस्मात् आ पड़ी है और तुम्हारी साधनाके विकासके लिये अनिवार्य नहीं है।

*

नहीं, उस समय श्रीमाकी ओरसे कोई विशेष एकाग्रता या पुकार नहीं की गई थी। यह बात उस समय हुई जब वे किसीसे नहीं मिलतीं, इसलिये स्पष्ट ही उन्होंने तुमपर ऐसी शक्ति नहीं लगायी होगी न वे साधारणतया अपनी शक्तिका इस प्रकार प्रयोग ही करती हैं। तुमने इस आवेगका विरोध करके अच्छा ही किया। आंतर ज्ञान-बोध और सत्ताको निर्मल, सचेतन और पूर्ण संतुलित बनाये रखना एवं आवेगके किसी शक्तिको — चाहे वह अपनेको किसी भी रूपमें प्रस्तुत करे, —प्राण या शरीरपर उसकी विवेकयुक्त अनुमतिके बिना कर्ममें झोंक देनेकी स्वीकृति कभी भी न देना सदा ही आवश्यक है। ये शक्तियां चाहे कोई भी रूप धारण करें इनपर विश्वास नहीं किया जा सकता; एक बार विवेकशील बुद्धि का नियंत्रण हट जानेपर किसीकी भी शक्ति इस प्रकार प्रवेश कर सकती है और साधनाको हानि पहुँचानेके लिये असंतुलित शक्तिके आवेगोंके प्रयोगका मार्ग खुल जाता है। मानसिक नियंत्रणका स्थान मैंने [illegible] या आध्यात्मिक नियंत्रण इस ढंगसे ग्रहण नहीं करेगा, —बल्कि विरोधी शक्ति चाहे कितनी ही तीव्रता या उत्साह प्रदान करे तो भी वस्तुओंके स्पष्ट प्रत्यक्ष बोधसे, पूर्ण विवेकसे और बाह्य और आभ्यन्तर यथार्थताके बीचमें सामंजस्यको बनाये रखेगा। इस परिस्थितिमें सुरक्षाका मार्ग ही बन जाता है; प्राणको सदैव बुद्धि [illegible] फिर तुम्हारा आध्यात्मिक चेतनाके भीतर ही रहनेपर उस चेतनाके [illegible] होगा।

*

V

ये सब अनुभव एक ही प्रकारके है और इनमेंसे प्रत्येकके संबंधमें एक ही बात कही जा सकती है। इनमे जो अनुभूतियां वैयक्तिक है उनके अतिरिक्त बाकी या तो भावना-सत्य (idea truths) हैं जो सत्ताके कुछ स्तरोंके साथ संस्पर्श होनेपर ऊपरसे हमारी चेतनाके अन्दर उतर आते हैं, या विराट् मनोमय और प्राणमय लोकोंकी शक्तिशाली रचनाए है जो सीधे इन लोकोंकी ओर उद्घाटित होते ही साधकके अन्दर घुस आती है और अपने-आपको चरितार्थ करनेके लिये साधकका उपयोग करना चाहती हैं; ये चीजें जब ऊपरसे आती या अन्दर प्रवेश करती हैं तब एक बहुत बड़ी शक्तिका अनुभव होता है, अत.स्फुरणा या ज्ञानदीप्तिका स्पष्ट बोध होता है, प्रकाश और हर्षातिरेकसे रोमाच हो आता है, विशालता और शक्तिमत्ताकी एक छापसी पड़ जाती है। उस समय साधकको ऐसा मालूम होता है कि वह साधारण सीमाओंसे मुक्त हो गया है, अनुभूतिके एक विलक्षण नये जगत्में आ पहुँचा है, भरपूर, बृहत् और उन्नत हो गया है; इसके अतिरिक्त, जो कुछ इस तरह आता है वह साधककी अभीप्साओं, महत्वाकांक्षाओं, आध्यात्मिक पूर्णता और यौगिक सिद्धिसंबंधी उसकी धारणाओंके साथ घुल-मिल जाता है; यहांतक कि वह स्वयं उस सिद्धि और परिपूर्णताके रूपमें प्रतिभात होने लगता है। फिर बड़ी आसानीसे साधक उसकी चमकदमक और वेगके द्वारा अभिभूत हो जाता है, उसे इस तरह जो कुछ मिला होता है उसे कहीं बढ़े-चढ़े रूपमें देखने लगता है और ऐसा समझने लगता है कि उसे कोई परम वस्तु या कम-से-कम निस्संदिग्ध रूपमें कोई सत्य-वस्तु मिल गयी है। इस अवस्थामें प्रायः साधकको वह आवश्यक ज्ञान और अनुभव नही होता जिससे उसे यह पता चल जाय कि यह जो कुछ अनुभव उसे हुआ है वह बहुत ही अनिश्चित और सदोष आरंभ-मात्र है; वह संभवतः तुरत यह बात नही समझ सकता कि वह अभी विश्वव्यापी अज्ञानके ही अन्दर है, विश्वव्यापी सत्यके अन्दर नही पहुँच सका है, परात्पर सत्यकी तो बात ही क्या; और यह भी नही समझ सकता कि उसके अन्दर रचनात्मक या क्रियात्मक चाहे जो भावना-सत्य अवतरित हुए हों, वे सब हैं केवल आंशिक ही और सो भी उसकी मिश्रित चेतनाके द्वारा उसके सामने उपस्थापित होनेके कारण और भी क्षीण हो गये है। वह संभवतः यह भी समझनेमे असमर्थ हो सकता है कि यह जो कुछ उसे अनुभूत या उपलब्ध हो रहा है इसे एक पक्की बात मानकर यदि वह इसका प्रयोग करनेके लिये दौड़ पड़ेगा तो वह या तो किसी गड़बड़ी या भूल-भ्रांतिमें जा गिरेगा या किसी ऐसे आंशिक रूपके अन्दर आबद्ध हो जायगा जिसमें आध्यात्मिक सत्यका कुछ अंश तो हो सकता है पर वह अंश मन और प्राणके अन्दर उपजनेवाली बेकार बातोंके भारसे दबकर एकदम विकृत हो गया होता है। इस अवस्थामें पड़ा हुआ साधक तभी सच्ची स्वतंत्रता और एक उच्चतर, बृहत्तर तथा सत्यतर सिद्धिकी ओर ले जानेवाले मार्गपर आगे बढ़ सकता है जब वह (चाहे तुरत या कुछ समय बाद) अपनी अनुभूतियोंसे अपने-आपको अलग कर लेनेमें, निर्विकार साक्षी चेतनामें उनसे ऊपर खड़ा होकर उनके सच्चे स्वरूप, उनकी

सीमाओं, उनकी बनावट और उनके अन्दर मिली हुई चीजोंको देखनेमें समर्थ हो। साधनाके प्रत्येक स्तरमें साधकको ऐसा करना होगा। कारण जो कुछ इस प्रकार इस योगके साधकके पास आता है, चाहे वह अधिमानस या संबोधिमय मानस या प्रबुद्ध मानस या किसी उच्चतर प्राणलोकसे आया हो या एक साथ ही इन सब लोकोंसे ही क्यों न आया हो, वह कभी अंतिम नहीं होता; वह कभी परम सत्य नही होता जहां आकर साधक निश्चित बैठ जाय; बल्कि वह तो एक अवस्था मात्र होता है। और फिर इन अवस्थाओंमेंसे होकर गुजरना ही पड़ता है, क्योंकि विज्ञानमय सत्य या परम सत्यतक कोई एक ही छलांगमें या कई छलांगोंमें भी नही पहुँच सकता; साधकको, ऐसी बहुतसी मध्यवर्ती अवस्थाओंको, उनके निम्न कोटिके सत्य या ज्योति या शक्ति या आनन्दसे आबद्ध या आसक्त हुए बिना, पार करते हुए स्थिरता, धीरता और दृढ़ता-पूर्वक आगे बढ़ना होता है।

यह वास्तवमें एक मध्यवर्ती अवस्था है, मनकी साधारण चेतना और सच्चे यौगिक ज्ञानके बीचमें आनेवाला एक कटिबंध है। कोई तो इस क्षेत्रको तुरत ही अथवा साधनाकी प्राथमिक अवस्थामें ही इसके सच्चे स्वरूपको देखकर तथा इसके अर्द्धप्रकाश और प्रलोभक पर अपूर्ण और बहुधा मिश्रित तथा पथभ्रष्टकारी अनुभवोंमें अटकने-से इनकार करके बेलाग पार कर सकता है; कोई इसमें आकर विपथगामी हो सकता है, झूठी वाणियों और मिथ्या निर्देशोंका अनुगमन कर सकता है और तब इसका फल होता है आध्यात्मिक सर्वनाश; अथवा कोई इस मध्यवर्ती क्षेत्रमें ही आकर निवास कर सकता है, और आगे जानेकी कोई परवा न कर कोई खंड सत्य निर्माण कर सकता है और उसे ही पूर्ण सत्य समझ सकता है या इन संक्रमण-क्षेत्रोंकी शक्तियोंका यंत्र बन सकता है — और यही दशा बहुतसे साधकों और योगियोंकी हुआ करती है। इस क्षेत्रके संस्पर्शमें आनेपर ये लोग एक असाधारण अवस्थाकी शक्तिकी अनुभूति और उसके प्रथम वेगसे अभिभूत हो जाते और थोड़ीसी रोशनीसे ही चौंधियां जाते हैं; यह थोड़ीसी रोशनी उन्हें एक प्रखर ज्योतिसी दिखायी देती है; अथवा वे किसी शक्तिका स्पर्श अनुभव करते हैं और उसे ही पूर्ण भागवत शक्ति या कम-से-कम कोई बड़ी महान् योग-शक्ति मान बैठते हैं; अथवा ये किसी मध्यवर्ती शक्ति (जो सदा भगवान्‌की ही शक्ति नही होती) को ही परम भागवत शक्ति और किसी मध्यवर्ती चेतनाको ही परम उपलब्धि मान लेते हैं। बड़ी आसानीसे ये लोग यह समझने लगते हैं कि अब तो हम पूर्ण विश्वमयी चेतनामें आ गये हैं जब कि ये उसके केवल सामनेके या छोटेसे भागमें ही होते है या ऐसे बृहत्तर मन, प्राण या सूक्ष्म भौतिक क्षेत्रोंमें ही होते हैं जिनके साथ इनका क्रियात्मक संबंध हो जाता है। अथवा इन लोगोंको ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब हम किसी पूर्णतया प्रबुद्ध चेतनाके अन्दर आ गये हैं जब कि वास्तवमें ये ऊपर-से आनेवाली चीजोंको किसी मनोमय या प्राणमय लोककी आंशिक ज्योतिमें अधूरे तौरपर ग्रहण करते होते हैं; क्योंकि जो कुछ आता है वह इन लोकों-से होकर आनेके समय बहुधा क्षीण और विकृत हो जाता है; उसे ग्रहण करने-वाला साधकका मन और प्राण भी जो कुछ ग्रहण किया गया है उसे कुछ-का-कुछ

समझता और प्रकट करता है अथवा उसके साथ अपनी ही धारणाओं, भावनाओं और कामनाओंको इस तरह मिला देता है कि इन्हें वह फिर अपना समझ ही नही पाता और ऊपरसे प्राप्त होनेवाले सत्यका ही अंश मानने लगता है, क्योंकि ये उसके साथ मिल जाती है, उसके आकारका अनुकरण करती हैं, उसके प्रकाशसे चमकने लगती हैं और इस साहचर्य और पराये प्रकाशके कारण अतिरजित मूल्य प्राप्त करती है।

इससे भी कही बड़े संकट अनुभवके इस मध्यवर्ती क्षेत्रमें उपस्थित होते हैं। कारण, इस अवस्थामें जिन लोकोंकी ओर साधक अपनी चेतनाको खोले रखता है, उन लोकोंसे — पहलेकी तरह केवल किसी झलक और प्रभावके रूपमें ही नहीं, वल्कि सीधे, अपने पूर्ण वेगके साथ — अनगिनत भावनाएं, प्रेरणाएं, सूचनाएं और सभी प्रकारकी रचनाएं आया करती हैं जो बहुधा परस्पर विरोधी, विसंगत या विपरीत हुआ करती हैं, पर इस ढगसे वे आ उपस्थित होती हैं कि उनकी न्यूनताएं और उनके पारस्परिक भेद, उनके प्रवल वेग, उनकी आपात सत्यता और उनकी युक्तिके प्राचुर्य या निश्चयके तीव्र वोधसे एकदम ढक जाते हैं। निश्चयकी इस प्रतीति, इस स्पष्टता, प्राचुर्य और समृद्धिके इस दिखावेसे पराभूत होकर साधकका मन एक बहुत बड़ी विश्रृंखलताको प्राप्त होता है और उसे ही कोई वृहत्तर संगठन और सुश्रृंखला मान बैठता है; अथवा उसके मनमें लगातार नाना प्रकारके हेर-फेर और परिवर्तन होते रहते हैं और उन्हें उसका मन तीव्र प्रगति मान लेता है यद्यपि वे उसे किसी ओर भी नहीं ले जाते। अथवा, इसके विपरीत, वहां यह भी आशंका है कि साधक ऊपरसे देदीप्यमान दिखायी देनेवाली पर अज्ञानजनित्त किसी सत्ताका यंत्र बन जाय; क्योंकि ये मध्यवर्ती क्षेत्र छोटे-छोटे देवो या प्रवल दैत्यों या नन्ही-नन्ही सत्ताओंसे भरे हुए हैं जो इस पृथ्वीपर अपनी सृष्टि करना चाहती हैं, अपने किसी भावको पार्थिव रूपमें व्यक्त करना चाहती है अथवा पार्थिव जीवनमें किसी मनोमय और प्राणमय रूपको प्रस्थापित करना चाहती हैं और जो साधकके विचार और संकल्पको अपने काममें लगाने, अपने प्रभावमे ले आने या अपने अधिकारतकमें कर लेने तथा इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये साधकको अपना यंत्र बनानेके लिये उत्सुक रहती हैं। परंतु यह खतरा भी उस प्रसिद्ध खतरेसे भिन्न है जो वास्तविक विरोधी शक्तियोंकी ओरसे आता है; उन शक्तियोंका एकमात्र उद्देश्य होता है विश्रृंखला और असत्यकी सृष्टि करना, साधनाको तहस-नहस कर डालना तथा सर्वनाशकारी अनाध्यात्मिक प्रमाद उत्पन्न करना। ये शक्तियां वहुधा किसी दिव्य शक्तिका नाम धारण कर साधकके सामने आती हैं और जो साधक इनमेंसे किसी एकके चंगुलमें फंस जाता है वह योगमार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। और इसके विपरीत यह भी सर्वथा संभव है कि इस क्षेत्रके अन्दर प्रवेश करते ही साधकको भगवान्‌की कोई शक्ति मिल जाय जो उसकी सहायता करे और तबतक उसका पथप्रदर्शन करे जवतक वह महत्तर वस्तुओंके लिये प्रस्तुत न हो जाय; पर फिर भी इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि साधक इस क्षेत्रके प्रमादों और पदस्खलनोंसे एकदम वच ही जायगा; क्योंकि यहां ऐसा होना अत्यंत स्वाभाविक है कि इन क्षेत्रोंकी शक्तियां या विरोधी शक्तियां मार्गप्रदर्शक दिव्य वाणी या मूर्त्तिका अनुकरण कर

साधकको धोखा दें और पथभ्रष्ट करें या साधक स्वयं अपने ही मन, प्राण या अहंकारकी सृष्टियों और रचनाओंको भगवान्‌की ओरसे आयी हुई मान लें।

कारण, यह मध्यवर्ती क्षेत्र अर्ध-सत्योंका प्रदेश है — और केवल इतनेसे ही कोई हर्ज नहीं था; क्योंकि विज्ञानके नीचे कहीं भी पूर्ण सत्य नहीं है; पर यहांका अर्ध-सत्य प्राय: इतना आंशिक या कार्यत: इतना अस्पष्ट और संदिग्ध होता है कि अस्त-व्यस्तता, भ्रांति या प्रमादके लिये एक चौड़ा मैदान खुला रहता है। यहांपर साधक यह समझने लगता है कि अब हम अपनी पुरानी छोटीसी चेतनामें ही नहीं है, क्योंकि अब वह अपने-आपको किसी बृहत्तर या अधिक शक्तिशाली वस्तुसे युक्त अनुभव करता है जब कि वह होता है अपनी पुरानी चेतनामें ही जो वास्तवमें अभी लुप्त नहीं हुई है। वह अपने ऊपर अपनेसे अधिक महान् किसी शक्ति, सत्ता या सामर्थ्यका अधिकार या प्रभाव अनुभव करता है, उसीका यंत्र बननेकी आकांक्षा करता है और समझता है कि वह अहंकारसे मुक्त हो गया है; पर इस अनहंकारिताकी भ्रांतिके अन्दर प्राय: एक बढ़ा-चढ़ा अहंकार छिपा हुआ होता है। नाना प्रकारकी भावनाएं जो केवल अंशत: सत्य होती है, उसे आक्रांत कर लेती हैं और उसके मनको परिचालित करती हैं और अत्यधिक विश्वासके साथ उन भावनाओंका दुरुपयोग करनेपर वे असत्यमें परिणत हो जाती हैं, इसके कारण चेतनाकी गतियां दूषित हो जाती है और भ्रांतिके लिये दर-वाजा खुल जाता है। नाना प्रकारकी सूचनाएं आती हैं, कभी-कभी तो बडी ही अद्भुत और आकर्षक सूचनाएं आती हैं जो साधकके महत्त्वको अतिरंजित करती है अथवा उसकी इच्छाओंके अनुकूल होती हैं और वह कोई जांच-पड़ताल, या उचित-अनुचित-का विवेक किये बिना ही उन्हें ग्रहण कर लेता है। यहांतक कि उनमें जो कुछ सत्य होता है उसे भी उसके वास्तविक मूल्य, सीमा और मानसे परे इतना अधिक बढ़ा-चढ़ा और फैला दिया जाता है कि वह प्रमादको उत्पन्न करनेवाला बन जाता है। यह वह क्षेत्र है जिसे बहुतेरे साधकोंको पार करना पड़ता है, जिसमें बहुतेरे बहुत दिनोंतक भटकते रहते हैं और जिसमेंसे बहुतेरे कभी बाहर निकल ही नहीं पाते। विशेषकर जिन साधकों-को साधना प्रधानतया मन और प्राणके क्षेत्रोंमें ही चलती है उन्हें यहां बहुतसी कठि-नाइयों और अत्यधिक खतरेका सामना करना पड़ता है; केवल वे ही लोग, जो सचाईके साथ गुरु-प्रदर्शित मार्गका अनुगमन करते है या जिनकी प्रकृतिमें हृत्पुरुषका प्राधान्य स्थापित हो चुका होता है, बड़ी आसानीसे, मानो निश्चित और स्पष्ट रूपमें चिह्नित किसी मार्गसे होकर इस मध्यवर्ती प्रदेशको पार कर जाते हैं। अगर साधकमें केंद्रगत सच्चाई हों, मूलगत विनम्रता हो तो वह भी बहुतसे खतरों और कष्टोंसे बच सकता है और फिर शीघ्रतासे इस क्षेत्रके परे उस विशुद्धतर ज्योतिमें पहुँच सकता है जहां बहुत-कुछ मिलावट, अनिश्चितता और संघर्षकी अवस्था रहनेपर भी माया और अज्ञानके अर्ध-प्रकाशमें बने रहनेके बदले विश्वगत सत्यकी ओर अपने-आपको खोलनेकी ही प्रवृत्ति जगती है।

यहांपर मैंने साधारण चेतनाके ठीक उस पारवाली चेतनाकी अवस्थाका तथा उसके मुख्य-मुख्य अंगों और संभावनाओंका सामान्य रूपसे इसलिये वर्णन किया है

कि यही वह स्थान है जहा इस प्रकारकी अनुभूतियां साधकको हुआ करती हैं। परंतु भिन्न-भिन्न साधक यहा भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्ताव किया करते है और कभी एक प्रकारकी सभावनाओकी ओर भुकते हैं तो कभी दूसरे प्रकारकी संभावनाओंकी ओर। जिस प्रसगमे यह चर्चा यहा की जा रही है उस प्रसगमे ऐसा मालूम होता है कि साधकका इस क्षेत्रमे जो प्रवेश हुआ है वह विश्वचैतन्य नीचे उतार लाने या उसमें बलात् प्रवेश करनेके प्रयत्नके कारण हुआ है — इस बातको चाहे जिस ढगसे कहा जाय अथवा स्वय प्रयत्न करनेवालेको अपने इस प्रयत्नका बोध हो या न हो, अथवा बोध हो भी तो चाहे इस रूपमे हो या न हो, इससे कुछ आता-जाता नही, सार रूपमें बात जो कुछ है वह यही है। इस प्रसगमे साधकका प्रवेश जिस क्षेत्रमे हुआ था वह अधिमानस नहीं था। क्योकि सीधे अधिमानसमे पहुँचना असमव है। निश्चय ही अधिमानस विश्वचैतन्यके अखिल कर्मके ऊपर और पीछे विद्यमान है, पर आरभमें उसके साथ अप्रत्यक्ष सबध ही स्थापित किया जा सकता है, वहासे जो चीजे आती हैं वे मध्यवर्ती क्षेत्रोंमें होती हुई बृहत्तर मानस-क्षेत्र, प्राण-क्षेत्र और सूक्ष्म भौतिक क्षेत्रमें आती हैं और रास्तेमे बहुत-कुछ परिवर्तित और क्षीण होती हुई आती हैं, यहातक कि अधिमानसके अपने मूल क्षेत्रमे उनमे जो शक्ति या सत्य होता है वह अब पूरा-का-पूरा नही रह जाता। अधिकाश गतिया तो अधिमानससे नही वरन् उससे नीचेके उच्चतर मानस-क्षेत्रोंसे ही आती हैं। अधिकाश भावनाए, जो इन अनुभूतियोमे भरी होती हैं और जिनके आधारपर ही ये अनुभूतिया सत्य होनेका दावा करती हुई प्रतीत होती हैं, अधिमानसकी नही होती, बल्कि उच्चतर मनकी या कभी-कभी प्रबुद्ध मनकी होती हैं; पर साथ ही उनमें निम्नतर मन और प्राणकी सूचनाए भी मिली हुई होती हैं और वे अपने प्रयोगमें बुरी तरहसे क्षीण अथवा बहुतसे स्थानोमे अनुचित रूपसे प्रयुक्त हुई होती है। पर इन सबसे कुछ नही बिगडता, ये सब यहाके लिये स्वभाविक और सामान्य बातें हैं और इन सबसे होकर ही साधक एक ऐसे स्वच्छतर वातावरणमे पहुँच जाता है जहां सभी बातें अपेक्षाकृत अधिक सुसगठित और अधिक सुदृढ आधारपर अवस्थित होती हैं। परंतु इस प्रसगमे जिस भावसे कार्य किया गया था उसमे अत्यधिक शीघ्रता और उत्सुकता, अतिरजित आत्माभिमान और आत्म-विश्वास, अधूरे ज्ञानपर आश्रित निश्चयता वर्तमान थी और भरोसा और किसीके भी पथप्रदर्शनपर नही, बल्कि अपने ही मनके अथवा ऐसे 'भगवान्'के पथप्रदर्शनपर किया गया था जो अत्यंत सीमित ज्ञानकी अवस्थामे कल्पित या अनुभूत हुए थे। ऐसी अवस्थामें भगवान्-सवधी साधककी धारणा और अनुभूति, यदि वे मूलत वास्तविक भी हो तो भी पूर्ण और विशुद्ध कभी नही होती; उनमे सब प्रकारके मन और प्राणके अध्यारोप मिले हुए होते हैं और इस भागवत पथप्रदर्शनके साथ ऐसी सभी प्रकारकी बाते जड़ित होती हैं और उसका अंग मानी जाती हैं जो एकदम दूसरे ही स्थानोसे आती हैं। अधिकतर ऐसी अवस्थाओंमें भगवान् अधिकाशमे पर्देके पीछेसे ही क्रिया करते हैं, फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि वह सीधे ही मार्गप्रदर्शन करते हैं तो भी उनका पथप्रदर्शन कभी-कभी ही मिलता है और उसके अतिरिक्त अन्य सभी बातें विश्व-शक्तियोंके खेल ही होती हैं; उनमें प्रमाद, स्खलन

और अज्ञानका सम्मिश्रण अवाध रूपसे होता रहता है और यह सब इसलिये होने दिया जाता है कि विश्वशक्तियोंके द्वारा साधककी परीक्षा हो जाय, वह अनुभवके द्वारा शिक्षा प्राप्त करे, अपूर्णताओंसे होकर पूर्णताकी ओर अग्रसर हो सके — अगर उसमें इसके लिये योग्यता हो, अगर वह सीखना चाहता हो तो अपनी भूलों और गलितयोंको आंख खोलकर देखे, उनसे शिक्षा ग्रहण करे और लाभ उठावे, जिसमें वह विशुद्धतर सत्य, ज्योति और ज्ञानकी ओर अग्रसर हो सके।

मनके इस अवस्थामें पहुँचनेका परिणाम यह होता है कि जो कुछ इस सम्मिश्रण और संशयसंकुल क्षेत्रमें साधकके सामने आता है, उसका ही वह इस प्रकार समर्थन करने लगता है मानो वही परम सत्य और एकमात्र भागवत इच्छा हो; जो भावनाएं या सूचनाएं बार-बार आती रहती हैं उन्हें साधक इस प्रकार अपनी ही बातपर अड़े रहकर और पूरे निश्चयके साथ प्रकट करता है मानो वे ही संपूर्ण या निर्विवाद सत्य हों। इस अवस्थामें साधककी ऐसी धारणा बन जाती है कि हम नैर्व्यक्तिक और अहंकार-विमुक्त हो गये हैं, जब कि उसके मनका सारा रुख उसका कथन और भाव सब कुछ प्रचंड अहंमन्यतासे भरा होता है और उसकी यह अहंमन्यता इस कारण पुष्ट होती रहती है कि वह निश्चित रूपसे यह समझता है कि वह भगवान्‌के यंत्रके रूपमें और भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार ही सोचता-विचारता और कार्य करता है। उस समय साधक ऐसी-ऐसी भावनाओंको बड़े जोरदार शब्दोंमें पेश करता है जो मनके लिये तो ठीक हो सकती हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टिसे ठीक नहीं होती; फिर भी वे ऐसे ढंगसे कही जाती हैं मानो वे अध्यात्मके ही ऐकांतिक सत्य हों। उदाहरणके तौरपर हम समताको ले सकते हैं जो उस दृष्टिसे एक मनोधर्ममात्र होता है — क्योंकि यौगिक समता बिलकुल दूसरी ही चीज है,—फिर अपने आत्माके लिये जो स्वतंत्रताका दावा किया जाता है, किसीको गुरु माननेसे जो इन्कार किया जाता है, या भगवान् तथा मनुष्य-देहधारी भगवान्‌के बीच जो भेद किया जाता है इन सब बातोंको ले सकते हैं। ये सब भावनाएं ऐसी स्थितियां है जिन्हें मन और प्राण ग्रहण कर सकते है और ऐसे सिद्धांतोंमें बदल सकते है जिन्हें वे धार्मिक या यहांतक कि आध्यात्मिक जीवनपर भी लादनेकी चेष्टा कर सकते हैं, यद्यपि वें स्वरूपतः न तो आध्यात्मिक होते हैं और न हो ही सकते हैं। फिर प्राणमय लोकोंसे भी सूचनाएं आने लगती हैं, रोमांचकारी, मनगढ़ंत या विलक्षण कल्पनाओंका तांता-सा लग जाता है, गूढ़ार्थव्यंजन, अंतर्ज्ञानाभास और आगे होनेवाली उपलब्धियोंका आश्वासन मिलने लगता है और इन बातोंसे साधकका मन या तो उत्तेजित हो जाता है या विमूढ़ हो जाता है और प्रायः साधक इन बातोंको ऐसे रूप दे देता है जिनसे उसका अहंकार और अहंमन्यता बेतरह बढ़ जाती है यद्यपि ये सब बातें सच्चे और सुनिश्चित आध्यात्मिक या गुह्य सत्योंके ऊपर अवलंबित नहीं होती। इस प्रकारकी बातोंसे यह क्षेत्र भरा हुआ है और अगर इन्हें मौका दिया जाय तो ये साधक-के ऊपर आकर एकदम छा जाती हैं; परन्तु साधक यदि वास्तवमें परम तत्त्वको ही प्राप्त करना चाहता हो तो उसे चाहिये कि वह इन्हें केवल देखे और आगे बढ़ता जाय। यह बात नहीं है कि ऐसी बातोंमें तनिक भी सत्य न हो, पर बात यह है कि एक सत्यके

साथ-साथ नौ असत्य सत्यका रूप धारण कर सामने आते हैं और केवल वही मनुष्य विना लुढके या यहांके गोरखधंधेमें विना फंसे अपना रास्ता निकाल सकता है जो सूक्ष्म जगत्-सबंधी गुह्यविद्याकी शिक्षा पा चुका हो और दीर्घकालीन अनुभवके द्वारा अचूक कौशल प्राप्त कर चुका हो। यहां यह संभव है कि साधकका सारा मनोभाव, उसका कर्म और उसकी बातचीत इस मध्यवर्ती क्षेत्रकी भूल-भ्रांतियोंसे इस तरह भर जाय कि फिर उसके लिये इस रास्तेपर आगे बढ़नेका अर्थ ही हो जाय भगवान् और योगसे बहुत दूर चला जाना।

फिर भी यहां साधकको यह स्वतंत्रता है कि वह चाहे तो इन अनुभवोंके अन्दर मिलनेवाले इस मिश्रित पथप्रदर्शनका ही अनुसरण करे या सच्चे पथप्रदर्शनको स्वीकार करे। प्रत्येक मनुष्य, जो यौगिक अनुभूतिके क्षेत्रोंमें प्रवेश करता है, अपने ही मार्गका अनुसरण करनेके लिये स्वतंत्र है; परन्तु यह योगमार्ग ऐसा नहीं है जिसका अनुसरण चाहे जो कर सके, बल्कि यह केवल उन्हीं लोगोंके लिये है जो इसके लक्ष्यको प्राप्त करना चाहते हैं, इसके निर्दिष्ट पथका अनुसरण करना चाहते हैं जिसके लिये सुनिश्चित पथप्रदर्शन अत्यंत आवश्यक है। किसीके भी लिये यह आशा करना व्यर्थ है कि वह इस मार्गपर किसी सच्ची सहायता या प्रभावको प्राप्त किये विना ही केवल अपने ही आंतरिक बल और ज्ञानके सहारे बहुत दूरतक—अंततक चले जानेकी तो बात ही क्या — अग्रसर हो सकता है। दीर्घकालसे जिन योगोंका अभ्यास लोग करते आ रहे हैं उन सामान्य योगमार्गोंका भी गुरुकी सहायताके विना अनुसरण करना बहुत कठिन है; फिर इस योगमें तो ऐसा करना एकदम असंभव ही है, क्योंकि इस योगमें जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसे ऐसे देश मिलते हैं जिनमें अबतक किसीने पैर नही रखा था और ऐस क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें अबतक किसीने जाना नहीं था। और यहां जो कर्म करनेको कहा जाता है वह भी ऐसा कर्म नहीं है जिसे चाहे किसी मार्गका चाहे जो साधक कर सके; यह कार्य 'नैर्व्यक्तिक' ब्रह्मके लिये भी नहीं है जो नैर्व्यक्तिक होनेके कारण ही क्रियाशील शक्ति नही है, बल्कि जो इस विश्वकी सभी क्रियाओंका एकसा ही उदासीन आधारमात्र है। यह कर्म तो उन्ही लोगोंके लिये साधनाका एक क्षेत्र है जिन्हें इस योगके कठिन और जटिल मार्गको तै करना है, दूसरे किसीके लिये नही है। यहा सभी कर्मोंको स्वीकृति, नियमानुवर्तन और समर्पणकी भावनाके साथ ही करना होता है, अपनी वैयक्तिक मांगों और शर्तोंको रखते हुए नहीं, प्रत्युत सजग और सचेत होकर निर्दिष्ट नियंत्रण और परिचालनकी अधीनता स्वीकार करते हुए करना होता है। अन्य किसी भावसे किया हुआ कर्म वातावरणमें अनाध्यात्मिक असामंजस्य, अस्तव्यस्तता और उथल-पुथल उत्पन्न करता है। समुचित भावके साथ कर्म करनेपर भी बहुतसी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, भूल-भ्रांतियां होतीं हैं, पद-पदपर ठोकरें खानी पड़ती हैं, क्योंकि इस योगमें साधकोंको बड़े धैर्यके साथ और उनके अपने प्रयासके लिये भी कुछ क्षेत्र रखते हुए अनुभवके सहारे, मन-प्राणके स्वाभाविक अज्ञानसे बाहर निकलकर वृहत्तर आत्मा और ज्योतिर्मय ज्ञानमें ले जाना होता है। परन्तु विना पथप्रदर्शनके यदि साधक साधारण मानसिक चेतनाके परेके

इन क्षेत्रोंमें घूमने-भटकने लगे तो इसमें यह भय है कि योगकी भित्ति ही नष्ट हो जाय और केवल जिन अवस्थाओंमें ही कर्म किया जा सकता है उन अवस्थाओंको ही साधक खो बैठे। इस मध्यवर्ती क्षेत्रको पार करनेका रास्ता--जिससे होकर जानेके लिये सभी वाध्य नहीं है, क्योंकि वहुतसे लोग इससे अपेक्षाकृत तंगपर अधिक निश्चित पथसे इसे पार कर जाते हैं — वहुत विकट है; पर इस मार्गपर चलनेसे जो फल प्राप्त होता है उससे जीवनमें वहुत विशाल और समृद्ध सृष्टि की जा सकती है; परन्तु जव कोई यहां आकर डूव जाता है तव वाहर निकलना वहुत कठिन और कष्टसाध्य हो जाता है और वहुत दिनोंतक संघर्ष और प्रयास करनेपर ही संभव होता है।

*

तुमने जो अनुभव मुझे लिखकर भेजे हैं वे सव मैंने पढ़ लिये हैं और मुझे तुम्हारा और 'क्ष' का पत्र भी मिला है। जैसा कि तुमने कहा है, यह निःसंदेह सच है कि तुम्हारी साधना अन्य लोगोंसे भिन्न दिशाओंमें चली गई है किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि इस संवंधमें तुम्हारा अपने ही विचारोंके लिये आग्रह रखना विलकुल सही है। तुम्हारे अनुभवोंके विपयमें मैंने जो देखा-भाला है वह मैं तुम्हें संक्षेपसे कहता हूँ।

पहली वातें जो तुमने लिख भेजी थीं वे वहुत रसप्रद और मूल्यवान्, चैत्य-आध्यात्मिक और चैत्य-मानसिक अनुभव एवं संदेश थे। वादमें लिखी गई वातें चैत्य-भावप्रधान अनुभवोंकी ओर अधिक झुकी हुई हैं और उनमें एक विशेष प्रकारकी एक पक्षीयता और मिलावट है तथा उनमें दोहरे ढंगके चैत्य-प्राणिक एवं चैत्य-भौतिक तत्व भी आ मिले हैं। मेरा यह आशय नहीं कि उनमें सव कुछ मिथ्या ही है किन्तु यह कि उनमें ऐसे अनेक प्रवल आंशिक सत्य हैं जिन्हें उन अन्य सत्योंके द्वारा शुद्ध करनेकी आवश्यकता है जिनकी वे उपेक्षा या वहिष्कार तक करते प्रतीत होते है। इसके अतिरिक्त वुद्धि तथा प्राणिक सत्तासे और वाह्य स्रोतोंसे भी ऐसे सुझाव आते हैं जिन्हें तुम्हें उतनी आसानीसे स्वीकार नहीं कर लेना चाहिये जितनी आसानीसे तुम करते प्रतीत होते हो। प्रारंभिक अवस्थाओंमें यह मिश्रण अनिवार्य होता है और इस संवंधमें निरुत्साह होनेकी आवश्यकता नहीं। पर यदि तुम इसे कायम रखनेका आग्रह रखोगे तो यह तुम्हें सच्चे मार्गसे भ्रष्ट कर सकता हैं और तुम्हारी साधनाको हानि पहुँचा सकता है।

तुम्हें अभीतक चैत्यसत्ता और चैत्य जगतोंकी प्रकृतिका पर्याप्त अनुभव नहीं हुआ है। इस कारण तुम्हारे लिये, अपने सामने आनेवाली सभी वस्तुओंको सच्चा मूल्य प्रदान करना संभव नहीं है। जव चैत्य चेतना खुलती है, विशेपकरके ऐसी उन्मुक्तता और तेजीके साथ जैसा कि तुम्हारे साथ हुआ है,—तो यह सव तरहकी वस्तुओंके प्रति और सव प्रकारकी भूमिकाओं, जगतों, शक्तियों और सत्ताओंसे आनेवाले सुझावों और संदेशोंके प्रति खुलती है। एक सच्चा चैत्य भी है जो सदैव मंगलमय होता है और एक अन्य चैत्य भी होता है जो उन मानसिक, प्राणिक और अन्य लोकोंकी ओर खुलता है जिनमें सव प्रकारकी भली, वुरी और साधारण, सच्ची, झूठी और अर्धसत्य वस्तुएं,

सब प्रकारके विचारात्मक सुझाव और सभी ढंगके संदेश भी होते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि तुम समभावसे अपनेको उन सभीके हाथमें न सौंप दो बल्कि अपने सतुलनको कायम रख सकनेके लिये पर्याप्त ज्ञान और अनुभव एवं पर्याप्त विवेक दोनों-का विकास करो तथा मिथ्यात्व और अर्धसत्यों और मिश्रणकोंको बाहर निकाल दो। इस आधारपर कि यह तो महज बुद्धिवाद है, विवेककी आवश्यकताका अधीरता-पूर्वक परित्याग कर देनेसे काम नही चलेगा। विवेकका बुद्धिसंगत होना आवश्यक नही है यद्यपि वह भी ऐसी चीज नही जिसकी अवहेलना करनी चाहिये। किन्तु यह एक चैत्य विवेक या ऐसा विवेक हो सकता है जो अतिभौतिक मन एवं उच्चतर सत्ता-मेंसे आता है। यदि यह तुम्हारे पास न हो तो तुम्हें निरंतर उन लोगोंसे रक्षण और पथप्रदर्शन प्राप्त करनेकी आवश्यकता होगी जिन्हें यह प्राप्त है और जिन्हें लम्बा चैत्य अनुभव भी है, और पूरी तरह अपनेपर भरोसा रखना तथा इस प्रकारके मार्ग-दर्शनको अस्वीकार करना तुम्हारे लिये संकटपूर्ण हो सकता है।

इसी बीच साधनाके ये तीन नियम हैं जिनका प्रारंभिक चरणमें पालन करना बहुत आवश्यक है और जिन्हें तुम्हें याद रखना चाहिये। सबसे पहले, अपनेको अनु-भवके प्रति खोलो पर अनुभवोंका "भोग" न करो। अपनेको किसी विशेष प्रकारके अनुभवके साथ आसक्त न करो। सब विचारों और सुझावोंको सच्चा न मान लो और किसी ज्ञान,वाणी या चिन्तन-संदेशको चरम रूपसे अन्तिम एवं निर्णायक न समझ लो। सत्य स्वयं केवल तभी सत्य होता है जब वह सर्वांगपूर्ण होता है और व्यक्ति जैसे जैसे ऊपर उठता है तथा उसे उच्चतर स्तरसे देखता है वैसे वैसे सत्य अपना अर्थ बदलता जाता है।

मुझे तुम्हे उन विरोधी प्रभावोंके सुझावोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये सावधान करना होगा जो इस योगमें सभी साधकोंपर आक्रमण करते हैं। तुम्हें जो युरोपियन-का अन्तर्दर्शन हुआ था वह स्वयं तुम्हारे लिये इस बातकी सूचना देता है कि इन शक्ति-योंकी आंखें तुमपर लगी हुई है, यदि वे पहले ही तुम्हारे विरोधमें कार्य न कर रही हों तो अब करनेके लिये तैयार हैं। उनके अधिक खुले आक्रमण नही किन्तु वे सूक्ष्मतर सुझाव ही सबसे अधिक खतरनाक है, जो सत्यका रूप धारण करते हैं; उनमेंसे बहुधा आनेवाले कुछ सुझावोंकी मैं चर्चा करूँगा।

तुम्हारे अहंकारको उत्तेजित करनेकी चेष्टा करनेवाले किसी भी सुझावका विरोध करनेके लिये सतर्क रहो, उदाहरणके लिये यह कि तुम अन्य लोगोंसे अधिक महान् हो या कि तुम्हारी साधना अद्वितीय या असाधारण रूपसे उच्च प्रकारकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारका कोई सुझाव तुम्हारे पास आ चुका है। तुमने चैत्य अनुभवोंका समृद्ध और तीव्र विकास प्राप्त किया है किन्तु इतने ही असंदिग्ध रूप-में कुछ अन्य लोग भी उन्हें पा चुके हैं जिन्होंने यहां साधनाकी है और तुम्हारे अनुभवों-मेंसे एक भी अपने प्रकार या कोटिकी दृष्टिसे अद्वितीय, या हमारे अनुभवोंके लिये अपरिचित नहीं हैं। यदि ऐसा न भी हो तो भी अहंकार साधनाके लिये सबसे बड़ा खतरा है और उसे आध्यात्मिक दृष्टिसे उचित कभी नहीं ठहराया जा सकता। महिमा

सारी भगवान्‌की ही है; किसी दूसरेकी नही।

ऐसी हरेक वस्तुसे अपनेको बचाओ जो तुम्हे किसी अशुद्धि या अपूर्णतासे, मनकी अव्यवस्था, हृदयकी आसक्ति, प्राणकी कामना और आवेगसे या शरीरके रोगसे चिपटे रहने या उन्हे कायम रखनेका सुझाव देती है। इन वस्तुओंको चतुराई भरे समर्थनो और आवरणोके द्वारा बनाये रखना विरोधी शक्तियोकी घिसी-पिटी युक्तियोंमेंसे एक है।

जो कोई भी विचार दिव्य शक्तियोकी-सी शर्तोपर ही तुम्हे इन विरोधी शक्तियोंको भी अदर आने देनेके लिये प्रेरित कर उसमे सतर्क रहो। मै समझता हूँ, तुमने यह कहा है कि तुम्हें सब वस्तुओंको अन्दर आने देना चाहिये क्योकि सब कुछ भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। एक विशेष अर्थमे सभी भगवान्‌की अभिव्यक्ति है परन्तु यदि इसका गलत अर्थ लगाया जाय, जैसा कि प्राय: होता है, तो यह वेदातिक सत्य असत्यके उद्देश्योकी पूर्तिके लिये भी तोडा-मोडा जा सकता है। ऐसी बहुतसी वस्तुएं हैं जो आशिक अभिव्यक्तियां है और उनके स्थानपर अधिक पूर्ण और सच्ची अभिव्यक्तिको लाना है। अन्य कुछ ऐसी अभिव्यक्तिया भी है जिनका सबध अज्ञानसे है और जो हमारे ज्ञानकी ओर अग्रसर होनेपर झड जाती है। कुछ और ऐसी भी है जो अधकारमय है और उनके साथ युद्ध करके उन्हें नष्ट या निर्वासित कर देना चाहिये। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका प्रयोग, अपने अन्तर्दर्शनमें तुमने जिस युरोपियनको देखा था उसके द्वारा सूचित शक्तिने खुल कर किया है और इसने अनेक लोगोंकी योग साधनाको बरबाद कर दिया है। स्वयं तुमने बुद्धिको अस्वीकार करना चाहा था किन्तु फिर भी, तुमने जिन अन्य वस्तुओंको स्वीकार किया है, बुद्धि भी उनकी भाति भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है।

यदि तुम वस्तुत: मुझे स्वीकार करते हो और अपनेको समर्पित करते हो तो तुम्हें मेरे सत्यको स्वीकार करना होगा। मेरा सत्य वह है जो अज्ञान और मिथ्यात्वको अस्वीकार करके ज्ञानकी ओर अग्रसर होता है, अंधकारको तजकर प्रकाशकी ओर बढ़ता है, अहकारका निषेध कर भागवत आत्माकी ओर गति करता है, अपूर्णताओंको त्याग कर पूर्णताओकी ओर प्रगति करता है। मेरा सत्य केवल भक्ति या चैत्य विकासका ही सत्य नही है बल्कि ज्ञानका, पवित्रताका, दिव्य बल एवं स्थिरताका तथा इन सब वस्तुओंको इनके मानसिक, भावप्रधान और प्राणिक रूपोसे इनकी अतिमानसिक यथार्थतातक ले जानेवाला भी सत्य है।

मै ये सब बातें तुम्हारी साधनाका महत्व कम करनेके लिये नही किंतु तुम्हारे मनको बढती हुई समग्रता और पूर्णताके मार्गकी ओर मोड़नेके लिये कहता हूँ।

तुम्हें यहां रखना मेरे लिये अभी सभव नही है। पहले तो इसलिये कि आवश्यक शर्ते पूरी नही हुई और दूसरे इसलिये कि यहां आनेसे पहले तुम्हे मेरे पथ प्रदर्शनको स्वीकार करनेंके लिये पूरी तरह तैयार रहना होगा। यदि, तुम्हें घर जाना ही पडे, जैसा कि मै मानता हूँ कि वर्तमान परिस्थितिमें तुम्हे अवश्य करना चाहिये, तो वहां अपनेको मेरी ओर उन्मुख करके ध्यान करो, और अपनेको इस प्रकार तैयार करनेका

यत्न करो जिससे तुम इसके बाद यहा आ सको। तुम्हें इस समय चैत्य विकासकी इतनी अधिक आवश्यकता नहीं, उसे तो तुम सदैव कर सकोगे (मैं तुम्हें इसे बिलकुल बन्द करनेके लिये नही कहता), किन्तु तुम्हारे भावी विकास और अनुभवके सच्चे आधार और परिवेशके रूपमें आंतरिक स्थिरता एवं अचंचलताकी, मनमें, शोधित प्राणसत्ता- और परिवेशके रूपमें आतरिक स्थिरता एवं अचंचलताकी, मनमें, शोधित प्राण-सत्तामे और भौतिक चेतनामें स्थिरताकी आवश्यकता है। चैत्य-प्राणिक या चैत्य-भौतिक योग तुम्हारे लिये तबतक सुरक्षित नही होगा जबतक तुम्हें यह स्थिरता और सुनिश्चित पवित्रता तथा एक पूर्ण और सदा उपस्थित रहनेवाला प्राणिक और भौतिक संरक्षण प्राप्त न हो जाय।

*

मैंने 'क्ष' का पत्र ध्यान पूर्वक पढ़ लिया है और मैं समझता हूँ कि सबसे पहले उसके द्वारा उल्लिखित उसकी वर्तमान स्थितिकी व्याख्या करना सबसे उत्तम होगा। क्योंकि मुझे लगता है कि उसने सच्चे कारणों और अर्थको नही समझा है।

निष्क्रियता और उदासीनताकी वर्तमान स्थिति पहलेकी उस असामान्य स्थिति-की प्रतिक्रिया है जिस तक वह बाहर या अंदरसे समुचित रूपसे संचालित न किये गये आंतरिक प्रयत्नों द्वारा पहुँचा था। इस प्रयत्नने उन आवरणोंका भेदन किया जो भौतिक जगत्को चैत्य और प्राणिक जगतोंसे पृथक् करते हैं। किन्तु उसका मन तैयार न था और उसके अनुभवोंको समझनेमें असमर्थ था और उनका मनमौज और कल्पना-के प्रकाशके एवं भ्रामक मानसिक और प्राणिक सुझावोंके आधारपर निर्णय करता था। राजसिक और आहकारिक ऊर्जासे परिपूर्ण उसकी प्राणिक सत्ता इन नवीन क्षेत्रोंका उपभोग करने एवं अपने निम्नतर लक्ष्योंके लिये कार्य करती हुई शक्तिका उपयोग करनेके लिये तेजीसे दौड़ पड़ी। इससे प्राणिक जगत्की विरोधी शक्तिको घुस आनेका एवं आंशिक रूपसे अधिकार जमानेका अवसर मिल गया और उसका परिणाम यह हुआ कि स्नायवीय एवं भौतिक संस्थान तथा मस्तिष्कके कुछ एक केन्द्र अस्तव्यस्त हो गये। ऐसा प्रतीत होता है कि अब आक्रमण और अधिकार जमानेकी चेष्टा समाप्त हो गई है और अपने पीछे तमस् और उदासीनताकी किलेबन्दीके साथ निष्क्रियता रूपी प्रतिक्रियाको छोड़ गई है। तमस् और उदासीनता अपने आपमें कोई अभीष्ट वस्तुएं नही हैं पर वे विगत अस्वाभाविक तनावके बाद विश्रामके रूपमें कुछ समयके लिये उपयोगी अवश्य हैं। शक्तिके नवीन और सच्चे कार्यके लिये निष्क्रिय-ता उत्तम आधार है।

उस व्यक्तिकी अवस्थाकी यह सच्ची व्याख्या नही है कि वह अन्दरसे निष्प्राण हो गया है और केवल बाहरी प्रवृत्ति ही चल रही है। सच यह है कि अपनेको कर्ता माननेवाला प्राणिक-अहंकारका केन्द्र कुचल दिया गया है और वह अब समस्त विचार और प्रवृत्तिको अपने बाहर क्रीड़ा करते हुए अनुभव करता है। यह ज्ञानावस्था है;

कारण यथार्थ सत्य यह है कि ये सब विचार और क्रियाएं प्रकृतिकी हैं और वैश्व प्रकृतिसे लहरोंके रूपमें हमारे भीतर आती हैं या हमारे अंदरसे गुजरती हैं। हमारा अहंकार और शरीर तथा व्यक्तिगत स्थूल मनमें हमारी आबद्धता ही हमें इस सत्यका वेदन और अनुभव करनेसे रोकती है। इस सत्यका बोध और अनुभव कर सकना, जैसा कि अब वह कर रहा है, एक बडा कदम है। निःसंदेह यह पूर्ण ज्ञान नही है। ज्ञानके पूर्णतर होने और चैत्य सत्ताके ऊर्ध्वमें खुलनेके साथ ही मनुष्य सब क्रियाओंको ऊपरसे उतरता हुआ अनुभव करता है और उनके सच्चे उद्गमको प्राप्त करके उन्हें रूपांतरित कर सकता है।

उसके सिरमें प्रकाशकी क्रीडा होनेका अर्थ है कि उसमें उस उच्चतर शक्ति और ज्ञानका उद्घाटन हो चुका है जो ऊपरसे प्रकाश रूपमें उतर रहा है और मनको आलोकित करनेके लिये उसपर क्रिया कर रहा है। विद्युत-प्रवाह एक ऐसी शक्ति है जो निम्नतर केंद्रोंमें कार्य करने और उन्हें प्रकाश ग्रहण करनेके लिये तैयार करनेके प्रयोजनसे अवतरित हो रही है। ठीक अवस्था तभी आयेगी जब प्राणशक्तियोंके ऊपरकी ओर जानेके लिये जोर लगानेका यत्न करनेके स्थानपर प्राण स्थिर और समर्पित हो जायगा रहनेके स्थानपर हृदय ऊपरके सत्यके प्रति निरन्तर अभीप्सा करेगा। प्रकाशको इन निम्नतर केन्द्रोंमें उतरना होगा जिससे कि वह मानसिक विचार और संकल्पकी तरह भावप्रधान एवं प्राणिक और भौतिक सत्ताको भी रूपांतरित कर दे।

चैत्य अनुभवों एवं अदृश्य जगतोंके ज्ञानकी, और इसी प्रकार अन्य योग संबंधी अनुभवोंकी उपयोगिता हमारी इन संकीर्ण मानवीय धारणाओंसे नहीं नापनी चाहिये कि मनुष्यके वर्तमान भौतिक जीवनके लिये क्या चीज उपयोगी हो सकती है। सबसे पहले ये चीजें चेतनाकी पूर्णता और सत्ताकी समग्रताके लिये आवश्यक हैं। दूसरे, ये अन्य जगत् हमपर कार्य कर रहे है। और यदि तुम उन्हें जानो और उनमें प्रवेश कर सको तो इन शक्तियोंके शिकार और कठपुतलियां बननेके स्थानपर हम सचेतन रूपसे उनसे व्यवहार कर सकते हैं, उनका नियमन और उपयोग कर सकते हैं। तीसरे, मेरे योगमें अर्थात् अतिमानसिक योगमें उस चैत्य चेतनाका उद्घाटन नितान्त अनिवार्य है जिसके साथ इन अनुभवोंका संबंध है क्योंकि एक मात्र चैत्य उद्घाटन द्वारा ही अतिमानसिक चेतना दृढ़ और ठोस पकड़के साथ पूरी तरह अवतरित होकर मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताको रूपांतरित कर सकती है।

यह है वर्तमान स्थिति और उसकी महत्ता एवं मूल्य। भविष्यमें यदि वह मेरे योगको स्वीकार करना चाहता हो तो इसकी शर्ते है स्थिर संकल्प और उस सत्यकी अभीप्सा जिसे मैं अवतरित कर रहा हूं, शांत निष्क्रियता और उस उद्गमके प्रति ऊपरकी ओर उद्घाटन जहांसे प्रकाश आ रहा है। शक्ति उसमें पहलेसे ही कार्य कर रही है और यदि वह इस वृत्तिको ग्रहण करे और बनाये रखे एवं मुझपर पूरा भरोसा करे तो कोई कारण नही कि उसके आधारमें हुई भौतिक और प्राणिक क्षतिके बावजूद उसकी साधना निरापद रूपसे अग्रसर न हो। मुझे मिलनेके लिये उसके आनेके विषयमें बात यह है कि मैं अभी पूरा तैयार नहीं हूं किंतु हम इस संबंधमें तुम्हारे पांडिचेरी आने-

के वाद वात करेंगे।

*

जहातक तुम्हारे पत्रका प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि तुम्हें पत्र लिखनेवालेको कहना होगा कि उसके पिताने गुरु किये विना ही योग साधना करनेकी भूल की – क्योंकि गुरू संबंधी मानसिक विचार यथार्थ जीवन्त प्रभावका स्थान नही ले सकता। विशेषत: इस योगमे, जैसा कि मैंने अपनी पुस्तकोंमें लिखा है, गुरुकी सहायताकी आवश्यकता होती ही है और यह उसके विना नहीं किया जा सकता। उसके पिता जिस अवस्थामें जा पड़े है वह योग-भगकी स्थिति है, सिद्धिकी स्थिति नही,। वे सामान्य मानसिक चेतनामेंसे निकलकर चेतनाके ऐसे किसी मध्यवर्ती (आध्यात्मिक नहीं) प्रदेशके संपर्कमें आ गये हैं जहां व्यक्ति सव प्रकारकी वाणियों, सुझावों, विचारों और तथाकथित अन्त:प्रेरणाओंके आधीन हो सकता है जो सच्ची नही होती। मैंने अपनी किसी पुस्तकमें इन मध्यवर्ती प्रदेशोंके खतरोंके विरुद्ध चेतावनी दी है*। साधक इस प्रदेशमें प्रवेश करनेसे बच सकता है — यदि वह प्रवेश करे ही तो उसे इन सव वस्तुओंको तटस्थता पूर्वक देखना और उनपर विश्वास किये विना उनका निरीक्षण करना होगा,—ऐसा करनेसे वह सच्चे आध्यात्मिक प्रकाशमें सुरक्षित रूपसे पहुँच सकता है। यदि वह उन सवको बिना विवेक किये सच्चा या यथार्थ रूपमें ग्रहण कर लेता है तो वहुत संभव है कि वह अपनेको भारी मानसिक गड़वड़में फंसा ले और यदि इसके साथ ही वहां मस्तिष्ककी क्षति या निर्वलता भी हो — जो रक्त मूर्छासे पीड़ित रहा हो उसके लिये पिछली वात विलकुल संभव है — तो इसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं और इससे वुद्धिमें भी गड़वड़ पैदा हो सकती है। यदि आध्यात्मिक खोजके साथ महत्वाकांक्षा, या इसी प्रकारका अन्य हेतु मिला हुआ हो तो वह योग भ्रष्टताकी दिशामें अतिरंजित अहंकार या महत्वोन्मादकी वृद्धिकी ओर भी ले जा सकती है — दौरेके समय उसके पिताके मुखसे जो उद्‌गार निकले उनमें ऐसे कितने ही लक्षण हैं। वस्तुत: कोई भी पर्याप्त लम्बे समयतक तैयारी और शोधन किये विना साधनाके इन अनुभवोंमें नही कूद सकता या उसे कूदना नही चाहिये (जवतक उसके पास पहले ही कोई महान् आध्यात्मिक क्षमता और उच्चता विद्यमान न हो)। श्रीअरविन्द स्वयं अपने मार्गमें वहुत लोगोंको स्वीकार करनेकी परवाह नही करते और स्वीकार करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक लोगोंको मना कर देते है। यह अच्छा होगा कि वह अपने पिताको साधनाका और आगे अनुसरण करनेसे रोक दे — क्योंकि वे जो कुछ कर रहे है वह वस्तुत: श्रीअरविन्दका योग नहीं है किन्तु कोई ऐसी वस्तु है जिसकी रचना उन्होंने अपने मनसे की है और

*मध्यवर्ती प्रदेशके खतरोंके विरुद्ध यह चेतावनी श्रीअरविन्दने एक लंबे पत्रमें दी थी जो पत्र 'इस जगत्‌की पहेली' नामकी पुस्तकमें १९३३में सवसे पहले प्रकाशित हुआ था। पत्रोंके इस खण्डमें उस पत्रका समावेश कर लिया गया है। देखो पृष्ठ 530-537।

एक बार ऐसी गड़बड़ पैदा हो जानेपर सबसे अधिक समझदारीका रास्ता यही है कि साधनाको बन्द कर दिया जाय।

*

मध्यवर्ती प्रदेशका अभिप्राय है केवल एक ऐसी अस्तव्यस्त स्थिति या ऐसा मार्ग जिसमें व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत चेतनामेंसे बाहर निकल रहा है और अभी मानव मनके स्तरोंको पार किये बिना ही वैश्व चेतना (वैश्वमन, वैश्व प्राण, वैश्व देह, शायद कोई वैश्व उच्चतर मनकी वस्तु) के अन्दर उद्घाटित हो रहा है। मनुष्य भागवत सत्यको "उसके अपने स्तरोंपर" अधिगत नहीं करता न उसके साथ सीधे संपर्कमें ही आता है, पर व्यक्ति उन स्तरोंसे, यहां तक कि अधिमनससे भी अप्रत्यक्षरूपसे किसी वस्तुको ग्रहण कर सकता है। किंतु, क्योंकि मनुष्य अभी तक वैश्व अज्ञानमें डूबा हुआ है इसीलिये ऊपरसे आनेवाली सभी वस्तुएं मिश्रित और विकृत हो सकती है, निम्नतर और विरोधी शक्तियां भी उन्हें अपने प्रयोजनके लिये हथिया सकती है।

मध्यवर्ती प्रदेशको पार करते हुए संघर्ष करना प्रत्येक व्यक्तिके लिये जरूरी नहीं है। यदि मनुष्य अपनेको शुद्ध कर ले, यदि उसमें कोई असामान्य गर्व, अहंकार, महत्वाकांक्षा या अन्य कोई प्रबल भ्रामक तत्व न हो, या यदि व्यक्ति सजक और सावधान रहे, अथवा यदि चैत्य अग्रभागमें हो तो वह चेतनाके उच्चतर प्रदेशोंमें जहां वह भागवत सत्यके संपर्कमें होता है, या तो तेजीसे या सीधे अथवा कमसे कम कष्टके साथ गुजर सकता है।

दूसरी ओर उच्चतर प्रदेशमेंसे अर्थात् उच्चतर मन, आलोकित मन, संबोधि, अधिमानसमेंसे होकर जानेवाला मार्ग अनिवार्य है — वर्तमान चेतना और अतिमानसके बीचमें ये ही सच्चे मध्यवर्ती प्रदेश हैं।

*

मेरा इस (मध्यवर्ती-क्षेत्र) से यह आशय है कि जब साधक अपने देहबद्ध व्यक्तिगत मनकी सीमाओंको पार कर जाता है तो वह उन अनुभवोंके विशाल मैदानमें प्रवेश करता है जो वस्तुओंके सीमित ठोस स्थूल सत्य नहीं होते और न ही अभी तक वस्तुओंके आध्यात्मिक सत्य ही । यह मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म भौतिक रचनाओंका प्रदेश है और व्यक्ति जो भी रचना करता है या हमारे अन्दर इस जगत्की शक्तियां जो भी रचना करतीं है, वह सब साधकके लिये थोड़े समयके लिये सत्य बन जाता है — यदि वह अपने पथप्रदर्शक द्वारा संचालित न हो और उसकी बात न सुने तो आगे जाकर यदि वह उसे पार कर ले तो वह उस प्रदेशके सत्यको खोज निकालता है और वस्तुओंके सूक्ष्म सत्यमें प्रविष्ट हो जाता है। यह एक ऐसा सीमा प्रांत है जहां मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्मभौतिक, मिथ्या आध्यात्मिक, सभी जगत् मिलते हैं — किन्तु वहां कोई क्रम या

दृढ़ आधार भूमि नहीं होती — यह स्थूल और सच्चे आध्यात्मिक प्रदेशोंके बीचका मार्ग है।

*

तुम उस वैश्व चेतनाकी ओर प्रारंभिक कदम उठा रहे हो जिसमें भली और बुरी, सच्ची और झूठी, सब प्रकारकी वस्तुएं तथा वैश्व सत्य और वैश्व अज्ञान भी हैं। मैं अहंके विषयमें इतना नहीं सोच रहा था जितना कि इन हजारों वाणियों, संभावनाओं और सुझावोंके विषयमें। यदि तुम इनसे बच जाओ तो मध्यवर्ती क्षेत्रोंमेंसे गुजरनेकी जरूरत नहीं। बचनेसे वस्तुतः मेरा मतलब यह है कि उन्हें घुसने न देना — मनुष्य उनके स्वभावका परिचय प्राप्त करके आगे बढ़ जा सकता है।

*

सामान्य चेतनाकी सीमाको पार कर यदि कोई चैत्यमें प्रवेश करनेकी सावधानी नहीं रखता तो वह इस (मध्यवर्ती) क्षेत्रमें घुस सकता है। इस प्रदेशसे गुजरभर जानेमें कोई हानि नहीं, बशर्ते कि वहां रुका न जाय। किंतु अहं, कामवासना, महत्त्वाकांक्षा आदि यदि अतिशय बढ़ जायें तो आसानीसे संकटपूर्ण अधःपतनकी ओर ले जा सकते हैं।

*

यह (आवरणका भेदन) साधनाके दबावके साथ ही अपने-आप होता है। इसे विशेष एकाग्रता और प्रयत्नके द्वारा भी संपादित किया जा सकता है।

निश्चय ही यह अधिक अच्छा है कि व्यक्तिगत और विश्वगत चेतनाके बीचके पर्दे या आवरणके हटनेसे पूर्व, जो कि आंतर सत्ताको उसकी संपूर्ण विशालताके साथ संमुख भागमें लानेके कारण संभव होता है, चैत्य पुरुष सचेतन और सक्रिय हो जाय। क्योंकि तब, जिसे मैं मध्यवर्ती क्षेत्र कहता हूँ उसकी कठिनाइयोंका खतरा बहुत कम रहता है।

*

तुम्हारे ये सब अनुभव उस प्रदेशसे संबन्ध रखते हैं जिन्हें मैंने मध्यवर्ती प्रदेशका नाम दिया है; उन अनुभवोंका एक विशाल समुदाय प्राणिक भूमिकाके अनुभवोंका है। प्राणिक स्तरमें भली और बुरी, लाभदायक और हानिकर, आधी सच्ची और

झूठी, यथार्थ और भ्रामक सर्वप्रकारकी वस्तुएं होती हैं इसलिये व्यक्तिको बहुत सावधान और जागरूक एवं प्रकाशके सच्चे उद्गमके प्रति उन्मुख रहना चाहिये। मुश्किल यह है कि व्यक्तिको यहां पहले सच्चा आध्यात्मिक अनुभव हो सकता है और आगे जाकर सब प्रकारकी नकल करने और धोखा देनेवाली चीजें अन्दर आकर अपने साथ मिथ्या अनुभूतिके खतरेको ला सकती है। मनुष्यको अपने अनुभवोंपर निगरानी रखना और निरीक्षण करना होगा एवं उनमें विवेक करने और उन्हें समझनेकी चेष्टा करनी होगी — दो बातोंकी प्रतीक्षा करते हुए, एक तो ऊपरसे विस्तृततर उच्चचेतनाके उद्घाटनकी और दूसरे, चैत्यके पीछेकी ओरसे आगे आनेकी। जब ये चीजें पूरी हो जाती हैं, तो भूल होनेके अवसर कम हो जाते हैं और साधनामे सच्चा आतरिक संचालन उत्तरोत्तर अधिक अनुभव होने लगता है।

प्रकाश सब प्रकारके होते हैं, अतिमानसिक, मानसिक, प्राणिक, भौतिक, दैवी या आसुरिक — मनुष्यको निरीक्षण करना चाहिये, अनुभवमें विकसित होना चाहिये और उनके पारस्परिक भेदको जानना सीखना चाहिये तथापि सच्ची ज्योतियोंको उनकी निर्मलता और सौंदर्यके द्वारा पहचानना कठिन नही।

ऊपरसे आनेवाली धारा और ऊर्ध्वमुखी धारा यौगिक अनुभवके परिचित लक्षण है उच्चतर प्रकृतिकी ऊर्जा और निम्नतर प्रकृतिकी ऊर्जा ही सक्रिय होकर परस्पर अभिमुख हो जाती हैं और एक ऊपर चढती हुई और दूसरी नीचे उतरीती हुई धाराके रूपमें मिलनेके लिये आगे बढ़ती हैं। उनके मिलनेपर क्या होगा यह तो साधक पर ही आधार रखता है। यदि वह उच्चतर चेतना द्वारा निम्नतर चेतनाको शुद्ध करनेके लिये निरंतर संकल्प बनाये रखता हो तो मिलनका परिणाम शुद्धि और आध्यात्मिक प्रगति होता है। यदि उसका मन और प्राण मलिन और तमसाच्छन्न हों तो उसमें संघर्ष, अशुद्ध मिश्रण और बहुत अधिक गड़बड़ उत्पन्न होती है।

सत्ताका, एक तो पीछे रहनेवाली बृहत्तर चेतना, दूसरे अग्रभागमें रहनेवाली अल्पतर चेतना इन दो भागोंमे विभक्त हो जाना भी साधना का एक परिचित लक्षण है। यह अपने आपमें एक आवश्यक क्रिया है; इसका स्वाभाविक परिणाम होना चाहिये एक बृहत्तर यौगिक चेतनामें विकास जो क्षुद्र बाह्य चेतनापर हावी होता जाय और भागवत शक्तिके दबावके आधीन रूपांतरका साधन बनता जाय। किन्तु इसमें भी गलती होनेकी संभावना होती है — विशेषकर कोई बाहरकी शक्ति घुस आ सकती है और पृष्ठभागमें स्थित विशालतर चेतनाके स्थानपर उस बृहत्तर अहंकारको ला बिठा सकती है जो वही होनेका ढोंग रचती है। मनुष्यको इस प्रकारकी घुसपैंठके सामने अपना बचाव करना होगा, क्योंकि साधनापथको बरबाद करनेवाली इस घुसपैंठके कारण बहुतसे साधक दीर्घकाल तक दारुण कष्ट पाते है।

सब मिलकर चैत्य विकासके लिये और शेप प्रकृतिपर उसके शासनके लिये एवं विशालतर प्राणिक चेतनाकी ओर नही किंतु ऊपर स्थित उच्चतर चेतनाकी ओर उद्घाटनके लिये अभीप्सा करो। और अपनेको सभी क्रमिक अवस्थाओंमें श्रीमांके रक्षण और उनकी कृपाके प्रति उद्घाटित करो एवं उन्हें अपनी रक्षा और पथप्रदर्शनके

लिये पुकारो।

*

इस प्रकारकी अभिव्यक्ति (आदेश) योगाभ्यासकी एक विशेष स्थितिमें बहुधा आती ही है। मेरा अनुभव यह है कि यह सर्वोच्च स्रोतमेंसे नहीं आती और इसपर भरोसा नही किया जा सकता एवं जब तक व्यक्तिमें इन आदेशोंसे सूचित चेतना और सत्यसे अधिक ऊंची चेतना और महत्तर सत्यमें प्रवेश करनेका सामर्थ्य न आ जाय तबतक प्रतीक्षा करना अच्छा है। कभी-कभी वे मध्यवर्ती भूमिकाकी उन सत्ताओंसे आते है जो साधकका किसी कार्य या प्रयोजनके लिये उपयोग करना चाहती है। बहुत-से साधक स्वीकार कर लेते हैं, और कुछ,—सब तो कदापि नहीं, कुछ करलेमें सफल भी हो जाते हैं, किन्तु यह प्राय: योगके महत्तर लक्ष्यको बलि देकर ही। अन्य उदाहरणों-मे वे ऐसी सत्ताओंसे आते हैं जो साधना विरोधी होती हैं और महत्वाकाक्षा, महान् कार्य करनेकी भ्रांति या अहंके किसी अन्य रूपको उभाड़कर इसे निरर्थक बना देना चाहती है। प्रत्येक साधकको अपने लिये आप ही निर्णय करना होगा (यदि उसके पथप्रदर्शन-के लिये कोई गुरु न हो तो) कि वह इसे प्रलोभनके रूपमें माने या जीवन व्रतके रूपमें।

*

ये वाणियां कभी कभी व्यक्तिकी अपनी मानसिक रचनाएं होती हैं और कभी बाहरके सुझाव भी होती हैं। उनका भला या बुरा होना इस बातपर आधार रखता है कि वे क्या कहती है और उस प्रदेशपर जहांसे वे आती हैं।

*

कोई भी व्यक्ति 'वाणियां' सुन सकता है — सबसे पहले तो व्यक्तिकी प्रकृतिकी कुछ क्रियाएं है जो वाणीको अपने ऊपर ले लेती हैं — फिर सब प्रकारकी सत्ताएं भी हैं जो मजाकके लिये या एक गंभीर प्रयोजनवश अपनी वाणियोंके साथ आक्रमण करती है।

*

इस अवस्थामें यथार्थ शक्तिकी प्राप्तिकी अपेक्षा प्राप्तिका आभास अधिक होता है। कुछ ऐसी मिश्रित और पर्याप्त सापेक्ष शक्तियां भी हैं — कभी थोड़ीसी प्रभावशाली, कभी बिलकुल प्रभाव रहित — जो यदि भगवान्के नियंत्रणमें रखी जायें अर्थात् समर्पित की जायें तो किसी यथार्थ वस्तुके रूपमें विकसित की जा सकती हैं। किन्तु

अहं बीचमें आकर इन छोटी वस्तुओंको बढ़ा चढ़ाकर उन्हें किसी विशाल और अद्वितीय वस्तुके रूपमें प्रस्तुत करता है एवं समर्पण करनेसे इनकार करता है। तब साधक कोई प्रगति नहीं करता — वह बिना किसी विवेक या समीक्षात्मक बुद्धिके अपनी ही कल्पनाओंके जंगलमें भटकता रहता है, या उन अव्यवस्थित शक्तियोंकी क्रीड़ाको ले आता है जिन्हें न तो वह समझ ही सकता है और न उनपर प्रभुत्व ही पा सकता है।

*

अधिमानसिक शक्तियोंके नीचे प्रवाहित होनेपर उसका सबसे पहला परिणाम यह होता है कि बहुत बार अहं बहुत अधिक बढ जाता है; वह अपनेको प्रबल, लगभग अदम्य (यद्यपि वह वास्तवमें वैसा नही होता), दिव्यभावापन्न और ज्योतिष्मान् अनुभव करता है। इस चीजका कुछ अनुभव होनेके बाद सबसे पहला कर्तव्य है इस अतिरंजित अहंसे छुट्टी पाना। इसके लिये तुम्हें पीछे हट आना चाहिये, उस क्रियाके प्रवाहमें अपनेको वह नही जाने देना चाहिये, बल्कि निरीक्षण करना, समझना, सभी प्रकारके मिश्रणका त्याग करना और विशुद्धतर तथा और भी अधिक विशुद्धतर ज्योति और क्रियाकी अभीप्सा करनी चाहिये। यदि चैत्य पुरुष सामने आ जाय तो केवल तभी यह कार्य पूर्ण रूपसे किया जा सकता है। मन और प्राण, विशेषकर प्राण, इन शक्तियों-को पाकर अपने आहंकारिक प्रयोजनके लिये इन्हें पकड़कर इनका उपयोग करनेकी वृत्तिको मुश्किलसे ही रोक सकते हैं अथवा उच्चतर लक्ष्यकी सेवाके साथ अहंकारकी मांगको मिला देते हैं जिसका वस्तुतः वही मतलब है।

*

सबसे पहले तो व्यक्ति, 'क्ष' की मृत्युके बाद उसके विषयमें उसके शिष्योंने जो कुछ लिखा है उस सबपर, विश्वास करनेको बाध्य नही हैं। इसके अतिरिक्त उसके संबंधमें वे जिन अनुभवोंका वर्णन करते हैं वे मध्यवर्ती भूमिकाओंके है, सर्वोच्च आध्या-त्मिक चेतनाके नही। उसे सर्वोच्च सत्ताके विषयमें जो भी अनुभव हुआ उसे उन्होंने चमत्कारपूर्ण और रोमांचक आख्यानोंके जंगलमें छिपा दिया। यह बहुत संभव है कि उसे एक महान् सिद्धके रूपमें दिखानेकी चेष्टा करके उन्होंने उसे वस्तुतः जो वह था उससे भी नीचे गिरा दिया।

*

सच्चा अंतर्बोध प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको मनकी और प्राणकी भी आहंकारिक स्वेच्छासे, अपनी पसंदगियोंसे, तरंगों, हवाई कल्पनाओं, दृढ़ आग्रहोंसे मुक्त होना होगा और मानसिक एवं प्राणिक अहंकारके उस दबावका उन्मूलन करना होगा जो चेतनाको

उसके अपने दावों और कामनाओंकी सेवापूर्त्तिके काममे लगाता है। अन्यथा ये वस्तुएं वलपूर्वक अन्दर आकर अन्तर्वोध, अन्त:प्रेरणाएं और ऐसी ही अन्य सव वस्तुएं होनेका दावा करेगी। अथवा यदि कोई अन्तर्वोध आये तो भी उन्हें अज्ञानकी इन शक्तियोंके मिश्रण द्वारा तोडा-मोडा और विगाड़ा जा सकता है।

*

नही, समयके ये संकेत और ये आवाजें श्रीमांकी ओरसे आनेवाले आदेश नहीं थे। मैने तुम्हे इस वातके सत्यको वता दिया है; तुम्हें भौतिक जीवनके विषयमें श्रीमां-के द्वारा निर्धारित नियमोंका अनुसरण करना चाहिये, यदि कोई परिवर्तन करना हो तो, या तो वे स्वयं तुम्हें वतायेगी या तुम्हें इसके लिये उनसे अनुमति लेनी होगी। अंदर सुनी गई कोई भी आवाज उनके आदेशसे प्रवल नहीं हो सकती एवं तुम्हारे अपने मनके द्वारा आई कोई भी सूचना तवतक अनिवार्य नही मानी जा सकती जवतक उनके लिये श्रीमाका समर्थन न प्राप्त हो।

तुमने एक ऐसा घपला कर दिया जो प्राय: इस प्रकारके अनुभवके प्रारंभ होनेपर होता है। इसमें संदेह नहीं है कि श्रीमांकी वह शक्ति जो तुम्हारे अन्दर और तुमपर कार्य कर रही थी, और कुछेक अनुभव, जैसे कि अपने हृदयमें श्रीमांकी अनुभूति, पूर्ण-तया यथार्थ थे। किन्तु जव शक्तिका दवाव चेतनापर क्रिया करता है, तो जिस भूमिका पर वह कार्य कर रही होती है उसमें, विभिन्न शक्तियोंकी महान् प्रवृत्तियोंकी क्रीड़ा प्रारंभ हो जाती है, उदाहरणार्थ यदि वह मन हो, तो नानाविध मानसिक शक्तियोंकी, यदि ये प्राणिक हों, तो विविध प्राणिक शक्तियोंकी। इन्हें सच्ची वस्तुओंके रूपमें ग्रहण करना, विना नवुनचके मान लेना और श्रीमांके आदेशके रूपमें अनुसरण करना, निरापद नही है। तुमपर इतनी वलवान् शक्तिका दवाव पड़ा है कि इससे तुम्हारा सिर लम्बे समयतक हिलता रहा है। तुम्हारे सिरका इस प्रकार हिलना इस वातका चिह्न है कि मनमें या कमसे कम मनोमय स्थूल सत्तामें सारी शक्तिको ग्रहण करने और उसे आत्मसात् करनेकी क्षमता नहीं है, यदि उसने ऐसा किया होता, तो सिरमें कोई हलन-चलन न होती, सव कुछ सहज, स्थिर और शांत रहता। किन्तु तुम्हारे मनने इस विशिष्ट घटनाको और फिर ऐसी अन्य घटनाओंपर भी कार्य करना, उनकी व्याख्या करना, इन्हें अपने अर्थ देने लगना तथा एक ऐसी पद्धति वनानेका यत्न करना शुरु किया जिसके द्वारा तुम्हारे आचार-व्यवहारको नियंत्रित किया जा सके और उसे प्रामाणिक माना जा सके तथा श्रीमांके आदेशके रूपमें प्रस्तुत किया जा सके। शक्तिकी क्रिया एक तथ्य थी, तुमने उसके आने जानेके विवरणकी जो व्याख्या की वह एक मानसिक रचना थी और उसका कोई वहुत वास्तविक मूल्य नही था।

यदि तुम इसे ध्यानपूर्वक देखो — जैसे कि मैंने तुम्हारे द्वारा उल्लिखित विवरण-को देखा है — तो तुम देखोगे कि ये सुझाव वहुत अस्थिर और परिवर्तनशील ढंगके हैं कभी एक वात तो कभी दूसरी; केवल तुम्हारा मन अपनेको परिवर्त्तनोंके

अनुकूल बना लेता था, अपनी व्याख्याको उनके अनुकूल बिठा लेता था और एक पद्धतिमें संगति बनाये रखनेका यत्न करता था। किन्तु यथार्थमें सब कुछ अनियमित और अस्त-व्यस्त था और इसका झुकाव तुम्हारे कर्म और व्यवहारको अनियमित एवं अस्तव्यस्त बनानेकी ओर था। सच्चा अन्तर्बोध ऐसा नही करेगा, कमसे कम यह सतुलन, संवाद और व्यवस्थाकी ओर प्रवृत्त तो होगा ही।

कालके संकेतके संबंधमें तुम अन्तर्बोधकी बात कहते हो। 'काल' का एक ऐसा अन्तर्बोध भी है जिसका संबंध मनसे नहीं होता और जब वह कार्य करता है तो सदैव एक-एक मिनटतक और जरूरत पड़नेपर एक-एक सेकन्डतक सही होता है; परन्तु यह वैसा अन्तर्बोध नही था — क्योंकि यह हमेशा सही नही होता; वह शायद कितनी ही बार सही निकला, फिर यह भ्रामक बनने लगा, इसके कारण तुम्हें प्रणामके लिये पहुँचनेमें विलम्ब हो गया; यह दोपहरके भोजनमें भी विलबकी ओर धकेलने लगा, भोजनालयके कार्यकर्ताओंकी सुविधाके साथ संघर्ष करवाने लगा; यह शामके लिये भी तुम्हें विलंबकी दिशामें धकेलने लगा और तुम्हें पूरी तरह मझधारमें छोड़ गया, जिससे कि अन्ततः तुम्हें शामको भोजन न मिला। किन्तु तुम्हारा मन अपनी निजी रचनाओंके साथ आसक्त हो गया था और इन अव्यवस्थित सनकोंको उचित ठहरानेका, इनका कुछ अर्थ लगानेका और श्रीमांकी (बहुत बदल सकनेवाली) इच्छा द्वारा उनकी व्याख्या करनेका यत्न कर रहा था। योगके अनुभवी लोगोंको यह वस्तु बहुत परचित है और इसका अर्थ है कि ये वस्तुएं अंतर्बोध नही थी; किन्तु मनकी कृतिया तथा मानसिक रचनाएं थी। यदि इसमें जरा भी अन्तर्बोध था तो, वह सम्बोधिमनकी क्रिया थी, पर हमें सम्बोधिमन जो कुछ प्रदान करता है वह संभावनाओंका अन्तर्बोध होता है, उनमेंसे कुछ तो अपनेको चरितार्थ कर लेती है कुछ नही करती या केवल आंशिक रूपसे करती है, अन्य बिलकुल असफल हो जाती हैं। इन मानसिक रचनाओंके पीछे ऐसी शक्तियां होती हैं जो अपनेको चरितार्थ करना चाहती है और मनुष्योंको अपने चरितार्थ करनेके उपकरणके रूपमें उपयोगमें लानेकी चेष्टा करती हैं। यह आवश्यक नही कि ये शक्तियां विरोधी ही हों, परन्तु वे अपनी चतुराई दिखानेके लिये क्रीड़ा करती हैं, वे चाहती हैं शासन करना, अपनेको उपयोगमें लाना, अपनेको उचित सिद्ध करना, अपने मनचाहे परिणामोंको उत्पन्न करना। यदि वे श्रीमांकी अनुमति प्राप्त करके या अपनेको श्रीमांके आदेशोंके रूपमें प्रमाणित करके ऐसा कर सकें तो करनेको तैयार रहती है; जब उन्हें श्रीमांकी स्वीकृति नही मिल सकती, तो वे अपनेको सूक्ष्म अगोचर वैश्व रूपमें या सान्निध्यमें श्रीमांकी ही स्वीकृति के रूपमें प्रस्तुत करनेको तैयार रहती है। वे कुछ लोगोंको इस बातके लिये फुसला लेती है कि वे अन्तरस्थ श्रीमां जो उन्हें सदैव वही बात कहती है जो वे सुनना चाहते है, और वह देहधारी माताजी जिसे वे अपने अनुकूल नही पाते, जो उनको रोकती है, उन-की भ्रांति और गलतियोंको ठीक करती हैं — इन दोनोंके बीचमें वे भेद ही नही बल्कि विरोध भी खड़ा कर दें। इस अवस्थामें मानसिक भूलोंका लाभ उठाने-वाले एक ऐसे मिथ्यात्वके अधिक गंभीर आक्रमणका, एक ऐसी विरोधी प्राणिक शक्ति-

के अन्दर आनेका खतरा होता है, जो या तो श्रीमांके नामका उपयोग करते हुए उनका स्थान लेनेकी चेष्टा करती है अथवा उनके विरुद्ध विद्रोह पैदा करती हैं। प्रणाममें न आनेके लिये मन मनाना, अपने अनुभवोंसे उन्हें अपरिचित रखना और उनके संशोधन-को न मानना, उनकी प्रकट इच्छाके साथ जीवनको संगत न करना, ये सब इस अवस्थामें खतरेके चिह्न हैं — क्योंकि इसका अर्थ यह है कि बलपूर्वक घुसपैंठ करनेवाली शक्ति बन्धनमुक्त होकर काम करनेके लिये एक स्थान चाहती है — और यही कारण था कि विरोधी मायाके खतरेकी ओर तुम्हारा ध्यान खीचनेके लिये मैंने अपनेको बाध्य अनुभव किया।

जहांतक वाणियोंका प्रश्न है, वे बहुतसी होती हैं; प्रत्येक शक्ति मानसिक, प्राणिक और स्थूल भूमिकाकी प्रत्येक क्रिया अपने आपको वाणीसे सज्जकर सकती है। तुम्हारी वाणियां परस्पर मेल भी नहीं खाती थी एक वाणी एक बात कहती थी, जब कि वह चरितार्थ नही होती थी, तो दूसरी उससे कोई असंगत बात कहती थी; किन्तु तुम अपनी मानसिक रचनाके साथ चिपटे हुए थे और फिर भी उसका अनुसरण करनेका यत्न कर रहे थे।

यह सब इसलिये होता है कि साधनाके दबावकी उत्कटताओंके कारण मन और प्राण बहुत सक्रिय हो उठते हैं। इसलिये सबसे पहले यह जरूरी है कि अनुभवोंके या उनके फलके पीछे उत्सुकता पूर्वक न दौड़ते हुए, किंतु उनका अवलोकन और निरीक्षण करते हुए सदैव अधिकाधिक प्रकाशके लिये उत्तरोत्तर विस्तृत, उद्घाटित और अचंचल होकर एवं विवेक पूर्वक ग्रहणशील होनेकी चेष्टा करते हुए अपनी साधनाको महान् स्थिरता, महान् समतापर प्रतिष्ठित कर लिया जाय। यदि चैत्य पुरुष सदैव अग्रभागमें रहे तो ये कठिनाइया बहुत ही कम हो जाती है, क्योंकि यहां एक ऐसा आलोक होता है जो मन और प्राणमें नही होता, और दिव्य अदिव्यका, सत्य और मिथ्याका, नकली और असली पथ प्रदर्शनका एक स्वयंस्फूर्त्त और स्वाभाविक चैत्य-बोध होता है। इस कारण भी मैं इस बातपर आग्रह रखता हूँ कि तुम अपने अनुभवोंको हमें सूचित करो, क्योंकि, अन्य वस्तुओंके अतिरिक्त, हमें इन वस्तुओंका ज्ञान और अनुभव है और हम भूलकी किसी भी प्रवृत्तिपर तुरन्त रोक लगा सकते हैं।

तुम अपनेको श्रीमांकी शक्तिके प्रति उद्घाटित रखो, किन्तु सब शक्तियोंपर विश्वास न करो। आगे बढ़नेपर यदि तुम सीधा चलते रहो तो एक ऐसा काल आयेगा जब चैत्य अधिक प्रबलतापूर्वक सक्रिय हो जायेगा और ऊपरका प्रकाश अधिक विशुद्धि और शक्तिके साथ इस तरह व्याप्त हो जायेगा कि मानसिक निर्माणोंका और प्राणिक रचनाओंका सच्चे अनुभवके साथ मिश्रण घट जायेगा। जैसे कि मैंने तुमसे कहा है, ये अतिमानसिक शक्तियां नही हैं और न ही हो सकती हैं, यह तैयारी की क्रिया है जो केवल वस्तुओंको भावी, योगसिद्धिके लिये तैयार कर रही है।

*

इस आश्रमके लोग यह कैसे निर्णय कर सकते हैं कि किसी व्यक्तिने योगमें उन्नति की है या नही ? वे बाह्य प्रतीतियोंके आधारपर निर्णय करते हैं — यदि कोई साधक एकांतमें चला जाता है, ध्यानमें वहुत अधिक वैठता है, वाणियां और अनुभव उपलब्ध करता है आदि आदि तो वे सोचते हैं कि वह महान् साधक हैं ! 'क्ष' सदैव ही एक वहुत निर्बल आधार था। उसे प्राथमिक ढंगके कुछ थोड़ेसे अस्तव्यस्त और अनिश्चित अनुभव हुए थे, प्रत्येक कदमपर वह परेशानीमें पड़ जाता था और वगलकी किसी पगडंडीको पकड़ लेता था तथा हमें उसे ठीक राहपर खींचकर लाना पड़ता था। अन्तमें उसे ऐसी वाणियां और अन्त:प्रेरणा उपलब्ध होने लगी जिसके विषयमें उसने घोषणा की कि वे हमारी हैं — मैंने उसे गंभीर चेतावनी देते हुए अनेक पत्र लिखे और समझाया किन्तु उसने सुननेसे इनकार कर दिया, वह अपनी मिथ्या वाणियों और अन्त:-प्रेरणाओंके साथ वहुत अधिक आसक्त हो गया था और, हमारी झिड़की और हमारे किये हुए भूल सुधारसे वचनेके लिये उसने हमें लिखना या सूचना देना ही वन्द कर दिया। इस प्रकार वह पूरी तरह ही पथभ्रष्ट हो गया और अन्तमें विरोधी वन गया। तुम इस वातको मेरे नामसे ऐसे किसी भी व्यक्तिको कह सकते हो जो तुम्हारी तरह इस विषयमें उलझनमें पड़ा हो।

*

मेरा आशय उससे है जो क्ष के और य, ज जैसे तथा वैसे ही अन्य लोगोंके साथ भी हुआ है। उच्चतर अनुभव किसीका नुकसान नहीं करते — प्रश्न यह है कि उच्च-तरका अर्थ क्या है ? उदाहरणके लिये य समझता था कि उसके अनुभव स्वयं सर्वोच्च सत्य थे — मैंने उससे कहा कि वे सव काल्पनिक थे किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि वह मुझसे वहुत गुस्से हो गया। कुछ ऊंचे दर्जेके नकली अनुभव भी होते हैं जव कि मन या प्राण एक विचार या सुझावको पकड़ लेता है और उसे किसी अनुभूतिमें वदल देता है, तथा जव शक्तियां दौड़ पड़ती है और उल्लास एवं वल इत्यादिका अनुभव होता है। सव प्रकारके "आदेश", "अन्तर्दर्शन" शायद "वाणियां" भी सामने आती हैं। इन वाणियोंसे अधिक खतरनाक कोई वस्तु नहीं — जव मैं किसी व्यक्तिसे सुनता हूँ कि उसने वाणी सुनी है, तो मैं हमेशा ही परेशानी अनुभव करता हूँ, यद्यपि असली और सहायक वाणियां भी हो सकती हैं, और मुझे यह कहनेका मन होता है "कृपा करके वाणियोंकी वात न करो,—मौन, मौन और एक स्पष्ट विवेकशील मस्तिष्क वनाये रखो"। मैं इन नकली अनुभवोंके, मिथ्या अन्त:प्रेरणाओंके और असत्य वाणि-योंके इस प्रदेशके विषयमें अपने मध्यवर्ती प्रदेश सम्वन्धी पत्रमें उल्लेख कर चुका हूँ जिनमें सैंकड़ों योगी प्रवेश करते हैं और कुछ तो कभी वाहर ही नहीं निकलते। यदि मनुष्यका मस्तिष्क शक्तिशाली और स्पष्ट हो और उसमें एक विशेष प्रकारकी आध्या-त्मिक संदेहवादिता हो तो, वह इसे पार कर सकता है और करता भी है – परंतु य या ज जैसे विवेक रहित व्यक्ति रास्ता भटक जाते हैं। विशेष करके अहंकार अन्दर घुस

आता है और उन्हें उनकी भव्य(?)अवस्यासे इतना अधिक आसक्त कर देता है कि वे बाहर निकलनेसे एकदम इनकार कर देते है। उधर एकांतमें चले जानेसे इस प्रकारकी क्रियाको खुला अवसर मिल जाता है, इसके कारण व्यक्ति पूरी तरहसे अपनी आंतर-सत्तामे निवास करने लगता है और वहां किसी प्रकारका नियंत्रण नहीं होता सिवाय उस नियंत्रणके जिसे व्यक्तिका अपना स्वाभाविक विवेक ला सकता है — और यदि वह बलवान् न हुआ तो? नि.संदेश अहंकार इन आंतरिक मिथ्यात्वोंका दृढ़ अवलम्ब है, किन्तु और सहारे भी है। काम करना और अन्य लोगोंसे मिलना — और इसके परिणाम स्वरूप वहिर्गत जगत्के साथ हमारा जो सम्पर्क होता है वह — इन चीजोंके विरोधमे कोई अन्तिम प्रतिरक्षा नही है, किंतु यह एक बचाव अवश्य है और एक प्रतिबन्धका और एक प्रकारके दोष-संशोधक संतुलनका काम देता है। मैंने यह देखा है कि जो लोग इस मध्यवर्ती प्रदेशमें प्रवेश करते है साधारणतः वे निवृत्ति और एकांतकी ओर अभिमुख हो जाते है और उसके लिये आग्रह रखते है। इन्ही कारणोंसे मैं साधारणत. यह पसन्द करता हू कि साधकोंको पूर्ण निवृत्ति नहीं ग्रहण करनी चाहिये किन्तु निश्चलता और क्रियाके बीचमें, एक विशेष संतुलन रखना चाहिये, आंतरिक और बाह्य दोनो वृत्तियोंको साथ साथ रखना चाहिये।

*

जहांतक खतरोंका प्रश्न है इन एकांतवासोंमें (अहंकारके सिवाय) एकमात्र असली खतरा है आत्मगत प्रभावों और कल्पनाओंका शिकार होना और सत्य वस्तु परसे उस पकड़का हट जाना जिसे वनाये रखनेमें कर्म और अन्य लोगोंसे संपर्क सहायता देते हैं। निःसंदेह संपर्क कायम रखते हुए भी व्यक्ति पकड़ खो सकता है जैसा कि 'क्ष' और अन्य लोगोंके साथ हुआ। किन्तु मैं समझता हूँ कि तुम्हारा मस्तिष्क इतना पर्याप्त ठंडा और विवेचनशील है कि तुम इन खतरोसे बचे रह सकते हो।

*

एक भूमिकासे दूसरी भूमिकामें जानेके लिये एकांतवास आवश्यक नहीं है। यह केवल कुछ विरले व्यक्तियोंके लिये और किन्ही विशेष प्रकृतिके लोगोंके लिये थोड़े समयके लिये ही आवश्यक होता है।

*

तुम यदि एक सप्ताहके लिये, जैसा कि तुमने प्रस्ताव किया है, यह (एकांतवास) करो तो हमे कोई आपत्ति नहीं। मेरी समझमें यह एकांतवास नहीं है, किन्तु सामाजिक भेटोंका बन्द कर देना है। एकांतवासके संबंधमें मेरी आपत्ति यह है कि इसके कारण

बहुतसे लोगोंका "स्वास्थ्य विकृत" हो गया या वे मिथ्या प्राणिक अनुभवोंके प्रदेशमें भटक गये; दूसरे यह कि पूर्ण एकांतवास आध्यात्मिक जीवनके लिये आवश्यक नही है। तथापि 'क्ष' जैसे लोगोंके लिये यह दूसरी वस्तु है, जो जन्मसे ही इसी पद्धतिमें पले हैं या जिन्हें कमसे कम इससे पूर्ण प्रशिक्षण मिला है। "प्रचार पर प्रतिवन्ध" विलकुल दूसरी वात है। अथवा एकांतके योग्य होना और एकांतका आनन्द लेना साधनाके लिये सदैव सहायक हो सकता है, और आंतरिक एकांतकी शक्ति योगीके लिये सहज होती है।

हम तुम्हें अपनी सहायता देगे और आशा करते है कि तुम सफल होगे — इसके द्वारा कमसे कम तुम भविष्यमें अपनी इच्छानुसार एकातवासके लिये एक पूर्वाभ्यास तो स्थापित कर ही लोगे।

*

निःसंदेह एकांतवासका मही उद्देश्य है, आत्मामें निवास करना और आत्मामें निवास उन उच्चतर अनुभूतियोंको लाता है जिन्हें स्पष्ट ही सहायक होना चाहिये, हानिकारक नही। मैंने जो लिखा था वह केवल यह समझानेके लिये था कि एकदम पूर्ण एकांतवासके खतरेसे मेरा क्या आशय था और वह क्ष, य और अन्य लोगोके लिये हानिकारक क्यों सिद्ध हुआ। ज जैसे कुछ लोग भी हैं जिन्होंने उससे विशुद्ध लाभ प्राप्त किया। यह सवका सव व्यक्ति की अपनी प्रकृतिपर और निश्चल-नीरवताके समय अपनी वृत्ति, लक्ष्य एवं आंतरिक स्थितिपर आधार रखता है।

*

एकांतवासका आवेग अन्तरमें एकाग्र होनेकी किसी प्रेरणासे उत्पन्न होता है — किंतु इस प्रेरणाका कारण विभिन्न व्यक्तियोंमें विभिन्न होता है। कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें माताजीके प्रभावसे (प्रणाम, ध्यान आदिसे) अपनेको अलग करनेकी और अपनी तरंगोंका अनुसरण करनेकी इच्छा पैदा हुई, जैसे अ, व में, शायद श्रेष्ठताकी इस भावनाके साथ भी कि "मेरे जैसे महान् योगीके लिये इन चीजोंकी आवश्यकता नहीं"। अन्य व्यक्तियोंमें भी अपनेको पृथक् कर लेनेकी एक सुस्पष्ट इच्छा उत्पन्न हुई, किन्तु ऐसा वहीं हुआ जहां मस्तिष्क उद्भ्रात हो गया था जैसे स में, या कोई गलत प्रभाव सक्रिय था जैसे द में। मै समझता हूँ कि इनकी ओर ही इनिर्देश कर रहा था। किन्तु अन्य लोगोंने केवल एकाग्रताकी कामना की है और ये चाहा है कि वे अपनेको वहिर्मुखतामें न खपा दे जैसे कि फ, ग ने अपने एकांतवासके समय किया। तो एक ही निर्णयके द्वारा सवका निपटारा नहीं किया जा सकता।

*

प्रगाढ़ शांतिमें निवास करते समय मौन रहना या लोगोंसे न मिलना एक बात अवश्य है — ऐसा किया जा सकता है। अन्य समयोंमें भी जीवनके एक नियमके रूपमें एकांतमें रहना मुझे आवश्यक नही प्रतीत होता — यह केवल उन्हीं लोगोंके लिये निरापद है जो बाह्य यथार्थताकी अपनी पकड़को खोये बिना पूरी तरह अन्दर निवास कर सकते हैं। यदि व्यक्तिमें सदैव शांतिकी एक ठोस स्थिति रहे तो वह ऐसा कर सकता है या फिर वह ऐसा तब कर सकता है यदि उसका मन स्पष्ट संतुलित और विवेकशील हो जिसमे सतत अनुभव होते रहें और उन्हें वह उनका अपना समुचित स्थान दे सके। किंतु कुछ लोग इन आंतर अनुभवोंमें ग्रस्त हो जाते हैं, उनमें वे खो ही जाते है और उनके साथ तीव्रतासे आसक्त हो जाते हैं एवं यह आंतरिक जीवन ही उनके लिये एकमात्र यथार्थता बन जाता है जिसे बाह्य जीवन संतुलित और अपने नियंत्रण और जांचके आधीन नही रख सकता — इसमें खतरा होता है। और फिर यदि व्यक्ति एक ऐसे स्थिर आंतरिक संतुलन और सतत अनुभवकी, जिसपर उसका विवेक-शील नियंत्रण होता है, सहायताके बिना एकांतमें रहे, तो प्राण रिक्तताके कालोंमें संघर्षो, कठिनाइयों, बेचैनियों, सब प्रकारके सुझावों एवं एक विक्षुब्ध और कलुषित अवस्थाको लाते हुए उभर सकता है — बल्कि इसमें समय बितानेकी अपेक्षा जैसा कि कुछ लोग करते हैं, दूसरे लोगोंके साथ मिलना या किसी अन्य प्रकारसे अपनेको स्वस्थ ढंगसे बहिर्मुख करना अधिक अच्छा है।

*

बहुत अधिक संवेदनशील होना और किसी संपर्कसे विचलित हो जाना एक अति है; किन्तु बहुत सारे संबंध रखना और हमेशा अपने आपको बिखेरते रहना आंतर-सत्तामें विकसित एवं दृढ़ होनेसे रोकता है क्योंकि साधारण व्यक्ति हमेशा ही साधारण बाह्य चेतनाकी ओर खींचा जा रहा है।

*

लोगोंके साथके अपने संबंधोंमें, सरल और स्वाभाविक ढंगसे बरतो। उन नाना प्रकारकी झिझकोंसे जो कि एक निर्बलता है, मुक्त हो जाओ। महत्वपूर्ण बात है स्थिर और आसक्ति रहित सच्ची आंतरिक वृत्तिको धारण करना। यदि तुम ऐसा करो तो सब ब्यौरे ऐसे तुच्छ विषय बन जाते है जो अपनेको सुविधा और सामान्य बुद्धि-के अनुसार व्यवस्थित कर लेते हैं।

*

अपनेको बाह्य संबंधोंसे बिलकुल अलग करके तुम भला सच्चे बाह्य संबंधोंको

कैसे खोज पाओगे ? और केवल आंतरिक जीवनमें रहते हुए, वाह्य संपर्कके द्वारा रूपांतर या एकताको कसौटीपर कसे विना और वाह्य कर्म तथा जीवनकी अग्नि-परीक्षाओंमेंसे गुजरे विना तुम अपने को रूपांतरित और एकीभूत करनेका प्रस्ताव कैसे करते हो ? पूर्णताके अन्दर केवल निवृत्त आंतरिक जीवनका ही नही किन्तु वाह्य कर्म और संबंधोंका भी समावेश होता है। रूपांतर एवं एकीकरण केवल तभी हो सकता है जव प्राणिक अहं अपनी मांगों और दावोंको तथा उनके अतृप्त रहनेपर उत्पन्न होनेवाली प्रतिक्रियाओंको छोड़ दे, दूसरा कोई रास्ता नही।

*

मैंने तुमसे कहा था कि तुम्हें अपने मनसे निर्णय करनेका प्रयत्न करना है। तुम लगातार दुहराये जा रहे हो 'मुझे निर्णय करना होगा। मुझे निर्णय करना होगा। मुझे निर्णय लेना होगा। मुझे निश्चय करना होगा।" तुम हमेशा इस मुझे, मुझे, मुझे निर्णय करना होगा को दुहराते रहे हो मानों तुम मुझसे अथवा माताजीसे अधिक अच्छा जानते हो ! "मुझे समझना होगा, मुझे निर्णय करना होगा !" और हमेशा ही तुम यह पाते हो कि तुम्हारा मन कोई भी निर्णय नही कर सकता और कुछ भी नही समझ सकता। और फिर भी तुम उसी असत्यको दुहराये जाते हो।

मैं तुम्हें एकवात फिर साफ कहता हूँ कि तुम्हारे सारे तथा कथित अनुभव कौड़ी कीमतके नहीं, निरे प्राणिक अज्ञान और भ्रांति हैं। एंकमात्र जिस अनुभवकी तुम्हें आवश्यकता है वह है माताजीकी उपस्थिति, माताजीका प्रकाश, माताजीकी शक्ति और वह परिवर्तन जिसे वे तुममें लाती है।

तुम्हें अन्य सव प्रभावोंको फेंक देना होगा और एकमात्र माताजीके प्रभावकी ओर ही अपनेको खोलना होगा।

तुम्हें वाहरकी ओर प्रवाहित होती हुई शक्तियोंके संवंधमें और अपनी शक्तियोंके तथा दूसरोंकी शक्तियोंके विषयमें भी और अधिक नही विचारना और बोलना है। एकमात्र जिस शक्तिका तुम्हें अनुभव करना है वह है माताजीकी शक्तिका अवतरण, अन्तःप्रवाह और उसकी क्रिया।

ये ही थे मेरे निर्देश और जवतक तुमने उनका पालन किया तवतक तुम तेजीसे प्रगति करते रहे।

इन सव असंवद्ध मिथ्या अनुभवोंको दूर फेंक दो और एकमात्र उस नियमकी ओर लौट जाओ जो मैंने तुम्हें दिया था। माताजीकी उपस्थिति, प्रभाव, ज्योति और शक्तिकी ओर खुल जाओ — वाकी प्रत्येक वस्तुको अस्वीकार करो। केवल इसी प्रकार तुम (इस अस्तव्यस्तताके स्थानपर) स्पष्टता, शांति, चैत्य संवंधी प्रत्यक्ष-वोध और साधनामें प्रगतिको फिरसे प्राप्त कर लोगे।

*

पानेका, और उसके स्थानपर "अन्त:प्रेरणाएं और अन्तर्बोधों" को ला बिठानेका प्रयत्न किया है।

तुमने शरीर, स्थूलसत्ता और उसकी क्रियाओंके प्रति एक अरुचि और जुगुप्साको पैदा किया है; और इसलिये तुम साधारण स्थूल चेतनामें नीचे उतरना और परिवर्तनके लिये आवश्यक क्रियाओंको धैर्यपूर्वक करना नही चाहते। तुम्हारे साथ केवल एक ऐसी प्राणिक चेतना रह गई है जो किसी समय एक महान् शक्ति और आनन्दका अनुभव करती है और दूसरे समय बुरे विषादोंमें पतित हो जाती है क्योंकि इसे न तो ऊपरसे मनका समर्थन प्राप्त होता है और न नीचेसे शरीरका।

यदि तुम यथार्थ रूपांतर चाहते हो, तो तुम्हें इस सबको पूर्णतया वदलना होगा।

प्राणिक उल्लासके खो जानेका कुछ ख्याल नही करना होगा; और स्पष्ट व्यावहारिक मनके साथ तथा वहांसे भौतिक अवस्थाओ एवं यथार्थताओंको सामान्य स्थूल चेतनामें देखनेकी वातको भी मनमें नहीं लाना चाहिये। तुम्हें उसे पहले स्वीकार करना होगा, अन्यथा तुम उन्हें कभी भी परिवर्तित न कर सकोगे और न कभी पूर्ण ही वना सकोगे।

तुम्हें एक अचंचल मन और बुद्धिको पुनः प्राप्त करना होगा। यदि तुम एकवार इन चीजोंको दृढतापूर्वक कर सको, तो महत्तर सत्य और चेतना अपने समुचित समयमें, ठीक ढंगसे और सही अवस्थाओंमें लौटकर आ सकती हैं।

*

सफल होनेके लिये तुम्हारे अन्दर संकल्प और कर्म करनेका पूरा वल होना चाहिये।

अपने शरीरको ही सवल वनाना पर्याप्त नहीं है, तुम्हें अपने मनको भी वलशाली वनाना होगा; तुम्हें पाप संवंधी अपने विचारोंसे, यौनवृत्तिके सुझावोंका इसप्रकार चिन्तन करनेसे और सव जगह अंधकारमय प्राण-शक्तियोंको देखनेकी इस आदतसे पूरी तरह मुक्त होना होगा। तुमने जिन लोगोंका वर्णन किया है वे बिलकुल साभान्य मानव प्राणी है, वे अशुभ आत्मा या शक्तियां नहीं हैं। उनके प्रति तुम्हारी वृत्ति न आसक्ति पूर्ण होनी चाहिये, न ही भय, विभीषिका और जुगुप्साभरी किन्तु विलकुल निर्लिप्त होनी चाहिये।

अन्त:प्रेरणा पानेका यत्न न करो, परन्तु स्थिर मन और अटल संकल्पके साथ, हमारे निर्देशानुसार अचंचल रहकर और वुद्धि पूर्वक काम करो। यहां आकर हमारे पैरोंमे पड़नेके मोहसे अपनेको मुक्त करो। यह तथा अन्य सुझाव और वाणियां अन्तःप्रेरणाये नही हैं परन्तु महज ऐसी वस्तुएं हैं जिसकी सृष्टि तुम्हारे अपने मनने और उसके आवेगोंने की। तुम्हारी सुरक्षा इसीमें है कि तुम निश्चल रहो और जिस वस्तुको हम तुम्हे शान्तिपूर्वक और आग्रहके साथ कहते हैं उसे पूरे भरोसेके साथ करते रहो, जवतक तुम पूरी तरह अपनी पहलेवाली स्थितिको प्राप्त न कर लो।

*

"आर्य" को पढ़ना और उसका अनुवाद करना तुम्हारे लिये बहुत अच्छा होगा। ..मैं तुम्हें "(Essays on The Gita)" ("गीता निबन्ध") प्रथम भागकी एक प्रति भेजूँगा। इस पुस्तकको पढ़ना शुरू करना और इसका अनुवाद करना तुम्हारे लिये सर्वोत्तम होगा। प्रतिदिन केवल थोड़ासा अनुवाद करनेकी आदत डालो और उसे खूब ध्यानसे करो। जल्दीमें मत लिखो; अपनी लिखी वस्तुको अनेक बार पढ़ जाओ और देखो कि यह मूल वस्तुके भावको ठीक ठीक प्रस्तुत करती है या नहीं और भाषामें सुधार किया जा सकता है या नहीं। मानसिक और भौतिक भूमिकाकी सभी वस्तुओंके विषयोंमें फिलहाल तुम्हारा यह उद्देश्य होना चाहिये कि तुम बहुत जल्दी जल्दी समाप्त करनेकी बात न सोचो, बल्कि प्रत्येक वस्तुको ध्यानपूर्वक, पूर्णताके साथ और ठीक ढंगसे करो।

हम चाहते है कि जिन स्थूल-प्राणिक आवेगों, अर्थात् भोजन, पैसा, यौन आवेगों आदिके संबंधमें तुम शिकायत करते हो उनके संबंधमें अबसे तुम समुचित वृत्तिको समझ जाओ और इसे बनाये रखो। तुम अबतक उस नैतिक और तामसिक वृत्तिको अपनाये हुए थे जो बिलकुल गलत है और वह तुम्हें प्रकृतिकी इन शक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त करनेमें सहायता नहीं दे सकती।

भोजनकी बात यह है कि यह शरीरकी एक जरूरत है और तुम्हें शरीरको स्वस्थ एवं बलवान बनाये रखनेके लिये इसका उपयोग करना होगा। तुम्हें भोजनकी आसक्तिके स्थानपर भोजनके आनन्दको स्थापित करना होगा। यदि तुम्हारे पास यह आनन्द हो और तुम्हें स्वाद आदिका सच्चा ज्ञान तथा भोजनके ठीक उपयोगका ज्ञान हो, तो कोई आसक्ति होनेपर भी वह कुछ समयके बाद स्वयं ही समाप्त हो जायेगी।

जहांतक पैसेका प्रश्न है, वह भी जीवन और कर्मके लिये आवश्यक है। धन जीवनकी एक महान् शक्तिका प्रतिनिधित्व करता है जिसे भगवान्‌के कार्योंके लिये जीतना होगा। इसलिये तुम्हें इससे कोई लाग-लपेट और घृणा या भय भी नहीं होना चाहिये।

जहांतक यौन-आवेगका संबंध है, इससे भी तुम्हें कोई नैतिक भय या विशुद्धिवादी अथवा तामसिक विरक्ति नहीं होनी चाहिये। यह भी जीवनकी एक शक्ति है और जैसे तुम्हें इस शक्तिके वर्तमान रूपको (अर्थात् भौतिक क्रियाको) हटाना है वैसे ही स्वयं इस शक्तिपर भी अधिकार पाना और इसे रूपांतरित करना होगा। जिन लोगोंकी प्राणिक प्रकृति बलवान् होती है उनमें यह यौन वृत्ति प्राय: सबसे अधिक बलशाली होती है और इस बलवान् प्राणिक प्रकृतिको दिव्य जीवनके भौतिक क्षेत्रमें चरितार्थ करनेके लिये एक महान् उपकरण बनाया जा सकता है। यदि यौन आवेग आये तो दु:खी और विचलित न हो किंतु इसे स्थिर होकर देखो, इसे शांत कर लो, इससे संबंध रखनेवाले सब गलत सुझावोंको अस्वीकार करो एवं उच्चतर चेतनाकी प्रतीक्षा करो ताकि वह आकर इसे सच्ची शक्ति और आनन्दमें रूपांतरित कर दे।

हमने जो बातें कही हैं वे सब स्थूल चेतनामें स्थित तुम्हारी सत्ताके लिये और स्थूल जीवनके साथ सच्चे संबंधके लिये जरूरी हैं।

VI

वैश्व चेतना विशेषकर अधिमानससे ही संबद्ध नहीं है; ये सब भूमिकाओंको अपनेमें समाये हुए है।

इस समय मनुष्य उपरितलीय व्यक्तिगत चेतनामें बन्द है और जगत्‌को (या बल्कि इसके उपरितलको) केवल अपने बाह्य मन और इन्द्रियोंद्वारा और जगत्‌के साथ उनके संबंधोंकी व्याख्या करके ही जानता है। योगके द्वारा उसके अन्दर एक ऐसी चेतना खुल सकती है जो जगत्‌की चेतनाके साथ एक हो जाती है, वह विराट् पुरुष, वैश्व स्थितियों, वैश्व शक्ति और बल, वैश्व मन, प्राण और जडतत्वके विषयमें सीधा सचेतन हो जाता है और इन वस्तुओंके साथ सचेतन संबंध रखते हुए निवास कर सकता है। तब यह कहा जाता है कि उसने वैश्व चेतना प्राप्त कर ली है।

*

अधिमानस संपूर्ण वैश्व चेतनाका आधार है, किंतु स्वयं वैश्व चेतनाका अनुभव केवल मनसे ऊपर ही नहीं परंतु मन, प्राण और शरीरमें, किसी भी भूमिकापर किया जा सकता है।

*

वैश्व चेतनाका दो पक्ष हैं — पहला है साधारण वैश्व शक्तियों और इन शक्तियोंके पीछे रहनेवाली सत्ताओंके साथ संपर्क और उनका प्रत्यक्ष बोध, इसे ही मैं वैश्व-अज्ञान कहता हूँ — दूसरा वैश्व सत्योंका प्रत्यक्ष बोध, एकमेव वैश्व सत्ताका, एकमेव वैश्व शक्तिका "सर्वमें स्थित एक और एकमें स्थित सर्व" के सभी वेदांतिक सत्योंका, वैश्व सत्तामें अवस्थित भगवान्‌के सभी विभिन्न पक्षोंका साक्षात्कार और इसमें अन्य न जाने कितनी ही वस्तुएं आ सकती हैं जो साक्षात्कार और ज्ञानमें अवश्य मदद करती हैं — बशर्ते उन्हें ठीक ढंगसे लिया जाय। तथापि इस सबके साथ सर्वोत्तम ढंगसे तभी व्यवहार किया जा सकता है जब कि यह वस्तुतः सचमुच सामने आये। यह सदा विशालता आनेके साथ ही आ जाता हो यह बात नहीं है — बहुतसे लोग इस चेतनाकी विशालतामेंसे होकर वहां पहुँचते हैं जो विश्वके परे है और वैश्व चेतनाको बादमें ही व्यौरेवार हाथमें लेते हैं — और शायद यही सबसे अधिक निरापद क्रम है।

*

जब मनुष्यके अन्दर वैश्व चेतना होती है तो वह विश्वात्माको अपनी ही आत्माके रूपमें अनुभव कर सकता है, अपनेको विश्वकी अन्य सत्ताओंके साथ एक अनुभव

कर सकता है, व्यक्ति प्रकृतिकी सब शक्तियोंको अपने अन्दर क्रिया करते हुए और सब आत्माओंको अपनी आत्मा अनुभव कर सकता है।

इसका कोई कारण नहीं है सिवाय इसके कि यह ऐसा है, क्योंकि सब कुछ वही एक है।

*

सब कुछ परमात्मामें स्थित है; विश्वात्माके साथ तादात्म्य होनेपर सब कुछ तुम्हारे अन्दर विद्यमान होता है। और पिंड भी ब्रह्माण्डको प्रतिमूर्त्त करता है — इस प्रकार 'सर्व' प्रत्येकमें विद्यमान है, यद्यपि सब ऊपरितलीय चेतनामें व्यक्त नहीं होता (और न हो ही सकता है)।

*

प्रत्येक वस्तु पुरुषमें ही कार्य करती है। प्रकृतिकी सारी लीला पुरुषमें अर्थात् भगवान्‌में होती है। पुरुष सारे विश्वको अपने अन्दर धारण किये हुए है।

*

पुरुष सत्तामात्र है न कि कोई एक सत्ता विशेष। पुरुषका आशय है सचेतन सारभूत अस्तित्व अर्थात् सबमें स्थित वह एक।

*

आत्मामात्र का मूल तत्व है शुद्ध सत्ता जो अपने अन्दर शुद्ध स्वयंभू चेतना (या चित्-शक्ति) और शुद्ध आनन्दको धारण किये हुए है।

*

सारतत्व और सत्ता एक ही वस्तु है। सृष्टिमें उन्हें आत्माके दो पक्षोंके रूपमें देखा जा सकता है।

*

परमात्मा तत्वतः वैश्व है: व्यक्तिभावापन्न आत्मा वैश्व आत्मा ही है जिसे व्यक्तिगत केन्द्रसे या व्यक्तिगत केन्द्रमें अनुभव किया जाता है। तुमने जिसका साक्षा-

त्कार किया है यदि उस वस्तुका अनुभव सबमें विद्यमान एकमेवके रूपमें नहीं हुआ, तो वह आत्मा नही है; वह केन्द्रीय सत्ता है जिसने अपने वैश्व पक्षको आत्माके रूपमें अभीतक प्रकट नही किया।

*

आत्माका या तो वैश्व अर्थात् सबमें स्थित उस एकमेवके रूपमें, या उस विश्व-भावापन्न व्यक्तित्वके रूपमें अनुभव होता है जो तत्त्वतः वही है जैसा अन्य लोगोंमें हैं; और प्रत्येक सत्तामेंसे सर्वत्र फैला हुआ है किंतु यहां केंद्रित है। निःसंदेह केन्द्र एक कहने-का तरीका है क्योंकि साधारणतः किसी भौतिक केन्द्रका अनुभव नहीं होता — केवल सारी क्रियाए इस व्यक्ति-केंद्रके चारों ओर होती है।

*

निर्गुणका सामान्य अनुभव यह है कि वह किसी भी रूपके विना या देश कालमें सबद्ध हुए विना सर्वत्र विद्यमान है।

*

निर्गुण ब्रह्मका कोई निवास स्थान नही होता और न ही हो सकता है, वह सर्व-व्यापी है। यदि कोई कहे कि निर्गुण ब्रह्मका निवास हृदयमें है तो उससे पूछा जा सकता कि निर्गुण ब्रह्मसे उसका क्या आशय है।

*

वैश्व चेतनामें व्यक्तिगत 'मैं' सर्वके आत्मामें विलीन हो जाता है। वह 'मैं' जिसका ही एकमात्र अस्तित्व है वह, व्यक्तिका 'मैं' अर्थात् व्यक्तिभावापन्न 'मैं' नही होता, किंतु ऐसा विश्वभावापन्न 'मैं' है जिसका सबके साथ और वैश्व आत्माके साथ तादात्म्य होता है।

*

मुक्त होनेके बाद जो शेष रह जाता है वह है केन्द्रीय सत्ता — अहं नही। केंद्रीय सत्ता इस चेतनामें निवास करती है कि भगवान् सर्वत्र है और अन्य सत्ताओंमें भी है; इसलिये इसे पृथक् अहंका बोध नहीं रहता बल्कि यह बोध होता है कि वह भागवत-बहुत्वके अनेक केन्द्रोंमें एक केन्द्र है।

*

जो कुछ तुम अनुभव करते हो वह एक ऐसी सामान्य अवस्था है जो मुक्ति प्राप्त होनेपर होती है। इन्द्रियोंका कार्य इत्यादि पहले जैसा ही चलता है, किंतु चेतना भिन्न होती है इस कारण व्यक्ति केवल मुक्ति, और पार्थक्य, आदिका भाव ही नहीं अनुभव करता किंतु यह भी करता है कि वह सामान्य मन, प्राण या इंद्रियोंके लोकोंसे बिलकुल भिन्न किसी अन्य जगत्में निवास कर रहा है। तब एक दूसरी ही चेतना प्रारंभ होती है जिसका ज्ञान और वस्तुओंको देखनेका तरीका और ही होता है। आगे जाकर जब यह चेतना उपकरणोंको अपने अधिकारमें लेती है, तो इन्द्रिय और प्राणके साथ उसका सामंजस्य स्थापित हो जाता है; ये भी बदल जाते हैं, इनका दृष्टिबिन्दु बदल जाता है और ये संसारको पहलेकी तरह नही किंतु मानो किसी अन्य ही उपादानसे और किसी अन्य आशयसे बना हुआ देखते हैं।

*

शांति, निश्चल-नीरवता, पवित्रता, और आत्माकी स्वतंत्रतामें निवास करनेके लिये प्रथम आवश्यक है मुक्ति। इसके साथ ही या बादमें जब मनुष्य वैश्व चेतनाके प्रति जाग्रत होता है तो मुक्त होते हुए वह सब वस्तुओंके साथ एक होकर भी रह सकता है।

मुक्तिके बिना वैश्व चेतनाको प्राप्त करना संभव है, किंतु तब मनुष्यकी सत्ता कहीं भी निम्न प्रकृतिसे मुक्त नहीं होती और वह अपनी विस्तृत चेतनामें स्वतंत्र या स्वामी बननेमें समर्थ हुए बिना सब प्रकारकी शक्तियोंका क्रीड़ाक्षेत्र बन सकता है।

दूसरी ओर यदि आत्म-साक्षात्कार हो गया हो तो सत्ताका एक भाग ऐसा होता है जो वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ाके बीचमें रहकर भी अछूता रहता है — जब कि समग्र आंतरिक चेतनामें आत्माकी शांति और पवित्रताके स्थापित होनेपर निम्न प्रकृतिके बाह्य स्पर्श व्यक्तिके अन्दर नही आ सकते या उसे पराभूत नहीं कर सकते। वैश्व चेतनासे पहले उसे सहारा देने वाले आत्मसाक्षात्कारके हो जानेका यही लाभ है।

*

जब व्यक्तिमें आत्मसाक्षात्कार या वैश्व चेतनाका विकास हो जाता है या यदि वह शून्यता आ जाती है जो इन वस्तुओंकी प्रारंभिक अवस्था है तो व्यक्तिमें सबके साथ एकत्वकी वृत्ति स्वतः ही आ जाती है अर्थात् उनकी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक भावनाएं उसे सहज ही स्पर्श कर सकती हैं। मनुष्यको अपनेको उनसे मुक्त रखना होगा।

*

तुम्हारा वैश्व चेतनाके प्रति मानसिक उद्घाटन हो गया था और प्राणिक उद्-

घाटन शुरू हुआ था — यदि तुम उसे आध्यात्मीकृत स्तरपर अर्थात् स्वामित्व या स्थूल बाह्य उपभोगकी कामनाके विना, भागवत आनन्दके दर्शन और अनुभवके आधार-पर बनाये रखते तो यह एक यौगिक चेतनाको प्रतिष्ठित कर देता और ज्ञान, शांति, शक्ति, चैत्यप्रेम और समर्पण को नीचे आनेके लिये आधार बना देता।

*

यह बहुत अच्छा है। विश्वव्यापी अनन्तके साथ एक होनेके लिये चेतनाको विस्तृत करना, साधनामें एक महत्वपूर्ण स्थिति है।

*

हा, तुम्हारा अनुभव बहुत सुन्दर था और इसके संबंधमें तुम्हारा भाव भी ठीक था। जब चेतना संकीर्ण और व्यक्तिगत या देहबद्ध हो जाती है, तो भगवान्‌से कुछ पाना कठिन होता है — वह जितना अधिक विस्तृत होती है उतना ही अधिक प्राप्त कर सकती है। एक ऐसा समय आता है जब वह अपनेको संसार जितना विस्तृत और संपूर्ण भगवान्‌को अपने अन्दर ग्रहण करनेमें समर्थ अनुभव करती है।

*

यह चेतनाके विस्तारका एक अनुभव है। यौगिक अनुभवमें चेतना प्रत्येक दिशामें चारों ओर, नीचे, ऊपर असीमतक फैलती हुई हरेक दिशामें विस्तृत होती है। जब योगीकी चेतना मुक्त हो जाती है, तो वह शरीरमें नही, किंतु सदैव इस असीम ऊंचाई, गहराई और विस्तारमें ही निवास करता है। उसका आधार एक अनन्त शून्यता या निश्चल-नीरवता होती है, किंतु उसमें शांति, मुक्ति, शक्ति, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द सब प्रकट हो सकते हैं। यह चेतना सामान्यतया पुरुष या आत्माकी चेतना कहलाती है, क्योंकि यह एक विशुद्ध सत्ता या पुरुष है जो सब वस्तुओंका उद्‌गम स्थान है और सब वस्तुओंको धारण करता है।

*

हां — इस (विशालता) का इस प्रकार अनुभव होता है मानों वह ऊपरसे लेकर नीचेतक शक्तिसे परिपूर्ण और मुक्त एवं निःसीम एकताकी भावना प्रदान करने वाली महान् ठोस विशालता हो।

*

प्रारंभमें दूसरे अनुभवोंके समान ही विस्तारका अनुभव भी कभी कभी ही आता है। बादमें जाकर ही यह बारंबार आता है और चिरकालतक बना रहता है, अन्तमें जाकर यह स्थिर हो जाता है और चेतना सदा ही विस्तृत रहती है।

*

तुम्हें एकाग्रताके भयको त्याग देना होगा। वह शून्यता जो तुम्हें अपने ऊपर आती हुई अनुभव होती है वह उस महान् शांतिकी निश्चल-नीरवता है जिसके अंदर तुम अपने पुरुषके संबंधमें सचेतन होते हो, इस रूपमें नहीं कि वह देहमें बद्ध क्षुद्र अहं है, किंतु इस रूपमें कि वह विश्व जितना विशाल आध्यात्मिक पुरुष है। चेतना विलीन नहीं हुई; चेतनाकी सीमाएं ही विलीन हो गई है। उस नीरवतामें कुछ समयके लिये विचार बन्द हो सकते हैं, हो सकता है कि वहां एक महान् निःसीम स्वतंत्रता और विशालताके सिवाय और कुछ न हो, किन्तु उस नीरवतामें, उस शून्य विस्तारमें ऊपरसे अपार शांति, प्रकाश, आनन्द, ज्ञान अर्थात् वह उच्चतर चेतना उतरती है जिसमे तुम भगवान्‌के साथ एकत्वका अनुभव करते हो। यह रूपांतरका प्रारंभ है और इसमें डरनेकी कोई बात नहीं।

*

इसका अर्थ है देह-भावसे मुक्ति जिसमें मनुष्य सचमुच कह सकता है, "मैं शरीर नही हूँ"। वैश्व संकल्पके प्रत्यक्षानुभवके समान ही यह मुक्ति भी वैश्व-चेतनाका अंग है।

यह केवल देह-भावसे मुक्ति है। यह देहके नियंत्रणसे बिलकुल भिन्न वस्तु है।

*

तुमने एक सूक्ष्म हवाके रूपमें जिस वस्तुका अनुभव किया था वह देहसे स्वतंत्र स्वयं चेतनाकी या सचेतन सत्ताकी ठोस अभिव्यक्ति थी। फिर भी यह अनुभव अभी शरीर द्वारा सीमित है, किन्तु जब उस सीमासे मुक्त रूपमें इसका अनुभव होता है तब यह संपूर्ण अवकाशको परिपूर्ण करनेवाले व्यापक व्योमका, आकाश-ब्रह्मका बोध होता है। इसके विकसित होनेके साथ, देह-भाव लुप्त हो जाता है और जब मन भी बिलकुल निष्क्रिय हो जाता है तो व्यक्ति अपनेको ऐसे मनके रूपमें अनुभव करता है जो समस्त अनन्तकी ओर फैल रहा है।

*

यदि ये कल्पनाएं ही होतीं तो तुम प्रत्येक वार उनका विचार करते ही इन्हें ठीक-ठीक रूपमें पुनः प्रस्तुत कर सकते। यह विचार कि ये कल्पना हैं, उस स्थूल मनसे आता है जो किन्हीं भी अतिभौतिक वस्तुओंमें विश्वास करनेमें असमर्थ है।

शून्यके भीतर (वस्तुतः शून्यमें नहीं, पर वैश्व और निःसीम चित्के अनन्त आकाशके भीतर) हृदयका यह उद्घाटन विश्वमय भगवान्की विराट् सत्तामें भाव-प्रधान सत्ताके उद्घाटनका चिह्न है। ध्यानमें साधक आकाशके मूर्त रूपका प्रायः दर्शन करते है। मनमें या किसी अन्य भागमें चेतनाके मुक्त होनेपर सदैव इसी विशाल असीम शून्यताका बोध होता है। सिरमें ऊपरसे लेकर गलेतक सत्ताकी मानसिक भूमिका स्थित है — यहां इसी प्रकारका उद्घाटन एवं शून्यता या विशालता मानसिक सत्ताके वैश्वसत्तामें मुक्त होनेका संकेत है। कंठसे लेकर उदरतक उच्चतर प्राणिक या भावमय क्षेत्र है। नीचे निम्नतर प्राणिक भूमिका है।

*

मैं समझता हूं, यह देहके साथ तादात्म्यके अभावकी अपेक्षा कहीं अधिक देहका विस्मरण है। तीव्र मनोमय रूप देनेमें या तीव्र प्राणिक क्रियामें शरीरका स्थान गौण हो जाता है एवं वह अधिक वाह्य हो जाता है और ऐसा ही कुछ हदतक अधिक सतत रूपमें उस मनुष्यमें भी हो सकता है जो अपने मनमें या अपने प्राणमें रहता है और उसके साथ अधिक प्रगाढ़ रूपसे तल्लीन हो जाता है। किंतु फिर भी यह शरीरमें देहगत मन और देहगत प्राण होता है। आध्यात्मिक मुक्तिके समान इसमें कोई छुटकारा, कोई पूर्ण पार्थक्य नहीं होता।

*

हां, मानव मनके लिये स्वयं पूरी तरह अपने अन्दर इस हदतक निवास करना असंभव है कि वह शरीरकी बिलकुल उपेक्षा कर दे — आध्यात्मिक मुक्तिके बिना एक यथार्थ या पूर्ण मुक्ति अथवा तादात्म्यका अभाव संभव नहीं है। मनके लिये जो संभव है वह सब यह है कि वह अपने अन्दर पूरी तरह मग्न रहे और यथाशक्ति शरीरकी उपेक्षा करे या उसे भूल जाय। यह बात प्राय. उन लोगोंमें (विद्वानों, मनीषियों आदिमें) पायी जाती है जो अपनी आजीविका, परिवार इत्यादिके विषयमें स्वयं व्यग्र होनेकी आवश्यकता के बिना निवृत्त मानसिक जीवन बिताते हैं।

*

क्षितिज पर उदय होता हुआ सूर्य सत्तामें उदय होते हुए भागवत सत्यका सीधा प्रकाश है — ऊपर जाती हुई किरण सत्ताको सत्यके प्रति उद्घाटित करती है क्योंकि

वह मनसे ऊपर है, सामनेवाली किरण सत्ताको उस चेतनाके प्रति खोलती है जिसे हम वैश्वचेतना कहते हैं, वह व्यक्तिगत सीमाबन्धनसे मुक्त हो जाती है और खुल जाती है तथा वैश्व मन, वैश्व शरीर और वैश्व प्राणके संबंधमें सचेतन हो जाती है। हृदय पर होनेवाली यह क्रिया इस सूर्यका हृदयपर डाला गया दबाव था जिससे इस प्रकारका सीधा उद्‌घाटन हो सके, फलत: चैतना स्वतंत्र, विस्तृत और पूरी तरह शांत हो जाय।

यह बड़ी भारी बात है कि तुम अपने आपको विरोधी दबावके सामने अविचल और अक्षुब्ध एवं शांतिकी चेतनाको पीछेकी ओर स्थिर कर सके हो। यह इस बातका चिह्न है कि यह चेतना अधिक ठोस और प्रभावशाली हो रही है।

*

वैयक्तिक चेतनासे परे जानेपर या वैयक्तिक चेतनासे परे जाने और विश्व-चेतनाकी ओर प्रसारित होनेका प्रारंभ होनेपर विशालता आती है। किंतु वैयक्तिक चेतनाके अन्दर भी चैत्य पुरुष सक्रिय हो सकता है।

*

चैत्य पुरुष व्यक्तिगत विकास-क्रमका आधार है; यह सीधे संपर्कके द्वारा तथा मन, प्राण और शरीरके माध्यमसे, दोनों प्रकारसे, वैश्व चेतनाके साथ संयुक्त रहता है।

*

प्रेम, हर्ष और सुख आते हैं चैत्य पुरुषसे। आत्मा देता है शांति या विश्वव्यापी आनन्द।

*

पुरुष या आत्मा निष्क्रिय है; प्रकृति या शक्ति कार्य करती है। पुरुषका अनुभव होते समय पहले एक असीम सत्ता, निश्चल-नीरवता, मुक्ति और शांतिका अनुभव होता है वही आत्मा या पुरुष कहलाता है। इसमें जो क्रिया होती है वह उस साक्षात्कारके अनुसार होती है जिसका अनुभव या तो इस रूपमें होता है कि उस विशालतामें प्रकृतिकी शक्तियां कार्य कर रही हैं या भागवतशक्ति कार्य कर रही है अथवा विराट् भगवान् या उनकी नानाविध शक्तियां कार्य कर रही हैं। ऐसा अनुभव नहीं होता कि परमपुरुष कार्य कर रहा है।

*

जहांतक द्रष्टा और पंखवाले व्यालकी कुंडलियोंका संबंध है यह विश्वके गति-चक्रमे अपनेको विस्तृत करती हुई जगत् शक्तिका एक चीनी-जापानी रूपक है और यह इस समग्र व्यापारके द्रष्टा और भागवत लीलाके विलासके प्राकट्यमें उसके उन्मीलन-का अवलोकन करनेवाले साक्षीके भावको व्यक्त करता है। जब हम वैश्व व्यापारोंकी पहेलीके सामने आते हैं तो यह साक्षिभाव ही हमें महत्तम स्थिरता, शांति और "समता" प्रदान करता है। इसका आशय यह नही है कि इस क्रिया और व्यापारको स्वीकार नही किया जाता किंतु उन्हें ऐसी भागवत क्रियाके रूपमें स्वीकार किया जाता है जो उन लक्ष्योकी ओर ले जाती है जिन्हें मन सदा तुरन्त नही देख सकता; किन्तु आत्मा समस्त परम प्रयोजन और गुप्त पथप्रदर्शन के बीच भी भांप लेती है।

निश्चय ही आगे जाकर एक ऐसा अनुभव होता है जिसमें अखण्ड भगवान्‌के, साक्षी और लीला करनेवाले दो पक्ष परस्पर गुँथकर एक हो जाते हैं; किंतु द्रष्टाकी यह अवस्था पहले आती है और यह उस पूर्णतर अनुभवकी ओर ले जाती है। यह अवस्था उस संतुलन, स्थिरता, अन्तरात्मा और जीवनके विषयमें बढ़ती हुई समझ और उनके अधिक गहरे आशयोंको प्रदान करती है जिनके बिना अतिमानसका पूर्ण अनुभव नहीं प्राप्त हो सकता।

*

वैश्व शक्तियां अपने अन्दर स्थित अपने बल और चैतन्य द्वारा गति करती हैं; —किन्तु एक वैश्व आत्मा भी है जो उन्हें अवलम्बन देता है और अपने अधीक्षण तथा सुव्यवस्थित करनेवाले संकल्प द्वारा उनकी क्रीड़ाको निर्धारित करता है — यद्यपि सीधी क्रिया तो शक्तियोंपर ही छोड़ दी जाती है — यह वैश्व प्रकृतिकी उसके पीछे रहकर उसका निरीक्षण करनेवाले वैश्वपुरुषके साथ क्रीड़ा है। व्यक्तिमें भी एक व्यक्तिगत पुरुष होता है जो इच्छा करनेपर केवल प्रकृतिकी लीलाके लिये सहमति ही नही दे सकता बल्कि इसके परिवर्तनके लिये स्वीकृति दे सकता है या निषेध या संकल्प भी कर सकता है। यह सब स्वयं लीलामें ही होता है जैसा कि हम यहां देखते हैं। इससे ऊपर भी कोई वस्तु है परन्तु उसकी क्रिया प्रतिक्षण नियंत्रण करनेकी अपेक्षा कही अधिक एक हस्तक्षेपके रूपमें दृष्टिगोचर होती है; यह हस्तक्षेप एक सतत सीधा नियंत्रण तभी बन सकता है जब कि व्यक्ति शक्तियोंकी क्रीड़ाके स्थानपर भगवान्‌के शासनको स्थापित करता है।

*

सच्ची यौगिक चेतनामें ही मनुष्य एकताका अनुभव करता है और बाह्य सत्तासे और उसकी निम्नतर क्रियाओंसे अछूता रहकर, पर उनके अज्ञान और क्षुद्रतापर मुस्करा-ता हुआ उसके अन्दर निवास करता है। यदि इस पृथक्‌भावको सदैव कायम रखा जाय

तो इन बाह्य वस्तुओंसे व्यवहार करना बहुत अधिक साध्य हो जायेगा ।

*

यह प्रकृतिके पुरुष और प्रकृति पक्ष हैं — एक विशुद्ध सचेतन सत्ता अर्थात् निष्क्रिय अवस्थाकी ओर ले जाता है, यह निष्क्रिय पक्ष है और दूसरा शुद्ध सचेतन शक्तिकी ओर सक्रिय है। जिस पुरातन अन्धकारमेंसे वे बाहर निकले हैं वह अज्ञानका अन्धकार है, भावी अन्धकार जिसका अनुभव ऊपरकी ओर हुआ है वह अतिचेतना है। किंतु, निःसंदेह, अतिचेतना वस्तुतः ज्योतिर्मय है — हां केवल इसका प्रकाश दीखता नहीं। चेतनाके तीन रूप तीन गुणों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रकृतिके तीन पक्ष हैं — अवचेतन तमस्‌की शक्ति अर्थात् जड़ता जो जड़तत्वका धर्म है, अर्धचेतन कामना-की शक्ति, गतिशीलता अर्थात् रजस् जो प्राणका धर्म है और सात्विक प्रकाशकी शक्ति जो बुद्धिका धर्म है।

*

पुरुष एक है — इसकी क्रिया चेतनाकी तत्कालीन स्थिति और आवश्यकताके अनुसार होती है।

यह साधारण मनसे ऊपर या बहुमुखी वैश्व चेतनामें होनेवाली क्रियाका स्वरूप होता है।

*

प्रकृति केवल कार्यवाहिका या काम करनेवाली शक्ति है — प्रकृतिके पीछे रहने वाले बलका नाम ही है शक्ति। यह व्यक्त हुई चित्-शक्ति अर्थात् आध्यात्मिक चेतना है।

*

मानसिक ज्ञान और संकल्पके विषयमें यह सत्य है, किंतु उच्चतर ज्ञान-संकल्पके विषयमें नहीं। अतिमानसमें ज्ञान और संकल्प एक होते हैं।

सब ऊर्जाएं चित्-शक्तिसे उत्पन्न होती हैं, किन्तु नीचे उतरनेपर उससे भिन्न रूप धारण कर लेती हैं।

इतना तो सत्य है कि लाक्षणिक रूपसे प्राणका विशेष लक्षण है शक्ति — स्थूल सत्ताका विशेष लक्षण है द्रव्य, लेकिन दोनोंकी क्रियाशीलता चित्‌मेंसे आती है —

मनकी क्रियाशीलता भी क्रियाशीलता मात्र है।

*

एक सर्व सामान्य शक्ति है जो सबमें कार्य करती है और उस शक्तिका या उसकी किसी एक क्रियाका स्पन्दन अन्यमें उसी स्पन्दनको जगा सकता है (किन्तु हमेशा नही)।

एक है अविच्छिन्न क्रिया (प्रकृति) और एक है अविच्छिन्न निश्चल नीरवता (पुरुष)।

उपनिषद्का यह कथन है कि एक ऐसा आनन्दका आकाश है जिसमें सब लोग श्वास लेते और जीते है; यदि वह न होता तो कोई व्यक्ति श्वास-प्रश्वास न ले सकता, न जी ही सकता।*

*

"उत्पन्न" शक्ति तुम्हारी नही है — यह प्रकृतिकी है — तुम्हारा संकल्प इसे गति प्रदान करता है, यह वस्तुतः उसे उत्पन्न नहीं करता; किन्तु एक बार गतिमय होनेपर यह अपनेको उस हदतक चरितार्थ करनेके लिये प्रवृत्त होती है जहांतक कि अन्य शक्तियोंकी क्रीडा उसे अनुमति देती है। इसलिये, स्वभावतः यदि तुम इसे रोकना चाहो तो, तुम्हें एक विरोधी शक्तिको सक्रिय करना होगा जो इतनी अधिक बलशाली हो कि उसके प्रवेगपर हावी हो सके।

*

यह अन्तर्दर्शन एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें विकसित होती हुई वस्तुओंकी वैश्व क्रियाका और उसमें उन व्यक्तिगत क्रियाओंका प्रत्यक्ष बोध है जो उन क्रियाओंका गठित करती है। एक ऐसी अनुभूति भी संभव है जिसमें सर्व प्रवहमान कालके रूपमें अनुभूत होता है या फिर वह एक ऐसे आयामके रूपमें अनुभूत होता है जो देशके साथ कपड़ेके ताने-बानेकी तरह गुंथा हुआ है आदि।

*

जगत् एक रूपमात्र है, यथार्थ वस्तु है भगवान्। मनुष्यको रूपमें भगवान्की उपस्थितिका दर्शन करना होगा।

*का ह्येवान्यात् कः प्राणयात्।
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। तै. २-७.

भगवान् सर्वोच्च सत्य है क्योंकि इस परम पुरुषसे ही सब उत्पन्न हुए हैं और उसीमें सब विद्यमान हैं।

*

भगवान् वह है जिससे सब उत्पन्न होते हैं, जिसमें सब निवास करते हैं, और भगवान्के उस सत्य (स्वरूप) में लौटना ही अन्तरात्माका जीवन-लक्ष्य है जो इस समय अज्ञानसे आच्छादित है। अपने सर्वोच्च सत्यमें भगवान् निरपेक्ष और असीम शांति, चेतना, सत्ता शक्ति और आनन्द हैं।

*

परमात्मा परात्पर द्वारा सृष्टि नही कर सकता क्योंकि परात्पर ही परमात्मा है। भगवान् वैश्व-शक्ति द्वारा सृष्टि करता है।

*

वैश्व-शक्ति अधिमानसके नियंत्रणमें हैं। अधिमानस इसके ऊपर सीधा क्रिया नहीं करता —जो कुछ भी वहांसे नीचे आता है वह थोड़ा बहुत इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि वह अधिमानसमेंसे गुजर सके और मानसिक, प्राणिक या भौतिक जिस किसी भी भूमिकापर वह कार्य करता है उसका एक अल्पतर आकार धारण कर सके। किन्तु वैश्व शक्तियोंकी सामान्य लीलामें ऐसा हस्तक्षेप अपवाद रूप ही होता है।

*

वैश्व आत्मा अतिमानसको धारण किये हुए है, किंतु वह उसे ऊपर अलग रखे हुए है और इस समय अधिमानस और भौतिक सत्ताके बीचमें ही कार्य कर रहा है। एकमात्र अज्ञानको हटानेपर ही अतिमानस यहांपर वैश्व प्रकृतिकी क्रियाओंका सीधा एक सक्रिय भाग बन जाता। तबतक केवल उसके प्रतिबिंब ही दिखाई देते हैं।

*

यह (वैश्व आत्मा) सत्य और मिथ्या, ज्ञान और अज्ञान और अन्य सब द्वन्द्वोंको अभिव्यक्तिके तत्त्वोंके रूपमें उपयोगमें लाता है और चरितार्थ करने योग्य वस्तुओंको तबतक कार्यान्वित करता रहता है जबतक सब कुछ उच्चतर क्रियाके लिये तैयार न हो जाय।

*

यहां वैश्व शक्तियां चाहे वे भली हों या बुरी, अज्ञानकी शक्तियां हैं। उनसे ऊपर सत्य-चेतना है वह तभी व्यक्त हो सकती है जब अहंकार और कामना जीत लिये जाते हैं — भागवत सत्य-चेतनासे एक शक्तिको उतरना होगा — उत्तरोत्तर शान्ति, प्रकाश, ज्ञान, विशुद्धि, आनन्दको व्यक्तिके अन्दर स्थित वैश्व शक्तियोंपर कार्य करना होगा जिससे वह उन्हें बदलकर साधारण क्रियाके स्थानपर सत्य-शक्तिको स्थापित कर दे।

*

ब्रह्माण्ड या जगत् सदा ही संवादमय होता है, अन्यथा इनका अस्तित्व न रह सकता, यह टुकड़े टुकड़े हो जाता किन्तु क्योंकि एक ऐसी भी संगीतमय संवादिताएं हैं जो अगत या प्रधान रूपमें भी विसंगतियोंसे बनती हैं, इसलिये यह विश्व (स्थूल) अपने पृथक् तत्त्वोंमें विसंवादी है — पृथक् तत्व बहुत हदतक परस्पर विसंगत होते हैं, केवल समग्र विश्व अपने पीछे स्थित सबको धारण करनेवाले भागवत संकल्पके कारण ही उन लोगोंके लिये अब भी एक संवादयुक्त वस्तु है जो इसे वैश्व दृष्टिसे देखते हैं। किन्तु यह एक ऐसी संवादिता है जो उत्तरोत्तर विकसित हो रही है — अर्थात् सब कुछ उस लक्ष्यको पानेके लिये मिलकर प्रयास कर रहे हैं जो अभी प्राप्त नहीं हुआ, और हमारे योगका लक्ष्य है इस लक्ष्यतक जल्दी पहुँचना। इसके प्राप्त होनेपर वहां वर्तमान विसंवादिताओंपर निर्मित हुई संवादिताके स्थानपर संवादिताओंकी संवादिता आ जायेगी। वस्तुओंके वर्तमान बाह्य रूपकी यही व्याख्या है।

*

यहां कोई भी वस्तु पूर्ण नहीं है किन्तु यहांकी सब वस्तुएं वैश्व संकल्पको युग-युगान्तरोंमें चरितार्थ कर रही हैं।

*

निम्नतर चेतनाकी संवादिता वैषम्योंकी एक ऐसी संवादिता है जो शक्तियोंके संघर्ष और उनके मिश्रणके द्वारा लाई जाती है।

*

यह आन्तरिक अनुभव उस वैश्व संवादिताका ध्वन्यात्मक रूप है जिसमेंसे पतन और विषादसे होकर अज्ञानकी सृष्टि होती है।

*

प्रत्येक वस्तुमें एक लय-ताल है जिसे स्थूल कान नहीं सुनते और उस लय-तालके द्वारा ही सब पदार्थोंका अस्तित्व होता है।

*

ये दोनों (ॐ और गिरजेके घण्टोंका शब्द) साधारणतया ऐसे शब्द हैं जो वैश्व चेतनाके प्रति उद्घाटनको या उद्घाटनके प्रयासको सूचित करते हैं।

*

जब तुम पदार्थोंमें वैश्व या भागवत सौन्दर्य अथवा उपस्थितिका अनुभव करो तब यह समझो कि इन्द्रियां भगवान्‌के प्रति खुली है।

*

मनुष्य वैश्व शक्तियोंके बीचमें भी भगवान्‌के साथ संपर्क रखते हुए जी सकता है — किंतु भगवान्‌में निवास करनेके लिये व्यक्तिको निम्नतर विश्व प्रकृतिसे परे, ऊपर उठनेमें या भागवत चेतनाको यहां नीचे पुकार लानेमें समर्थ बनना होगा। अधि-कतर लोगोंके लिये प्रारंभिक सोपान कठिन होते हैं — और असलमें प्रारंभ कभी भी सरल नहीं होता।

*

सर्वदा भगवान्‌में मग्न रहना इतना सरल नहीं है। यह केवल तभी किया जा सकता है जब व्यक्ति अपने आंतर आत्मामें डूबा रहे या ऐसी चेतना प्राप्त करे जो सबको भगवान्‌में और भगवान्‌को सबमें देखें और सदैव इसी स्थितिमें रहे। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसने अभी तक यह स्थिति प्राप्त की हो।

*

वैश्व आत्मा या पुरुष विश्वकी प्रत्येक वस्तुको अपनेमें धारण किये हुए है — वह वैश्व मन, वैश्व प्राण, वैश्व शरीर इसी प्रकार अधिमानसको थामें रखता है। पुरुष उन सब वस्तुओंसे अधिक है जो प्रकृतिमें उसकी रूप-रचनाएं है।

*

(वैश्वमनके प्रति उद्घाटनके परिणाम:) व्यक्ति वैश्व मनको और वहां क्रिया करनेवाली मानसिक शक्तियोंको एवं उसके अपने और अन्योंके मनपर उनकी किस प्रकार क्रिया होती है इसे भी जान जाता है तथा व्यक्ति अपने मनके साथ महत्तर ज्ञान और प्रभावशाली शक्तिके साथ व्यवहार कर सकता है और भी बहुतसे परिणाम हैं परन्तु यह एक आधारभूत परिणाम है। ऐसा निःसंदेह तव होता है जब व्यक्ति ठीक ढगसे उद्घाटित होता है तथा सब प्रकारके विचारों एवं मानसिक शक्तियोंका एक निष्क्रिय क्षेत्र मात्र नही बन जाता।

*

वैश्व मनके प्रति उद्घाटन, उदाहरणके लिये, सर्वत्र भगवान्‌की अनुभूतिको आसान बना देता है — किन्तु यह तत्वतः आध्यात्मिक नही है; यदि विशालतर आध्यात्मिक अनुभव न हों, तो इसका आध्यात्मिक होना बिलकुल भी जरूरी नही।

*

जो वस्तु हो रही है वह यह कि तुम उस वैश्व मनके संपर्कमें आ गये हो जहां सब प्रकारके विचार, संभावनाएं, रचनाएं इधर उधर घूम रही हैं। व्यक्तिका मन उन वस्तुओंको ग्रहण कर लेता है जो उसे प्रभावित करती हैं या शायद उसे स्पर्श करनेपर स्पष्ट स्वरूप धारण कर लेती हैं। किंतु ये संभावनाएं है, सत्य नहीं, इसलिये इन्हें इस प्रकार खुला दौड़नेकी छूट देना ठीक नही।

*

जड़तत्वके समान मनके भी अपने प्रदेश हैं और प्राणके अपने। मनके प्रदेशमें प्राण और जड़तत्व पूरी तरह मनके आधीन रहते हैं और उसकी आज्ञाओंका पालन करते हैं। यहां पृथ्वी पर जो विवर्तन होता है उसका आरंभविन्दु है जड़तत्व, मध्य-विन्दु है प्राण और इससे उद्भूत होता है मन। विश्वमें बहुतसी श्रेणियां, प्रदेश एवं संयोग है — यहां तक कि बहुतसे विश्व भी है। हमारा विश्व उन बहुतोंमेंसे केवल एक है।

*

(वैश्व जीवनके प्रति उद्घाटनका प्रभाव:) मनुष्य सब जीवन शक्तियोंको जान जाता है और यह भी जान लेता है कि वे उसके अपने और अन्योंके मन और शरीरपर किस प्रकार कार्य करती हैं — और घटनाओंके पीछे काम करनेवाली शक्ति-

के व्यापारोंको भी। व्यक्ति प्राणिक भूमिका, उसके लोकों, उसकी सत्ताओंसे और पार्थिव जीवनपर उनकी रचनाओंकी सीधी क्रियासे भी सीधा सचेतन हो जाता है। इसके साथ ही व्यक्तिको अपनी सच्ची प्राण सत्ताके विषयमें भी जानना होगा और वहींसे इन सब वस्तुओंके संबंधमें कार्य करना होगा न कि उपरितलीय या कामनामय प्राणसे। यह सारा परिणाम एकदम नहीं उत्पन्न हो जाता,—यह वैश्व जीवनके साथ संपर्क बढ़नेके अनुपातमें ही विकसित होता है।

*

विशेषत: वैश्व प्राणमें शक्तिका ऐसा कपटपूर्ण आकर्षण (यह सच्ची शांत शक्ति नहीं किंतु निरी शक्ति) एवं उल्लासकारी प्रबल प्रवाह होता है। उसकी आधीनता स्वीकार करने वाले लोग उसके साथ ऐसे चिपट जाते हैं जैसे एक शराबी मादक वस्तुओंके साथ। यह उन्हें भावना प्रदान करती है कि हम बलवान् एवं महान् हैं और है दिलचस्प बातोंसे भरपूर — जब यह उनसे ले ली जाती है, तो वे अपनेको "सामान्य-जैसे" अनुभव करते हैं और इसकी फिर मांग करते हैं।

*

वैश्व शक्तियोंका आशय है विश्वमें क्रियारत सब भली या बुरी, अनुकूल या प्रतिकूल, प्रकाश और अंधकारकी शक्तियां।

*

पृथ्वी विकासका एक ऐसा स्थान है जिसमें ये सब शक्तियां इकट्ठी होती हैं और व्यक्त होनेका प्रयत्न करती हैं एवं उनकी क्रियामेंसे किसी वस्तुको विकसित होना होता है। दूसरी भूमिकाओं (मानसिक, प्राणिक आदि) पर विकास नहीं होता — वहां प्रत्येक अपने नियमके अनुसार अलग अलग कार्य करती हैं।

*

वैश्व शब्दका प्रयोग विश्वकी प्रत्येक वस्तुके लिये किया जाता है — व्यक्तिगत सत्ताएं सर्वत्र होती हैं, किन्तु पार्थिव अर्थमें वे स्थूल नहीं होतीं क्योंकि उनका गठन भिन्न होता है।

*

नहीं, वे (विरोधी सत्ताएं) वैश्व शक्तियोंको उत्पन्न नहीं करतीं; वे स्वयं उनसे संचालित होती हैं और उनका संचालन करती हैं।

*

हां, निश्चय ही, सदैव प्रकाश और अन्धकारके बीच युद्ध चलता रहता है।

साधनामें यह घनीभूत हो जाता है और हम उसके विषयमें सचेतन हो जाते हैं।

जहांतक विरोधी शक्तियोंका प्रश्न है, वे हमेशा एक दूसरेके साथ युद्धमें लगी रहती है; किन्तु सत्य और प्रकाशके विरोधको वे साझा ध्येय बना लेती हैं।

*

शक्तियां सचेतन होती हैं। इसके सिवाय ऐसी व्यक्तित्वापन्न सत्ताएं भी है जो शक्तियोंका प्रतिनिधित्व या उनका प्रयोग करती हैं। व्यक्ति जब जड़तत्वके परदेके पीछे चला जाता है तो चेतना एवं शक्ति, निर्व्यक्तिकता एवं वैयक्तिकताके बीचकी दीवार बहुत अधिक पतली हो जाती है। यदि कोई किसी क्रियाको निर्व्यक्तिक शक्तिकी दिशासे देखे तो वह शक्ति या ऊर्जा को किसी प्रयोजनके लिये परिणामोत्पादक रूपमें काम करते हुए देखता है, यदि कोई सत्ताकी दिशासे देखे तो वह एक ऐसी सत्ताको देखता है जो एक चेतन शक्तिको अपने अधिकारमें रखती है, उसका मार्गदर्शन और उपयोग करती है या फिर जो उसकी प्रतिनिधि होती है और उसके द्वारा विशिष्ट क्रिया और अभिव्यक्तिके उपकरणके रूपमें प्रयुक्त की जाती है। तुम लहरकी बात करते हो, किन्तु आधुनिक भौतिक शास्त्रमें यह पाया गया है कि यदि तुम ऊर्जाकी गतिका अवलोकन करो, तो एक ओर, यह लहर प्रतीत होती है एवं एक लहरके रूपमे काम करती दिखाई देती है, दूसरी ओर कणोंका एक समूह प्रतीत होती है और कणोंके ऐसे समूहके रूपमें काम करती दिखाई देती है जिसमें प्रत्येक कण अपने ढंगसे कार्य कर रहा होता है। यहां भी थोड़ा बहुत वही सिद्धांत देखनेमें आता है।

*

प्रकृति-शक्तियां सचेतन शक्तियां हैं — वे किसी क्रिया या प्रयोजनके लिये आवश्यक सब वस्तुओंको अच्छी तरह जुटा सकती हैं और जब कोई साधन असफल होता है, तो वे दूसरे साधनको हाथमें ले लेती हैं।

*

हा, ऐसी ही बात है। वैश्व शक्तिया वहुधा अवचेतन द्वारा क्रिया करती है — विशेषकर जब उनके द्वारा भेजी गई शक्ति कोई ऐसी वस्तु होती है जिसकी आज्ञाका पालन करनेकी व्यक्तिको आदत पड गई होती है और जिसके वीज, सस्कार, "ग्रंथियां" अवचेतनमें दृढ़तासे जम गये होते है अथवा चाहे ऐसी स्थिति न भी हो, तो जिसकी स्मृति अव भी अवचेतनमें विद्यमान होती है।

*

इसका कोई नियम नही है। साधारणतया मानव सत्ता केवल उपरितल पर ही सचेतन होती है — किंतु उपरितल केवल प्रच्छन्न अन्तः सत्ताके कार्यमें लगी हुई शक्तियोके परिणामोंका ही व्यौरा रखता है। प्राय. चक्रोंके द्वारा ही शक्तियां अन्दर आती है, क्योकि तब वे प्रकृतिपर कार्य करनेके लिये सबसे अधिक शक्ति प्राप्त करती है — किन्तु वे कही भी प्रवेश कर सकती है।

*

अधिक ठीक कहें तो वे (दु.ख-दर्द) शायद वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ाके परिणाम है — किंतु एक विशेष अर्थमे दु ख-दर्दको वैश्व शक्तियां कहा जा सकता है — क्योंकि इन वस्तुओंकी लहरें आकर सत्ताको प्रायः विना किसी प्रत्यक्ष कारणके घेर लेती है।

*

यह (मृत्यु) एक वैश्व शक्ति है — जिस घटना या परिवर्तनको मृत्यु कहा जाता है वह शक्तियोंकी क्रियाका केवल एक परिणाम है।

* * * * * *